अर्थ वाणिज्य निबन्ध तरंग

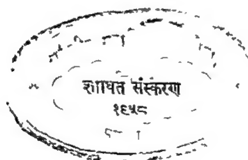
(ECONOMIC & COMMERCIAL ESSAYS)

लेखक

एस० सी० सक्सैना, एम० ए०, एम० कॉम०, एल-एल० बी०,
वाणिज्य विभाग, महारानी लक्ष्मीबाई कॉलिज, ग्वालियर ।

संकलनकर्त्ता

एल० सक्सैना,



आगरा

नवयुग साहित्य सदन,
उच्च कोटि के शिक्षा सम्बन्धी साहित्य के प्रकाशक

मूल्य :१५)

प्रस्तावना

प्रस्तुत पुस्तक—"अर्थ वाणिज्य निबन्ध तरङ्ग"—वास्तव में अर्थ-वाणिज्य क्षेत्र के बिखरे हुए पाँच पुष्पों की एक सुसज्जित माला है। ये पाँच पुष्प हैं—उद्योग, एवं सहकारिता, श्रम, व्यापार प्रशुल्क एवं यातायात, बीमा बैंकिंग तथा अन्य। आर्थिक क्षेत्र की इन पाँच समस्याओं पर गम्भीरता से विचार करके इनसे सम्बन्धित समस्त समस्याओं पर भी भली प्रकार प्रकाश डाला गया है।

यह पुस्तक मुख्यतः राजपूताना के इण्टर (वाणिज्य) कक्षाओं के लिए लिखी गई है। यद्यपि इस विषय पर अनेक पुस्तकें हैं, किन्तु मेरी सम्मति में वे इण्टर के विद्यार्थियों की आवश्यकता के लिए अपर्याप्त हैं। कुछ पुस्तकों की सामग्री तो बड़े निम्न स्तर की है। उनमें देश की अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर प्रकाश नहीं डाला गया है और कुछ स्तर से ऊँची कही जा सकती हैं, [illegible] उनमें इतनी अधिक अनावश्यक सामग्री है कि जिसे विद्यार्थीगण अपने मस्तिष्क में सुविधा से नहीं रख सकते, अतएव विद्यार्थी-समाज की परीक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए एवं उनके स्तर के लिए उपयुक्त तथा प्रमाणिक पुस्तक प्रस्तुत करने के उद्देश्य से यह प्रयास किया गया है। इस निबन्ध माला की कुछ उल्लेखनीय विशेषतायें निम्नाङ्कित हैं :—

(१) इस पुस्तक की रचना राष्ट्र भाषा हिन्दी में की गई है।

(२) इसमें अत्यन्त सरल एवं बोल-चाल के शब्दों तथा मुहावरेदार भाषा का प्रयोग किया गया है।

(३) परीक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं का विशेष ध्यान रखा गया है।

(४) इसमें नवीनतम् सामग्री, तथ्यों एवं आँकड़ों का समावेश है, अतएव विद्यार्थियों को नवीन आँकड़ों के लिए कहीं भटकना नहीं पड़ेगा।

(५) भारत की प्रायः सभी आर्थिक समस्याओं पर भली प्रकार प्रकाश डाला गया है।

(६) ऐसी आशा है कि विद्यार्थी समुदाय के लिए तो प्रस्तुत रचना संजीवनी सिद्ध होगी ही, इसके अतिरिक्त व्यापारियों, उद्योग पतियों, अर्थ शास्त्रियों एवं जन साधारण के लिए भी यह ग्रन्थ हितकारी सिद्ध होगा।

इस पुस्तक की रचना में मुख्यतः श्री एस० सी० सक्सेना की वाणिज्य वेषयक पुस्तकों से विशेष सहायता ली गई है। इसके अतिरिक्त कॉमर्स, केपिटल, उद्योग-व्यापार-पत्रिका तथा दैनिक समाचार पत्रों से भी सहायता ली गई है।

सुझावों के हेतु मेरा सबको निमन्त्रण है।

आनन्द-निवास, ग्वालियर। लेखक

प्रकाशक की ओर से

आजकल भारत के आर्थिक एवं व्यापारिक क्षेत्र में बड़ी शीघ्रता से परिवर्तन हो रहे हैं। इन सब परिवर्तनों से अपने पाठकों को परिचित कराने के लिये एक परिशिष्ट के रूप में कुछ नवीन घटनाओं का पुस्तक में समावेश कर दिया गया है। आशा है कि पाठकों के लिये पुस्तक अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकेगी।

विषय सूची

—

बीमा, बैंकिंग एवं विविध—

उद्योग
(INDUSTRY)

"हमारा देश विकास में पिछड़ा हुआ है, किन्तु उद्योग-धन्धे चलाने के लिए बहुत बड़ा क्षेत्र पड़ा है। अभी तक इस क्षेत्र में किसी का विशेषाधिकार नहीं है। आओ, आगे बढ़ें एवं सुनियन्त्रित योजना द्वारा समस्त देश को आगे बढ़ायें। योजना वास्तव में एक यज्ञ है। इस यज्ञ के द्वारा समृद्धि प्राप्त करो।'

—जवाहरलाल नेहरू

भारतीय अर्थ-व्यवस्था में लघु एवं कुटीर उद्योगों का महत्त्व

रूपरेखा—

१. *प्रस्तावना*—लघु एवं कुटीर-उद्योग की परिभाषा। विशाल-उद्योग, लघु-उद्योग एवं कुटीर-उद्योग में अन्तर।

२. *भारतीय कुटीर-उद्योगों का गौरवपूर्ण अतीत*—प्राचीन-काल से ही भारत के आर्थिक कलेवर में लघु तथा कुटीर-उद्योगों का एक विशिष्ट स्थान रहा है। इनके कुछ उदाहरण।

३. *कुटीर उद्योगों का पतन कैसे हुआ?*—विनाश के कारण: (१) राजा और नवाबों का अन्त, (२) नए सामन्तवादी वर्ग का उदय, (३) ब्रिटिश शासन की आर्थिक एवं औद्योगिक नीति, (४) भारतीय माल पर इङ्गलैंड में वैधानिक प्रतिबन्ध, (५) भारतीय कारीगरों पर नियन्त्रण, (६) यातायात के आधुनिक साधनों की उन्नति, (७) विदेशी वस्तुओं से प्रतियोगिता।

४. *फिर भी कुटीर धन्धों का अस्तित्व क्यों?*—कुछ उद्योग भारतवासियों के 'घर रहने की प्रवृत्ति', जाति प्रथा, लम्बी परम्परा, ग्रामीण जीवन की आर्थिक स्वावलम्बनता, स्वदेशी आन्दोलन तथा कुछ सरदारों की उदार नीति के कारण बच रहे।

५. *भारतीय अर्थ-व्यवस्था में लघु एवं कुटीर-धन्धों का महत्त्व*—भारतीय कृषक जन-संख्या का जीवन-स्तर नीचा है, आय अपर्याप्त है एवं वे वर्ष में लगभग ३-४ माह खाली रहते हैं, अतः खाली समय का सदुपयोग करने के लिए एवं ग्रामीण जनता का आय तथा जीवन-स्तर ऊँचा करने के उद्देश्य से कुटीर एवं लघु-उद्योगों का विकास वांछनीय है।

६. *क्या कुटीर-धन्धे प्रतियोगिता में टिक सकेंगे?*—हाँ, विद्युत-शक्ति एवं यन्त्रों के प्रयोग से ऐसी आशा की जा सकती है। निम्न दृष्टिकोणों से कुटीर एवं लघु-उद्योगों का महत्त्व स्पष्ट है—(१) पूर्ण रोजगार की आवश्यकता, (२) औद्योगिक उत्पादन का समान वितरण, (३) आय का समान वितरण, (४) श्रमजीवी एवं पूँजीपतियों के सम्बन्ध, (५) युद्ध तथा सुरक्षा, (६) उत्पादन व्यय, (७) उत्पादन की किस्म तथा (८) समाज के लिए महत्त्व।

७. *कुटीर तथा लघु धन्धों की समस्यायें एवं उनके हल*—सामान्य समस्यायें—(१) कच्चे माल की कठिनाई, (२) पूँजी का अभाव, (३) विक्रय की कठिनाई,

(४) शिल्पियों की अशिक्षा तथा रूढ़िवाद एवं प्रशिक्षण का अभाव, (५) वैज्ञानिक यन्त्रों का अभाव एवं दूषित निर्माण विधि, (६) कर-समस्या, (७) जन-सहयोग की आवश्यकता। लघु उद्योगों की कुछ प्रमुख समस्यायें। एक ऐसी योजना बनाई जाय, जिसके अनुसार सभी विभागों के उद्योग परस्पर पूरक के रूप में कार्य करें।

८. *कुटीर एवं वृहत् उद्योगों में समन्वय*—हमारी अर्थ-व्यवस्था ऐसी हो, जिसमें बड़े पैमाने के उद्योग एवं कुटीर-धन्धे सभी को उचित स्थान मिले।

९. *कुटीर धन्धे तथा सरकार*—वास्तविक प्रगति १५ अप्रैल सन् १९४७ के बाद। योजना कमीशन द्वारा इनके महत्त्व पर बल देना। कुटीर-उद्योग बोर्ड की स्थापना। विक्रयशालाओं तथा प्रदर्शनियों का आयोजन। राष्ट्रीय लघु-उद्योग निगम की स्थापना। औद्योगिक बस्तियों की स्थापना। उधार मिलने की व्यवस्था। शैल्पिक सहायता। विदेशी विशेषज्ञ।

१०. *कुटीर एवं लघु-उद्योगों का भविष्य*—द्वितीय पञ्च-वर्षीय योजना के एक दर्शन-मात्र से यह स्पष्ट है कि इन उद्योगों का भविष्य उज्ज्वल है।

११. *निष्कर्ष*।

प्रस्तावना—

सामान्यतः उद्योग तीन प्रकार के होते हैं—विशाल-उद्योग, लघु-उद्योग और गृह अथवा कुटीर उद्योग। जो उद्योग बड़ी बड़ी मशीनों तथा विद्युत की सहायता से चलाये जाते हैं, जिन कारखानों में सहस्रों श्रमजीवी काम करते हैं एवं लाखों-करोड़ों की पूँजी लगी हुई है तथा जहाँ बड़ी मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन होता है, वे 'विशाल-उद्योग' की श्रेणी में आते हैं। लघु-उद्योग बोर्ड की परिभाषानुसार 'लघु-उद्योग' की श्रेणी में उन समस्त कारखानों अथवा संस्थाओं का समावेश किया जाता है, जिनमें पाँच लाख रुपये से कम की पूँजी लगी हो तथा विद्युत शक्ति के प्रयोग की दशा में, जिनमें ५० तक व्यक्ति कार्य करते हों और शक्ति के अभाव में १०० तक श्रम-जीवी कार्य करते हों। 'कुटीर-उद्योग' से आशय ऐसे उद्योग का है, जो पूर्णतः अथवा मुख्यतः परिवार के सदस्यों की सहायता से चलाया जाता है और यदि ऐसे धन्धे कारखानों में किये जाते हों तो काम करने वाले श्रमिकों की संख्या ९ से अधिक न हो। भारतीय प्रशुल्क मण्डल ने अपनी सन् १९५० की रिपोर्ट में कुटीर-उद्योग की परिभाषा के अन्तर्गत ग्राम्य तथा शहरी दोनों प्रकार के ही कुटीर-उद्योगों को सम्मिलित किया है। इस सम्बन्ध में विद्युत शक्ति एवं यन्त्रों का उपयोग करना अथवा न करना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता, अर्थात् यदि मुख्यतः एक ही परिवार के सदस्य बिजली एवं छोटे-मोटे यन्त्रों की सहायता से कोई उद्योग चलाये तो वह कुटीर-उद्योग की ही श्रेणी में आयेगा। संक्षेप में, ऐसे उद्योगों को हम गृह-उद्योग कह सकते हैं, जिनमें 'पूँजी, प्रबन्ध और श्रम' का सम्बन्ध लुप्त हो जाता है तथा जो उद्योग-स्वामी के घर में

ही, उसी के परिवार के सदस्यों द्वारा चलाया जाता है। अन्य दोनों प्रकार के उद्योग "विशाल और लघु उद्योग" में 'पूंजी प्रबन्ध और श्रम' का सम्बन्ध होता है तथा इन दोनों प्रकार के उद्योगों में सुसचालित कारखानों के अन्दर किराए के श्रमिक काम करते हैं और इनके कारखाने सामान्यतः शक्तिचालित हुआ करते हैं।

भारतीय कुटीर-धन्धों का गौरवपूर्ण अतीत—

प्राचीन काल से ही भारत के आर्थिक कलेवर में लघु तथा कुटीर-धन्धों का एक विशिष्ट स्थान रहा है। ढाका की मलमल, बनारस की साड़ियाँ, काश्मीर के शाल, धातु की मूर्तियाँ, लकड़ी के खिलौने आदि विश्व प्रसिद्ध वस्तुयें इन्हीं कुटीर-धन्धों में बनती थीं। हमारे कुटीर-धन्धों के सम्बन्ध में भारतीय औद्योगिक आयोग सन् १९१८ की रिपोर्ट से स्पष्ट होता है कि "एक समय, जबकि आधुनिक औद्योगिक पद्धति के उद्गम-स्थान पश्चिमी योरप में असभ्य जातियों का निवास था, उस समय भारत अपने शिल्पियों की उच्च कला तथा राजाओं की सम्पत्ति के लिये प्रख्यात था।" विदेशों से हमारे कुटीर-धन्धों की वस्तुओं के लिये अतुल संख्या में माँग आती थी तथा जब विदेशी व्यापारी भारत में सर्वप्रथम आये, उस समय भी कुटीर धन्धों का उत्पादन एवं हमारे कारीगरों की कुशलता योरपीय देशों से एवं उनके उद्योगों से बढ़ कर ही थी। हमारे कुटीर-धन्धों द्वारा निर्मित माल विदेशों में (जैसे—ग्रीस, रोम, मिश्र, ईरान, अरब, सीरिया आदि) भेजा जाता था।

कुटीर-उद्योग का पतन कैसे हुआ ?—

किन्तु जब से ईस्ट इण्डिया कम्पनी का भारत में प्रवेश हुआ तथा जब से उन्होंने व्यापारिक दृष्टि के स्थान पर राजनैतिक दृष्टि अपनाकर क्रमशः १८ वीं शताब्दी में भारत के शासन की बागडोर सम्भाली, हमारे कुटीर-धन्धों के भाग्य ने पलटा खाया और शासकों की राजनैतिक एवं आर्थिक नीति के कारण कुटीर-धन्धों की अवनति होती गई। अवनति के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) *राजा और नवाबों का अन्त*—ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत में राजनैतिक शासन जमाने के बाद आर्थिक शासन जमाकर अपना रुख भारत के आर्थिक शोषण की ओर किया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के पास राजनैतिक सत्ता जाने से भारतीय राजा और नवाबों की स्थिति वर्तमान राज-प्रमुखों की भाँति हो गई। परिणामस्वरूप राजा महाराजाओं द्वारा कुटीर-पदार्थों की जो माँग थी, वह नष्ट प्रायः हो गई और इससे कुटीर-उद्योग को गहरा आर्थिक धक्का लगा। लार्ड डलहौजी की विनाशकारी नीति के कारण देश की छोटी-छोटी राजधानियाँ भी लुप्त हो गईं, जो प्राचीन कला-कौशल की केन्द्र थीं और जहाँ कुटीर-शिल्पियों को आश्रय मिलता था। इससे बची-खुची कला-कौशल की माँग भी समाप्त हो गई।

(२) *नये सामन्तवादी वर्ग का उदय*—राजनैतिक सत्ता जाने के परिणामस्वरूप भारतीय राजा और नवाबों की सत्ता का अन्त हो गया और एक नये समाज का

उदय हुआ, जिसे हम 'सामन्तवादी वर्ग' कह सकते हैं। इस वर्ग का उदय ब्रिटिश शासकों ने शासन प्रणाली का संचालन करने के लिये किया, जो शरीर से एवं जन्म से भारतीय थे, परन्तु उनकी आत्मा एवं विचारधारा अपने शासकों की तरह अंग्रेजियत से ओत-प्रोत थी। यह सामन्तवादी वर्ग अंग्रेजों की अन्धी नकल करने में अपना गौरव समझता था, जिसका प्रभाव हमारे कुटीर धन्धों पर बहुत बुरा पड़ा। श्रीमती वीरा एन्सटे का कहना है कि इन नए वर्ग के लोगों ने पश्चिमी फैशन ग्रहण करना आरम्भ किया, उन्होंने या तो पश्चिमी देशों में बनी वस्तुओं को खरीदना आरम्भ कर दिया अथवा देशी वस्तुओं का क्रय शुरू किया, जो पहले योरोपियन लोगों को बेची जाती थीं और जिन्हें स्वयं भारतवासी घृणा की दृष्टि से देखते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि कलात्मक एवं मौलिक वस्तुओं के उत्पादन को गहरा आघात पहुँचा।

(३) *ब्रिटिश शासन की आर्थिक एवं औद्योगिक नीति*—ब्रिटिश शासन की आर्थिक एवं औद्योगिक नीति उपेक्षापूर्ण थी। अत्याचार करके तथा अनेक कूटनीतियों के सहारे भारतीय उद्योगों को गिराया गया। सन् १८१३ में तो यह बिल्कुल निश्चय ही कर लिया गया कि भारत के उद्योग धन्धों को नष्ट कर दिया जाय और इङ्गलैंड के व्यापार को बढ़ाने के लिये वहाँ का बना हुआ माल भारतवासियों के सिर बलात् मढ़ दिया जाय। इसके अतिरिक्त इङ्गलैंड के व्यापार को बढ़ाने के उद्देश्य से ही इङ्गलिस्तान के बने हुए माल पर महसूल घटा कर कुल कीमत का २½% कर दिया गया और कुछ विशेष वस्तुओं पर तो महसूल बिल्कुल ही हटा दिया गया। इन करों का मुख्य उद्देश्य अंग्रेजी उद्योगों को सहायता पहुँचा कर उनको नये विस्तृत क्षेत्र प्राप्त करा देने का था।

(४) *भारतीय माल पर इङ्गलैंड में वैधानिक प्रतिबन्ध*—इतना ही नहीं, अपितु इङ्गलैंड में कानून द्वारा भारतीय वस्तु, जैसे—छींट, केलिको आदि का उपयोग रोकने के लिये भी प्रयत्न किये गये तथा उपयोग करने वालों को दण्ड दिया गया। इसका भी एक उदाहरण मिलता है, जब एक अंग्रेज महिला ब्रिटिश सभा गृह में गई तो उसके पास भारतीय केलिको का रूमाल था, इसलिये उसे २० पौण्ड से दण्डित किया गया।

(५) *भारतीय कारीगरों पर नियन्त्रण*—ईस्ट इण्डिया कम्पनी के संचालकों ने कम्पनी के भारत स्थित अधिकारियों को यह आदेश दिया कि भारत में वस्त्र शिल्पियों पर कड़ा नियन्त्रण रखा जावे, जिससे वे केवल विशेष प्रकार का कपड़ा विशेष नम्बर के सूत से ही बुन सकें। बुनने की मात्रा भी नियन्त्रित कर दी गई। भारत के अच्छे अच्छे कारीगर कम्पनी की इच्छानुसार काम करने एवं अपने द्वारा निर्मित वस्तुओं को निश्चित मूल्यों पर बेचने के लिये बाध्य किये गये। श्री रमेशदत्त ने एक स्थान पर यह भी लिखा है कि मलमल बुनने वाले अनेक जुलाहों की उँगलियाँ कटवाईं, इस प्रकार ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारतीय शिल्पियों को चारों ओर से कड़े नियन्त्रण में रख कर भारतीय कला कौशल का गला घोंट दिया।

(६) *यातायात के आधुनिक साधनों की उन्नति*—यातायात के साधनों की उन्नति से अन्य देशों की आर्थिक दशा सुधरी, किन्तु इससे भारत का गौरवमय कलेवर नष्ट हो गया। रेलों के विकास से ग्रामीण उद्योगों को बड़ा धक्का पहुँचा। रेल, तार, डाक, सड़कें, जहाज़ आदि यातायात एवं सन्देशवाहन के विभिन्न साधनों के विकास करने का एकमात्र उद्देश्य था—'अंग्रेजी व्यापारिक माल की वृद्धि और वहाँ के निर्मित माल को भारत में खपाना'।

(७) *विदेशी वस्तुओं से प्रतियोगिता*—विदेशी राजनैतिक सत्ता के कारण इङ्गलैंड से मशीनों की बनी हुई वस्तुयें हमारे देश में आने लगीं और उनकी प्रतियोगिता में हमारे ये छोटे धन्धे न टिक सके। ग्रामों की स्वावलम्बी इकाइयाँ भंग होने लगीं तथा मशीनों द्वारा बड़े-बड़े कारखानों में बने हुए सस्ते माल की प्रतियोगिता, हमारे उद्योगों के प्रति सरकार की उदासीनता एवं लोगों के रहन-सहन, रीति रिवाज तथा सामाजिक सभ्यता में परिवर्तन होने से हमारे कुटीर-धन्धों के पाँव उखड़ने लगे। परिणाम यह हुआ कि जो कुटीर एवं लघु-उद्योग इस परिवर्तनीय स्थिति में समायोजन न कर सके, उनका अन्त हो गया तथा शेष कुटीर धन्धों ने अपना अस्तित्व किसी न किसी प्रकार कायम रक्खा।

फिर भी कुटीर-धन्धों का अस्तित्व क्यों ?—

इतनी अवनति के पश्चात् आज भी ये छोटे कर कुटीर-धन्धे आर्थिक जीवन के प्रमुख अंग बने हुये हैं। अपने अस्तित्व को टिकाने में कुटीर-धन्धे क्योंकर सफल हुये, इसकी कहानी भी बड़ी रोचक है। प्रथम तो भारतवासियों के 'घर रहने की प्रवृत्ति' के कारण और अन्य रोज़गार की प्राप्ति न होने के कारण उन्होंने अपना कौटुम्बिक व्यवसाय चालू रखा एवं इनको जीवित रखने में जाति प्रथा का भी सहयोग मिला। दूसरे, देश की लगभग ७० प्रतिशत जन-संख्या का प्रमुख व्यवसाय अथवा आजीविका का साधन कृषि है और इस व्यवसाय में वर्ष के लगभग ६ माह कृषि सम्बन्धी क्रियायें होती हैं, अतः शेष बेकार अवधि में उन्होंने अपनी आय बढ़ाने के लिये कुटीर-धन्धों को अपनाया। तीसरे, स्वतन्त्र श्रमजीवी शिल्पी समुदाय को जिसने स्वतन्त्र वृत्ति से अपने कुटुम्बियों के साथ घर के प्रसन्न एवं आह्लादपूर्ण वातावरण में काम किया है, संगठित कारखानों की कष्टमय एवं अनुशासनपूर्ण परिस्थिति में काम करना नापसन्द था। इस प्रवृत्ति के कारण उन्होंने अपने पुराने उद्योग ही, जो ख्याति प्राप्त थे एवं जिनके पीछे सदियों का इतिहास था, चालू रखना अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की दृष्टि से श्रेयस्कर समझा। चौथे, कुछ विशेष कुटीर-उद्योग ऐसे हैं, जिनके द्वारा किया जाने वाला उत्पादन आधुनिक कारखानों में नहीं हो सकता था, इसके साथ ही हमारे समाज में अनेक व्यक्ति ऐसे भी थे, जिनसे कुटीर-उद्योगों को विशेष प्रोत्साहन मिलता रहा, जैसे—अमीर, उमराव, सरदार, ज़मींदार आदि। ये लोग कुटीर निर्मित माल ही विशेषतः खरीदते थे। फिर स्थानीय माँग की पूर्ति करने के लिये भी कुटीर-धन्धों की आवश्यकता थी। इस कारण भी वे गाँवों में जीवित रहे।

पाँचवे, स्वदेशी आन्दोलन के द्वारा भी इन्हें काफी सहारा मिला तथा सन् १६२१ और सन् १६३१ के राजनैतिक आन्दोलनों में खादी तथा अन्य देशी वस्तुओं के उपभोग पर जोर दिया गया, इससे ये धन्धे और भी उभरने लगे। सन् १६३६-३७ में जब प्रान्तीय शासन-व्यवस्था कांग्रेस के हाथ में आई तो इन धन्धों को विशेष प्रोत्साहन मिला। फिर, द्वितीय युद्ध-काल में नागरिक उपभोग के लिये कारखानों में घने धन्धों की संख्या बढ़ी और इनमें काम करने वाले कलाकारों को प्रोत्साहन मिला। इस सम्बन्ध में यह न भूलना चाहिये कि कुटीर-उद्योग को जीवित रखने का एक बड़ा भारी श्रेय महात्मा गाँधी के स्वदेशी आन्दोलन तथा गाँधीजी द्वारा संस्थापित अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ, अखिल भारतीय कताई संघ आदि संस्थाओं को है, जिनका सचालन आज गाँधी अर्थवाद के कट्टर अनुयायी श्री जे० सी० कुमारप्पा कर रहे हैं।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था में कुटीर-धन्धों का महत्त्व—

✓ भारत जैसे विशाल जन-संख्या वाले एवं कृषि प्रधान देश में कुटीर एवं छोटे उद्योगों के जितने भी गुण गाये जायें, कम ही होंगे। औद्योगीकरण की किसी भी देश-व्यापी योजना में इनको सम्मिलित करना तथा उचित स्थान देना अनिवार्य हो गया है। भारत के निवासी दरिद्र हैं तथा अधिकांश जनता का जीवन-स्तर बहुत नीचा है। यदि किसानों की वास्तविक स्थिति का अवलोकन करें तो सचमुच रोना आ जाता है। आय कम होने के कारण उन्हें जीवन की आवश्यक वस्तुओं का अभाव रहता है। उनके पास भूमि इतनी कम है कि वे वर्ष भर पूरी मेहनत भी नहीं कर सकते। कृषि के शाही कमीशन ने लिखा है—"भारतीय कृषि की एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस पर काम करने वाले कृषक को वर्ष भर काम करने की आवश्यकता नहीं होती। वर्ष में कम से कम चार महीने वह बिल्कुल खाली रहता है। ऐसे खाली समय में उसे तथा उसके परिवार को कोई काम देने के लिये छोटे-छोटे कुटीर-धन्धों की आवश्यकता है।" भारतीय बैंकिंग जाँच कमेटी का भी मत है —"कृषक तथा उसके परिवार को उनके खाली समय में काम देने के लिये कुटीर-धन्धे स्थापित करना बहुत आवश्यक है। इस प्रकार वह अपनी आय भी बढ़ा सकता है।" डाक्टर राधाकमल मुकर्जी की खोज के अनुसार—"उत्तर-भारत में ऐसे अनेक प्रदेश हैं, जहाँ कृषक वर्ष में लगभग २०० दिन बेकार रहते हैं। कहीं-कहीं तो, जहाँ सिंचाई के अच्छे साधन प्राप्त हैं, वे इससे भी अधिक समय तक बेकार रहते हैं। जिस किसान के पास भूमि कम है, उससे तो सारे परिवार को भी उस पर काम करने की आवश्यकता नहीं होती, अतः उन लोगों को ऐसा काम देने की आवश्यकता है, जिसे ग्रहण कर वे अपनी आवश्यक वस्तुयें बना सकें तथा अपनी आमदनी में वृद्धि भी कर सकें।" राष्ट्रीय योजना समिति सन् १६३६ के मतानुसार भी "ग्रामीण भारत की अधिकांश जन-संख्या अपने भौतिक कल्याण के लिये अपनी आवश्यकता की पर्याप्त वस्तुयें प्राप्त नहीं कर पाती, अतः उनके लिये कुटीर-धन्धों का स्थापित करना बहुत आवश्यक है।"

डाक्टर बी० पी० नारायण स्वामी नायडू, सदस्य प्रशुल्क मण्डल; अपने एक

लेटर[1] में लिखते हैं—"कुटीर तथा अन्य छोटे उद्योगों का महत्व भली प्रकार न समझने का एक प्रधान कारण यह भी है कि हमको इस बात का पूर्ण ज्ञान नहीं है कि विश्व के अन्य उन्नतिशील औद्योगिक राष्ट्रों में कुटीर-धन्धों को क्या स्थान प्राप्त है। गत महायुद्ध के पूर्व जापान का नाम एक ऐसे आदर्श राष्ट्र के रूप में लिया जाता था, जिसकी औद्योगिक प्रगति का श्रेय छोटे-मोटे धन्धों को ही था। आज भी पश्चिम के अधिक उन्नतिशील देशों (जैसे संयुक्त राष्ट्र अमेरिका) में सामुदायिक योजनाओं के अन्तर्गत जो छोटे छोटे उद्योग-धन्धे चलते हैं, वे बड़े सफल एवं प्रचलित हैं तथा इनके निर्मित पदार्थ कारखानों द्वारा बने हुये माल से अच्छे समझे जाते हैं।" श्री ग्रीन ने कहा है—"यदि खराब मौसम तथा शीतकाल में प्राचीनकाल की तरह कुछ आय देने वाला काम कृषकों को मिले तो यह एक महत्वपूर्ण वरदान होगा।"[2] इसी प्रकार इटली के सम्बन्ध में भी यह कहा जाता है कि "जहाँ मलबरी के वृक्ष हैं, वहाँ किसान महिलायें बहुधा पूर्ण रूप से कताई में व्यस्त रहती हैं।" अब यह विचारणीय प्रश्न हो जाता है कि जब औद्योगिक दृष्टि से उन्नत एवं कम जन संख्या वाले देशों में भी कुटीर-धन्धों का इतना अधिक महत्व है, तो भारत में, जहाँ भूमि पर जन संख्या का भार अधिक है और चहुँ ओर बेकारी फैली हुई है, कुटीर एवं छोटे परिमाण के धन्धों का महत्व और भी अधिक हो जाता है। इसी दृष्टि से पूज्य गांधीजी ने एक स्थान पर लिखा है—"यन्त्रीकरण तब ही उचित है, जबकि कार्य के लिये श्रमिक बहुत ही कम हों, किन्तु यदि काम के लिये आवश्यकता से अधिक श्रमिक हैं, जैसे कि भारत में, तो यह एक बुराई है। हमारे सामने समस्या यह नहीं है कि गाँवों में बसने वाले करोड़ों नर-नारियों के लिये अवकाश कैसे प्राप्त करें, अपितु समस्या यह है कि खाली समय का सदुपयोग कैसे किया जाय?" पूज्य महात्मा जी यन्त्रों के उपयोग के विरुद्ध नहीं थे, किन्तु वे यह नहीं चाहते थे कि मनुष्य उनका दास हो। उन्होंने देखा कि देश में एक ओर तो बेकारी बढ़ती जा रही है और दूसरी ओर पूँजी की कमी है, अतः उन्होंने कुटीर-धन्धों को अपनाने का विशेष आदेश दिया।

क्या कुटीर-धन्धे प्रतियोगिता में टिक सकेंगे?—

अब प्रश्न यह है कि क्या हमारे कुटीर-धन्धे विशाल उद्योगों की प्रतियोगिता में टिक सकेंगे? इस सम्बन्ध में, यदि हम आशावादी बनें तो अनुचित न होगा। आज कुछ ऐसी बातें हैं, जिनके कारण कुटीर-धन्धे सफलतापूर्वक बड़े उद्योगों का सामना कर सकते हैं। एक तो विद्युत का प्रयोग बढ़ने से इन धन्धों में बिजली द्वारा मशीन चलाने में सुविधा होगी तथा इन धन्धों को बाह्य एवं आन्तरिक बचतों का लाभ मिल सकेगा। दूसरे, आज प्रत्येक समाज में कुछ ऐसी वस्तुओं की माँग बढ़ती जा रही है, जो सरलतापूर्वक सस्ते मूल्यों पर इन धन्धों में बनाई जा सकती हैं। तीसरे,

1 'Cottage and Small scale Industries—Their importance to Indian Economy"—by Dr B V. Narayanswami Naidu —Commerce Annual Review Number, page 22 A

2 Rural Industries in England—Green

देश की सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक परिस्थिति को ध्यान में रखते हुये भी ऐसा कहा जा सकता है कि ये धन्धे प्रतियोगिता में असफल न होंगे।

अब हम निम्नलिखित प्रत्येक दृष्टिकोण से कुटीर-धन्धों द्वारा औद्योगीकरण के महत्व को देखेंगेः—

(१) *पूर्ण रोजगार की आवश्यकता*—आर्थिक, सामाजिक अथवा राजनैतिक दृष्टि से किसी भी देश में बेकारों की अधिक संख्या रहना अथवा पूर्ण रोजगार न रहना एक अभिशाप है। बेकारी का सबसे बड़ा दोष भौतिक नहीं, वरन् नैतिक है। इससे केवल अभाव ही नहीं, वरन् घृणा तथा भय को भी जन्म मिलता है। भारत की वर्तमान परिस्थिति में, जबकि साम्यवाद का प्रसार बड़ी तेजी से हो रहा है तथा बेकारी एवं अन्य समस्याओं के कारण साम्यवाद की ओर जनता की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है, बेकारों की अधिक संख्या राजनैतिक शान्ति के लिए बाधक हो सकती है, अतएव बेकार लोगों के लिए पूर्ण रोजगार का आयोजन करना अत्यन्त आवश्यक है। श्रीयुत श्रीमन्नारायण अग्रवाल के अनुमानानुसार सन् १९४१ में लगभग २० मिलियन *श्रमिक बेरोजगार थे।* यही संख्या कितनी अधिक है, फिर आज की स्थिति तो और भी गम्भीर हो गई है।* इस सम्बन्ध में यह लिखना अनावश्यक न होगा कि आज एक साधारण पद के लिए एम० ए० एवं बी० ए० पास व्यक्ति अपने प्रार्थना-पत्र भेजते हैं, जबकि उस पद के लिए केवल मैट्रिक पास व्यक्ति ही उपयुक्त हैं।

भारत वास्तव में गाँवों का देश है, इसकी अधिकाँश जन-संख्या देश के पाँच लाख गाँवों में तथा लगभग तीन हजार कस्बों में रहती है। अधिकाँश लोगों का व्यवसाय भी या तो कृषि है अथवा वे कृषि-श्रमिक हैं, जिनसे उन्हें पर्याप्त आमदनी नहीं होती, इसलिये कृषि को कार्यक्षम बनाने के लिए पूरक धन्धों की आवश्यकता है, जिससे [illegible] जन-संख्या को काम मिले। भारतीय कृषक वर्ग वर्ष की सम्पूर्ण अवधि में कृषि-कार्य न करते हुए कुछ मास तक बेकार रहता है। यहाँ प्रश्न यह है कि क्या बड़ी मात्रा के उद्योग बेकारी की समस्या को हल नहीं कर सकते ? पिछली शताब्दी में भारत में सगठित उद्योगों का इतना विकास होने पर भी केवल सैंतालीस-अड़तालीस लाख मजदूरों को रोजगार मिला है, अतएव यदि बड़े-बड़े उद्योगों को ही और अधिक विकसित किया जाये तो कुछ व्यक्तियों को रोजगार और मिल जायेगा। इससे बेकारी की समस्या पूर्ण रूप से हल न होगी। इसके अतिरिक्त संगठित उद्योग-धन्धों का विकास होने से श्रमिकों का केन्द्रीयकरण विशेषतः औद्योगिक नगरों में होता है, नई-नई औद्योगिक एवं श्रम सम्बन्धी समस्यायें उपस्थित होती हैं तथा सरकार एवं उद्योगपतियों को सामाजिक सुरक्षा अथवा सामाजिक बीमा पर अधिक खर्च करना पड़ता है, इसलिए यदि कुटीर-धन्धों का विकास किया जाये तो इसमें बचत होकर बेकारी की समस्या का हल हो सकता है। भारत में पूँजी की कमी है और जन-संख्या बहुत बड़ी है, अतएव भारत के औद्योगिक विकास में उन उद्योगों का बहुत ऊँचा स्थान

* S. N. Agarwal—'Gandhian Plan Reaffirmed'—p 35

होना चाहिये, जिनमें अधिक से अधिक व्यक्ति काम करें एवं जिनमें कम से कम पूँजी की आवश्यकता हो। ऐसे उद्योग कुटीर तथा लघु-उद्योग ही हो सकते हैं। हमारी दैनिक आवश्यकता की हजारों वस्तुएँ इन उद्योगों द्वारा बनाई जा सकती हैं। ये उद्योग ज्यों ज्यों बढ़े गे, त्यों-त्यों इनकी बनाई चीजों की माँग भी बढ़ेगी। फलत. बेकारी का नाश होगा। इस प्रकार उत्पादन, उपार्जन और उपभोग की श्रृङ्खला इन उद्योगों द्वारा ही सन्तुलित एवं गतिशील हो सकती है।

(२) *औद्योगिक उत्पादन का समान वितरण*—देश की चहुँमुखी उन्नति के लिये भी कुटीर धन्धों की शरण लेनी पड़ेगी। बड़े-बड़े उद्योगों के द्वारा देश का समान औद्योगिक विकास सम्भव नहीं है। वर्तमान समय में सगठित उद्योगों का केन्द्रीयकरण किंचित नगरों में ही है, जैसे—बम्बई, कलकत्ता; कानपुर इत्यादि। इससे उत्पादन का समान वितरण नहीं होता है, देश की चहुँमुखी उन्नति नहीं होती तथा प्रान्तों में परस्पर वेमनस्य होता है, जो एकता की दृष्टि से हानिकारक है। इसके अतिरिक्त केवल नगरों का ही विकास होने से और गाँव की ओर ध्यान न देने से देश की आय एवं उद्योग का समान वितरण न होकर देश का आर्थिक विकास एकांगी होता है, अतएव उद्योगों का विकेन्द्रीयकरण अनिवार्य है, जिससे आधुनिक ढङ्ग पर सञ्चालित कुटीर-धन्धों का विकास होकर वे सगठित बड़े-बड़े उद्योगों के लिये पूरक हो सकें।

(३) *आय का समान वितरण*—बड़े परिमाण के उद्योगों के द्वारा राष्ट्रीय आय का एक बहुत बड़ा हिस्सा केवल कुछ भागों में ही केन्द्रित हो जाता है तथा आय का समान वितरण नहीं होता और असमानता बढ़ती है। कुटीर-उद्योगों को प्रोत्साहन देने से ही यह असमानता काफी सीमा तक दूर की जा सकती है। इस दृष्टि से श्री गाडगिल ने अपने आर्थिक नीति सम्बन्धी वक्तव्य में कहा है—' आधारभूत एवं छोटे परिमाण के उद्योग धन्धों के विकास एवं रोजगार के अवसरों को बढ़ाने पर पर्याप्त बल देना चाहिये, जिससे आर्थिक असमानता का अन्त हो।'*

(४) *श्रमजीवी एवं पूँजीपतियों के सम्बन्ध*—वर्तमान औद्योगिक अशान्ति का मुख्य कारण बड़े-बड़े उद्योग ही हैं, अतएव औद्योगिक शान्ति लाने के लिए कुटीर-उद्योगों को प्रोत्साहन देना अनिवार्य हो जाता है। कुटीर-उद्योगों के अन्तर्गत प्रत्येक सेवायुक्त ही सेवायोजक होता है, श्रम एवं पूँजी में अधिक अन्तर नहीं होता है। यदि किसी कुटीर-उद्योग में अधिक श्रमिक होते भी हैं तो स्वामी तथा नौकर की भावना नहीं होती है। इससे हड़तालें तथा ताले-बन्दियाँ नहीं होतीं, आर्थिक उथल पुथल भी कम हो जाती है, प्रतिद्वन्दिता रहती है, किन्तु उसका रूप स्वस्थ होता है और गला घोंटने वाली प्रतिस्पर्धा नहीं होती है। इस प्रकार कुटीर-उद्योगों के द्वारा ही औद्योगिक शान्ति की आशा की जा सकती है।

(५) *युद्ध तथा सुरक्षा*—यहाँ यह कहना तो अतिशयोक्ति होगा कि कुटीर-

---

* Resolution on 'the Economic Policy' at A I C C Session Indore, put up by Shri N V Gadgil on 14th Sept, 1952

उद्योग व्यवस्था के अन्तर्गत युद्ध न होंगे, किन्तु इतना अवश्य कह सकते हैं कि ऐसी अर्थ-व्यवस्था में राजनैतिक अशान्ति की शङ्का कम हो जाती है। यह डंके की चोट पर कहा जा सकता है कि यदि आज विश्व महात्मा गान्धी की अहिंसात्मक नीति का पालन करे तो कभी युद्ध न हों। राजनैतिक सुरक्षा की दृष्टि से भी कुटीर-उद्योगों को प्रोत्साहन देना राष्ट्र के ही हित में होगा। औद्योगिक केन्द्रीयकरण का सबसे बड़ा दोष यह है कि यदि किसी एक विशेष स्थान पर एटम छोड़ दिया जाये तो उस स्थान के समस्त उद्योग नष्ट-भ्रष्ट हो जायेंगे, अतएव विकेन्द्रीयकरण का महत्व स्पष्ट है। विकेन्द्रीयकरण के इस कार्य में कुटीर-उद्योगों द्वारा सबसे अधिक सहायता मिल सकती है, क्योंकि भारत में गाँवों का वितरण प्रायः समान है और यदि उनमें कुटीर-उद्योगों को विकसित किया जाये तो केन्द्रीयकरण की समस्या तो हल होगी ही, साथ में समस्त भारत का समान औद्योगिक विकास होगा, अतः कुटीर-धन्धों के विकास की ओर पर्याप्त ध्यान दिया जाये।

(६) *उत्पादन व्यय*—यह तो अवश्य है कि बड़ी मात्रा में उत्पादन करने में काफी बचत होती है, किन्तु कुटीर-उद्योगों के सम्बन्ध में भी ऐसी बात कही जा सकती है। कुटीर-उद्योगों में सरल तथा साधारण एवं सस्ती वस्तुओं से उत्पादन किया जाता है। दूसरे, इस सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि हमको आर्थिक मूल्य नहीं, वरन् सामाजिक मूल्य पर ध्यान देना चाहिए। यद्यपि बड़े उद्योगों में मशीन-निर्मित वस्तु की अपेक्षा कुटीर-उद्योगों में निर्मित वस्तु का आर्थिक मूल्य अधिक होगा, परन्तु समाज के लिये उसका मूल्य बहुत ही कम होगा, क्योंकि थोड़े से पैसे अधिक देकर उपभोक्ता को ऐसा पदार्थ मिलता है, जो टिकाऊ होता है।

(७) *उत्पादन की क़िस्म*—इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि कारखाने में बने हुए माल की अपेक्षा हस्तनिर्मित माल अधिक कलात्मक एवं टिकाऊ होता है। कुटीर-उद्योगों में श्रमिक वस्तु के निर्माण में अपनी आत्मा निकालकर रख देता है और अपनी ख्याति के लिए वह भरसक प्रयत्न करता है, इसीलिए कुटीर-उद्योग-निर्मित माल की क़िस्म अच्छी होती है।

(८) *समाज के लिये महत्व*—बड़े-बड़े उद्योगों में यन्त्रों का अधिक प्रयोग होने से मनुष्य, मनुष्य न रह कर यन्त्रों का दास हो जाता है, जिससे उसको नैतिक एवं आध्यात्मिक शक्ति का ह्रास होता है और स्वास्थ्य भी गिरता है। यह बुराइयाँ कुटीर-धन्धों में नहीं रहतीं, क्योंकि इनमें वह अपनी इच्छानुसार कलात्मक वस्तुओं का उत्पादन कर सकता है। कुटीर-उद्योग व्यवस्था का प्रधान लक्षण सरलता है और आवश्यकताओं की सरलता में ही मानव जाति की मुक्ति निहित है—'सादा जीवन उच्च विचार, है मानव जीवन का सार'—जीवन की यह सरलता एवं सार, कुटीर-उद्योग व्यवस्था के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

कुटीर-धन्धों की समस्याएँ एवं उनके हल—

हमारे कुटीर-उद्योगों की कुछ ऐसी कठिनाइयाँ हैं, जिनके कारण कुटीर-धन्धे

आवश्यक उन्नति नहीं कर पाये है, यद्यपि विभिन्न प्रकार के उद्योगो की विभिन्न कठिनाइयाँ हैं, किन्तु कुछ सामान्य समस्याएँ निम्नांकित हैं :—

(१) कच्चे माल की कठिनाई—घरेलू धन्धों की सबसे बडी समस्या समय पर आवश्यक मात्रा मे उत्तम कोटि का कच्चा माल प्राप्त करने की है । कारीगरों को पर्याप्त मात्रा में उन्नत श्रेणी का कच्चा माल नहीं मिलता है। वे अधिकतर स्थानीय व्यापारियों से कच्चा माल खरीदते है और उस माल का उन्हें अधिक मूल्य देना पड़ता है और वस्तु भी अच्छी नहीं मिलती है। देश का अधिकांश कच्चा माल तो बड़े-बड़े कारखानों में ही खप जाता है और जो शेष बचता है, वह कुटीर कारीगरों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं होता है। इस समस्या के हल करने के लिए यह आवश्यक है कि उद्योगियों की अपनी सहकारी समितियाँ हों, जो उन्हे कच्चा माल लाकर दें। ये ही समितियाँ उनके माल को अच्छे भावों पर बेचने का भी प्रबन्ध करें। ऐसी समितियों के होने से मध्यस्थ लोग उद्योगियों का शोषण न कर सकेंगे।

(२) पूँजी का अभाव—पूँजी का अभाव कुटीर-उद्योगों की दूसरी बडी समस्या है । इन लोगों के पास न तो कच्चा माल खरीदने को पैसा है, न ये मशीन खरीद पाते हैं और न इनकी इतनी सामर्थ्य होती है कि माल बनाने के बाद अच्छे भावों का इन्तजार कर सकें । माल तैयार करते ही उन्हें बेचना पड़ता है, चाहे भाव अनुकूल हों या प्रतिकूल । ये लोग अधिकाँशतः गाँव के महाजन से अथवा कच्चे माल देने वाले व्यापारियों से रुपया उधार लेते है, जोकि ऊँची ब्याज दर पर रुपया देते हैं और अधिकतर तो इन्हें अपना माल ही ऋण देने वाले महाजन अथवा व्यापारी के हाथ सौंपना पड़ता है। बैंकिंग सुविधाओं का भी उनके लिए अभाव सा ही है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी ने यह सुझाव दिया कि कारीगरों को अपनी सहकारी समितियाँ स्थापित करनी चाहिए, जो सदस्यों को कम एवं उचित ब्याज पर ऋण देकर उनकी पूँजी विषयक आवश्यकतायें पूरी करें।

(३) विक्रय की कठिनाई—घरेलू उद्योगों के निर्मित माल की विक्रय-प्रणाली भी दोषपूर्ण है । कारीगर अपनी वस्तुओं की बिक्री उचित मूल्य पर नहीं कर सकते हैं। उन्हें कठिन प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। वे अपनी वस्तुओं की माँग का ठीक-ठीक अनुमान नहीं कर सकते है। वे अपनी वस्तुओं का विज्ञापन भी नहीं कर पाते हैं। विक्रय के लिए अभी तक कोई केन्द्रीय संस्था न होने के कारण कारीगरों के लाभ का एक बहुत बड़ा भाग मध्यस्थों की जेब मे जाता है, किन्तु अब केन्द्रीय कुटीर-उद्योग इम्पोरियम की स्थापना होने से यह दोष कुछ सीमा तक दूर हो गया है।

(४) शिल्पियों की अशिक्षा तथा रूढ़िवाद एवं प्रशिक्षण का अभाव—अधिकांश कुटीर कारीगर साधारण लिखना-पढ़ना भी नही जानते। नवीन तरीकों और औजारों को वे व्यवहार मे नहीं लाते और न कभी ऐसा प्रयत्न ही करते है कि उनके माल मे नवीनता आवे । अशिक्षा के कारण वे समरूप तथा उच्चकोटि का माल तैयार नहीं कर पाते हैं। यह बात भी निर्विवाद कही जा सकती है कि कुटीर-उद्योगों की पिछड़ी

हुई अवस्था का एक मुख्य कारण, उनमें अनुसन्धान तथा प्रशिक्षा का अभाव है। इसी कारण ये उद्योग वृहत् उद्योगों की स्पर्धा में टिक नहीं पाते हैं। देश में जितने भी ऐसे विशेषज्ञ उपलब्ध हो सकते हैं, उनकी सेवाओं को वृहत् उद्योग ले लेते हैं, अतः लघु उद्योगों में अनुसन्धान की सम्भावनाएँ कम हो जाती हैं। इस कठिनाई को दूर करने के लिए हमारे निम्न सुझाव हैं :—प्राइमरी स्कूलों में अनिवार्य रूप से शिक्षा दी जाय, तान्त्रिक शिक्षा के केन्द्र खोले जायें, आधुनिक प्रणाली से कार्य करने के लिए अनुसन्धान किया जाय, उत्पादन नये ढङ्ग से नवीन औजारों द्वारा किया जाय तथा कारीगरों को व्यावसायिक शिक्षा देने के हेतु प्रदर्शन-केन्द्र खोले जायें।

(५) *वैज्ञानिक यन्त्रों का अभाव एवं दूषित निर्माण विधि*—वैसे तो कुटीर-उद्योगों में औजारों की अधिक आवश्यकता नहीं होती है, किन्तु हमारे कारीगर इतने दरिद्र हैं कि उनको थोड़े से आवश्यक औजार भी दुर्लभ हैं। हमारे अधिकांश कारीगर उत्पादन की पुरातन रीतियों का ही अनुकरण करते हैं। गाँव में चमड़ा कमाने, बर्तन बनाने तथा खद्दर बुनने की विधियाँ इतनी भद्दी, पुरातन तथा अवैज्ञानिक हैं कि अधिकांश लोग उनसे निर्मित पदार्थों का उपभोग करना कम पसन्द करते हैं। परम्परागत विधियों का पालन करने के ही कारण हमारे कुटीर कारीगरों की कार्यक्षमता भी बहुत कम है। ऐसी परिस्थिति में यह आवश्यक है कि भारतीय कुटीर उद्योगों में उत्पादन विधि को सुधारा जाय और नवीन विधियाँ लोकप्रिय बना कर कारीगरों को उन्हें अपनाने की प्रेरणा दी जाय। स्थान स्थान पर ऐसे केन्द्र खोले जायें, जहाँ नये नये आधुनिक यन्त्रों का प्रदर्शन किया जाय तथा उनका प्रयोग भी बतलाया जाय। सरकार ऐसे आधुनिक यन्त्र कारीगरों को किश्तों पर दे और इस बात की जाँच करे कि वे उनका उपयोग करते हैं अथवा नहीं।

(६) *कर समस्या*—केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों ने कुटीर निर्मित पदार्थों पर कर लगाया है। वास्तव में ये उद्योग इस भार को सहन नहीं कर सकते हैं। आवश्यकता तो इस बात की है कि उन्हें कर से मुक्त करके आर्थिक सहायता दी जावे, जिससे वे कारखाना निर्मित माल से सफलतापूर्वक प्रतियोगिता कर सकें।

(७) *जन-सहयोग की आवश्यकता*—प्राचीन काल में कुटीर उद्योगों को राजा, महाराजा तथा जागीरदारों द्वारा प्रोत्साहन एवं सहायता मिलती थी। अंग्रेजों के शासन काल में यह बातें प्रायः लुप्त हो गईं और घोर विरोध के कारण उद्योग की अवनति ही होती गई। आज हमारा देश स्वतन्त्र है। जनता को चाहिये कि "स्वदेशी वस्त्र उपयोग आन्दोलन" करे तथा कुटीर निर्मित पदार्थों की माँग बढ़ावे।

लघु उद्योगों की समस्यायें जो बहुत अंशों में गृह उद्योगों से मिलती जुलती हैं, निम्न हैं :—(१) उचित मूल्य पर समुचित परिमाण में कच्चे माल की उपलब्धि, (२) शैल्पिक ज्ञान और कौशल तथा शिल्पी प्राप्त करना, (३) पर्याप्त पूंजी तथा चालू खर्च की व्यवस्था करना, (४) बढ़िया माल तैयार करना तथा उसका प्रतिमान निर्धारण, (५) उपयुक्त लाभप्रद बाजार खोज पाना, (६) उद्योग की क्षमता के

अनुसार यन्त्र तथा मशीनों का सुधार, (७) जहाँ आवश्यक हो, वहाँ सस्ती दर पर विद्युत शक्ति की प्राप्ति, (८) नये माल तथा बाजारों की दृष्टि से उपयुक्त स्थान पर लघु उद्योग चलाना तथा (९) देश में और विदेशी बाजारों में लघु उद्योगों के माल की बिक्री बढ़ाने के लिये निश्चित कदम उठाना। वास्तव में लघु उद्योगों की मूलभूत समस्या है, लघु और विशाल उद्योगों के बीच प्रतियोगिता समाप्त करना। इस सम्बन्ध में योजना आयोग ने मुख्य हल यही सुझाया है कि एक समन्वित राष्ट्रीय उत्पादन योजना बनाई जाय, जिसमें सभी विभागों के उद्योग परस्पर पूरक के रूप में कार्य करें।

उपर्युक्त समस्याओं के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि साधारण ग्राहक छोटे उद्योगों द्वारा निर्मित माल को पसन्द नहीं करते और जब तक माल नहीं बिकता, तब तक उद्योगी को उससे विशेष लाभ नहीं पहुँच सकता। माल के विक्रय के लिये यह आवश्यक है कि—(अ) माल ग्राहक की पसन्द का हो, (ब) अच्छा बना हो, (स) बाजार में अपेक्षाकृत सस्ता हो, (द) ग्राहक को उस पर विश्वास हो। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न उद्योगों में प्रयोग किए जाने वाले मालों के गुण सम्बन्धी प्रतिमान निश्चित कर दिये जायँ और उद्योगों द्वारा तैयार किये जाने के बाद केवल उन्हीं वस्तुओं को बाजार में भेजा जाय, जो एक निर्धारित प्रतिमान या आदर्श पर सही उतरती हों।

कुटीर एवं वृहत् उद्योगों में समन्वय—

भारत की अर्थ व्यवस्था में कुटीर उद्योग का इतना महत्व होते हुए भी यह सुझाव कि बड़े प्रमाण के उद्योग जड़ से उखाड़ देना चाहिये, राष्ट्र के लिए हितकर न होगा। देश के औद्योगीकरण के लिए आज बड़े बड़े उद्योगों की भी आवश्यकता है, तब ही हम विश्व के अन्य उन्नतिशील देशों के स्तर तक पहुँच सकेंगे, अतएव यदि हम केवल कुटीर-उद्योगों के आधार पर ही अपने आर्थिक विकास का स्तम्भ स्थापित करने की चेष्टा करें तो हमें विश्व के अन्य देशों से पृथक रहना पड़ेगा, किन्तु आज विश्व की स्थिति भिन्न है, हम अन्य किसी देश से अलग होकर नहीं रह सकते हैं, अतएव इनके समन्वय की आवश्यकता है। हमारी अर्थ-व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए, जिसमें बड़े पैमाने के उद्योग एवं कुटीर धन्धे सभी को उचित स्थान मिले। हाँ, इतना अवश्य है कि प्रत्येक प्रकार के उद्योग का क्षेत्र निश्चित कर देना चाहिए। उदाहरणार्थ, स्थूल उद्योग (Heavy Industries) और आधारभूत उद्योग (Key or Basic Industries) बड़े पैमाने पर ही विकसित करना चाहिये, क्योंकि ये उद्योग कुटीर आधार पर नहीं टिक सकते। ऐसे उद्योगों के उदाहरण है—लोहा एवं इस्पात का उद्योग, मशीन टूल्स एवं वाहन-उद्योग, विद्युत तथा शक्ति उद्योग, रासायनिक पदार्थ उद्योग, सुरक्षा उद्योग इत्यादि। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य उद्योग भी, जिनके उत्पादन देश के निर्यात के प्रधान अङ्ग हैं, बड़ी मात्रा पर ही विकसित होने चाहिए, जैसे—जूट उद्योग, सूती वस्त्र मिल उद्योग आदि। कुछ ऐसे भी उद्योग हैं, जो कि बड़े पैमाने पर एवं कुटीर आधार पर भी चलाये जा सकते हैं, जैसे—कताई-बुनाई उद्योग, काँच का उद्योग, चमड़े

का उद्योग, कागज का उद्योग, शक्कर का उद्योग आदि। कुछ उद्योग केवल कुटीर आधार पर ही विकसित होने चाहिए, जैसे—गलीचा एवं दरी का बुनना, कामदानी और चिकिन उद्योग, कढ़ाई का काम, होज़ियरी, बर्तन बनाने का उद्योग, सिल्क तथा ऊन उद्योग, दूध दही से सम्बन्धित उद्योग, साबुन बनाना, गुड़ बनाना, तेल निकालना, खिलौने बनाना, फर्नीचर उद्योग आदि। इन उद्योगों में कलात्मक वस्तुयें बनाने का विस्तृत क्षेत्र है। सच बात तो यह है कि कुटीर एवं बड़े पैमाने के उद्योगों के बीच अन्तर की कोई निश्चित रेखा नहीं खींची जा सकती है। उदाहरण के लिए, सूती वस्त्र उद्योग को ही ले लें। यह उद्योग बड़े परिमाण पर भी चलाया जा सकता है एवं कुटीर आधार पर भी। किन्तु इस सम्बन्ध में एक सुझाव यह है कि कताई का काम मिलों में हो और बुनाई का काम कुटीर कारीगरों को सौंपना चाहिये, क्योंकि मिल का कता हुआ सूत सुन्दर होगा एवं उसमें एकरूपता होगी और फिर ऐसे सूत को यदि कुटीर कारीगरों के द्वारा बुनवाया जाय तो वे उसमें अपनी सम्पूर्ण कला दिखला सकते हैं। दूसरा सुझाव यह है कि २० अथवा ३० काउन्ट्स के नीचे कताई तथा बुनाई दोनों का कार्य कुटीर श्रमिकों द्वारा कराया जाय और बढ़िया किस्म का कपड़ा बनाने के लिए मिलों से सहायता ली जाय। इसी प्रकार अन्य उद्योगों में भी कार्य विभाजित किया जा सकता है। सुन्दर सम्मिश्रण के द्वारा दोनों प्रकार के उद्योगों में समन्वय सम्भव है।

भारतीय पार्लियामेण्ट में बोलते हुए ६ मार्च सन् १९५६ को डाक्टर श्यामा प्रसाद मुकर्जी ने भी एक बार कहा था —"भारत का भविष्य दोनों प्रकार के उद्योगों के विकास में ही निहित है। यदि हम ग्राम्य जीवन का पुनर्निर्माण करना चाहते हैं तथा बेकारी की समस्या को हल करना चाहते हैं तो यह कार्य केवल बड़े पैमाने के उद्योगों द्वारा ही सम्भव न होगा, वरन् प्रादेशिक योजना के द्वारा ही हो सकता है, जिसमें बड़े उद्योग, माध्यमिक उद्योग एवं कुटीर उद्योग सभी को यथोचित स्थान मिले।

कुटीर-धन्धे तथा सरकार—

सन् १९४७ के पूर्व भारत में अंग्रेजी राज्य था और उन विदेशियों ने सद्भावना से कभी भी देश के विकास की ओर ध्यान नहीं दिया। हमारे कुटीर उद्योग अवनति की दशा में पड़े रहे। सन् १९३० के बाद देश के विभिन्न प्रान्तों में कुटीर धन्धों को पुनर्जीवित करने के लिए अवश्य कुछ प्रयत्न किए गये और इनका निरीक्षण करने के लिए सन् १९३५ में भारत के प्रत्येक प्रान्त में उद्योग विभाग की स्थापना की गई, किन्तु इन विभागों ने जितनी तत्परता एवं आत्मीयता से काम करना चाहिये था, नहीं किया। कुटीर धन्धों के भाग्य का सितारा तो १५ अगस्त सन् १९४७ की अर्ध रात्रि के बाद चमका। हमारी जन प्रिय सरकार अपने पूर्व वचनानुसार अब कुटीर उद्योगों के विकास के लिए पूर्ण प्रयत्न कर रही है। योजना आयोग ने कुटीर धन्धों के महत्व की वास्तविकता दर्शाते हुए अपनी रिपोर्ट में कहा है —"ग्रामीण विकास कार्य क्रम में कुटीर धन्धों का प्रमुख स्थान है यदि कृषि का वैज्ञानिकरण करना है तो सम्पूर्ण देश के अतिरिक्त श्रमिकों को, जो कुल जन संख्या के एक तिहाई हैं, काम देने का

साधन खोजना चाहिए । इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों की विशाल मानवीय एवं आर्थिक समस्याओं को सुलझाना होगा, इसलिए निकट भविष्य में कुटीर-धन्धों की आवश्यकता एवं उनका महत्त्व अधिक है, जिस पर बल देना होगा।" इसी महत्त्व को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने सहकारी उत्पादन एवं सहकारी विक्रय के तत्व को कुटीर-धन्धों के सम्बन्ध में मान्यता दी है। सन् १९४७ में, भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद, राष्ट्रीय सरकार ने इस दिशा में अधिक प्रोत्साहन दिया। कुटीर-उद्योगों के विकास एवं संगठन पर सलाह एवं सहायता देने के लिए कुटीर-उद्योग सभा (Cottage Industries' Board) की स्थापना की है। यह बोर्ड लघु एवं कुटीर-धन्धों का बड़े उद्योगों से समन्वय के सम्बन्ध में तथा भारत एवं विदेशों में कुटीर निर्मित माल के विक्रय को प्रोत्साहन करने के लिए सरकार को सलाह देता है। इसी बोर्ड की सिफारिश के अनुसार अप्रैल सन् १९५२ में देहली में 'सैन्ट्रल कॉटेज इम्पोरियम' की स्थापना कुटीर-धन्धों की वस्तुओं के विक्रय के लिए की गई। इसके अतिरिक्त कुटीर-धन्धों के माल का प्रदर्शन अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनियों में किया गया, जिससे विदेशी माँग में वृद्धि हुई। इसी प्रकार उसकी माँग बढ़ाने के लिए संयुक्त-राज्य, सीलोन, अफगानिस्तान, जापान, फिनलैण्ड इत्यादि देशों में भारतीय राजदूतावासों ने प्रदर्शनियों का आयोजन किया। केन्द्रीय तथा राज्यों के कुटीर-उद्योग इम्पोरियम कुटीर पदार्थों के विज्ञापन तथा विक्रय दोनों का ही कार्य करते हैं। हमारी सरकार ने आधुनिक ढङ्ग पर कुटीर-धन्धों का संगठन करने के लिए जापानी शिल्पज्ञों को नियुक्त कर दिल्ली में शिल्पियों की शिक्षा का आयोजन किया है। कुटीर-धन्धों के लिए तांत्रिक शिक्षा एवं नये-नये नमूने तथा खोज करने के लिए सरकार ने एक केन्द्रीय कुटीर-उद्योग इन्स्टीट्यूट इलाहाबाद, अलीगढ़ में खोली है। इस इन्स्टीट्यूट का स्त्री विभाग भी विशेष समिति की सिफारिशों के अनुसार सन् १९५० में नई दिल्ली में खोला गया। इसमें स्त्रियों के लिये कुटीर उद्योगों से सम्बन्धित शिक्षा का आयोजन किया गया है।

प्रथम पञ्च-वर्षीय योजना की अवधि में ग्रामोद्योग तथा लघु उद्योगों ने पर्याप्त प्रगति की है। सन् १९५१-१९५६ तक उन उद्योगों पर कुल ३१ करोड़ रुपया खर्च किया गया है। ४ फरवरी सन् १९५५ को एक राष्ट्रीय लघु-उद्योग निगम की स्थापना की गई है, जिसकी अधिकृत पूँजी १० लाख रुपये है तथा निर्गमित पूँजी २ लाख रुपये है। इसके सारे अंश सरकार ने क्रय कर लिये हैं।

इस निगम के मुख्य उद्देश्य हैं:—(क) सरकारी आर्डरों के ठेके लेना और फिर उन्हें छोटे पैमाने के औद्योगिक कारखानों को ठेके पर देना, (ख) जिन छोटे पैमाने के औद्योगिक कारखानों को ऐसे आर्डर ठेके पर दिये जाते हैं, उन्हें वांछित किस्म और प्रतिमान की वस्तुएँ तैयार करने तथा आर्डर पूरा करने के लिये आवश्यक ऋण और प्राविधिक सहायता देना, और (ग) ऐसे ही तरीकों से बड़े पैमाने और छोटे पैमाने के उद्योग धन्धों में सामञ्जस्य स्थापित करना, जिससे कि छोटे पैमाने के उद्योग-धन्धे बड़े

पैमाने के औद्योगिक कारखानों के लिए जरूरी सहायक उपकरण आदि वस्तुएँ तैयार कर सकें।

इसके ठेके लेने वाले विभाग ने सरकार के वस्तु क्रय विभाग से सम्पर्क स्थापित किया है और छोटे कारखानों को माल बनाने के ठेके दिलाने की काम चलाऊ व्यवस्था आरम्भ की है। सुधार या विस्तार के लिए लघु औद्योगिकों को जिन मशीनों और उपकरणों की आवश्यकता होती है, उन्हें आसान किस्तों पर किराया खरीद प्रणाली के अनुसार दिलाने की एक योजना भी निगम ने लागू की है। लघु औद्योगिकों के लाभ के लिए महत्वपूर्ण केन्द्रों पर कच्चा माल जमा करने के डिपो स्थापित करने की योजना भी इसने हाथ में ले रखी है। लघु उद्योगों के बने माल को देहातों में मोटर-दुकानों में रख कर बेचने का एक परीक्षण किया गया और इसके लिए अधिक गाड़ियाँ चलाने और एक विपणन संस्था चलाने की व्यवस्था की जा रही है।

इस वर्ष की एक नयी बात है, औद्योगिक बस्तियों की स्थापना। इनकी स्थापना का उद्देश्य स्वस्थ विकेन्द्रीकृत उद्योग व्यवस्था को प्रोत्साहन देना है। एक विशाल औद्योगिक बस्ती का खर्च सामान्यतः ४० ५० लाख रु० आयेगा। इसकी सारी भूमि सरकार प्राप्त करेगी, बिजली और पानी पहुँचाने की व्यवस्था करेगी और सड़क तथा अन्य सुविधायें प्रदान करेगी। इसके बाद सरकार जमीन के प्लाट काटेगी, उपयुक्त प्रकार के कारखानों के लिए मकान बनवाएगी, जो कि छोटे औद्योगिकों को किराये पर या किराया खरीद प्रणाली के अन्तर्गत दिये जाएँगे या लघु औद्योगिक चाहें तो उनको खरीद भी सकेंगे।

केन्द्रीय सरकार इन औद्योगिक बस्तियों के निर्माण का सारा खर्च दीर्घकालीन ऋण के रूप में राज्य सरकारों को देगी और कुछ प्रशासकीय खर्चों के लिए अनुदान देगी। अभी तक ६ औद्योगिक बस्तियां बनाने की मंजूरी दी जा चुकी है, एक ओखला (दिल्ली के पास) में, दो मद्रास राज्य में, एक राजकोट में, एक त्रिवलों (त्रिवां कुर-कोचीन राज्य) में और एक कानपुर में। सबसे पहली औद्योगिक बस्ती की स्थापना राजकोट में हुई थी। इसमें कुछ कारखाने खुल भी गए हैं। अन्य औद्योगिक बस्तियों की योजना सम्बन्धित राज्य सरकारें बना रही हैं।

लघु उद्योगों को ऋण की सुविधाएँ देने की दो प्रमुख संस्थाएँ हैं, सरकार और बैंक। इस समय सरकारी सहायता मुख्य रूप से 'उद्योगों को राजकीय सहायता' अधिनियमों के अन्तर्गत दी जाती है। इस सहायता को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए केन्द्रीय सरकार ने सभी राज्य सरकारों को निम्न कदम उठाने के लिए कहा है:—

(१) जो भी जमानत दी जाए, उसके ७५ प्रतिशत का ऋण दिया जाए। जमानत में जमीन, मकान, उपकरण, व्यापारिक माल तथा ऋण से सुलभ परिसम्पत् सम्मिलित की जा सकती है।

(२) अल्पकालीन, मध्यमकालीन तथा दीर्घकालीन आवश्यकताओं के लिए ऋण दिए जाएँ।

(३) २०,००० रु० तक के ऋण ३ रु० प्रतिशत के ब्याज और औद्योगिक सहकारी संस्थाओं को २॥ प्रतिशत के ब्याज पर दिए जाएँ।

(४) कर्जे के मंजूर करने के अधिकार काफी सीमा तक राज्य सरकारों के औद्योगिक अफसरों को दे दिए जाएँ।

(५) हाल ही में यह सिफारिश की गई है कि १,००० रु० तक ऋण तो निजी जमानत पर दे दिया जाए और ५,००० रु० तक का ऋण दो व्यक्तियों की जमानत पर दिया जाए।

अनेक राज्य सरकारों ने इन सुझावों को मंजूर कर लिया है और इसके अनुसार या तो अपने नियमों में संशोधन कर लिया है या करने जा रही हैं। सन् १९५५ के अन्त के बाद से केन्द्रीय सरकार लघु-उद्योगों को इस तरह के ऋण देने के लिए लगभग २ करोड़ रु० स्वीकार कर चुकी है।

शैल्पिक सहायता—

लघु उद्योगों को औद्योगिक विस्तार सेवा के द्वारा शैल्पिक सहायता देने का कार्यक्रम केन्द्रीय सरकार ने स्वयं चालू किया है। बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली और मद्रास में चार प्रादेशिक सेवाशालाएँ और त्रिवेन्द्रम में एक शाखा सेवाशाला काम करने लगी है। प्रत्येक सेवाशाला में शैल्पिक तथा आर्थिक अफसर काम करते हैं, जो निम्न कार्य करते हैं :—

(१) इस समय कितने प्रकार के लघु-उद्योग विद्यमान हैं और कौन-कौन से नये उद्योग खोले जा सकते हैं, इसकी जाँच करना, जिससे यह निश्चय किया जा सके कि किन-किन उद्योगों का विकास किया जाना चाहिए और इस उद्देश्य के लिए क्या कदम उठाये जाने चाहिए ?

(२) छोटे कारखानों को निर्माण-प्रणालियों के सम्बन्ध में शैल्पिक परामर्श और हिदायतें देना।

(३) बिक्री व्यवस्था और व्यापारिक समस्याओं के विषय में सूचना सेवा का काम करना।

(४) सुधरी हुई मशीनों तथा उपकरणों का प्रदर्शन करना एवं उनका प्रशिक्षण देना।

(५) इस प्रकार के सुधरे उपकरणों को किराया-खरीद प्रणाली के अन्तर्गत सुलभ करना।

(६) विशेष प्रायोगिक योजनाएँ चालू करना।

इन सेवाशालाओं ने अब तक लगभग ४,००० लोगों व कारखानों को प्रशिक्षण दिया तथा सहायता प्रदान की है। उन्होंने चलती-फिरती प्रदर्शन वर्कशापें चालू की हैं। किराया-खरीद प्रणाली के अन्तर्गत मशीनें देने के लिए भी ये एजेन्ट का काम करती हैं। इन सेवाशालाओं में शैल्पिक अफसरों की संख्या लगभग १०० है और आशा है कि इस संख्या में पर्याप्त वृद्धि कर दी जाएगी। चालू वर्ष सन् १९५६-५७ में

ऐसी और सेवाशालाएँ और उनकी शाखाएँ खोलने का प्रस्ताव है, जिससे अन्ततोगत्वा, कम से कम प्रत्येक राज्य में एक सेवाशाला तो हो जाए। शैल्पिक उपकरण खरीदने में फोर्ड फाउन्डेशन सहायता करता है। विदेशों से शैल्पिक विशेषज्ञ बुलवा देने के लिए उसने एक अनुदान भी दिया है।

कुटीर एवं लघु-उद्योगों का भविष्य—

कुटीर उद्योगों का भूतकाल गौरवशाली था, परन्तु इनका भविष्य भी उज्ज्वल प्रतीत होता है। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना की अवधि में सरकार इन उद्योगों पर २०० करोड़ रुपये खर्च करेगी। लघु उद्योगों के सम्बन्ध में एक कार्यक्रम बनाया गया है, जिसे केन्द्रीय सरकार स्वयं कार्यान्वित करेगी। इस पर लगभग १० करोड़ रु० खर्च होगा। कार्यक्रम की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं —

एक औद्योगिक विस्तार सेवा की स्थापना और लघु-उद्योग सेवाशालाओं (Small Industries Services Institutes) के माध्यम द्वारा शैल्पिक सेवाओं का और अधिक विस्तार।

मशीनों के किराया-खरीद के लिए एक योजना।

बिक्री सम्बन्धी सेवा का प्रबन्ध।

कुछ चुने हुए केन्द्रों तथा उद्योगों में प्रायोगिक योजनाएँ आरम्भ करना।

लघु उद्योग सेवा शालाओं की संख्या ४ से बढ़ा कर २० कर देने का विचार है, जिससे प्रत्येक राज्य में कम से कम एक शाला अवश्य हो जाय। ये शालाएँ श्रेष्ठतर मशीनों, उपकरणों तथा प्रक्रियाओं, कच्चे माल के प्रयोग और लागत कम करने के उपायों के सम्बन्ध में की जाने वाली पूछताछ के उत्तर में शैल्पिक परामर्श मात्र नहीं देंगी, अपितु इनके शैल्पिक कर्मचारी छोटे कारखानों में जाकर उनकी समस्याओं के हल भी सुझायेंगे। ये शालाएँ अपने निजी वर्कशापों, शालाओं के बाहर स्थापित किये जाने वाले आदर्श वर्कशाप और ट्रकों पर लगाये गये चलते फिरते कारखानों में किये जाने वाले प्रदर्शनों के माध्यम से श्रेष्ठतर शैल्पिक सेवाओं तथा मशीनों के प्रयोग के सम्बन्ध में प्रचार भी करेंगी व इसके अतिरिक्त ये किराया खरीद प्रणाली पर छोटे उद्योगपतियों को मशीनें दिलाने के सम्बन्ध में राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम के प्रतिनिधि के रूप में भी कार्य करेंगी। छोटे उद्योगों को वर्तमान और सम्भावित मण्डियों के सम्बन्ध में परामर्श और जानकारी देकर और उन्हें यह समझाकर कि वे अपने उत्पादनों को किस प्रकार इन मण्डियों की आवश्यकताओं के अनुकूल बना सकते हैं, ये शालाएँ बिक्री की दिशा में महत्त्वपूर्ण सेवा प्रदान करेंगी। औद्योगिक विस्तार और मशीनों की खरीद बिक्री प्रणाली तथा विक्रय सेवा का स्वाभाविक साहचर्य है। मशीनों को किराया-खरीद प्रणाली पर खरीदने की शर्तें आजकल यह हैं कि सामान्य कामों के लिए ली जाने वाली मशीनों के लिए पहले २० प्रतिशत तक अदा करना पड़ता है और ब्याज की दर ६ प्रतिशत है। आवश्यकता पड़ने पर इन शर्तों में छूट दी जा सकती है।

द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में औद्योगिक बस्तियों की स्थापना के लिए १० करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है।

निष्कर्ष—

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि हमारी जन प्रिय सरकार ने कुटीर उद्योगों के विकास के लिये काफी प्रशंसनीय कार्य किया है तथा राज्य सरकारें भी इस क्षेत्र में सराहनीय सेवायें कर रही हैं। हमें आशा ही नहीं, वरन् दृढ़ विश्वास है कि द्वितीय पंच वर्षीय योजना के पूर्ण होने पर कुटीर धन्धों का कलेवर सुदृढ़ होकर भारत के आर्थिक जीवन में उनका भाग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होगा।

---

[२]

भारत सरकार की औद्योगिक नीति

रूपरेखा—

१. *पराधीन भारत की औद्योगिक नीति*—ब्रिटिश शासन-काल में देश के औद्योगिक विकास के लिए कभी भी कोई निश्चित योजना नहीं बनाई गई। स्वतन्त्र व्यापार-युग। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की घातक नीति। प्रथम विश्व युद्ध के कारण नीति में परिवर्तन। सन् १६१६ में औद्योगिक कमीशन की नियुक्ति। सन् १९१९ में भारतीय संविधान में संशोधन। प्रान्तीय सरकारों द्वारा कुछ सक्रिय प्रयत्न—उद्योगों को राजकीय सहायता, औद्योगिक शिक्षा, अनुसन्धान, प्रशुल्क नीति, स्टोर्स-क्रय नीति।

२ *द्वितीय युद्ध के उपरान्त भारत सरकार की औद्योगिक नीति*—आर्थिक पुनर्निर्माण की योजनायें। योजना तथा विकास विभाग की स्थापना। सन् १९४५ की औद्योगिक नीति।

३. *राष्ट्रीय सरकार की औद्योगिक नीति, सन् १९४८*—देश में मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का आधार। चार भागों में उद्योगों का वर्गीकरण। ग्राम्य तथा कुटीर उद्योगों का विकास। श्रम पूँजी-सम्बन्ध। केन्द्रीय सलाहकार परिषदें। प्रशुल्क नीति।

४. *राष्ट्र हित के लिए निजी उद्योगों का नियमन*—उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम सन् १९५१, औद्योगिक विकास परिषदों की प्रगति और सफलता।

५. *हमारी नई औद्योगिक नीति सन् १९५६*—परिवर्तित परिस्थितियाँ। भारतीय संविधान की प्रमुख आवश्यकतायें। उद्योगों का वर्गीकरण। कुटीर, ग्राम और लघु-उद्योग। विकास स्तरों में समानता।

६. *उपसंहार*—नीति की सफलता के लिए जन सहयोग आवश्यक।

पराधीन भारत की औद्योगिक नीति—

ब्रिटिश शासन-काल में देश के औद्योगिक विकास के लिये कभी भी कोई निश्चित योजना नहीं बनाई गई। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के जमाने में उन भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहित किया गया था, जिन पर इसका निर्यात व्यापार निर्भर करता

था, किन्तु कुछ दिनों बाद वह इङ्गलैंड के निर्माणी उद्योगों के लिए कच्चा माल प्राप्त करने का एक साधन समझा जाने लगा।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की समाप्ति के बाद यद्यपि भारत का शासन महारानी विक्टोरिया को सौंप दिया गया, फिर भी हमारे देश के प्रति ब्रिटिश नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। वह स्वतन्त्र व्यापार का युग था और भारत को भी इस नीति का अनुकरण करना पड़ा। उस समय उद्योगों के विकास के लिए नियम बनाना विनाशकारी और उनकी सहायता करना व्यर्थ समझा जाता था। इस प्रकार गत सौ वर्षों में स्वतन्त्र व्यापार नीति का ही बोलबाला रहा। कभी-कभी सरकार ने देश के औद्योगिक विकास के प्रति अपनी सहानुभूति अवश्य दिखाई, परन्तु इङ्गलैण्ड के अधिकारियों ने सदैव इस बात पर जोर दिया कि सरकार ऐसी कार्यवाहियों से दूर रहे।

प्रथम विश्व-युद्ध (सन् १६१४-१८) के छिड़ने से इस नीति में थोड़ा परिवर्तन हुआ। कच्चे माल के लिए योरोपीय बाजार बन्द हो गया। युद्ध की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए, किसी प्रकार उत्पादन बढ़ाना आवश्यक समझा गया। परिणामस्वरूप सरकार को स्वतन्त्र व्यापार की नीति छोड़नी पड़ी और इसका स्थान राजकीय प्रोत्साहन ने ले लिया। सर्व प्रथम सन् १६१६ में भारतीय औद्योगिक कमीशन की नियुक्ति की गई। इसने देश में औद्योगिक विकास की सम्भावनाओं की जाँच की और उद्योगों को राजकीय सहायता देने की सिफारिश की। सन् १६१७ में भारतीय प्रसाधनों पर नियन्त्रण करने एवं उनको विकसित करने के उद्देश्य से इण्डियन म्यूनीशन्स बोर्ड नियुक्त किया गया, किन्तु इसकी सिफारिशों को कार्यान्वित नहीं किया गया। परिणाम यह हुआ कि जो भी उद्योग युद्ध-काल में आरम्भ किये गये थे, वे विदेशी प्रतिस्पर्धा का सामना न कर सके और अन्त में नष्ट हो गए।

सन् १६१६ में भारतीय संविधान में जो परिवर्तन किये गये, उनके अनुसार 'उद्योग' एक प्रान्तीय विषय बन गया और प्रान्तीय सरकारों को औद्योगिक विकास के लिए उद्योगों को सहायता देने का अधिकार मिल गया। फलतः सन् १६२२ में मद्रास सरकार ने उद्योगों की राजकीय सहायता अधिनियम (Sate Aid to Industries Act) पास किया, जिसका मुख्य उद्देश्य कुटीर तथा अन्य उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान करना था। इसके बाद क्रमशः ऐसे अधिनियम बिहार में सन् १६२३ में, बंगाल में सन् १६३१ में, मध्य प्रान्त में सन् १६३४ में तथा पंजाब और संयुक्त-प्रान्त में सन् १६३५ में पास किये गये किन्तु इन प्रयत्नों का कोई आशाजनक परिणाम नहीं हुआ। वृहत् उद्योगों को अवश्य थोड़ा लाभ मिला, किन्तु कुटीर एवं लघु-उद्योगों के लिए ये सुविधायें दुर्लभ हो गईं।

औद्योगिक शिक्षा के क्षेत्र में भी कुछ प्रयत्न किये गये, जैसे—सन् १६२६ में धनबाद में खनिज विद्यालय की स्थापना, बम्बई में टैक्सटायल टैक्नोलॉजी इन्स्टीट्यूट की स्थापना, लुधियाना में हौज़ियरी तथा भागलपुर में सिल्क इन्स्टीट्यूट की स्थापना, आदि; किन्तु देश की आवश्यकताओं को देखते हुए इस क्षेत्र में जो भी किंचित प्रयास

किए गये, वे नगण्य थे। सन् १९३९ में इन्डस्ट्रियल रिसर्च ब्यूरो की स्थापना की गई, जिसकी अनुसन्धानशाला अलीपुर में खोली गई। उद्योगों को प्रशुल्किक सहायता देने के लिए सन् १९२१ में एक प्रशुल्क कमीशन की भी नियुक्ति की गई, जिसने विवेचनात्मक संरक्षण देने की सिफारिश की, यद्यपि संरक्षण की विवेचनात्मक नीति से कुछ उद्योगों को विशेष लाभ हुआ, किन्तु इसे व्यापार एवं उद्योग के हित में नहीं कह सकते, क्योंकि संरक्षण पाने के लिए जो शर्तें निर्धारित की गई थीं, वे अत्यन्त कठोर तथा जटिल थीं। औद्योगिक कमीशन की सिफारिश पर एक स्टोर-क्रय-समिति नियुक्त की गई। कलकत्ता व बम्बई में स्थानीय क्रय-एजेन्सीज़ का निर्माण किया गया और बम्बई, मद्रास, कानपुर, कराँची तथा दिल्ली में निरीक्षण-एजेन्सीज भी कायम की गई।

सन् १९३९ में द्वितीय महासमर छिड़ जाने से औद्योगिक उत्पादन की माँग बहुत बढ़ी। यह अनुभव किया गया कि युद्ध को सफलतापूर्वक चलाने के लिए भारत को एक 'हथियार-घर' के रूप में विकसित करना आवश्यक है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ईस्टर्न ग्रूप कान्फ्रेन्स, ग्रेडी मिशन तथा अन्य समितियों की नियुक्ति भी की गई, किन्तु ये सब युद्ध के उपाय समझे जाते हैं। ब्रिटिश सरकार ने ऐसा कोई कदम नहीं उठाया, जिससे युद्धकालीन विकास एक स्थायी आधार पर आ जाता।

द्वितीय युद्ध के उपरान्त भारत सरकार की औद्योगिक नीति—

युद्ध समाप्त होने के दो तीन वर्ष पहले से युद्धोपरान्त आर्थिक पुनर्निर्माण योजनाओं की चर्चा हो रही थी। भारत सरकार ने सन् १९४३ में लगभग २१ औद्योगिक समितियाँ नियुक्त की और एक योजना तथा विकास विभाग का भी निर्माण किया। सन् १९४५ अप्रैल में सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति घोषित की। नई नीति का उद्देश्य देश में उपलब्ध प्राकृतिक और आर्थिक साधनों का अधिकतम् उपयोग करके राष्ट्रीय धन में वृद्धि, देश की सुरक्षा का अच्छा प्रबन्ध और रोजगार के ऊँचे व स्थायी स्तर की स्थापना करना था। इसकी पूर्ति के लिये सरकार ने स्वेच्छावाद की नीति छोड़ कर उद्योगों के संरक्षण की नीति अपनाई, कुछ मूलभूत एवं स्थूल उद्योगों को विकसित करने तथा आर्डनेन्स फैक्टरियों, जन-उपयोगिताओं और रेलों के अतिरिक्त राष्ट्रीय महत्व के आधार-उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने का निश्चय किया। इसके अतिरिक्त निम्न उपायों से भी उद्योगों को सहायता करने की घोषणा की — (१) महत्वपूर्ण औद्योगिक संस्थाओं को ऋण देना अथवा पूँजी का अंश देना, (२) न्यूनतम् लाभांश की गारन्टी देना, (३) अनुसंधान संगठनों को आर्थिक सहायता देना (४) भारतीय औद्योगिक उत्पादन को क्रय करना, (५) औद्योगिक विनियोग निगम आदि का प्रवर्तन करना, (६) सामाजिक न्याय और औद्योगिक विकास दोनों के सन्तुलित हित की दृष्टि से कर-नीति कार्यान्वित करना तथा (७) औद्योगिक आवश्यकताओं को विदेशों से मगाने की व्यवस्था करना।

उद्योगों के केन्द्रीयकरण को रोकने तथा नियमित विकास करने के हेतु लाइसेन्सिंग प्रथा जारी करने का निश्चय भी किया। साथ ही ऐसे उपायों के व्यवहार

में लाने का निश्चय भी किया, जिससे औद्योगिक श्रमिकों का जीवन-स्तर ऊँचा हो, व्यक्तिगत पूँजीपतियों की जेबों में अत्यधिक लाभों का जाना रुके, भारतीय माल में लोगों का विश्वास बढ़े, इने-गिने लोगों के हाथ में पूँजी का केन्द्रीयकरण न हो तथा औद्योगिक शिक्षा की प्रगति हो।

राष्ट्रीय सरकार की औद्योगिक नीति, सन् १६४८—

६ अप्रैल सन् १६४८ को तत्कालीन केन्द्रीय उद्योग एवं पूर्ति मन्त्री डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने संसद में भारत सरकार की औद्योगिक नीति के विषय में पहला विस्तृत वक्तव्य दिया था। आपने औद्योगिक नीति विषयक निम्न प्रस्ताव उपस्थित करते हुए कहा था कि यह प्रस्ताव मिश्रित अर्थ-व्यवस्था पर आधारित है—"भारत सरकार ने देश के समक्ष उपस्थित आर्थिक समस्याओं का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया है। राष्ट्र अब एक ऐसी समाज व्यवस्था करने को कृत सकल्प है, जिसमें सभी राष्ट्र-जनों के लिए न्याय तथा अवसर की समानता प्राप्त होगी। हमारा तात्कालिक उद्देश्य एक व्यापकतर पैमाने पर शिक्षा की सुविधाएँ और आरोग्य सेवाएँ प्रदान करना और देश के अदृश्य साधनों के दोहन, उत्पादन-वृद्धि और जन-समुदाय की सेवा के लिए सभी की नौकरी के अवसर सुलभ करके जनता के जीवन-स्तर में द्रुत गति से वृद्धि करना है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए सावधानी पूर्ण आयोजना तथा राष्ट्रीय गतिविधि के समग्र क्षेत्र में एकीकृत प्रयत्न की आवश्यकता है। भारत सरकार का प्रस्ताव एक राष्ट्रीय योजना आयोग स्थापित करने का है, जो विकास के कार्यक्रम बनाएगा और उनको क्रियान्वित कराएगा।"

प्रस्तावानुसार उद्योगों को चार भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम वर्ग उन उद्योगों का है, जिन पर सरकार का ही पूर्ण एकाधिकार होगा। इस वर्ग में निम्न तीन उद्योग आते हैं—अस्त्र एवं बारूद का निर्माण, एटम शक्ति उत्पादन एवं नियन्त्रण तथा रेल यातायात। दूसरे वर्ग में वे उद्योग आते हैं, जिनमें नए कारखाने केवल सरकार ही खोल सकेगी। इसमें जो वर्तमान कारखाने हैं, उन्हें दस वर्ष तक अछूता रक्खा जायगा और उन्हें विकास का पूरा अवसर मिलेगा। राजकीय उद्योगों का प्रबन्ध सार्वजनिक निगमों (Public Corporations) द्वारा किया जाएगा। इस वर्ग के अन्तर्गत निम्न छः उद्योग आते हैं—(१) कोयला, (२) लोहा एवं स्पात, (३) जहाज निर्माण, (४) वायुयान निर्माण, (५) टेलीग्राफ एवं वायरलेस एपरेटस का निर्माण तथा (६) खनिज तेल। तीसरे वर्ग के अनुसार निम्नलिखित में से जिन उद्योगों के स्थापना स्थल का निर्णय अखिल भारतीय आर्थिक कारणों से किया जाए या जिनके लिए पर्याप्त पूँजी लगानी आवश्यक हो या जिनके चलाने में उच्च स्तर का शैक्षिक कौशल आवश्यक हो, उनका नियन्त्रण तथा नियमन सरकार करेगी—(१) नमक उद्योग, (२) मोटर गाड़ी तथा ट्रैक्टर उद्योग, (३) प्राइम मूवर उद्योग, (४) बिजली इंजीनियरी उद्योग, (५) अन्य भारी मशीनों के उद्योग, (६) मशीन टूल्स उद्योग, (७) मुख्य रासायनिक पदार्थों, उर्वरकों और दवाओं के उद्योग, (८) रबड़ के सामान

के उद्योग, (६) बिजली और औद्योगिक मदमार के उद्योग, (१०) विद्युत रासायनिक उद्योग, (११) लौह धातु उद्योग, (१२) सूती और ऊनी वस्त्र उद्योग, (१३) सीमेंट उद्योग, (१४) चीनी उद्योग, (१५) कागज और अखबारी कागज का उद्योग, (१६) समुद्री और हवाई परिवहन, (१७) खनिज पदार्थ और (१८) सैनिक आवश्यकता के उद्योग। शेष औद्योगिक क्षेत्र निजी औद्योगिकों के लिए खुला रहेगा।

सन् १६४८ की औद्योगिक नीति की अन्य प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

(१) केन्द्रीय सरकार कुटीर एवं लघु उद्योगों का विशाल-उद्योगों से समन्वय कराने का प्रयत्न करेगी। उदाहरणार्थ, यह जाँच की जाएगी कि देश का सूती वस्त्र उद्योग किस प्रकार देश के सबसे बड़े और सबसे अच्छे ढंग से सगठित कुटीर-उद्योग खादी उद्योग—का प्रतिद्वन्द्वी न बनकर पूरक बन सकता है। उत्पादन के अन्य क्षेत्रों में यथा खेती के औजार, कपड़ा बुनने के यन्त्र और मशीनी औजार बनाने में कुटीर उद्योग तो उनके हिस्से बनाए और बाद में उन्हें जोड़ कर किसी कारखाने में मशीन का रूप दिया जावे। यह भी जाँच की जाएगी कि इस समय अधिक केन्द्रित उद्योगों को कहाँ तक लाभप्रद ढंग से विकेन्द्रित किया जा सकता है?

(२) भारत विदेशी पूँजी तथा विदेशी साहस का उपयोग करने के लिए सहर्ष प्रस्तुत है। हाँ, विदेशी कम्पनियों को भारतीय विशेषज्ञ प्रशिक्षित करने पड़ेंगे। यदि राष्ट्रीयकरण किया गया तो उचित क्षतिपूर्ति की जाएगी। विदेशी पूँजी का नियन्त्रण भारतीय हाथों में रहेगा।

(३) श्रमिकों के हितार्थ १० लाख मकान बनाने की योजना बनाई तथा श्रम पूँजी सम्बन्ध सुधारने के उद्देश्य से यह निर्णय किया गया कि—" पूँजी और श्रमिकों का पारिश्रमिक मिलने की व्यवस्था इस प्रकार की होनी चाहिये, जिससे उपभोक्ता और प्रारम्भिक उत्पादक की भलाई के लिए कर लगाकर या अन्य उपयुक्त प्रणाली द्वारा अत्यधिक मुनाफा कमाने को रोका जाए और श्रमिकों को उपयुक्त वेतन, उद्योग में लगी पूँजी के लिए उचित लाभ और प्रतिष्ठान के सचालन एवं विस्तार के लिए समुचित कोष की व्यवस्था करने के बाद दोनों अपने सामान्य प्रयासों के फल का उपभोग कर सकें।"

(४) केन्द्र में केन्द्रीय सलाहकार परिषद् रहेगी, जो सब उद्योगों में अच्छे सम्बन्ध रखने के बारे में सलाह देगी। इसके आधीन बड़े बड़े उद्योगों के लिए अलग अलग समितियाँ काम करेंगी। इन समितियों की भी और उपसमितियाँ हो सकती हैं, जिन्हें उत्पादन, वेतन और मालिक मजदूर सम्बन्ध आदि अलग अलग विषय सौंपे जा सकते है। प्रान्तीय सरकारों के अन्तर्गत प्रान्तीय सलाहकार बोर्ड होंगे, जो केन्द्रीय सलाहकार परिषद् की भांति प्रांत के सभी उद्योगों के बारे में सलाह देंगे। इन बोर्डों के अन्तर्गत प्रत्येक प्रमुख उद्योग के लिए प्रान्तीय समितियाँ होंगी। प्रान्तीय समितियों के बाद वर्क्स समितियाँ तथा उत्पादन समितियाँ आती हैं, जो प्रत्येक प्रमुख कारखाने के लिए होंगी। वर्क्स समितियों और उत्पादन समितियों में मिल मालिकों

तथा मजदूरों के बराबर-बराबर प्रतिनिधि होंगे, लेकिन अन्य सभी समितियों मे सरकार, मिल मालिक और मजदूर तीनों के प्रतिनिधि होंगे। सरकार को आशा है कि इस व्यवस्था से औद्योगिक झगड़ों में काफी कमी हो जायगी।

(९) प्रशुल्क नीति इस प्रकार प्रशासित होगी कि अनुचित विदेशी प्रतिस्पर्धा का अन्त होकर देश के उपलब्ध स्रोतों का पूर्णतः उपयोग होने लगे।

राष्ट्रहित के लिए निजी उद्योगों का नियमन—

अपनी औद्योगिक नीति को काम में लाने के लिए सरकार ने सन् १९५१ में औद्योगिक (विकास तथा नियन्त्रण) अधिनियम स्वीकृत किया। मई १९५३ में इस अधिनियम में कुछ संशोधन किये गये। इस अधिनियम की मुख्य बातें इस प्रकार हैं —

(१) यह अधिनियम जम्मू तथा काश्मीर को छोड़ कर शेष भारत पर लागू होता है। प्रथम अनुसूची में प्रकाशित ४२ उद्योगों पर यह अधिनियम विस्तृत है। ये उद्योग इस प्रकार हैं :—

हवाई जहाज, हथियार तथा बारूद, कोयला, लोहा तथा इस्पात, गणित तथा विज्ञान सम्बन्धी यन्त्र, मोटर तथा वायुयान का ईंधन, जैसे—कोयला, औद्योगिक अल्कोहल, शक्ति तथा बिजली से चलने वाले पानी के जहाज, शक्कर, टेलीफोन, तार व बेतार के यन्त्र, सूती, ऊनी एवं रेशमी वस्त्रोद्योग, पटसन, मोटर, ट्रैक्टर, सीमेन्ट, विद्युत लैंप तथा पखे, विद्युत की मोटर, भारी रसायन, उद्योगों में काम आने वाली मशीनें, बाल तथा रोलिंग बेयरिंग, गियर ह्वील, मशीन के औजार, रेल्वे इंजिन, रेल के डिब्बे, विद्युत शक्ति को वितरण करने वाली मशीनें, मिश्रित धातुयें, कागज, दवाइयाँ, रबड़ की वस्तुएँ, चमड़े का सामान, वनस्पति, कृषि यन्त्र, बैटरी, साइकिल, लालटेन, रेडियो, रिसीवर, कपड़ा सीने की मशीनें, काँच, साबुन आदि उद्योग।

(२) इन उद्योगों से सम्बन्धित इकाइयों को अपनी रजिस्ट्री करानी पड़ेगी, सरकारी आज्ञा के बिना नया कारखाना नहीं खोला जा सकता और न पुराना कारखाना बढ़ाया जा सकता है।

(३) यदि इन औद्योगिक इकाइयों का उत्पादन कम होने, वस्तु का गुण घटने अथवा मूल्य बढ़ने की आशंका हो तो केन्द्रीय सरकार उस उद्योग की जाँच कर सकती है और दोष पाने पर निम्न आदेश दे सकती है :—

(अ) इकाइयाँ उत्पादन बढ़ाने का यत्न करें।

(आ) इकाइयाँ उद्योग के विकास का यत्न करें।

(इ) वे ऐसा कोई काम न करें, जिससे उत्पादन में कमी आवे।

(ई) सम्बन्धित वस्तु और वितरण पर नियन्त्रण रखना।

(४) यदि केन्द्रीय सरकार को यह विश्वास हो जाता है कि कोई इकाई उसकी आज्ञाओं को नहीं मान रही या जन हित के विरुद्ध चलाई जा रही है तो वह उसका प्रबन्ध बगैर जाँच किये भी खुद ले सकती है या किसी अन्य व्यक्ति को सौंप सकती है।

(५) उद्योगों के सम्बन्ध में सरकार को परामर्श देने के लिये केन्द्रीय परामर्शदाता समिति बनाई गई है, जिसमें अनुसूचित उद्योगों के स्वामीगण, कर्मचारी वर्ग, उपभोक्तावृन्द और अन्य दलों के प्रतिनिधि होंगे, जिन्हें केन्द्रीय सरकार नियुक्त करेगी।

(६) औद्योगिक विकास परिषद् का भी निर्माण किया गया है, जिसमें सब दलों के प्रतिनिधि हैं। इनके निम्न कार्य हैं :—

(क) उत्पादन की सीमा नियत करना, योजनाओं में सामञ्जस्य रखना और उन्नति के लिये सलाह देना।

(ख) कम कुशल इकाइयों को निपुण बनाने का यत्न करना।

(ग) उपभोक्ताओं के हित का ध्यान रखते हुये विक्रय और वितरण की उचित प्रणाली व्यवहार में लाना।

(घ) वस्तुओं के प्रमापीकरण में सहायता करना।

(ङ) उद्योग को कच्चा माल मिलने में सहायता देना।

(च) उत्पादन विधियों में अनुसन्धान करना।

(छ) कर्मचारियों की प्रशिक्षा का प्रबन्ध करना।

(ज) उद्योग के निकाले हुए कर्मचारियों को अन्यत्र काम दिलाना।

(झ) उपभोग के लिए निर्मित वस्तुओं और सेवाओं के विषय में खोज करना।

(ञ) हिसाब रखने की प्रणाली में सुधार करना एवं उसको प्रमापित करना।

(ट) आंकड़े संग्रह करना।

(ठ) श्रमिकों के काम की दशाओं में सुधार करना।

(ड) औद्योगिक क्रियाओं के विकेन्द्रीयकरण के विषय में जाँच करना और उनसे सम्बन्धित छोटे पैमाने के उद्योग तथा कुटीर धन्धों के विकास को प्रोत्साहित करना।

(ढ) केन्द्रीय सरकार के आदेशानुसार जाँच करना और सलाह देना।

राष्ट्रीय विकास परिषद् हमारे प्रधान मन्त्री के शब्दों में ऐसा संगठन है, जिसके द्वारा राज्य सरकारों और केन्द्रीय सरकार के मध्य राष्ट्रीय विकास के समस्त कार्यों के विषय में घनिष्टतम् सहयोग रहता है। परिषद् के तीनों उद्देश्य ये हैं —

(१) पंच-वर्षीय योजना के समर्थन में राष्ट्र के प्रयत्न और साधनों को सुदृढ़ और संलग्न करना।

(२) समस्त अत्यावश्यक क्षेत्रों में सामान्य अर्थ-नीतियों को प्रगति देना, और

(३) देश के समस्त भागों के सन्तुलित और त्वरित विकास को सुनिश्चित करना।

उद्योग (विकास और नियमन) अधिनियम के अन्तर्गत निम्न उद्योगों के लिए विकास परिषदों की स्थापना की गई है :—

(१) साइकिल,
(२) अन्तर्दाह इञ्जन और शक्तिचालित पम्प,
(३) हलके वैद्युतिक उद्योग,
(४) भारी वैद्युतिक उद्योग,
(५) भारी रासायनिक पदार्थ (तेजाब और उर्वरक),
(६) भारी रासायनिक पदार्थ (क्षारक),
(७) भेषज और औषधियाँ।

इनमें से हलके वैद्युतिक उद्योग, भारी वैद्युतिक उद्योग, भारी रासायनिक पदार्थ (क्षारक) और भेषज तथा औषधि उद्योगों के लिए विकास परिषदें सन् १९५५ में स्थापित की गई हैं।

प्रत्येक उद्योग की विकास परिषद् में उस उद्योग के उद्योगपतियों, मजदूरों और सरकार के प्रतिनिधि सदस्य होते हैं और उस विशेष उद्योग का काम करने वाला उपविकास अफसर इस विकास परिषद् का मन्त्री होता है। विकास शाखा के उच्च अफसर, जिनमें मुख्य औद्योगिक सलाहकार तथा औद्योगिक सलाहकार भी सम्मिलित हैं, विकास परिषदों की बैठकों में जब भी सम्भव होता है, भाग लेते हैं तथा उनका मार्ग-दर्शन करते हैं।

हमारी नई औद्योगिक नीति—

सन् १९४८ की औद्योगिक नीति की घोषणा के उपरान्त ८ वर्ष बीत चुके हैं। इन आठ वर्षों में भारत में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन और विकास हुए हैं। भारत का संविधान लागू हो चुका है, जिसमें मूलभूत अधिकारों की गारन्टी दी गई है और राज्य की नीति के निर्देशिक सिद्धान्त निर्धारित किये गये हैं। व्यवस्थित ढङ्ग पर आयोजन-कार्य भी आरम्भ हो चुका है और प्रथम पञ्च वर्षीय योजना हाल में ही पूरी हुई है। संसद् ने समाजवादी ढङ्ग के समाज को सामाजिक एवं आर्थिक नीति का लक्ष्य मान लिया है। इन महत्वपूर्ण घटनाओं के कारण औद्योगिक नीति को नये सिरे से बनाना आवश्यक हो गया है। शीघ्र ही द्वितीय पञ्च वर्षीय योजना देश के सम्मुख आ चुकी है। ऐसी दशा में परिवर्तित परिस्थितियों पर विचार करते हुए प्रधान मन्त्री नेहरू ने ३० अप्रैल सन् १९५६ को नई नीति की घोषणा की। नई नीति संविधान में निर्धारित सिद्धान्तों, समाजवाद के लक्ष्य और पिछले वर्षों में अर्जित अनुभव पर आधारित है।

भारत के संविधान की प्रस्तावना में यह घोषणा की गई है कि इस संविधान का लक्ष्य अपने समस्त नागरिकों के लिए सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता और प्रतिष्ठा तथा अवसर की समता प्राप्त कराना तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाना है। यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि—"राज्य अपनी नीति का विशेषतया ऐसा सञ्चालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से—

(क) समान रूप से नर और नारी, सभी नागरिकों को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो।

(ख) समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बटा हो कि जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो।

(ग) आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि जिसमें धन और उत्पादन-साधनों का सर्व साधारण के लिये अहितकारी केन्द्रण न हो।

(घ) पुरुषों और स्त्रियों दोनों का समान कार्य के लिए समान वेतन हो।

(ङ) श्रमिक पुरुषों और स्त्रियों के स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो तथा आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिकों को ऐसे रोजगारों में न जाना पड़े, जो उनकी आयु या शक्ति के अनुकूल न हों।

(च) शैशव और किशोर अवस्था का शोषण से तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से संरक्षण हो।"

दिसम्बर सन् १९५४ में संसद ने समाजवादी ढङ्ग के समाज को आर्थिक और सामाजिक नीति का लक्ष्य निर्धारित करके इन मूलभूत और सामान्य सिद्धान्तों को एक अधिक सुनिश्चित दिशा प्रदान की, अतः अन्य नीतियों की भाँति औद्योगिक नीति का नियन्त्रण भी इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर किया गया है।

समाजवादी ढङ्ग के समाज को राष्ट्रीय लक्ष्य मान लेने और आयोजित एवं द्रुत विकास की आवश्यकता के कारण यह आवश्यक है कि वे समस्त उद्योग सरकारी क्षेत्र में रखे जायें, जिनका आधारभूत या सैनिक महत्व है, जो सार्वजनिक उपयोगी सेवाओं के ढङ्ग के हैं। अन्य ऐसे उद्योग भी सरकारी क्षेत्र में ही रखने चाहिये, जो अनिवार्य हैं और जिनके लिए इतने बड़े पैमाने पर पूँजी की आवश्यकता होती है, जो वर्तमान परिस्थितियों में केवल राज्य द्वारा ही जुटायी जा सकती है। अतः राज्य को एक अधिक व्यापक क्षेत्र में उद्योगों के भावी विकास का प्रत्यक्ष दायित्व अपने ऊपर लेना होगा। तथापि ऐसी कुछ सीमाएँ हैं, जिनके कारण यह आवश्यक हो गया है कि राज्य इस अवसर पर उस क्षेत्र की स्पष्ट परिभाषा करदे, जिसमें वह भावी विकास का सम्पूर्ण दायित्व अपने ऊपर लेगा और उन उद्योगों का भी चुनाव कर लिया जाये, जिनके विकास में राज्य प्रमुख रूप से भाग लेगा। इस समस्या के समस्त पक्षों पर विचार करके और योजना-आयोग से परामर्श लेकर भारत सरकार ने उद्योगों को तीन वर्गों में विभाजित करने का निश्चय किया है। राज्य किसी उद्योग में कितना भाग लेगा, इसी आधार पर यह वर्गीकरण किया गया है।

उद्योगों का वर्गीकरण—

प्रथम वर्ग में वे उद्योग होंगे, जिनके भावी विकास का दायित्व केवल राज्य पर होगा। द्वितीय वर्ग में वे उद्योग होंगे, जिन पर राज्य का स्वामित्व क्रमशः होगा और जिनमें नये प्रतिष्ठानों की स्थापना का भार तो सामान्यतः राज्य पर होगा, किन्तु इनमें राज्य के प्रयत्नों में गैर सरकारी उद्यम के सहयोग की भी उपेक्षा की जायगी। तृतीय

वर्ग में शेष समस्त उद्योगों का समावेश होगा और सामान्यत: इन उद्योगों का भावी विकास गैर सरकारी क्षेत्र के प्रयत्नों तथा उद्यम पर छोड़ दिया जायगा।

प्रथम वर्ग के उद्योग इस प्रकार हैं :—

(१) अस्त्र-शस्त्र और सुरक्षा के अन्य सामान, (२) अणुशक्ति, (३) लोहा और इस्पात, (४) हैवी कन्स्ट्रक्शन के माल, (५) खनिज उद्योग, मशीन निर्माण और इसी प्रकार के अन्य उद्योग, (६) बड़े-बड़े विद्युत प्लाण्ट, (७) कोयला और लिग्नाइट, (८) खनिज तेल, (६) कच्चा लोहा, मैंगनीज, जिप्सम, गन्धक, सोना और हीरा, (१०) तांबा, रांगा, जस्ता, टीन, (११) अणुशक्ति आदेश (सन् १९५३) में वर्णित खनिज पदार्थ, (१२) वायुयान, (१३) हवाई यातायात, (१४) रेलवे यातायात, (१५) जहाज निर्माण, (१६) टेलीफून और उसके तार, टेलीग्राफ, बेतार का तार (रेडियो को छोड़ कर), (१७) बिजली-उत्पादन और वितरण।

इन उद्योगों के नये कारखानों की स्थापना केवल राज्य द्वारा की जायगी। गैर सरकारी क्षेत्र में ऐसे जिन कारखानों की स्थापना के लिए पहले ही अनुमति दी जा चुकी है, वे इस नियम के अपवाद होंगे। इसका अर्थ यह नहीं है कि वर्तमान गैर सरकारी कारखानों का विस्तार नहीं किया जा सकता, अथवा राष्ट्रीय हित में राज्य नये कारखाने स्थापित करते समय गैर सरकारी उद्यम का सहयोग प्राप्त नहीं कर सकता। रेल तथा वायु-परिवहन, अस्त्र शस्त्र और अणु-शक्ति का विकास केन्द्रीय सरकार के एकाधिकारों के रूप में किया जाएगा। जब भी गैर सरकारी उद्यम के सहयोग की आवश्यकता होगी तो राज्य—पूँजी में बहुसंख्यक सहयोग द्वारा अथवा अन्यथा—यह सुनिश्चित कर लेगा कि उसे उक्त प्रतिष्ठान की नीति का निर्धारण और उसकी प्रक्रियाओं का नियन्त्रण करने के अभीष्ट अधिकार प्राप्त हैं।

द्वितीय वर्ग के उद्योग इस प्रकार हैं :—

(१) मिनरल्स कन्सेशन रूल्स (सन् १९४६) के भाग तीन के अन्तर्गत जिन छोटे छोटे रासायनिक पदार्थों का उल्लेख किया गया है, उनके अतिरिक्त अन्य सभी रासायनिक पदार्थ, (२) प्रथम वर्ग में जिन धातुओं का उल्लेख हुआ है, उनके अतिरिक्त अन्य सभी लौहतर धातुएँ तथा अल्यूमीनियम, (३) मशीन निर्माण उद्योग, (४) लौह मिश्रण तथा औजार बनाने के काम में आने वाला स्टील, (५) औषधियों, रंगों तथा प्लास्टिक का उत्पादन करने के प्रसङ्ग में काम आने वाले आधारभूत तथा मध्यवर्ती माल, (६) एन्टीबायटिक तथा अन्य आवश्यक औषधियाँ, (७) रासायनिक खाद, (८) नकली रबर, (६) कोयले से कार्बन गैस का उत्पादन, (१०) रासायनिक लुगदी, (११) सड़क-परिवहन, (१२) समुद्री-यातायात।

इस वर्ग के उद्योगों का भावी विकास द्रुत गति से करने के उद्देश्य से राज्य इन उद्योगों के अधिकाधिक प्रतिष्ठान स्थापित करेगा। इसके साथ-साथ इस क्षेत्र में गैर सरकारी उद्यम को भी, स्वाधीनतापूर्वक अथवा राज्य के सहयोग से, विकास करने का अवसर दिया जायगा।

तृतीय वर्ग में शेष सब उद्योग सम्मिलित है। उनके सम्बन्ध में यह आशा की जाती है कि इनका विकास सामान्यतया गैर सरकारी क्षेत्र के प्रयत्न और उद्यम पर निर्भर रहेगा, तथापि राज्य को इस वर्ग का कोई उद्योग भी स्वय चलाने की छूट होगी। राज्य की यह नीति रहेगी कि वह उत्तरोत्तर पच वर्षीय योजनाओं मे निर्धारित कार्यक्रमों के अनुसार परिवहन, शक्ति और अन्य सेवाओं का आश्वासन दिला कर और समुचित वित्तीय तथा अन्य उपायों द्वारा इन उद्योगों के विकास मे सुविधा और प्रोत्साहन प्रदान करे। राज्य अन्य सस्थाओ को इस बात के लिए उत्साहित करता रहेगा कि वे इन उद्योगों को वित्तीय सहायता दें और औद्योगिक अथवा कृषि सम्बन्धी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सहकारिता के आधार पर सगठित किये जाने वाले प्रतिष्ठानों को विशेष रूप म सहायता दी जायेगी। उपर्युक्त मामलों में राज्य गैर सरकारी क्षेत्र को भी वित्तीय सहायता दे सकता है। इस प्रकार की सहायता—विशेषत जब वह उल्लेखनीय रकम की हो—साम्य पूँजी (Equity Capital) में हाथ बटा कर करना अधिक अच्छा रहेगा, यद्यपि यह अशत ऋण पत्र पूँजी (Debenture Capital) के रूप में भी हो सकती है।

गैर सरकारी क्षेत्र के औद्योगिक प्रतिष्ठानों को अनिवार्य रूप से राज्य की सामाजिक एव आर्थिक नीति के अनुकूल होना होगा और उन्हें उद्योग (विकास तथा नियमन) अधिनियम तथा अन्य सम्बद्ध कानूनों के नियन्त्रण एव नियमन मे रहना होगा। भारत सरकार यह अवश्य स्वीकार करती है कि सामान्यत यह उचित होगा कि इस प्रकार के प्रतिष्ठानों के विकास के लिए यथासम्भव उतनी स्वतन्त्रता दे दी जाए जो राष्ट्रीय योजना के लक्ष्यों एव उद्देश्यों को ध्यान में रखकर दी जा सकती हो। यदि एक ही उद्योग मे सरकारी और गैर सरकारी दोनों प्रकार के कारखाने होंगे तो राज्य इसी नीति का अवलम्बन करता रहेगा कि दोनों के साथ अच्छा और निष्पक्ष व्यवहार किया जाए।

उद्योगों को अलग अलग वर्गों में बाँट देने का अर्थ यह नहीं है कि एक वर्ग का उद्योग दूसरे वर्ग में आ ही नहीं सकता है। अनिवार्यत केवल उद्योग अपने अपने वर्ग की सीमाओं का उल्लघन नहीं करेंगे, अपितु सरकारी क्षेत्र के उद्योगों के बीच बहुत अधिक परस्परानुबन्धन भी होगा। आयोजन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अथवा अन्य महत्वपूर्ण कारणों से राज्य ऐसा कोई उद्योग चला सकेगा, जिसकी गणना प्रथम अथवा द्वितीय वर्ग में नहीं की गई है। समुचित स्थितियों में गैर सरकारी कारखानों को अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए अथवा उपोत्पादन के रूप में ऐसी वस्तु का उत्पादन करने की अनुमति दी जा सकती है, जिसकी गणना प्रथम वर्ग में की गई है। सामान्यत छोटे निजी कारखानों द्वारा छोटे और हल्के जहाज बनाने, स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बिजली पैदा करने और छोटे पैमाने पर खनन काय करने मे कोई रुकावट न होगी। इसके अतिरिक्त सरकारी क्षेत्र के भारी उद्योग अपने कुछ हल्के पुर्जों की आवश्यकता गैर सरकारी क्षेत्र की सहायता

से पूरी कर सकते हैं और उधर गैर सरकारी क्षेत्र अपनी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सरकारी क्षेत्र पर निर्भर रहेगा। यही सिद्धान्त और भी अधिक शक्तिपूर्वक बड़े और छोटे पैमाने के उद्योगों के पारस्परिक सम्बन्ध पर लागू होगा।

राज्य, छोटे और बड़े पैमाने के उद्योगों पर भिन्न-भिन्न कर लगा कर अथवा लघु-उद्योगों को प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता देकर बड़े पैमाने के उद्योगों के उत्पादन का परिमाण सीमित करके कुटीर, ग्राम और लघु-उद्योगों को सहारा देने की नीति पर चल रहा है। इस प्रकार के कदम तो भविष्य में भी उठाये जाते रहेंगे, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर राज्य की नीति का लक्ष्य यह बात सुनिश्चित करना होगा कि विकेन्द्रित क्षेत्र पर्याप्त शक्ति एवं सामर्थ्य अर्जित करले, ताकि वह आत्म निर्भर हो सके और उसका विकास बड़े पैमाने के उद्योगों के विकास के साथ एकीकृत हो सके, अतः राज्य ऐसे उपायों का अवलम्बन करेगा, जिससे छोटे पैमाने के उत्पादक की प्रतिस्पर्धा करने की शक्ति बढ़ सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि उत्पादन का तरीका धीरे-धीरे सुधारा जाय और उसे आधुनिक ढंग का बनाया जाए, तथा इस परिवर्तन की गति का नियमन इस प्रकार हो, जिससे यथासम्भव शिल्पिक बेकारी से बचा जा सके। छोटे पैमाने के उत्पादकों की कुछ मुख्य कठिनाइयाँ ये हैं: शैल्पिक तथा वित्तीय सहायता का अभाव, काम करने के लिए उपयुक्त स्थान प्राप्त न होना और मरम्मत की सुविधाओं का अभाव। औद्योगिक बस्तियों और देहाती सामुदायिक कारखानों की स्थापना द्वारा इन अभावों की पूर्ति करने का आरम्भ किया जा चुका है। गाँवों में बिजली पहुँचाने और कारीगरों को ऐसे मूल्यों पर बिजली की शक्ति उपलब्ध करने से भी इस काम में पर्याप्त सहायता मिल सकती है, जिनका भुगतान वे कर सकते हैं। औद्योगिक सहकारी संस्थाओं की स्थापना और संगठन द्वारा छोटे पैमाने के उत्पादन से सम्बद्ध अनेक कार्यों को बहुत सहायता पहुँचायी जा सकती है। इस प्रकार की सहकारी संस्थाओं को सब प्रकार प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए और राज्य को कुटीर, ग्राम तथा लघु-उद्योगों के विकास की ओर लगातार ध्यान देना चाहिए।

विकास-स्तरों में समानता—

औद्योगीकरण को सम्पूर्ण देश की अर्थ-व्यवस्था के लिए हितकर बनाने के उद्देश्य से यह आवश्यक है कि विभिन्न क्षेत्रों के विकास स्तरों के बीच दिखायी देने वाली विषमताएँ धीरे-धीरे कम की जाएँ। देश के विभिन्न भागों में उद्योगों की कमी प्रायः आवश्यक कच्चे माल अथवा प्राकृतिक साधनों के अभाव के कारण होती है। विशेष क्षेत्रों में उद्योगों का बहुलता उन स्थानों में विकसित शक्ति, जल और परिवहन सम्बन्धी सुविधाओं की सुलभ उपलब्धि पर निर्भर रहती है। अन्तर्राष्ट्रीय आयोजन का एक उद्देश्य यह भी है कि धीरे-धीरे उन इलाकों में भी सुविधाएँ उपलब्ध की जाँय, जो इस समय औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं अथवा (वह स्थान और सब बातों की दृष्टि से उपयुक्त होने पर) जहाँ नियोजन के अवसर जुटाने की अधिक आवश्यकता

है। औद्योगिक और कृषि सम्बन्धी अर्थ-व्यवस्था के संतुलित और समेकित विकास द्वारा ही सम्पूर्ण देश उच्च जीवन-स्तरों तक पहुँच सकता है।

औद्योगिक विकास के इस कार्य-क्रम के लिए देश में अनेक शिल्पियों और व्यवस्थापकों की भारी आवश्यकता होगी। सरकारी क्षेत्र के विस्तार और ग्राम तथा लघु-उद्योगों के विकास के लिए बराबर बढ़ने वाली इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए सार्वजनिक सेवाओं में व्यवस्थापकों और शिल्पियों के समुचित वर्गों की स्थापना की जा रही है। निरीक्षकों की कमी दूर करने, सरकारी तथा गैर सरकारी उद्यमों में बड़े पैमाने पर प्रशिक्षण सम्बन्धी योजनाओं की व्यवस्था करने और विश्वविद्यालयों तथा अन्य संस्थाओं में व्यापारिक व्यवस्था का प्रशिक्षण देने की सुविधाओं का विस्तार करने के लिए भी कदम उठाये जा रहे हैं।

उपसंहार—

प्रजातन्त्रीय राज्य में किसी भी नीति की सफलता जनता के उत्साहपूर्ण तथा सक्रिय सहयोग पर निर्भर करती है, अतः इस नीति को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए जन-सहयोग की विशेष आवश्यकता है। आशा है यह सहयोग अवश्य मिलेगा।

---

[३]

भारतीय उद्योगों में विवेकीकरण

रूपरेखा—

१. *प्रस्तावना*—'विवेकीकरण' का सामान्य अर्थ। उद्योग में 'विवेकीकरण' से आशय। विवेकीकरण के उद्देश्य।

२. *विवेकीकरण के मार्ग में कठिनाइयाँ*—भारतीय श्रमिकों का अशिक्षित एवं अज्ञानी होना। प्रवासी प्रवृत्ति। दोषपूर्ण भरती पद्धति। तान्त्रिक शिक्षा का अभाव। अभिनवीकरण एवं आधुनिकीकरण का अभाव। प्रमापीकरण की असम्भवता तथा श्रमिकों का विरोध।

३. *विवेकीकरण की दिशा में किंचित प्रयत्न*—विशिष्ट उद्योगों में विवेकीकरण—सीमेंट उद्योग, शक्कर उद्योग, जूट उद्योग, लौह एवं स्पात उद्योग, सूती वस्त्र उद्योग। प्रमापीकरण की दिशा में प्रयत्न। औद्योगिक अनुसंधान के क्षेत्र में प्रयत्न।

४. *भारतीय उद्योगों में विवेकीकरण की आवश्यकता*—(अ) मशीनों का अव्यवस्थित हो जाना एवं घिस जाना तथा (आ) देश के विभाजन के बाद निर्यात बाजारों का विकास आवश्यक हो जाना—इन कारणों से विवेकीकरण आवश्यक है।

५. *विवेकीकरण क्यों कर सफल हो?*—विवेकीकरण के प्रचलन से बेरोजगारी को बढ़ावा मिलता है। विवेकीकरण की योजना की सफलता के लिए श्रम एवं पूँजी का सहयोग अनिवार्य। यदि विवेकीकरण स्थगित कर दिया जाय, फिर भी बेरोजगारी की समस्या का हल नहीं किया जा सकता। इसके दीर्घकालीन परिणाम तो और भी बुरे होंगे। अतः इसका प्रचलन ही वांछनीय है।

प्रस्तावना—

'विवेकीकरण' शब्द 'विवेक' से बना है, जिसका आशय ऐसी किसी क्रिया से है जो कि बुद्धि द्वारा एवं सोच-विचार कर की गई हो। 'वैज्ञानीकरण' एवं 'युक्तीकरण' इसके अन्य पर्यायवाची हैं। वैज्ञानीकरण का अर्थ होता है वैज्ञानिक पद्धति से कार्य करना, क्योंकि विज्ञान में प्रत्येक परिणाम कारण परम्परा से निकाला जाता है। इसी प्रकार 'युक्तीकरण' से आशय है, युक्ति द्वारा सोच-समझ कर कोई कार्य करना। किसी भी नाम से पुकारिये, विवेकीकरण का सामान्य अर्थ यही है कि जो भी कार्य किया जाय, वह भली प्रकार विचार करके एवं गुण-दोषों के सन्तुलन के उपरान्त करना

चाहिए, अर्थात् ऐसी कोई भी मानवीय क्रिया जो तर्क अथवा युक्ति पर अवलम्बित हो, विवेकशील कही जा सकती है। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति भले-बुरे का विचार किये बिना कोई कार्य करता है तो परिणाम अच्छा न होगा। तभी तो किसी ने कहा है कि 'बिना विचारे जो करै, सो पाछे पछिताय।' यह तो विवेकीकरण का सामान्य अर्थ है। 'उद्योग' में विवेकीकरण का तात्पर्य यह है कि उद्योग की प्रत्येक क्रिया को तर्क के आधार पर अथवा किसी विशेष युक्ति से किया जाय। साधारणतः उद्योग के तीन क्षेत्र होते हैं—(अ) प्रवर्तन अर्थात् प्रारम्भिक अनुसन्धान करना, (ब) निर्माण एवं (स) विज्ञापन तथा विक्रय। उद्योग के इन तीनों क्षेत्रों में विवेक अथवा युक्ति की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए प्रवर्तक के क्षेत्र में प्रवर्तक को कारण परम्परा द्वारा यह निर्धारित करना पड़ता है कि उसके उद्योग के लिए कौन से संचालक उपयुक्त होंगे? किसको प्रबन्ध संचालक बनाया जाय? पूँजी प्राप्त करने के लिये पूँजी का कलेवर कैसे बनाया जाय? श्रम-जीवी कहाँ से प्राप्त किये जाँय? सस्ती शक्ति कहाँ से उपलब्ध होगी? आदि। इन प्रश्नों के हल के लिए बड़े विवेक की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार निर्माण के क्षेत्र में उसे यह सोचना पड़ता है कि कच्चा माल कहाँ से एवं किस मात्रा में प्राप्त किया जाय? औद्योगिक कला में निपुण कारीगर कहाँ से प्राप्त होंगे? नवीनतम् मशीनें कहाँ से उपलब्ध होंगी? आदि प्रश्नों को हल करने में भी युक्ति की आवश्यकता पड़ती है। तीसरे, विक्रय वृद्धि के लिए बड़े प्रयत्न करने पड़ते हैं। कारण, परम्परा द्वारा यह निश्चय करना पड़ता है कि सबसे सस्ता एवं कुशल यातायात का साधन कौन सा होगा, जिसके द्वारा उपभोक्ताओं के दरवाजे तक निर्मित माल पहुँचाया जाय, अतः यह स्पष्ट है कि वैज्ञानिक पद्धतियों के द्वारा उत्पत्ति के विभिन्न साधनों से अधिक से अधिक उपयोगिता प्राप्त करना ही 'वैज्ञानिकन' अथवा 'विवेकीकरण' कहलाता है।

विवेकीकरण के मुख्य उद्देश्य निम्नांकित हैं:—

(१) कम से कम प्रयत्न द्वारा अधिकतम् कार्यक्षमता प्राप्त करना।

(२) श्रम-शक्ति एवं अनिर्मित माल के निरर्थक उपयोग को दूर करना।

(३) वस्तुओं को उपयुक्त बनाने एवं उनके वितरण में सुगमता लाने के लिए प्रयत्न करना।

(अ) अनावश्यक यातायात को दूर करना।

(आ) अनावश्यक मध्यस्थों को हटाना।

(इ) आर्थिक भार को कम करना।

(ई) वस्तुओं एवं यन्त्रों का प्रमापीकरण करना, और

(उ) निर्माण के ढङ्गों में अनुसन्धान करना।

(४) समाज के लिए अधिक स्थायी और उच्चतर जीवन स्तर सम्भव करना।

(५) उपभोक्ताओं के लिये कम से कम मूल्य पर वस्तुयें उपलब्ध करना।

(६) विभिन्न वर्ग के उत्पादकों के लिये (चाहे वे बड़े हों या छोटे) उचित

पारतोषिक का नियोजन करना तथा श्रमिकों एवं उपभोक्ताओं की सामाजिक समृद्धि करना।

विवेकीकरण के मार्ग में कठिनाइयाँ—

हमारे देश के उद्योग धन्धों मे विवेकीकरण की नितान्त आवश्यकता होते हुए भी इस नीति के प्रयोग में अनेक बाधायें हैं। अधिकाँश भारतवासी अशिक्षित हैं। कारखानों में काम करने वाले अधिकतर श्रमिक गाँव से आते हैं। इन गाँवों का वातावरण ही वैज्ञानिक विकास के विपरीत है। ग्रामवासी अपने अतिरिक्त समय में काम की तलाश में नगरों की ओर चले जाते हैं और फसल के दिनों में काम छोड़कर वापिस लौट जाते हैं। इस कारण कारखानों के काम में उन्हें कोई विशेष चाव नहीं होता। उनकी भरती भी किसी नीति अथवा सिद्धान्त के अनुसार नहीं होती। भरती का काम कर्मचारियोजकों (Jobbers) के हाथ में रहता है। श्रमिकों की उचित शिक्षा के सम्बन्ध में भी कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। उनमें सगठन का भी अभाव है। यद्यपि नई-नई मशीनें चल निकली हैं, फिर भी हमारे कारखानों में पुरानी मशीनरी का ही प्रयोग हो रहा है। औद्योगिक अनुसन्धान की सुविधायें भी न्यून हैं। इन अनेक बाधाओं के कारण भारतीय उद्योगों में विवेकीकरण के प्रयत्न अधिक सफल नहीं हुये।

वैज्ञानिक प्रबन्ध की सफलता के लिए, जो विवेकीकरण का एक प्रधान अङ्ग है, प्रमापीकरण अत्यन्त आवश्यक होता है, किन्तु वास्तव में यह बड़ा कठिन कार्य है, अतएव जब तक दृढ़ता से कार्य नहीं किया जाता, सफलता नहीं मिल सकती। वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत श्रमिकों की मानसिक प्रवृत्ति के अनुसार उनका चुनाव करना पड़ता है, प्रमापित वस्तुओं का एवं यन्त्रों का चुनाव करना पड़ता है, उत्पादन की प्रत्येक क्रिया में समानता लाई जाती है, इत्यादि। इन कार्यों के लिए प्रयोग की आवश्यकता होती है, जो कि अत्यन्त कठिन एवं खतरनाक पद्धति है, क्योंकि यदि प्रत्येक बात के लिए प्रयोग किए जायेंगे तो कारखाना एक कारखाना न रह कर प्रयोगशाला बन जायेगा, जिसमें वस्तुओं पर प्रयोग होंगे, श्रमिकों पर प्रयोग होंगे, यन्त्रों पर प्रयोग होंगे, इत्यादि। यही कारण है कि प्रमापीकरण की प्रत्यक्ष असम्भवता के कारण वैज्ञानिक प्रबन्ध कहीं सफल न हो सका। फिर श्रमजीवी भी वैज्ञानिकता की योजनाओं को मिल-मालिकों द्वारा शोषण की नई पद्धतियाँ समझते हैं, क्योंकि इनके परिणाम स्वरूप उनकी छटनी होती है तथा उन्हें कोई तात्कालीन विशेष लाभ भी नहीं होता।

विशिष्ट उद्योगों में विवेकीकरण—

भारत के कुछ प्रमुख उद्योगों में विवेकीकरण से सम्बन्धित प्रयत्नों का सक्षिप्त इतिहास इस प्रकार है :—

सीमेंट उद्योग—

सन् १६३० में सीमेंट मार्केटिंग कम्पनी स्थापित हुई, जिसने अपने सदस्यों के समस्त उत्पादन को आर्थिक मूल्य पर बेचना शुरू किया। सीमेंट के प्रत्येक कारखाने

के लिये उत्पादन का कोटा निश्चित कर दिया गया । रेलवे कम्पनियों से भी भाड़े सम्बन्धी उचित ठहराव कर लिए गये । भिन्न भिन्न प्रकार के सीमेंट के लिए बाजार बाँट दिया गया । इस प्रकार सीमेंट मार्केटिंग कम्पनी ने प्रतिस्पर्धा की भावना का अन्त कर दिया, यातायात के व्यय को कम कर दिया तथा उत्पादन पर नियन्त्रण करके आवश्यकता से अधिक उत्पादन की सम्भावना को भी समाप्त कर दिया । उपभोक्ताओं को भी सस्ते दामों पर वस्तुयें मिलना सुलभ हो गया । तत्पश्चात् सन् १९३६ में, 'एसोशियेटेड सीमेन्ट कम्पनीज' के रूप में सीमेन्ट के अनेक प्रमण्डलों का संयुक्तीकरण हुआ । फिर सन् १९४१ में 'एसोशियेटेड सीमेन्ट कम्पनीज' ने डालमियाँ ग्रूप के साथ गठबन्धन कर लिया ।

शक्कर उद्योग—

इसी प्रकार शक्कर उद्योग में भी पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता की भावना को समाप्त करने की दृष्टि से 'शुगर मार्केटिंग बोर्ड' सन् १९३२ में स्थापित किया गया । फिर शक्कर के उत्पादन एवं उसके वितरण पर नियन्त्रण रखने की दृष्टि से सन् १९३७ में शुगर सिंडीकेट स्थापित किया गया । अब कुछ समय से "केन्द्रीय शक्कर समिति" बना दी गई है । इस समिति के परिणामस्वरूप शक्कर के उद्योग में अनेक उपयोगी अनुसन्धान हो रहे हैं । गन्ने की उपज में वृद्धि होने के अतिरिक्त शक्कर के उत्पादन तथा उसके विक्रय की रीति में भी बहुत उन्नति हो गई है, किन्तु आज भी शक्कर उद्योग में अनेक निरर्थक व्यय होते हैं, जिनका यदि उपयोग किया जाय तो मेथिलेटिड स्प्रिट, शराब इत्यादि उतोत्पाद (Bye Products) बनाये जा सकते हैं । आज शीरा तथा बँगैसेज का समुचित उपयोग नहीं हो रहा है, अतएव उद्योग के अपने पैरों पर खड़े होने के लिए उत्पादन एवं उत्पादन क्रियाओं का विवेकीकरण करने की आवश्यकता है, जिससे मितव्ययिता आकर संरक्षण की जरूरत न रहे ।

जूट उद्योग—

जूट उद्योग भारत का सबसे सङ्गठित उद्योग है, क्योंकि इसमें हम उत्पादन पर सबसे अच्छा नियन्त्रण देखते हैं, किन्तु अन्य बातों पर इस उद्योग में भी विशेष ध्यान नहीं दिया गया । इसका प्रधान कारण यह था कि अभी तक भारतवर्ष को इस उद्योग का एकाधिकार प्राप्त था । पारस्परिक सहयोग लाने तथा उत्पादन का नियन्त्रण करने के लिए इण्डियन जूट मिल एसोसियेशन की स्थापना की गई । विवेकीकरण काम के घण्टों में कमी करने तक ही सीमित रहा । सन् १९२१ में इण्डियन सैण्ट्रल जूट कमेटी की स्थापना की गई थी, जिसका उद्देश्य जूट उद्योग की प्रगति के लिये तान्त्रिक कृषि तथा आर्थिक सुधार करना, फसल को उन्नत करने के उपाय खोजना, जूट के उन्नत बीजों का वितरण एवं परीक्षण करना तथा जूट के विक्रय एवं यातायात की सुविधायें देना है । इन कार्यों के लिए अनेक प्रयोगशालायें भी हैं । इसके अलावा जूट मिल एसोसियेशन की भी एक अनुसन्धानशाला है, जो आज कल जूट उद्योग की विभिन्न समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न कर रही है । भारतीय जूट उद्योग आज त्राहि त्राहि

कर रहा है। भारत के बँटवारे के कारण हमारे मिलों को पर्याप्त मात्रा में एवं उचित मूल्य पर जूट नहीं मिल रहा है। दूसरे, हमारे जूट की माँग भी विदेशों में कम ही रही है, क्योंकि आज जूट के स्थान में अन्य चीजों का प्रयोग होने लगा है। तीसरे, अव-मूल्यन के बाद जूट का मूल्य भी बहुत बढ़ गया है, अतः जूट उद्योग को सुरक्षित रखने के लिए विवेकीकरण का अनुसरण अनिवार्य है।

लोहा एवं स्पात उद्योग—

इस उद्योग में विवेकीकरण की जो प्रगति हुई, वह केवल सराहनीय ही नहीं, वरन् अनुकरणीय भी है। ऐसे अनेक प्रयोग किये गये हैं, जिनके फलस्वरूप उत्पादन-क्रियाओं में सरलता आ गई है और उत्पादन में भी वृद्धि हुई। निरर्थक व्यय कम हो गया है। श्रम-बचत के अनेक साधनों का उपयोग किया गया है। इतना ही नहीं, वरन् द्वितीय महायुद्ध के युग में तो स्पात बनाने में 'स्क्रैपकार्बन-प्रोसेज' का उपयोग किया गया है, जो वास्तव में एक महत्वपूर्ण सुधार है।

सूती वस्त्र उद्योग—

सूती वस्त्र मिल उद्योग भारत का सबसे महत्वपूर्ण एवं महान् उद्योग है। द्वितीय महायुद्ध के पहले इस उद्योग में विवेकीकरण के कुछ प्रयत्न किए गए, किन्तु वे सराहनीय नहीं कहे जा सकते, क्योंकि इनमें से अधिकांश प्रयत्न असफल रहे। इस उद्योग में विवेकीकरण से सम्बन्धित प्रयत्न प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के विरोध एवं असहयोग के कारण अभी तक प्रायः असफल ही रहे हैं। सन् १९३९ में मिलों के पारस्परिक सम्मिश्रण के लिए अनेक प्रयत्न किये गये, किन्तु वे सफल नहीं हुए। जब द्वितीय महा-युद्ध आरम्भ हुआ, तो कपड़े की माँग दिन पर दिन बढ़ने लगी। इस कारण उद्योग की उन्नति को बड़ा अवसर मिला। सन् १९४१ में टैक्सटाइल लेबर इन्क्वायरी कमेटी बम्बई ने इस उद्योग में विवेकीकरण का अनुकरण करने की सिफारिश की, किन्तु उद्योगपतियों ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। वे तो आँधी के आम की भाँति ऊँचे लाभ उठा रहे थे, अतएव उन्होंने विवेकीकरण की आवश्यकता ही अनुभव न की। इन दिनों भारत में चारों ओर वस्त्र सङ्कट था, अतएव उपयोगिता के वस्त्र का उत्पादन बढ़ाने के लिये तथा वस्त्र की कमी की समस्या को हल करने के हेतु सन् १९४५ में भारत सरकार ने उत्पादन के विवेकीकरण से सम्बन्धित एक अधिनियम (Textile Industry—Rationalisation of Products Order) बनाया, जिसके फलस्वरूप तरह-तरह के वस्त्रों का बनाना बन्द कर दिया गया। मिलें केवल ऐसा ही कपड़ा तैयार करने लगीं, जिसकी सबसे अधिक उपयोगिता थी। सन् १९४५ के आदे-शानुसार उत्पादन एवं वितरण पर भी नियन्त्रण रखा गया। बम्बई तथा अहमदाबाद की मिलों में विवेकीकरण का अनुसरण विशेष रूप से किया गया। फासेट कमेटी (Fawcett Committee) के अनुसार कोहेनूर मिल्स और सैसून तथा फिनले ग्रुप की मिलों में कुछ 'कुशलता वृद्धि सम्बन्धी योजनायें' प्रचलित की गईं। प्रो० सी० एन० वकील ने कपास के क्रय तथा वस्त्र के वितरण में विवेकीकरण से मितव्ययिता

लाने के लिये संयुक्त केन्द्रीय सभा की स्थापना को आवश्यक बताया है। सन् १६४८ के अन्त में मिलमालिक संघ की सिफारिशों पर भारत सरकार ने श्री भवानीशङ्कर एम० बोरकर को सूती कपास उद्योग के सम्बन्ध में तान्त्रिक एवं वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने जापान भेजा। यह प्रयत्न भी विवेकीकरण की दिशा में ही किया गया। उद्योग की उन्नति के लिये अभी कुछ दिन हुए यन्त्रों के आधुनिकीकरण की सिफारिश की गई है। इसी प्रकार भारतीय प्रमाप संस्था द्वारा निर्धारित प्रमाप एवं निर्देशन के अनुसार उत्पादन एवं उत्पादन क्रियाओं का प्रमापीकरण करने की सिफारिश की गई है।

प्रमापीकरण की दिशा में प्रयत्न—

भारतीय उद्योगपतियों ने सर्व प्रथम सन् १६४० के बारहवें उद्योग सम्मेलन में भारतीय प्रमाप निश्चित करने के लिए 'भारतीय प्रमाप संस्था' (Indian Standard's Institute) खोलने का प्रस्ताव सरकार के सन्मुख रक्खा, किन्तु युद्ध परिस्थितियों के कारण उस समय भारत सरकार ने प्रस्ताव पर ध्यान नहीं दिया। सन् १६४६ में औद्योगिक योजना के अन्तर्गत प्रमापीकरण की आवश्यकता का अनुभव करते हुए भारत सरकार ने एक प्रमाप संस्था खोलने का निश्चय कर लिया। संस्था खोली गई और उसका केन्द्रीय कार्यालय नई दिल्ली में रखा गया है। इस संस्था का प्रबन्ध एक सामान्य परिषद् द्वारा होता है, जिसके सभापति उद्योग सचिव हैं और इसमें केन्द्रीय सरकार के विभिन्न विभागों, राज्यों, अनुसन्धान संस्थाओं, चैम्बर ऑफ कॉमर्स इत्यादि के कुल ६४ प्रतिनिधि हैं। इसके पाँच विभाग हैं —(१) इन्जीनियरिंग, (२) बिल्डिंग, (३) कैमिकल्स, (४) टैक्सटाइल्स और (५) फूड तथा एग्रीकल्चर। प्रत्येक विभाग का नियन्त्रण विभागीय परिषद् द्वारा होता है।

भारतीय प्रमाप संस्था का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर विभिन्न वस्तुओं एवं क्रियाओं के प्रमाप निर्धारित करना तथा इस सम्बन्ध में आवश्यक सुधार करना, औद्योगिक आँकड़े एवं सूचनायें एकत्रित एवं प्रकाशित करना तथा प्रमापीकरण की उन्नति के लिए पुस्तकालय, म्यूजियम तथा प्रयोगशालायें स्थापित करना और विभिन्न वस्तुओं के प्रमापीकृत चिन्हों का रजिस्ट्रेशन करना है। भारतीय प्रमाप संस्था अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का सदस्य है। इस बात से ही इसकी यशस्वता का परिचय मिलता है। भारतीय प्रमाप संस्था का कार्य अब राष्ट्रीय महत्व प्राप्त कर चुका है। यह संस्था ७ साल पहले सरकार और जनता के समर्थन से प्रारम्भ की गई थी और यह भारत में खपने और बनने वाली चीजों के नाप, किस्म और काम से प्रमाप निर्धारित करती है। संस्था को केन्द्रीय सरकार सहायता देती है। इसके अलावा राज्य सरकारें, औद्योगिक एवं व्यापारिक संस्थायें, कारखाने, प्रयोगशालायें, नगरपालिकायें तथा निगम आदि भी संस्था के सदस्य हैं और इसके लिए चन्दा देते हैं। इसके काम की लोकप्रियता और महत्व इसी बात से प्रकट होता है कि अब कारखानों के मालिक अपनी चीजों के प्रमाप निर्धारित करने के लिए स्वयं ही माँग करने लगे हैं।

भारतीय प्रमाप संस्था के विकास में सबसे महत्वपूर्ण कदम सन् १६५२ का

भारतीय प्रम प अधिनियम है। इस अधिनियम के बन जाने से प्रमाप सस्था के अधिकार बढ़ गये हैं। अब सस्था को प्रमाप चिह्न देने और कम्पनियों को भारतीय प्रमापों के अनुसार माल तयार करने के लाइसेन्स देने का अधिकार मिल गया है। इससे उचित किस्म का माल निर्माण करने के लिए प्रोत्साहन मिलेगा तथा सस्ते और घटिया माल से प्रतिद्वन्दिता का डर कम हो जावेगा। केन्द्रीय सरकार की यह नीति है कि जहाँ तक हो नियत प्रमाप की वस्तुएँ ही खरीदी जायें। ज्यों-ज्यों उपभोक्ता प्रमाप वाली वस्तुओं पर भरोसा करेंगे, त्यों त्यों औद्योगिक विकास की गति भी तीव्र होती जायगी। हमारे जैसे निर्धन देश में तो कच्चे माल की बचत का महत्व युद्ध और शान्ति-काल दोनों में एकसा है।

औद्योगिक अनुसन्धान के क्षेत्र में भारत अन्य देशों की तुलना में बहुत पीछे है। विवेकीकरण के लिए औद्योगिक अनुसन्धान अनिवार्य है, क्योंकि अनुसन्धान के बिना वस्तुओं के निरर्थक व्यय को न तो कम किया जा सकता है और न उनके उपयोग में मितव्ययिता ही लाई जा सकती है। भारतीय उद्योगपतियों ने इस महत्वपूर्ण कार्य की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व हमारे देश में केवल तीन अनुसन्धान संस्थायें थीं—इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ साइन्स, बगलौर, फॉरेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट, देहरादून एव एग्रीकल्चर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूसा। सन् १६१६ में रायल एग्रीकल्चरल कमीशन के सुझावों के परिणामस्वरूप इम्पीरियल काउन्सिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च स्थापित की गई। सन् १६४० में कानपुर में इम्पीरियल इन्स्टीट्यूट ऑफ शुगर टेक्नोलोजी स्थापित हुई। पहली अप्रैल सन् १६४० में ब्यूरो ऑफ शुगर स्टैंडर्ड भी उक्त संस्था का एक भाग हो गया है। रायल कमीशन की ही सिफारिशों के अनुसार भारतीय केन्द्रीय जूट समिति स्थापित की गई। इस समिति की अनेक प्रयोगशालायें हैं, जो निम्न कार्य करती हैं—(१) पाट की किस्म एवं उत्पादन में वृद्धि सम्बन्धी अनुसन्धान। (२) पाट पैदा करने के विभिन्न ढंग। (३) कीड़ों एव रोगों द्वारा हानि से सुरक्षा के साधन निकालना। (४) श्रेणीयन (Grading) के ढंगों में उन्नति करना। यह समिति पाट एव जूट के माल की माँग को बढ़ाने पर भी विचार करती है।

भारतीय केन्द्रीय कपास समिति सन् १६२१ में स्थापित हुई थी, किन्तु सन् १६४८ तक इसने कोई सराहनीय कार्य नहीं किया। १४ अक्टूबर सन् १६४६ को सर दातारसिंह के सभापतित्व में इस समिति की साठवीं मीटिंग हुई, जिसमें अनुसन्धान के हेतु सरकार से आर्थिक सहायता की प्रार्थना की गई।

अभी कुछ वर्ष हुये हमारे देश में विभिन्न उद्योगों के लिये अनेक अनुसन्धान-शालायें खोली गई हैं। अहमदाबाद टैक्सटाइल रिसर्च एसोसियेशन के स्थापित होने में उद्योग ने ४८ लाख रुपया और भारत सरकार ने १६ लाख रुपया दिया। सन् १६४७ के अन्त में इन्डियन लैदर इन्डस्ट्रियल रिसर्च ऐसोसियेशन स्थापित हुई और 'वनस्पति' की जाँच करने के लिये भी एक अनुसन्धान समिति स्थापित की गई।

भारत की स्वतन्त्रता ने औद्योगिक अनुसन्धान को विशेष प्रोत्साहन दिया है। हमारी राष्ट्रीय सरकार ने औद्योगिक प्रगति के लिए औद्योगिक अनुसन्धान का महत्त्व समझकर एक वैज्ञानिक अनुसन्धान विभाग खोला है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश में उपयुक्त औद्योगिक वातावरण उत्पन्न करने के उद्देश्य से सरकार ने अनेक औद्योगिक शिल्पालय खोले तथा निम्न औद्योगिक अनुसन्धान शालाओं की स्थापना की है—

(१) राष्ट्रीय भौतिक अनुसन्धानशाला, नई दिल्ली।
(२) राष्ट्रीय रासायनिक अनुसन्धानशाला, पूना।
(३) राष्ट्रीय धात्विक अनुसन्धानशाला, जमशेदपुर।
(४) दी फ्यूएल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जीलगोरा।
(५) केन्द्रीय खाद्य टैक्नॉलोजीकल अनुसन्धानशाला, मैसूर।
(६) केन्द्रीय ड्रग अनुसन्धानशाला, लखनऊ।
(७) केन्द्रीय ग्लास तथा सिरामिक्स अनुसन्धानशाला, कलकत्ता।
(८) केन्द्रीय सड़क अनुसन्धानशाला, दिल्ली।
(९) केन्द्रीय भवन अनुसन्धानशाला, रुड़की।
(१०) केन्द्रीय चमड़ा अनुसन्धानशाला, मद्रास।
(११) केन्द्रीय विद्युत् रासायनिक अनुसन्धानशाला, कराईकुडी।
(१२) केन्द्रीय नमक अनुसन्धानशाला, भावनगर।

उपर्युक्त संस्थाओं के अतिरिक्त पंच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत भी कुछ अनुसन्धानशालाएँ खोली जा रही हैं, जिनमें तीन विशेष उल्लेखनीय हैं—(१) रेडियो तथा इलैक्ट्रोनिक्स अनुसन्धानशाला। (२) एक मिकेनिकल इंजीनियरिंग अनुसन्धानशाला तथा (३) एक केन्द्रीय लवण गवेषणा केन्द्र। इन राजकीय प्रयत्नों के अतिरिक्त कुछ व्यक्तिगत उद्योगों ने भी अनुसन्धान सुविधायें उत्पन्न की हैं, जैसे—(१) अहमदाबाद टैक्सटायल उद्योग अनुसन्धान संघ, अहमदाबाद। (२) सिल्क व आर्ट सिल्क मिल्स अनुसन्धान संघ बम्बई तथा (३) दक्षिणी भारत टैक्सटायल उद्योग अनुसंधान संघ, कोयम्बटूर।

सन् १९५३ के प्रारम्भ में ही कराईकुडी में केन्द्रीय विद्युत् तथा रासायनिक अनुसन्धानशाला और मद्रास में केन्द्रीय चमड़ा अनुसन्धानशाला का उद्घाटन हुआ था।

भारतीय उद्योगों में विवेकीकरण की आवश्यकता—

भारतीय उद्योगों में विवेकीकरण की प्रगति के एकमात्र अवलोकन से यह स्पष्ट है कि हमारे देश में लौह एवं स्पात उद्योग के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्योग में वैज्ञानिकन का उपयोग न के बराबर है। अन्य उद्योगों में जो किंचित प्रयत्न किये गये हैं वे या तो संयोग के लाभों को प्राप्त करने अथवा प्रतिस्पर्धा का अन्त करने की दृष्टि से किये गए हैं। उदाहरणार्थ, वस्त्र मिल उद्योग को ही लीजिए। इस उद्योग में वैज्ञानिकन की आवश्यकता पर जोर देते हुए 'टाटा क्वार्टर्ली' ने लिखा है कि सूती वस्त्र

उद्योग में निर्माण क्रियाओं के वैज्ञानिकन की आवश्यकता निम्न दो कारणों से अधिक बलवती हो गई है:—

(१) मशीनों का अप्रचलित हो जाना एवं घिस जाना।

(२) देश के बँटवारे के बाद निर्यात-बाजारों का विकास आवश्यक हो जाना।

सन् १९५२ में प्रकाशित अपनी रिपोर्ट में सूती उद्योग की वर्किंङ्ग कमेटी ने बताया था कि स्पिनिंग विभागों में ६२% मशीनरी सन् १९२१ से पहले लगाई गई थी और ३०% सन् १९१० से भी पहले। वीविंग विभागों की स्थिति तो और भी खराब है। ७२% लूम्स सन् १९२२ से पहले लगाए गए थे और ४६% तो सन् १९१० से भी पहले के हैं। साधारणतः एक मशीन ३० साल तक काम करती है, इसलिए इसे बदलने की नितान्त आवश्यकता है। पाकिस्तानी प्रदेश में देश के विभाजन के पूर्व २०% उत्पादन खपता था। आज वह बाजार बन्द सा हो गया है। वहाँ स्वयं बढ़िया मशीनरी लग रही है। जापान ने भी युद्ध के बाद प्रायः सारी मशीनरी अपटूडेट कर दी है। जापान के सूती वस्त्र उद्योग के ७०% स्पिन्डिल और २६% लूम्स युद्धोत्तर-काल में सन् १९५२ के अन्त तक लगाये गये थे और अधिकाँश लूम्स ऑटोमेटिक हैं। अन्य देशों ने भी अपने उद्योगों की मशीनरी अपटूडेट कर ली है, यद्यपि युद्ध-पूर्व के युग से सन् १९५१ के अन्त तक विश्व की उत्पादन क्षमता ३१,००० मिलियन गज से बढ़कर ३६,००० मिलियन गज हो गई, किन्तु वस्त्र-सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा ६,७२० मिलियन गज से घट कर केवल ४,४४० मिलियन गज रह गई है। उनसे प्रतिस्पर्धा के लिए हमारे देश में विवेकीकरण के सिवाय अन्य कोई भी मार्ग नहीं है।

वस्त्र मिल उद्योग की मशीनरी के अभिनवीकरण का प्रश्न केवल विदेशी बाजार की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नहीं वरन् घरेलू माँग को स्थिर रखने के लिए भी वांछनीय है। गत कुछ वर्षों से कपड़े की माँग गिरती जा रही है। मार्च सन् १९५२ की मन्दी के बाद से वस्त्र-उद्योग के लिए परिस्थितियाँ विशेषतः कठिन हो गई हैं। सन् १९५३ के प्रथम ६ महीनों में कपड़े का बिना बिका स्टॉक दुगुना हो गया और वर्ष के अन्त में यह लगभग ७३ करोड़ रुपये का था। जब तक उद्योग अपने उत्पादन व्यय व मूल्यों को कम नहीं करता और माल की किस्म में उन्नति नहीं करता तब तक विकास तो दूर, आन्तरिक बाजार को स्थिर रखना भी अत्यन्त कठिन है।

वस्त्र मिल उद्योग के अतिरिक्त भारत के अन्य उद्योगों में भी मशीनरी के अभिनवीकरण का प्रश्न बड़ा महत्वपूर्ण है। चीनी उद्योग में अभी तक मिलों ने शेष्य पदार्थों का उपयोग उस वस्तुएँ बनाने के लिए नहीं किया, जो नितान्त आवश्यक है। इससे मितव्ययिता होकर उत्पादन व्यय गिरेंगे, यन्त्रों के आधुनिकीकरण एवं उत्पादन क्रियाओं के प्रमापीकरण का प्रयत्न भी अभी तक नहीं किया गया है, जो बहुत आवश्यक है। जूट मिल उद्योग में विवेकीकरण के अवलम्बन की आवश्यकता है, क्योंकि इसके बिना न तो हम अन्य देशों से प्रतिस्पर्धा में टिक सकते हैं और न विदेशी माँग को ही

पूरा करने मे समर्थ हो सकते है। सीमेन्ट उद्योग मे भी अभी तक मानवीय श्रम एवं वस्तुओं का निरर्थक व्यय कम करने की दृष्टि से तथा उत्पादनशीलता बढाने एव यन्त्रों के आधुनिकीकरण की ओर कुछ भी नहीं किया गया है।

भारतीय प्रमाप सस्था ने भी अभी तक जो कुछ किया है वह सतोपजनक अवश्य है, किन्तु औद्योगिक विकास मे अभी प्रमापों को महत्व नही दिया जा रहा है। उद्योगपतियों की शिकायत है कि खरीददार देशी माल का विश्वास नही करते और विदेशी माल महगा होते हुए भी खुशी से खरीदते है।

अत. भारतीय उद्योगों मे विवेकीकरण की बड़ी आवश्यकता है। इसी के आधार पर हमारे उद्योग केवल देशी बाजार में ही नहीं, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में भी टक्कर लने के लिए समर्थ हो सकते हैं, परन्तु विवेकीकरण का सफलतापूर्वक प्रयोग करने के लिए यह आवश्यक है कि भारतीय उद्योग वैयक्तिक एव सामूहिक रूप में समुचित शिलान्यास कर विवेकीकरण की नींव को सुदृढ़ करे।

विवेकीकरण क्योंकर सफल हो?

श्रम सघक-पत्रों के द्वारा विवेकीकरण के प्रचलन का सबसे बड़ा विरोध यह बताया जाता है कि इससे बेरोजगारी को बढ़ावा मिलता है और रोजगार की समस्या, जो पहले से ही जटिल है और भी भीषण हो जाती है। विवेकीकरण के परिणामस्वरूप जो बेरोजगारी फैलती है उसके दो रूप हो सकते हैं—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष रूप में तो उन उद्योगों मे बेरोजगारी होने की सम्भावना है, जहाँ ओटोमेटिक मशीनरी का प्रयोग किया जाय और अप्रत्यक्ष रूप से उन उद्योगों मे भी बेरोजगारी की सम्भावना है जो वैज्ञानीकृत इकाइयों से प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकती और फलस्वरूप अपना कार्य बन्द करने के लिए विवश हो जाये। इसी प्रकार छोटे पैमाने के उद्योग तथा हैंडलूम उद्योगों में भी बेरोजगारी पड सकती है, क्योंकि वैज्ञानीकृत सगठित उद्योगों के सामने उनके टिकने की सम्भावना कम हो जाती है।

विवेकीकरण की योजना की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि इस दशा मे जो भी कार्य किया जाय वह दोनों पक्षकारो—श्रम तथा पूँजी के सहयोग से हो। सबसे पहले तो सम्पूर्ण नीति श्रमकों को भली प्रकार समझा दी जाय और यदि उचित हो तो आवश्यकतानुसार उसमें सशोधन भी कर दिये जायें। योजना को इस प्रकार कार्यान्वित किया जाय कि यदि श्रमिको पर इसके कुछ बुरे प्रभाव पडने की सम्भावना है तो वे एक विस्तृत अवधि पर फैला दिए जायें, जिससे कि उनका भार असहनीय न हो। बेरोजगारी रोकने तथा निकाले हुए श्रमिकों को पुन. कार्य देने का भी आयोजन होना चाहिए। इसके लिए निम्न कार्य किये जा सकते हैं—नवीन पद्धतियों के अनुसार कार्य करने की ट्रेनिंग का आयोजन करना, तान्त्रिक शिक्षा की सुविधा देना, कार्य की पालियाँ बढाना तथा एक विभाग से दूसरे विभाग को श्रमिकों का स्थानान्तर। इन ढङ्गों से रोजगार पर पड़ने वाले विवेकीकरण के कुप्रभावों को कम किया जा सकता है।

वास्तविक बात तो यह है कि यदि विवेकीकरण के लिए खुली आज्ञा भी दे दी जाय, तो भी बड़ी मात्रा में बेरोजगारी होने की सम्भावना नहीं है, क्योंकि एक तो देश की समस्त औद्योगिक इकाइयाँ विवेकीकरण की योजना को धन की कमी के कारण अपनाने में असमर्थ हैं और जो किंचित उद्योग इसका प्रयोग भी करेंगे, उनके उपलब्ध कोषों का अधिकांश भाग तो मशीनरी के आधुनिकीकरण में ही खप जायगा और शेष, जो श्रम संचय यन्त्रों में इस्तेमाल होगा, बहुत थोड़ा होगा। एक अनुमान के अनुसार बम्बई तथा अहमदाबाद की केवल २० वस्त्र मिलें ओटोमेटिक मशीनरी लगाने की कल्पना कर सकती हैं। सन् १९४६ से सन् १९५३ तक ७ वर्ष की अवधि में केवल ४,६०२ ओटोमेटिक लूम्स लगाए गए अथवा दूसरे शब्दों में प्रति वर्ष ६५८ लूम्स लगाये गये। इससे स्पष्ट है कि वैज्ञानिक के प्रचलन से रोजगार की स्थिति पर कोई भीषण प्रभाव पड़ने की आशङ्का नहीं है। यह भी अनुमान लगाया गया है कि ओटोमेटिक मशीनरी के द्वारा जितने श्रमजीवियों को छँटनी करनी पड़ेगी, उनकी संख्या अधिक न होगी, अतएव कुछ समय के उपरान्त उन निकाले हुए श्रमिकों को उद्योगों में पुनः काम देना कोई कठिन बात नहीं। यदि निकाले हुए श्रमिकों को दुबारा रोजगार देने के लिए ट्रेनिंग की आवश्यकता हो, तो इसकी व्यवस्था की जा सकती है। इसके अतिरिक्त भारत सरकार ने औद्योगिक संघर्ष (संशोधन) अधिनियम सन् १९५३ में निकाले हुए श्रमिकों की क्षति पूर्ति करने की व्यवस्था की है। यही नहीं, विवेकीकरण के प्रचलन से उत्पादन व्यय तथा मूल्यों में कमी होगी और वस्तुओं की किस्म सुधर जायगी। फलस्वरूप माँग बढ़ेगी, जिससे नवीन उद्योगों की स्थापना को बढ़ावा मिलेगा। इन नवीन उद्योगों में श्रमिकों को कार्य दिया जा सकता है।

यदि विवेकीकरण की योजना को कार्यान्वित न करें, तो भी इस बात की गारन्टी नहीं है कि भविष्य में रोजगार की दशा सुधर जायेगी। सच तो यह है कि इसको स्थगित करने से वस्तुओं की किस्म एवं उनके मूल्य पर बुरा प्रभाव पड़ेगा, जिसके परिणामस्वरूप देशी तथा विदेशी माँग भी कुप्रभावित होगी। उदाहरण के लिये वस्त्र मिल उत्पादन का २०% भाग, जो आज-कल विदेशों को जाता है, जाना बन्द हो जायेगा और इससे मिलों को अपना उत्पादन कम करने के लिए विवश होना पड़ेगा, जिससे बेरोजगारी बढ़ेगी, अतएव हमारे सम्मुख केवल दो मार्ग हैं :—प्रथम, विवेकीकरण का प्रचलन, जिसके परिणामस्वरूप यद्यपि थोड़ी तात्कालिक बेरोजगारी होने की सम्भावना है, किन्तु उद्योग की कार्यक्षमता निस्सन्देह बढ़ेगी और स्थिति सुदृढ़ होगी तथा दूसरा मार्ग यह है कि विवेकीकरण की योजना को स्थगित कर दिया जाय, जिससे यद्यपि तात्कालिक बेरोजगारी तो नहीं बढ़ेगी, लेकिन निकट भविष्य में बाजारों के छिन जाने पर बेरोजगारी एक रौद्र रूप धारण कर लेगी।

---

[४]

भारतीय उद्योग में संयोग आन्दोलन

रूप रेखा—

१. *प्रस्तावना*—पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का उन्मूलन करने, सहयोग की भावना को प्रोत्साहित करने एवं जनहित की दृष्टि से किया हुआ विभिन्न औद्योगिक इकाइयों का एकीकरण ही 'संयोग' कहलाता है। १६ वीं शताब्दी की विषम प्रतिस्पर्धा ने 'संयोग' की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया।

२. *भारत में संयोग आन्दोलन धीमा क्यों?*—पाश्चात्य देशों की अपेक्षा भारत में संयोग आन्दोलन मन्द गति से बढ़ा है। इसके मुख्य कारण हैं—भारतीय उद्योगपतियों की वैयक्तिक भावना, एक उद्योग के अन्तर्गत अनेक इकाइयों का होना, विदेशी प्रतिस्पर्धा, प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की उपस्थिति तथा भारत सरकार की आर्थिक नीति।

३. *आन्दोलन की वर्तमान स्थिति*—वर्तमान समय में आन्दोलन की गति कुछ प्रबल है। क्षैतिज पद्धति का ज्वलन्त उदाहरण सीमेण्ट उद्योग का संयोग है। भारतीय शक्कर उद्योग में लम्बरूप संयोग के दर्शन होते हैं। सन् १८८६ में भारतीय जूट मिल्स एसोसिएशन का निर्माण हुआ, जो 'उत्पादक संघ' का एक उदाहरण है। वस्त्र मिल उद्योग में कुछ उल्लेखनीय 'संयोग' हैं, जैसे—बकिंघम कर्नाटक मिल्स, ब्रिटिश इन्डिया कारपोरेशन, बी० बी० सी० आदि। संघ (Pool) स्वरूप का ज्वलन्त उदाहरण हमारा कागज उद्योग है। मूल्य संघ का उदाहरण हमारे तेल व्यवसाय में मिलता है। कोयला-उद्योग में भी अनेक संयोग हैं। सन् १६१३ में अनेक संघारी प्रसमुद्दल बनाए गए। बैंकिंग कम्पनियों के सम्मिश्रण के लिए अभी काफी क्षेत्र हैं। चेम्बर्स ऑव कॉमर्स व्यापारिक पार्षद के उदाहरण हैं। आर्थिक तथा प्रबन्ध सम्बन्धी संयोग भारत की एक विशेषता है। इसके उदाहरण—टाटा इन्डस्ट्रीज लि०, बिरला ग्रुप, जे० के० ग्रुप आदि। कम्पनियों के संचालन में भी घोर केन्द्रीयकरण है।

४. *उपसंहार*—आजकल भारतीय उद्योगपति विदेशी उद्योगपतियों के साथ साझेदारी कर रहे हैं, जैसे—नफील्ड बिरला, सैन रैले आदि। भारत में संयोग के लिए काफी क्षेत्र है।

प्रस्तावना—जब किसी उद्योग या व्यवसाय में विभिन्न इकाइयाँ किसी सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए कुछ अंशों में अपने व्यक्तिगत हितों का बलिदान करते हुए एक सूत्र

में बँधती हैं, तो इस प्रकार से बने संगठन को 'संयोग' (Combination) कहते हैं। औद्योगिक संयोग आपस में लड़ने वाले बच्चों की माँ की तरह होता है। इसमें भिन्न-भिन्न छोटे-बड़े तथा आपस में प्रतिस्पर्धा करने वाले व्यापारियों अथवा उत्पादन-कर्त्ताओं को एकत्रित किया जाता है तथा एक दूसरे के सहयोग और सहायता से एक दूसरे को हानि पहुँचा कर नहीं,परन्तु एक दूसरे के कार्य को बटाते हुए सबके हित में काम किया जाता है। यदि संयोग के सदस्य स्वेच्छा एवं ईमानदारी से कार्य करते हैं, तो वह संयोग स्थाई तथा सुदृढ़ होता है और अपने सदस्यों की प्रगति के लिए चमत्कारिक कार्य करता है अन्यथा ऐसा न होने पर प्रारम्भ में ही नष्ट हो जाता है। संयोग का निर्माण प्रधानतः निम्न उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु किया जाता है :—(१) विषम प्रतिस्पर्धा का उन्मूलन करने तथा संयोग में समाविष्ट उद्योगों में परस्पर सहायता एवं सहकार्य की भावना का निर्माण करना। (२) सदस्य उद्योगों में उत्पादन, वितरण, क्रय तथा विक्रय पद्धतियों के केन्द्रीयकरण से उनके व्यय में कमी करना तथा उनको पर्याप्त लाभ प्रदान करना। (३) प्रत्येक सदस्य उद्योग के आर्थिक एवं औद्योगिक साधनों के केन्द्रीयकरण से सम्पूर्ण उद्योग का आर्थिक कलेवर सुदृढ़ बनाना।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त में इङ्गलैंड की औद्योगिक क्रान्ति के बाद समस्त औद्योगिक जगत में पूँजीवाद का बोलबाला था। वह 'यथेच्छकारिता' (Laissez Faire) का युग था। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार व्यवसाय व उद्योग करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। उद्योग अथवा व्यवसाय के किसी भी क्षेत्र में राज्य का लेशमात्र भी हस्तक्षेप न था। आर्थिक क्षेत्र में भी किसी प्रकार का राजकीय नियन्त्रण न था। कहने का तात्पर्य यह कि व्यापारिक एवं औद्योगिक क्षेत्र में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' यह कहावत पूर्णतः लागू होती थी। प्रत्येक धनी व्यवसायी जो योग्य अथवा चालाक था, वह अन्य साथियों को उस व्यवसाय क्षेत्र से स्वतन्त्र स्पर्धा की आड़ में बड़ी सरलता से निकाल सकता था, परन्तु क्रमशः मुक्त-व्यापार नीति के दुष्परिणाम लोगों को प्रतीत होने लगे। यह प्रतिस्पर्धा धीरे-धीरे ऐसी विषम स्थितियों में पहुँचने लगी कि कमजोरों का गला निरर्थक ही काटा जाने लगा। पूँजीपतियों ने श्रमिक वर्ग को वेतन कम देना प्रारम्भ कर दिया तथा न्यूनतम मूल्यों पर उत्पादन करने लगे, अतः १९ वीं शताब्दी के अन्त में इस गला-काट स्पर्धा को समाप्त करने के लिए अनेक योजनायें बनाई गईं, जिनमें आवागमन के सुधार, संयुक्त-स्कन्ध कम्पनियों का विस्तार तथा नवीन व्यापारिक संस्थाओं का निर्माण प्रमुख हैं। इन प्रयत्नों से भी पूर्ण आर्थिक स्वतन्त्रता नहीं मिली, तब व्यापारिक जगत का ध्यान इस नियम की ओर आकर्षित हुआ कि—"प्रतिस्पर्धा से संयोग को जन्म मिलता है," अर्थात् उस समय की समस्त योजनाओं को विभिन्न प्रकार के संयोगों का रूप देने का प्रयत्न किया गया। यही नहीं व्यापारिक संगठन तथा औद्योगिक शासन व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए विभिन्न व्यापार-संस्थाओं में अथवा एक ही उद्योग की विभिन्न शाखाओं में संघीय (Guild) पद्धति पर समझौते होने लगे, जिन्होंने आगे चलकर संयोगों को प्रोत्साहन दिया। इस

प्रकार की प्राथमिक संस्था, विक्रय नियन्त्रण के लिये न्यूकैसल (इङ्गलैंड) में बनाई गई, जिसमें कोयले का विक्रय निश्चित मूल्यों पर किया जाता था।

भारत में आन्दोलन धीमा क्यों ?—

पाश्चात्य देशों की अपेक्षा भारतवर्ष में संयोग आन्दोलन अत्यन्त मन्द गति से बढ़ा है। संयोग आन्दोलन की धीमी गति के मुख्य कारण इस प्रकार हैं :—सर्वप्रथम, तो भारतीय उद्योगपति वैयक्तिक भावना को ही अपनाते चले आ रहे हैं, इसी कारण संयोग की दिशा में अभी तक उन्होंने जो भी प्रयत्न किये उनमें सफलता नहीं मिली। भारतीय उद्योगपति अधिकतर निजी लाभ की दृष्टि से कार्य करते हैं, उनके हृदय में सामाजिक तथा सामूहिक हित के लिए कोई स्थान नहीं है और ऐसी भावना संयोग के सर्वथा विरुद्ध है। हाँ, पिछले कुछ दिनों से वे सहकारिता का पाठ अवश्य पढ़ने लगे हैं और औद्योगिक क्षेत्र में कुछ महत्वपूर्ण संयोग भी स्थापित हुए हैं। दूसरे, संयोग के मार्ग में एक व्यावहारिक कठिनाई यह है कि भारत के किसी एक उद्योग के अन्तर्गत अनेक औद्योगिक इकाइयाँ हैं और जब तक विभिन्न उत्पादकों पर नियन्त्रण सम्भव न हो, संयोग भी असम्भव है। तीसरे, विदेशी प्रतिस्पर्धा ने भी संयोग आन्दोलन की गति को रोका है। सन् १९२१ से पूर्व भारत सरकार की प्रशुल्क नीति भी असन्तोषजनक थी, जिसने प्रोत्साहन की अपेक्षा संयोग के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न कर दीं। चौथे, औद्योगिक विकास की दृष्टि से अन्य उन्नतिशील देशों की अपेक्षा भारत अभी बहुत पिछड़ा हुआ है। भारत को अभी तक संयोग की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हुई। किंचित अपवादों को छोड़कर भारतवर्ष में उद्योगों को अभी वह अवस्था प्राप्त नहीं हुई, जिससे कि उनको संयोग में सम्मिलित किया जाये तथा प्रभावशाली नियन्त्रण में रखा जाये। पाँचवे, भारतवर्ष में मुख्यतया प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की उपस्थिति ने संयोग आन्दोलन को जड़ नहीं पकड़ने दिया। प्रबन्ध अभिकर्त्ता-पद्धति द्वारा भी सामूहिक प्रबन्ध होने के कारण संयोग के समान मितव्ययिता उद्योगपतियों को प्राप्त हो जाती है, अतः वे संयोग के लिए तैयार नहीं होते। सामूहिक प्रबन्ध (Group management) से कितने प्रमण्डलों का नियन्त्रण भारत में हो रहा है, यह निम्न तालिका से स्पष्ट है:—

प्रबन्ध-अभिकर्त्ता	नियन्त्रित प्रमण्डलों की संख्या
एन्ड्रयू यूल एन्ड कम्पनी ...	७८
गिलन्डर्स अर्बथनॉट एण्ड कं० ...	७०
जेम्स फिन्ले एण्ड क० ...	४
टाटा इन्डस्ट्रीज	५२
बिरला ब्रादर्स ...	१०
डालमिया जैन एण्ड कं० ..	२५
बालचन्द एण्ड क० ..	१२
जे० के० इण्डस्ट्रीज	१४

छठवें, भारत सरकार की आर्थिक नीति भी सयोग प्रवृत्तियों की ओर उदासीन रही है। जर्मनी में राज्य ने सयोग आन्दोलन को सक्रिय प्रोत्साहन दिया तथा वहाँ कुछ संयोग राजकीय प्रभाव डालकर स्थापित किये गये, किन्तु इसके विरुद्ध अमेरिका में सयोगों को रोकने के लिए नियम बनाये गये। ग्रेट ब्रिटेन तथा भारत की सरकारें अभी तक किसी प्रकार के हस्तक्षेप के विरुद्ध रहीं। हाँ, गत कुछ वर्षों से अवश्य सयोगों के विरुद्ध आन्दोलन चल रहा है एव उद्योग में नियन्त्रण के केन्द्रीयकरण के विरुद्ध आवाज उठाई जा रही है। कुछ लोगों का मत है कि प्रबन्ध अभिकतृत्व प्रणाली (जिसके आधार पर भी कुछ सयोग स्थापित हुए ह तथा हो सकते हैं) को जड़ से उखाड़ देना चाहिए। इस विचार धारा ने भी सयोग आन्दोलन की गति को सीमा कर दिया है।

आन्दोलन की वर्तमान स्थिति—

वर्तमान समय में सयोग आन्दोलन की गति कुछ प्रबल हो गई है, किन्तु सयोग निर्माण की प्रवृत्ति बड़ी मात्रा में उत्पादन की अपेक्षा सुदृढ् संगठनों की ओर विशेष पाई जाती है। क्षैतिज पद्धति का सबसे बड़ा एवं महत्वपूर्ण सयोग सीमेंट व्यवसाय में हुआ, जिसमें अनेक सीमेंट कम्पनियों का सम्मिलन हुआ। भारतीय सीमेंट उद्योग म, सयोग की दिशा म प्रयत्न सर्व प्रथम सन् १६१९ में किये गये, जब इस उद्योग को सरक्षण प्रदान नहीं किया गया। वास्तव में सरकार का इस उद्योग के प्रति असन्तोषप्रद व्यवहार तथा विदेशी प्रतिस्पर्धा ही सयोग का कारण बना। प्रतिद्वन्द्विता के युद्ध में अनेक सीमेंट कारखाने नष्ट हो रहे थे और शेष का जीवन भी सकटमय था। परिणामस्वरूप सन् १९२६ में "इण्डियन सीमेंट मेन्यूफेक्चर्स एसोसियेशन" का निर्माण किया गया। इसके बाद सन् १९३० मे सीमेंट का वितरण एव विक्रय नियन्त्रित करने के लिए "सीमेंट मार्केटिंग कम्पनी" का निर्माण किया गया। इसको "कार्टेल' अथवा "सिन्डीकेट" भी कह सकते हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश यह प्रयत्न असफल रहा, अत सन् १९३७ मे इन दोनों के सम्मिश्रण से "एसोसिएटेड सीमेंट कम्पनी" (A. C C.) का निर्माण किया गया। इसम ११ सीमेंट कम्पनियों का सम्मिलन हुआ, जिसमें कटनी सीमेंट कम्पनी लि०, इण्डियन सीमेंट कं० लि०, दी सी० पी० सीमेंट क० लि०, दी कोइम्बटूर सीमेंट कम्पनी लि०, इत्यादि प्रमुख थीं। तत्पश्चात् इस बड़े सयोग के भी प्रतिस्पर्धी के रूप में डालमिया सम्मुख आए और पुन विषम प्रतिस्पर्धा आरम्भ हो गई। सन् १९४१ में एक दूसरा कदम उठाया गया और डालमिया कम्पनियों के समूह में तथा ए० सी० सी० के मध्य एक समझौता हुआ, जिससे आन्तरिक प्रतिस्पर्धा पर और भी अधिक नियन्त्रण लगा दिया गया। समझौते के अनुसार बाजार बाँट दिये गए। फिर द्वितीय महायुद्ध ने सीमेंट उद्योग का रूप बदल दिया। अत्यधिक उत्पादन के स्थान पर सीमेंट की कमी हो गई। आज भी 'उत्पादन क्षमता को बढ़ाना' सीमेंट उद्योग के सम्मुख सबसे बड़ी समस्या है। २८ जनवरी सन् १९५० को ए० सी० सी० की १३ वीं वार्षिक मीटिंग में कम्पनी के सभापति के भाषण से यह बात स्पष्ट है।*

---

* Who Owns India by Ashok Mehta

भारतीय शक्कर उद्योग म लम्बरूप सयोग के दर्शन होते है। गत २० २२ वर्षों में इस उद्योग की उन्नति बड़ी शीघ्रता से हुई है और तभी से शक्कर के उत्पादन पर नियत्रण के हेतु एक केन्द्रीय सस्था की आवश्यकता प्रतीत हुई। सन् १६३५ में यह सस्या १३० तक पहुँच गई। इसका प्रधान कारण उद्योग को सरक्षण मिलना था, किन्तु इस शीघ्र विकास से उद्योग की उन्नति में कुछ कमजोरियाँ आ गई। सन् १६३० में भारत में केवल २७ शक्कर के कारखाने थे। स्पर्धा को रोकने के लिए "सुगर मार्केटिंग बोर्ड का निर्माण किया गया, किन्तु व्यक्तिगत कारखानों की उदासीनता और उपेक्षा के कारण यह सगठन अपने उद्देश्यों में असफल रहा। जुलाई सन् १६३७ में "सुगर सिण्डीकेट' का निर्माण किया गया, जिसके प्रयत्न-स्वरूप मूल्य निर्धारण में काफी सफलता मिली। सन् १६३६ तक इस सिन्डीकेट ने बड़ी सफलतापूर्वक कार्य किया, किन्तु फिर द्वितीय महासमर आरम्भ होने से शक्कर का उत्पादन अत्यधिक होने लगा। सिन्डीकेट ने अधिक ऊँचे मूल्य निर्धारित किये थे, अतएव उसे विवश होकर सन् १६४० में मूल्य घटाने पड़े। सन् १६४२ में समस्त भारतीय शक्कर उद्योग पर नियन्त्रण के हेतु सद्प्रयत्न किए गए। केन्द्रीय शक्कर सलाहकार बोर्ड की दिल्ली में एक सभा भी की गई। सन् १६४३ के बाद 'कन्ट्रोल' के कारण सुगर सिन्डीकेट अपने कार्य से विरत रहा और उत्पादन तथा वितरण पर सरकार का अपेक्षाकृत अधिक कड़ा नियन्त्रण रहा। सन् १६४७ के बाद पुन सुगर सिन्डीकेट सक्रिय कार्य करने लगा। सन् १६४६ में भारतीय ससद् में सुगर सिन्डीकेट तथा शक्कर उद्योग के विषय में राजकीय नीति की कड़ी आलोचना की गई और सुगर सिन्डीकेट को समाप्त करने का भी निश्चय कर लिया गया।

भारत के सभी उद्योगों में जूट उद्योग सबसे अधिक सगठित उद्योग है और इस उद्योग के अन्तर्गत जितनी भी कम्पनियाँ हैं, वे प्राय सभी सहयोग से कार्य करती हैं। सन् १८८६ में ही भारतीय जूट मिल्स एसोसियेशन का निर्माण किया गया था। इसको हम यदि उत्पादन सघ (Output Pool) अथवा 'कार्टेल कहें, तो अनुचित न होगा। तान्त्रिक विकास तथा अनुसन्धान को इस सघ ने विशेप प्रोत्साहन दिया, यही नहीं शोध कार्य के हेतु इसने आर्थिक सहायता भी प्रदान की। जूट उद्योग की उत्पादन क्षमता का ६६% भाग इसी सघ के अन्तर्गत है, जिसने अनेक सराहनीय कार्य किए हैं। गिरते हुए मूल्यों और माँग का सामना करने के लिए सन् १६२६ में मिलें ५४ घण्टे कार्य करने के लिए राजी हो गई, सन् १६३० में तीन सप्ताह तक कार्य की पूर्ण रोक रही। द्वितीय महायुद्ध के समय जूट मिलों ने ४५ घण्टे प्रति सप्ताह कार्य किया। कभी-कभी माह में एक सप्ताह तक मिलें बन्द रहीं। मई सन् १६४२ में १०% करघों को सील बन्द कर दिया गया। भारत के बटवारे के बाद इस उद्योग के बुरे दिन आए। अनेक मिलों को हानि उठानी पड़ी, किन्तु पारस्परिक सहयोग के कारण उद्योग अपने पैरों पर खड़ा रहा। इस आपत्ति के समय में भी जूट मिल एसोसिएशन ने उद्योग की बड़ी सेवा की।

भारतीय सूती वस्त्र उद्योग में औद्योगिक इकाइयों की संख्या इतनी अधिक है (४०० मिलों से भी अधिक) कि संयोग एक कठिन समस्या है, किन्तु फिर भी कुछ महत्वपूर्ण संयोग स्थापित हुए हैं। उदाहरण के लिये बर्किंघम कर्नाटिक मिल्स वास्तव में तीन वस्त्र मिलों का संयोग है। बम्बई तथा अहमदाबाद में प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के प्रयत्न स्वरूप अनेक आर्थिक संयोग स्थापित हुए हैं। लंकाशायर काटन कारपोरेशन के आधार पर सन् १६३० में ३४ वस्त्र मिलों के संयोग का एक प्रस्ताव रक्खा गया था, किन्तु यह प्रयत्न असफल रहा। अपने देश में कुछ व्यापारिक संघ हैं, जैसे—बॉम्बे मिल मालिक संघ इत्यादि, किन्तु ये किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं करते हैं। इस वर्षों में जितने भी सम्मिश्रण अथवा सविलीयन हुए, वे प्राय सभी प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं द्वारा किए गए और उनका स्वरूप स्पष्ट रूप से न तो क्षैतिज है और न लम्ब ही, अपितु उन्हें चक्रित अथवा मिश्रित संयोग कह सकते हैं, क्योंकि उनमें विभिन्न प्रकार के औद्योगिक प्रमण्डलों का सम्मिश्रण हुआ है। उदाहरण के लिए, सन् १६२० में निम्नलिखित ६ कम्पनियों को लेने के लिए ब्रिटिश इन्डिया कारपोरेशन की स्थापना की गई —(१) कानपुर वुलन मिल्स, (२) कानपुर काटन मिल्स, (३) न्यू ईगर्टन वुलन मिल्स, (४) नार्थ वेस्ट टेनरी, (५) कूपर एलन एण्ड कम्पनी तथा (६) एम्पायर इन्जीनियरिंग कम्पनी।

बी० आई० सी० (B I. C.) के अन्तर्गत "फ्लेक्स", "लाल इमली' तथा "काकोमी" भी हैं। सन् १६४८ के बाद से तो इसका क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया है, क्योंकि बेग सदरलेण्ड कम्पनी में भी अब बी० आई० सी० का काफी हाथ है, अत अप्रत्यक्ष रूप से अनेक प्रमण्डल इस कारपोरेशन के अन्तर्गत हैं।

संघ (Pool) स्वरूप के संयोग का सबसे अच्छा भारतीय उदाहरण हमारा कागज उद्योग है, जो एक प्रबल संगठन है। "इन्डियन पेपर मेकर्स एसोसियेशन" के अन्तर्गत अनेक कागज की मिलें सम्मिलित हैं। यह संघ कागज का मूल्य निर्धारित करता है तथा प्रान्तीय एवं केन्द्रीय सरकारों से कागज के सम्बन्ध में अनुबन्ध करता है कि कौनसी मिल किनको कागज देगी।

इसी प्रकार मूल्य-संघ (Price Pool) का उदाहरण हमारे यहाँ के तेल व्यवसाय में भी मिलता है, जिसमें ब्रिटिश बर्मा पेट्रोलियम क०, आसाम आयल क०, दी रायल डच शैल ग्रुप तथा बर्मा आयल क० सदस्य हैं तथा मिट्टी के तेल का सदस्यों द्वारा विक्रय एवं सदस्य प्रमण्डलों से क्रय किस मूल्य पर होगा, यह मूल्य निर्धारण करता है।

लोहे एवं इस्पात के उद्योग में संयोग के लिए क्षेत्र ही नहीं है, क्योंकि इस उद्योग में औद्योगिक इकाइयाँ न्यून हैं। हाँ, कुछ समय हुए "इन्डियन आयरन एण्ड स्टील क०" तथा "स्टील कारपोरेशन आफ बङ्गाल' का सम्मिश्रण हुआ है।

कोयले के उद्योग में अनेक संयोग हुए। दी न्यू बीरभूम कोल क० ने अनेक कोयला-खान उद्योगों का सम्मिश्रण किया। सन् १६३० में कोल-जाँच समिति ने भी

सम्मिश्रण का जोर दिया। इस प्रकार सम्मिश्रणात्मक संयोग की आवश्यकता कोयले के खाद्य-व्यवसाय में अधिक है, जिसमें वे प्रमण्डलों के लघु प्रमाण पर होने के कारण उत्पादन की दृष्टि से अक्षम हैं।

इनके अतिरिक्त भारत में बाजार का विभाजन कुछ अन्य क्षेत्रों में भी किया गया है। ये क्षेत्र नौवहन-चक्र तथा सम्मेलन (Shipping Rings and Conferences) कहलाते हैं। ये चक्र पारस्परिक समझौते के आधार पर किये जाते हैं। ऐसा ही समझौता ब्रिटिश इण्डिया स्टील नेवीगेशन कं० लि० तथा सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कं० लि० में हुआ है। इस प्रकार के समझौते अन्तर्देशीय नौवहन क्षेत्र में भी विभिन्न नौवहन प्रमण्डलों के बीच में हुए हैं। ये समस्त चक्र प्रायः देश के आन्तरिक भागों से जूट को तटवर्तीय बाजारों तक ले जाने के लिए स्थापित किए गये हैं। ये कम्पनियाँ समझौते के अनुसार इण्डियन जूट मिल्स एसोसियेशन तथा कलकत्ता बेल्ट जूट एसोसियेशन के सदस्यों के लिए जलमार्ग से जूट लाने की पूर्णतया अधिकारिणी हैं।

संधारी प्रमण्डलों (Holding Companies) का निर्माण भारत में विशेषतः सन् १९१३ से प्रारम्भ हुआ। ऐसे प्रमण्डल विभिन्न प्रमण्डलों की व्यापारिक नीति एवं प्रबन्ध पर नियन्त्रण के हेतु उनके अंश आदि खरीद लेते हैं। यह कार्य उस समय विशेष रूप से पाया जाता है, जब विभिन्न कम्पनियाँ एक ही प्रबन्ध अभिकर्त्ता के अन्तर्गत कार्य करती हैं। भारत के विभिन्न व्यवसायों में धन लगाने के लिये तथा उन पर नियन्त्रण स्थापित करने के उद्देश्य से पर्याप्त मात्रा में विनियोग प्रन्यास स्थापित हुए हैं, किन्तु शक्तिशाली प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के कारण उनका नियन्त्रण अधिक प्रभावशाली नहीं दिखाई देता है।

बीमा तथा बैंकिंग के क्षेत्र में बैंकिंग की अपेक्षा बीमा कम्पनियों की स्थिति अच्छी है, विशेषकर निम्न कम्पनियों की : ऑल इण्डिया जनरल इन्स्योरेन्स कं० लि० कानपुर, आर्यन इन्स्योरेन्स कं० कलकत्ता, फेडरल इण्डिया इन्स्योरेन्स कं० लि० दिल्ली आदि। बैंकिंग कम्पनियों के सम्मिश्रण के लिए अभी पर्याप्त क्षेत्र है, इससे उनकी कार्य क्षमता बढ़ेगी तथा मितव्ययिता भी होगी। अभी देश में ऐसी अनेक छोटी बैंकिंग कम्पनियाँ हैं, जिनका सम्मिश्रण अथवा सविलियन होना राष्ट्र के हित में अनिवार्य है, जिससे वे अपने विदेशी प्रतिस्पर्धियों के साथ विशेषतः विदेशी विनिमय बैंकों से टक्कर ले सकें।

यहाँ व्यापारिक पार्षदों (Trade Associations) के विषय में दो शब्द लिखना अनावश्यक न होंगे। इन पार्षदों का प्रधान उद्देश्य किसी व्यापार विशेष के हितों की रक्षा करना तथा उसकी उन्नति करना होता है। चेम्बर ऑव कामर्स भी व्यापारिक पार्षद ही हैं, जो व्यापारियों की, निर्माताओं की तथा अर्थ-प्रदायकों की स्वेच्छा से सीमित प्रमण्डल के रूप में संगठित किये जाते हैं। इनका भी मुख्य उद्देश्य व्यापार के लिए समान सिद्धान्तों का अवलम्बन तथा सदस्यों को व्यापारिक सुविधायें देने के लिए नियम बनाना होता है। इसके अतिरिक्त ये अपने सदस्यों को व्यापारिक

सूचनायें तथा आवश्यक सलाह भी देते रहते हैं, परस्पर झगड़ों का निर्णय भी देते हैं एवं आवश्यकतानुसार वैधानिक एवं तान्त्रिक माहिती भी प्रदान करते हैं। सदस्यों को व्यापारिक सुविधाएँ देने के लिए ये सरकार के पास व्यापारियों की ओर से प्रतिनिधि मण्डल भी भेजते हैं।

उक्त उद्देश्य का प्रथम भारतीय सङ्गठन कलकत्ते में सन् १८८७ से "कलकत्ता नेशनल्स चेम्बर ऑव कामर्स" के नाम से स्थापित किया गया था। भारत के प्रायः प्रत्येक बड़े औद्योगिक नगर में अब ऐसे पार्षद स्थापित हो गए हैं, जिनमें मारवाड़ी चेम्बर ऑव कामर्स, बम्बई, इन्डियन चेम्बर ऑव कामर्स, कलकत्ता, इन्डियन मर्चेन्ट्स चेम्बर ब्यूरो ऑव, बाम्बे तथा दी ड० प्र० चेम्बर ऑव कामर्स प्रमुख हैं।

आर्थिक तथा प्रबन्ध सम्बन्धी संयोग—

भारतवर्ष में जो भी क्षैतिज अथवा उदग्र संयोग हैं, उन्हें औद्योगिक संयोग की अपेक्षा आर्थिक संयोग कहना ही अधिक उचित होगा, क्योंकि आर्थिक व्यवस्था की दृष्टि से प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं ने संयोगों को अपनाया है। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि एक प्रबन्ध अभिकर्त्ता के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की अनेक औद्योगिक इकाइयाँ हैं, फलस्वरूप उन सब कम्पनियों में क्रय, विक्रय तथा श्रम सम्बन्धी नीतियाँ समान हैं। "आर्थिक संयोग" (Financial Integration) के भी अनेक उदाहरण हैं, जिनमें *एक कम्पनी की अर्थ-पूर्ति दूसरी कम्पनी (उसी प्रबन्ध अभिकर्त्ता के अन्तर्गत) करती है।*

निम्न तालिका इस स्थिति पर प्रकाश डालती है :—

प्रबन्ध अभिकर्त्ता का नाम		उनके नियन्त्रण में कम्पनियों की संख्या
(१) एन्ड्रीयूल	—	७८
(२) बर्ड एण्ड कम्पनी	—	३१
(३) ब्रिटिश इण्डिया कॉर्पोरेशन	—	१६
(४) मार्टिन बर्न	—	२०
(५) आरडाइन हेन्डर्सन	—	२६
(६) *गिलन्डर्स अर्बुथनॉट*	—	७०
(७) मैकलॉइड	—	५५
(८) ऑक्टीवस स्टील	—	५७
(९) करमचन्द थापर	—	७४
(१०) जे० के०	—	१४
(११) पेरसी टोसकी एण्ड क०	—	४२

मैकलॉइड एण्ड क० ने सन् १९४५ में एक लोक प्रमण्डल का रूप धारण कर लिया है। सन् १९४७ में इसने वेग डन्लप एण्ड कम्पनी को भी क्रय कर लिया, अतः इसका क्षेत्र काफी विस्तृत हो गया। सन् १९४९ में आरडाइन हेन्डरसन एण्ड कम्पनी के नाम से प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की एक नई कम्पनी खुली, जो वास्तव में आर-

स्किनर एण्ड कम्पनी (जिसके अन्तर्गत १६ कम्पनियाँ थीं) तथा जार्ज हेन्डरसन एण्ड क० (जिसके अन्तर्गत १० कम्पनियाँ थीं) का सयोग है।

टाटा इन्डस्ट्रीज लि० के नियन्त्रण में भी विभिन्न प्रकार की कम्पनियाँ हैं, जैसे—(१) टाटा आयरन एण्ड स्टील क०, (२) टाटा लोकोमोटिव एण्ड इन्जीनियरिंग क०, (३) टाटा हायड्रो इलेक्ट्रिक कम्पनीज़, (४) टाटा टेक्सटायल मिल्स, (५) टाटा आइल मिल्स, (६) टाटा केमीकल्स, (७) टाटा एयर क्राफ्ट लि०, (८) ऐयर इन्डिया इन्टरनेशनल लि०, (९) कॉमर्शियल प्रिन्टिंग प्रेस, (१०) इन्डिया होटल्स क०, (११) एसोसियेटेड बिल्डिंग्स् क०, (१२) नेशनल EKCO रेडियो एण्ड इन्जीनियरिंग क०, (१३) पॉलमपुर वेजीटेबिल प्रॉडक्टस्, (१४) इन्वेस्टमेन्ट कारपोरेशन ऑफ इन्डिया लि०, (१५) इन्वेस्टमेन्ट इन्डस्ट्रियल कारपोरेशन लि०।

सेन्ट्रल बैंक भी वास्तव में टाटा की बैंक के नाम से ही विख्यात है।

उत्तरी भारत में जुग्गीमल कमलापति (J K.) का बोलवाला है। जे० के० के नियन्त्रण में निम्न कम्पनी हैं —(१) जे० के० आयरन एण्ड स्टील क०। (२) जे० के० गैस प्लान्ट। (३) जे० के० आयल मिल, कानपुर। (४) माडर्न रबर निर्माण क०, बम्बई। (५) प्लास्टिक प्रोडक्टस, कानपुर। हिन्दुस्तान कामर्शियल बैंक तथा जे० के० इन्वेस्टमेन्ट ट्रस्ट भी जे० के० के ही आधीन हैं। कानपुर जे० के० का प्रधान केन्द्र है।

इसी प्रकार बिरला तथा डालमिया का भी भारत के प्रमुख औद्योगिक तथा आर्थिक प्रमण्डलों पर नियन्त्रण है। एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि औद्योगिक आर्थिक प्रमण्डलों पर नियन्त्रण के अतिरिक्त भारतीय प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का प्रेस भी अधिकार है। प्राय प्रत्येक प्रबन्ध अभिकर्त्ता के नियन्त्रण में एक न एक प्रमुख समाचार पत्र भी है, जिसके द्वारा जनता पर भी वे अपना नियन्त्रण रखते हैं। उदाहरण के लिए, बिरला का 'हिन्दुस्तान टाइम्स', 'लीडर' इत्यादि, डालमिया का 'नवभारत टाइम्स,' जे० के० का 'जे० के० रिव्यू', टाटा का 'टाटा रिव्यू' इत्यादि।

प्रबन्ध सम्बन्धी सयोग के कुछ अन्य उदाहरण लीजिए। कुल १०० जूट मिलों में से जिनकी पूँजी लगभग २३ करोड़ रुपये है, ५३ मिलें, जिनकी पूँजी १८ करोड़ रुपये है, १७ प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के अन्तर्गत है और इन १७ में से भी ४ के अन्तर्गत ३० मिलें हैं। कुल २४७ कोयले की खानों में से ३१ केवल ४ प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के अन्तर्गत हैं। चाय के उद्योग में १७ प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के अन्तर्गत ११७ चाय के बगीचे हैं और इनमें से भी केवल ५ प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के अन्तर्गत ७४ चाय के बगीचे हैं।

यही नहीं, कम्पनियों के सञ्चालन में भी घोर केन्द्रीयकरण (Interlocking of Directorates) है। देश के समस्त उद्योगों के सचालन की बागडोर वास्तव में चोटी के २० व्यक्तियों के हाथों में है। ऐसा अनुमान है कि भारत की २०० प्रमुख औद्योगिक इकाइयों पर २,००० सञ्चालकों का प्रबन्ध है, किन्तु इन २,००० सञ्चालकों

के पद पर केवल ८५० व्यक्ति कार्य कर रहे हैं। इनमें से १००० पदों पर केवल ७० व्यक्ति कार्य कर रहे हैं और शेष १,००० पर ७८० व्यक्ति। चोटी पर केवल १० व्यक्ति हैं, जो ३०० सञ्चालक-पदों का भार अपने ऊपर लिए हुए हैं। निम्न तालिका से यह स्पष्ट है :—

८५० व्यक्ति २,००० सचालक पद ग्रहण किए हैं—औसतः २·३२
७० ,, १,००० ,, ,, ,, ,, ,,— ,, १४·२८
१० ,, ३०० ,, ,, ,, ,, ,,— = ३०

वर्तमान युग में यह भी प्रवृत्ति देखने में आती है कि भारतीय उद्योगपति विदेशी सस्थाओं तथा हितों का क्रय कर रहे हैं, अतएव भारतीय सचालकों की संख्या दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। यह प्रवृत्ति विशेषतः स्वतन्त्रता के उपरान्त राष्ट्रीय भावनाओं की प्रबलता के कारण हुई। इस तालिका से यह प्रवृत्ति स्पष्ट है :—

कम्पनियों की संख्या तथा प्रकार		सन् १९२९ में संचालकों की संख्या		सन् १९४९ में संचालकों की संख्या	
		भारतीय	यूरोपियन	भारतीय	यूरोपियन
१० कोल	कम्पनीज		३४	१७	२८
११ ,,	,,	१६	२६	३२	२५
१३ जूट	,,	.	४६	११	४४
२१ ,,	,,	३५	५२	६३	३५
३ इन्जीनियरिंग	,,	..	६	३	११
४ ,,	,,	८	११	१५	८
१४ अन्य	,,	.	५३	३०	३७
६ ,,	,,	६	११	१८	१६

ऐसे भी अनेक उदाहरण हैं, जहाँ एक व्यक्ति ३०-४० कम्पनियों का सचालक है। उदाहरण के लिए श्री पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ५१ विभिन्न कम्पनियों के संचालक हैं।

उपसंहार—

एक ओर तो हमने देखा कि सचालकों का भारतीयकरण हो रहा है, किन्तु दूसरी ओर ऐसा भी देखने में आता है कि भारतीय उद्योगपति विदेशी उद्योगपतियों के साथ साझेदारी कर रहे हैं। सन् १९४५ में भारतीय उद्योगपतियों का जब से एक मिशन ब्रिटेन गया, तब से यह प्रवृत्ति विशेष दिखलाई पडती है। सन् १९४५ में सर्वप्रथम, भारत तथा ब्रिटिश की साझेदारी "नफील्ड बिरला" (मोटर्स लि०) के नाम से सामने आई। ईस्टर्न इकॉनॉमिस्ट (४ जनवरी १९४६) ने इस साझेदारी को "आर्थिक

सयोग" का नाम दिया। इसके बाद और भी ऐसी अनेक साझेदारियाँ स्थापित हुई। कारों तथा ट्रक्स के निर्माण के हेतु अशोक मोटर्स लि० ने ऑस्टिन मोटर्स के साथ साझेदारी की। वस्त्र निर्माण मशीनरी के निर्माण के हेतु बिरला ब्रादर्स ने ब्रिटेन की वेवकॉक एण्ड बिलकाक्स नामक फर्म के साथ एक समझौता किया है। २१ लाख रु० अश पूँजी के साथ बी० एस० ए० सायकिल क० की भी एक शाखा भारत में खोली गई है। इसमें १,००,००० रु० की विदेशी पूँजी लगी हुई है। हरकुलिस कं० तथा रैले क० की भी ऐसी योजनायें हैं। रासायन उद्योग के क्षेत्र मे भी आई०सी०आई० तथा टाटा के बीच एक समझौता हुआ है। I C. I एक शक्तिशाली ब्रिटिश एकाधिकृत सस्था है। सिल्क उद्योग के क्षेत्र में भी सिर सिल्क लि० तथा लैम्सिलल की कुछ ब्रिटिश फर्मों के बीच समझौता हुआ है। हैदराबाद कन्सट्रक्शन लि० उसके प्रबन्ध अभिकर्त्ता हैं। बम्बई की किरलोस्कर नामक इन्जीनियरिंग सस्था ने ब्रिटिश आयल इन्जिन्स लि० के साथ तथा ब्रिटिश इलेक्ट्रीकल इन्जीनियरिंग क० एव पैरी एन्ड क० के साथ गठबन्धन कर लिया है।

इसी प्रकार भारत-अमेरिका के बीच भी कुछ समझौते हुए हैं, उदाहरण के लिए वालचन्द हीराचन्द ने किसलर कारपोरेशन के साथ समझौता करके सन् १९४५ में प्रीमियर ऑटोमोबायल वर्क्स की स्थापना की। श्री ठाकुरदास तथा श्रोफ द्वारा स्थापित "नेशनल रैयन कारपोरेशन लि०" का भी "इकेनन्ड्रा रैयन कारपोरेशन तथा लॉकवुड ग्रीन एण्ड क०" अमेरिका के साथ सम्बन्ध है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक विदेशी सस्थाओं की "Rupee Subsidiaries" स्थापित की गई हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारत मे अब भी सयोग का पर्याप्त विकास हो सकता है।

---

[५]

भारत में औद्योगिक वित्त

रूपरेखा—

१. प्रारम्भिक—पूँजी आधुनिक व्यापारिक तथा औद्योगिक संस्थाओं का जीवन है। प्रत्येक व्यापारिक संस्था को प्रायः दो प्रकार की पूँजी की आवश्यकता होती है—स्थायी तथा कार्यशील पूँजी। व्यापारिक संस्थाओं का स्वरूप मुख्यतः दो प्रकार का होता है—वैयक्तिक तथा अवैयक्तिक व्यापारिक संस्थायें। वैयक्तिक संस्थाओं के पूँजी के स्रोत—निजी साधन, मित्रों तथा साझेदारों से, हुन्डियों अथवा बैंकों से।

२. अवैयक्तिक संस्थाओं के पूँजी के स्रोत—(अ) अंश निर्गमन द्वारा, (आ) ऋण पत्र निर्गमन द्वारा, (इ) जन निक्षेप द्वारा (ई) बैंक से ऋण लेकर, (उ) अपनी आय का पुनः विनियोग करके, (ऊ) प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं से ऋण लेकर तथा (ए) विशिष्ट अर्थ संस्थाओं से ऋण लेकर। प्रत्येक साधन का विवेचनात्मक अध्ययन। ऋण पत्र लोकप्रिय क्यों नहीं ? प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के सम्बन्ध में नए प्रतिबन्ध।

३. विशिष्ट अर्थ संस्थायें—(अ) औद्योगिक अर्थ निगम, (आ) प्रान्तीय अर्थ निगम, (इ) राष्ट्रीय उद्योग विकास निगम, (ई) औद्योगिक ऋण एवं अर्थ निगम। प्रत्येक संस्था का आलोचनात्मक अध्ययन।

४. लघु उद्योगों का अर्थ प्रबन्धन—आर्थिक सहायता के विभिन्न साधन-महाजन, मध्यस्थ, किराया खरीद साधन, बैंक तथा बीमा कम्पनियाँ। राज्यों में औद्योगिक वित्त कॉरपोरेशन। सहकारी बैंक तथा समितियाँ, सरकारी सहायता।

५. पंच-वर्षीय योजना में उद्योगों के लिए वित्त व्यवस्था—

६. निष्कर्ष—कुटीर उद्योगों की वित्तीय दशा सुधारने के लिए सुझाव।

प्रारम्भिक—

किसी भी व्यापार को, चाहे वह अल्प प्रमाण पर हो अथवा बहु प्रमाण पर, प्रारम्भ करने एवं भविष्य में विस्तार के लिए पूँजी की आवश्यकता होती है। पूँजी के बिना कोई व्यापार चल नहीं सकता। यह आधुनिक व्यापारिक तथा औद्योगिक संस्थाओं का जीवन है। पूँजी की ही कमी के कारण अनेक औद्योगिक संस्थायें असफल हो जाती हैं तथा व्यापार भी शिथिल हो जाता है।

प्रत्येक व्यापारिक संस्था को मुख्यत दो कार्यों के लिए पूँजी की आवश्यकता पड़ती है—प्रथम, स्थायी सम्पत्तियाँ, जैसे—भूमि, मशीन, यन्त्र आदि के क्रय के लिए, जिसे स्थायी अथवा अचल पूँजी कहते हैं और दूसरे, अस्थायी सम्पत्तियाँ, जैसे—कच्चा माल खरीदने, उसे निर्मित करने, विज्ञापनादि, दैनिक खर्चों के लिए, जिसे कार्यशील अथवा चल पूँजी कहते हैं। किसी भी व्यवसाय में पूँजी की आवश्यकता व्यापार के स्वरूप तथा उसके क्षेत्र पर निर्भर करती है। व्यापारिक संस्थाओं का स्वरूप विशेषकर दो प्रकार का होता है—(अ) वैयक्तिक व्यापारिक संस्थायें और (आ) अवैयक्तिक व्यापारिक संस्थायें अथवा कम्पनियाँ। एक वैयक्तिक व्यापारिक संस्था का स्वामी मुख्यत अपने निजी साधनों से ही पूँजी प्राप्त करता है और यदि व्यापार के विकास के हेतु, उसे अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है, तो वह प्राय अपने मित्रों अथवा नातेदारों से ऋण ले लेता है। कभी कभी किसी पैसे वाले व्यक्ति को भागी बनाकर भी पूँजी की आवश्यकता को पूरा किया जाता है। अधिक आवश्यकता पड़ने पर बैंक से भी रुपया उधार लिया जाता है। हमारे देश म वैयक्तिक व्यापारीगण हुण्डियों के आधार पर भी पूँजी प्राप्त करते हे।

अवैयक्तिक संस्थाओं के पूँजी के स्रोत—

अवैयक्तिक संस्थाओं, जिनमें विशेषत लोक प्रमण्डलों का ही समावेश होता है, को भी दो प्रकार की पूँजी की आवश्यकता होती है—स्थायी पूँजी एव क्रियाशील पूँजी। विभिन्न साधन, जिनसे एक लोक सीमित प्रमण्डल आवश्यक अर्थ का प्रबन्ध करता हे, निम्नलिखित हैं—

स्थायी पूँजी के स्रोत—

(१) अंश निर्गमन द्वारा।
(२) ऋण पत्र निर्गमन द्वारा।

कार्यशील पूँजी के स्रोत—

(१) जन निक्षेप द्वारा।
(२) बैंक से ऋण लेकर।
(३) अपनी आय का पुनः विनियोग करके।
(४) प्रबन्ध विशिष्ट अर्थ-संस्थाओं से ऋण लेकर।
(५) विशिष्ट अर्थ संस्थाओं से ऋण लेकर।

स्थायी पूँजी अधिकाशत अंश-पत्रों के निर्गमन द्वारा ही प्राप्त की जाती है। अंश दो प्रकार के होते हैं—साधारण तथा पूर्वाधिकार अंश। अंशों द्वारा कम्पनी को अपनी सम्पत्ति पर बिना किसी प्रकार का भार डाले स्थायी पूँजी प्राप्त हो जाती है। ऋण पत्र दीर्घकालीन अर्थ प्रबन्धन के अच्छे साधन हैं, क्योंकि उनमें व्यय कम पड़ता है, परन्तु स्मरण रहे कि इस साधन का वे ही प्रमण्डल प्रयोग कर सकते हैं, जिनकी आय इतनी पर्याप्त एव नियमित है कि ऋण पत्रों पर निर्धारित ब्याज दिया जा सकता है और जिनके पास प्रतिभूति स्वरूप देने के लिए पर्याप्त ठोस सम्पत्तियाँ हैं। प्राय दो

सम्पत्ति विशेषोपयोगी प्रकृति की नहीं है, अर्थात् वर्तमान उद्योग से दूसरे उपयोगों में परिवर्तित की जा सकती है। दूसरे, वे जिनमें, यद्यपि सम्पत्ति विशेषोपयोगी प्रकृति की है, किन्तु स्थायी आय के उचित साधन हैं, जैसे—रेलवे, ट्रामवे आदि उद्योग। हमारे देश में ऋण-पत्रों का प्रयोग अधिक लोकप्रिय नहीं है। इसके मुख्य कारण निम्नांकित हैं —

प्रथम, ऋण पत्रों के लिए हमारे देश में अन्य देशों की भाँति स्वतन्त्र बाजार नहीं है। भारतीय विनियोगक तब तक अपना धन किसी उद्योग में नहीं लगाते जब तक उन्हें लाभ का पूर्ण आश्वासन नहीं होता। वे प्रायः भूमि-क्रय में अथवा कृषि कार्य में रुपया लगाना अधिक उपयुक्त समझते हैं। यही कारण है कि निश्चित लाभ या ब्याज वाले ऋण-पत्र भी उन्हें आकर्षित नहीं करते। फिर भारतीय ऋण-पत्र अधिक ऊँचे अभिमान के होते हैं, इसलिए साधारण विनियोगक की पहुँच के बाहर हैं। बीमा कम्पनियाँ बीमा अधिनियम की धारा २७ के कारण औद्योगिक ऋण-पत्रों का क्रय नहीं कर सकतीं। भारतीय बैंक भी इस विषय में स्टेट बैंक की नीति का अनुसरण करते हैं तथा विनियोग प्रन्यासों का तो अभी उदय ही हुआ है, इसलिए वे औद्योगिक व्यवसायों में धन विनियोग करने में असमर्थ रहते हैं। ऋण पत्रों पर तथा उनके हस्तान्तरण पर मुद्रांक कर भी अधिक देना पड़ता है, जिससे ऋण पत्रों का हस्तान्तरण स्वतन्त्र रूप से नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त ऋण-पत्रों का कम संख्या में निर्गमन होना भी उनके स्वतन्त्र बाजार होने मे बाधक है। अभी तक केवल जूट मिलों के ऋण पत्रों को छोड़ कर, अन्य सभी कम्पनियों के ऋण-पत्र जनता तक पहुँच ही नहीं पाये हैं, क्योंकि जैसे ही उनका निर्गमन होता है, वैसे कतिपय धनी लोग उन्हें खरीद लेते हैं। यहाँ यह कहना अनावश्यक न होगा कि टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी के ६० लाख रुपये के सम्पूर्ण ऋण-पत्र मध्य-भारत के राजप्रमुख ने ही खरीद लिए थे। दूसरे, ऋण-पत्रों की लोक प्रियता में बैंकों का व्यवहार भी अधिक बाधक हुआ है। ऋण-पत्र निर्गमित करने वाले प्रमण्डल भारतीय बैंकों की दृष्टि में गिर जाते हैं और उन्हें वे फिर वैसी साख-सुविधायें प्रदान नहीं करते, जैसी अन्य दशाओं में करते हैं, क्योंकि कम्पनी की सम्पत्ति पर ऋण पत्रों का पहला प्रभरण होता है, इसलिए बैंक द्वारा लिए हुए ऋण के लिए प्रतिभूति कम रहती है। तीसरे, भारतीय ऋण-पत्रों में वे विशेषतायें नहीं होतीं, जिनसे जनता स्वयं लालायित होकर उन्हें खरीदने के लिए दौड़े। भारतीय विनियोगकों को उनकी विभिन्न रुचियों के अनुकूल विभिन्न विशेषता वाले ऋण-पत्र उपलब्ध नहीं हैं। अन्य देशों में ऋण पत्र विभिन्न आकर्षक सुविधाओं वाले होते हैं, जैसे वहाँ कुछ ऋण पत्र प्रत्याभूतित होते हैं, कुछ के लिए भुगतान होने पर अधिक प्रव्याजि देने का प्रलोभन दिया जाता है, कुछ ऋण-पत्रधारियों को एक या अधिक सञ्चालक नियुक्त करने का अधिकार होता है तथा कुछ ऋण-पत्र ऐसे होते हैं जो साधारण अंशों को रियायती दर पर खरीद सकते हैं, किन्तु भारत में जहाँ मुद्रा-मण्डी भी सुसंगठित नहीं है, वहां यह नितान्त आवश्यक है कि ऋण पत्रों के निर्गमन की शर्तें उदार एवं आकर्षक हों। चौथे, ऋण-पत्रों की अप्रियता का कारण यह भी है कि यहाँ सरकार की

सार्वजनिक अर्थ एवं प्रशुल्क नीति उदार नहीं रही। भारत में विदेशी शासन की नीति यहाँ के उद्योग-धन्धों को विदेशी स्पर्धा से पर्याप्त और उचित संरक्षण प्रदान नहीं कर सकी। जब कभी कोई उद्योग प्रारम्भ हुआ, भारतीय विनियोगक निश्चित लाभ अथवा सफलता के आश्वासन के अभाव में उसमें पूँजी लगाने में हिचकते रहे। संरक्षण के प्रश्न के अतिरिक्त अन्य भी कई चीजें हैं, जो उद्योगों में पूँजी के प्रवाह को रोकती रही है, जैसे—उत्पादक करों का लगाना, उपभोग की वस्तुओं के सम्बन्ध में अराष्ट्रीय आयात नीति का अनुसरण करना, इत्यादि। ये बातें ऐसी हैं कि जिनसे यहाँ का औद्योगिक व्यापार प्रगतिशील नहीं होता और फिर न यहाँ के विनियोक्ता ऋण-पत्रों में धन लगाना उचित ही समझते हैं। पाँचवे, भारतवर्ष में ऐसी कोई मान्य संस्था भी नहीं है, जहाँ विनियोजक ऋण-पत्रों के विषय में आवश्यक जानकारी प्राप्त कर सकें। बैंक अवश्य अपने ग्राहकों को इस विषय में उचित सम्मति प्रदान करते हैं, पर दुर्भाग्य से भारत में आज भी ऐसे नगर हैं, जहाँ बैंक नहीं हैं। स्कन्ध विनिमय विपणि भी केवल बन्दरगाह के शहरों में ही हैं, अतएव दूर-दूर तक फैले हुए विनियोगकों को इनके विश्वसनीय एवं स्वीकृति सदस्यों से सम्पर्क स्थापित करने के बहुत थोड़े अवसर हैं। इन कारणों से भारतीय कम्पनियों में ऋण-पत्रों का निर्गमन अधिक प्रचलित नहीं है। सन् १९२७-२८ में भारत की कुल औद्योगिक पूँजी का १६% भाग पूर्वाधिकार अंशों में, ७५% साधारण अंशों में तथा शेष ९% ऋण पत्रों के रूप में प्राप्त किया गया था।*

भारतीय कम्पनियों की अर्थ पूर्ति के लिए जन-निक्षेप स्वीकार करना भी इस देश की औद्योगिक अर्थ व्यवस्था की एक अनोखी विशेषता रही है। जनता द्वारा कम्पनियों में निक्षेप इसलिए रखे जाते थे कि बैंकिंग विकास की प्रारम्भिक स्थिति में जनता का विश्वास बैंक में इतना नहीं था जितना की कम्पनियों में। अर्थ पूर्ति की यह पद्धति बम्बई और अहमदाबाद की सूती वस्त्र मिल कम्पनियों में अधिकता से पाई जाती है, जिनकी कुल पूँजी का क्रमशः ११% तथा ३१% जन निक्षेपों से आते थे।* बात यह है कि जिन लोगों ने इन स्थानों [illegible] उद्योग प्रारम्भ किए, वे महाजन आदि थे, जिनमें जनता का बड़ा विश्वास था, इसलिए वे अपनी बचत की राशि उन्हें ब्याज पर सौंप देते थे। एक बड़ा आकर्षण तो उन्हें (जमा करने वालों को) प्रबन्ध अभिकर्तृवर्तन में भाग मिलने का था। यदि प्रबन्ध अभिकर्त्तागण अच्छी ख्याति के हुए, तो वे केवल ब्याज पर ही निक्षेप प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार प्राप्त की हुई पूँजी की लागत ऋण पत्रों पर प्राप्त की हुई पूँजी से कहीं अधिक मितव्ययी बैठती है और सबसे बड़ी बात तो यह है कि किसी प्रकार का प्रभार इसमें उदय नहीं होता, क्योंकि निक्षेपकों को अन्य अल्पकालीन ऋणदाताओं के समान अधिकार होते हैं। बम्बई राज्य के प्रमण्डल केवल अपनी कार्यशील पूँजी का भाग ही नहीं, वरन् विस्तार एवं विकास योजनाओं की अर्थ पूर्ति भी जन-निक्षेपों के द्वारा करते हैं। निम्नलिखित

* "Industrial Enterprise in India by Nabagopaldass

2. Report of the Central Banking Enquiry Committee 1931

आँकड़ों से स्पष्ट है कि अहमदाबाद का सूती वस्त्र व्यवसाय जन-निक्षेपों पर काफी सीमा तक निर्भर है :—

पूँजी का स्रोत	कुल पूँजी का प्रतिशत	
	बम्बई	अहमदाबाद
अंश-पूँजी —	(१२१४ ला० रु०) ४९%	३२% (३४० ला० रु०)
ऋण-पत्र —	(२३८ ,, ,,) १०%	१% (८ ,, ,,)
प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं से —	(५३२ ,, ,,) २१%	२७% (२९४ ,, ,,)
जन-निक्षेपों से —	(२७३ ,, ,,) ११%	३९% (४२६ ,, ,,)
बैंकों से —	(२२६ ,, ,,) ९%	४% (४२ ,, ,,)

उपर्युक्त आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि बम्बई का वस्त्र-व्यवसाय जन निक्षेपों पर कम अनुपात में निर्भर रहता है। भारत के अन्य औद्योगिक केन्द्रों में यह पद्धति नहीं पाई जाती है।

बैंकों से ऋण लेना—

कम्पनी जिन बैंकों से आर्थिक सहायता प्राप्त करती है, वे प्रायः दो प्रकार के होते हैं—(क) व्यापारिक बैंक और (ख) औद्योगिक बैंक। भारत में जितने भी संयुक्त स्कन्ध बैंक हैं, वे सभी व्यापारिक कार्यों के लिए ऋण देते हैं, औद्योगिक कार्यों के लिए नहीं। भारत में अभी तक ऐसा कोई भी औद्योगिक बैंक नहीं है, जो इस अर्थ की पूर्ति कर सके, अतः औद्योगिक कार्यों के हेतु औद्योगिक बैंक की स्थापना करना अति आवश्यक है। इस बात की सिफारिश औद्योगिक कमीशन तथा 'बैंक इन्क्वारी कमेटी' ने भी की है। भारतीय बैंक, कम्पनियों को केवल कार्यशील पूँजी अल्पकालीन ऋणों द्वारा देते रहे हैं, किन्तु अल्पकालीन ऋण भी विचित्र शर्तों पर दिया जाता है। वे शर्तें निम्नलिखित हैं :—

(१) बैंक कम्पनी के व्यापार में लगे हुए स्टॉक का अधिकांश भाग रहन या बन्धक के रूप में रखकर ऋण दिया करती है। बन्धक रखने की दशा में स्टॉक बैंक की ही सुरक्षा में रखना पड़ता है और जिन गोदामों में वह एकत्रित होता है, उन पर बैंक का नाम डाल दिया जाता है तथा कम्पनी को उससे कोई सरोकार नहीं रहता। स्पष्ट है कि बन्धक की शर्तें कितनी कठिन है, अतः कोई भी कम्पनी अपने स्टॉक को रहन बन्धक के रूप में रखना पसन्द नहीं करती, क्योंकि इससे कम्पनी की साख एवं प्रतिष्ठा पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(२) जब किसी कम्पनी के स्टॉक को रहन करके कोई बैंक ऋण दिया करती है, तो वह ऋण लेने वाली कम्पनी से एक प्रतिज्ञा-पत्र लिखवाती है, जिस पर कम्पनी तथा उसके प्रबन्ध-अभिकर्ता के हस्ताक्षर होते हैं। अगर कम्पनी का स्टॉक बैंक के पास

बन्धक के रूप में रखा जाता है, तो प्रबन्ध-अभिकर्त्ता की वैयक्तिक प्रतिभूति नहीं ली जाती।

(३) ये ऋण प्रारम्भ मे प्रायः १२ माह के लिए ही दिए जाते हैं, बाद में उनका नवकरण करना बैंक की इच्छा पर निर्भर रहता है।

(४) ब्याज की दर ऋण लेने वाले प्रमण्डल की साख के अनुसार कम अथवा अधिक होती है। जो कम्पनी सुव्यवस्थित होती है, उससे तो स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की दर पर ही ब्याज लिया जाता है, किन्तु किसी कम्पनी की दशा अच्छी नहीं होती, तो उससे ये बैंकें १ या २% अधिक ब्याज लिया करती हैं।

(५) अगर कोई रोकड़ ऋण लेता है, तो ये बैंकें लिये हुये ऋण का लगभग आधा भाग ब्याज के रूप में देने के लिए विवश करती हैं, जो कि यह अत्यन्त कठिन शर्त है।

(६) ये बैंकें बिना किसी प्रतिभूति के ऋण नहीं देतीं। यदि प्रतिभूति के रूप में रखा हुआ माल निर्मित माल है तो लगभग ३०% का अन्तर ऋण-राशि एवं माल के मूल्य मे रखते है, किन्तु निर्मित माल न होने की दशा में यह अन्तर और भी अधिक हो जाता है।

अस्तु स्पष्ट है कि बैंकों से ऋण प्राप्त करने में भारतीय प्रमण्डलों को कितनी असुविधाओं एवं कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। बैंक सहायक कैसे हों? इस सम्बन्ध में निम्न सुझाव हैं—प्रथम, वर्तमान व्यापारिक बैंक जर्मनी के व्यापारी अधिकोषों की तरह आर्थिक सहायता कर सकते हैं। जर्मनी में कम्पनी तथा बैंक के बीच चल लेखा द्वारा व्यवहार होता है, जिसका सन्तुलन दैनिक न होकर सामयिक, विशेषतः षटमासिक होता है, किन्तु इन चल लेखों में तथा भारतीय बैंकों मे पाए जाने वाले प्रचलित चल लेखों में काफी अन्तर है। वहाँ दोनों के बीच पहले से ही निश्चित हो जाता है कि—(अ) उद्योग अधिक से अधिक कितना ऋण बैंक से ले सकेगा, (ब) लिया हुआ ऋण कितनी अवधि के भीतर वापिस करना होगा, (स) लिए हुए ऋण की प्रतिभूति क्या होगी, (द) अन्य शर्तें क्या होंगी। जो राशि बैंक से मिलती है, वह कार्यशील पूँजी के रूप में ही प्रयोग की जानी चाहिए, ऐसा अनिवार्य नहीं होता। उस ऋण राशि का उपयोग उद्योग के विकास के लिए भी किया जा सकता है। नवीन उद्योग को प्रारम्भ करने के लिए जिस अंश पूँजी की आवश्यकता होती है, उसका अधिकाँश भाग भी उन्हीं अधिकोषों द्वारा दिया जाता है। उद्योगों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रखने के लिये बैंक अपने प्रबन्धक अथवा अन्य प्रतिनिधि औद्योगिक प्रमण्डल की संचालन समिति में भेजता था, जिससे उनके कार्यों का नियन्त्रण होता था तथा बैंक भी निश्चित हो जाते थे कि उनकी ऋण राशि का अपव्यय नहीं हो रहा है। दूसरे, व्यापारिक बैंक कुछ ऐसे निश्चित राशि के अशों का निर्गमन करें, जिसकी पूँजी से केवल उद्योगों को ही आर्थिक सहायता दी जाय। तीसरे, यद्यपि प्रतिभूति की प्रकृति एवं उसकी यथेष्ठता के निर्णय करने का अधिकार पूर्ण रूप

मे बैंकों को ही है, फिर भी उन्हें कुछ उदार नीति का पालन करना चाहिए। यह
जर्मन बैंकों की नीति का रहस्य था, जिसे वे औद्योगिक कम्पनियों के लिए उपयोग में
लाती थीं। बैंकों को चाहिए कि वे औद्योगिक प्रमण्डलों को आर्थिक सुविधायें वैयक्तिक
माल पर भी दिया करें, जिससे उनको कार्यशील पूँजी मिलती रहे, क्योंकि वे तरल
सम्पत्ति की प्रति-भूति नहीं दे सकते। चौथे, जिन बैंकों का औद्योगिक प्रमण्डलों से
सम्बन्ध रहता है, वे अपनी प्रबन्ध-व्यवस्था में ऐसे व्यक्ति रखें जो सामान्य औद्योगिक
प्रबन्धन में पूर्ण ज्ञान रखते हों। इससे औद्योगिक संस्थाओं से व्यवहार रखने में सर-
लता रहेगी। पाँचवें, जर्मन बैंकों की भाँति अपने ग्राहक प्रमण्डलों से निकट सम्बन्ध
स्थापित करने के लिए वे अपनी प्रबन्ध-समिति का एक सदस्य उनकी पर्यवेक्षण समिति
में अपने प्रतिनिधि के रूप में रखें। अर्थ प्रबन्धन के विषय में अनुभव के कार[ण] ये
प्रतिनिधि प्रमण्डलों के लिये तो हितकर सिद्ध होंगे ही, सम्बन्धित बैंक को भी
प्रमण्डल की वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराने और इस प्रकार आशंका जनित हानि
की सम्भावनाएँ कम करने में सहायक होंगे। छठवें, बैंक प्रमण्डलों को उनके नवीन
पूँजी प्राप्त किये जाने वाले अंश एवं अभिगोपन ऋण-पत्रों के निर्गमन में जर्मन बैंक
की भाँति निर्गमन के कुल अथवा कुछ भाग को स्वयं स्वीकार करके और बाद में सुअव-
सर उपस्थित होने पर उन्हें जनता को सौंप करके सहायता कर सकते हैं।

आय का पुष्ट विनियोग—

इस पद्धति के अनुसार कम्पनी अपनी सम्पूर्ण आय का वितरण लाभांश देने
में न करती हुई उसका एक अंश विभिन्न विधियों में रखती आती है, जैसे—संचित
प्रणीधि, नवकरण प्रणीधि, पुनः संस्थापन प्रणीधि आदि। इसी प्रकार अंशधारियों की
जानकारी के बिना वह गुप्त-कोष भी बना सकती है, जिसके अनुसार यंत्र आदि की
घिसावट पर अधिक अवमूल्यन किया जाता है। इन विभिन्न विधियों की राशि से वे
अपनी विकास योजनाओं, आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं।

विशिष्ट अर्थ संस्थायें—

विशिष्ट अर्थ संस्थाओं के अन्तर्गत निम्न संस्थायें आती हैं:—
(१) औद्योगिक अर्थ निगम, (२) प्रान्तीय अर्थ निगम, (३) राष्ट्रीय उद्योग
विकास निगम, (४) औद्योगिक ऋण एवं अर्थ निगम।

औद्योगिक अर्थ निगम—

इस निगम की स्थापना १ जुलाई सन् १९४८ को हुई। इसका मुख्य उद्देश्य
उद्योगों को दीर्घ एवं मध्यकालीन आर्थिक सहायता प्रदान करना है। हमारे देश के बैंक
भी इस प्रकार की सहायता प्रदान करते हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि प्रमण्डल
अधिकोषों से प्रतियोगिता करना चाहता है अथवा उनको इस कार्य से विचलित करना
चाहता है। प्रमण्डल का उद्देश्य आर्थिक क्षेत्र में अधिकोषों की सहायता करना है,
जिससे ये दोनों संस्थायें मिलकर देश में पूँजी की कमी को दूर कर उद्योगों की उन्नति
में सहायक हों।। अधिकोषों का मुख्य कार्य तो उद्योग को अल्पकालीन सहायता और

प्रमण्डल का कार्य लम्बी अवधि के लिए या मध्यम समय के लिए आर्थिक सहायता देना है। नई उद्योगशालाओं के स्थापन के साथ-साथ आज भारत में चालू उद्योगों के युक्ति-संगत विवेकीकरण की आवश्यकता है। औद्योगिक संस्थाओं की प्राप्त पूँजी का लगभग सारा भाग मशीन, भूमि व अन्य औजारों के खरीदने में ही चला जाता है और समय पर कार्यशील पूँजी की बड़ी भारी कमी पड़ जाती है, जिसका परिणाम उद्योग की सफलता के लिए घातक सिद्ध हो सकता है, इसीलिए कारपोरेशन का प्रधान उद्देश्य चालू व नवीन सार्वजनिक कम्पनियों को मध्यकालीन व दीर्घकालीन आर्थिक सहायता प्रदान करना है, किन्तु वे उद्योग जो बुनियादी उद्योगों की श्रेणी में हैं अथवा जिनका राष्ट्रीयकरण हो चुका है इस साख-सहायता के भागीदार नहीं बन सकते। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्रमण्डल केवल उन्हीं उद्योगों को सहायता देगा, जो सार्वजनिक अथवा लोक समिति होंगे अथवा जो सहकारिता के सिद्धान्तानुसार कार्य कर रहे हैं।

औद्योगिक अर्थ निगम के कार्य—

(१) जम्मू एवं काश्मीर के अतिरिक्त भारत के किसी भी सीमित प्रमण्डल को एवं सहकारी समितियों को जो वस्तुओं का उत्पादन अथवा क्रिया-कलाप करती हैं, खान, बिजली अथवा अन्य किसी शक्ति का उत्पादन एवं वितरण करती हैं, अधिक से अधिक २५ वर्ष की अवधि के लिए निगम ऋण दे सकता है।

(२) औद्योगिक कम्पनी के अंश तथा ऋण-पत्रों का अभिगोपन करना, किन्तु अभिगोपन समझौते के अनुसार निगम को चाहिये कि ७ वर्ष की अवधि में इन अंश अथवा ऋण-पत्रों को जनता को बेच दे।

(३) अर्थनिगम, औद्योगिक कम्पनियों के ऋण-पत्रों के ब्याज तथा मूल राशि के भुगतान की गारन्टी दे सकता है, यदि ऋण-पत्र खुले बाजार में बेचे गये हों और उनकी अवधि २५ वर्ष से अधिक न हो। इस कार्य के लिए अर्थ निगम कमीशन लेने का भी अधिकारी है।

(४) यदि किसी उद्योग को विदेशी मुद्रा में ऋण लेने की आवश्यकता हो, तो अर्थ निगम केन्द्रीय सरकार की अनुमति के बाद पुनर्संगठन और विकास की अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से अथवा अन्य विदेशी स्रोतों से ऋण ले सकता है और इस प्रकार सुविधा के लिए अर्थ निगम के पास जो भी सम्पत्ति जमानत के लिये हो, उसे वह विदेशी लेनदारों के पास रहन रख सकता है।

(५) अर्थ निगम को ऋण लेने वाले उद्योगों की संचालक सभा में अपना प्रतिनिधि मनोनीत करने का तथा ऋण की शर्तों को भङ्ग करने पर उद्योगों को अपने नियन्त्रणों में लेने का अधिकार है।

(६) अर्थ निगम ऋण लेने वाले उद्योग को तान्त्रिक सलाह देने के लिये तान्त्रिक सलाहकार समिति नियुक्त कर सकता है।

(७) अर्थ निगम का संचित कोष जब तक दत्त पूँजी के बराबर न हो जाए

इसकी अत्यधिक प्रशंसा की जाय। अन्य देशों की अपेक्षा भारतीय अर्थ प्रमण्डल ने देश की बहुत थोड़ी सेवा की है।

(२) प्रमण्डल द्वारा दिए गये ऋणों पर ब्याज की दरें सभी संस्थाओं के लिये समान रही हैं। यह बात असङ्गत प्रतीत होती है, क्योंकि प्रत्येक औद्योगिक संस्था की आर्थिक स्थिति भिन्न होती है, अतएव प्रत्येक संस्था की दृढ़ता तथा भविष्य को ध्यान में रखकर ब्याज की दर निश्चित करनी चाहिये।

(३) ऋण के आवेदन पत्रों पर विचार करते समय कार्पोरेशन इस बात से अधिक प्रभावित हुआ है कि किस प्रमण्डल के अंशों का मूल्य बाजार में अधिक है और किसका नहीं। यह पद्धति दोषपूर्ण है, क्योंकि "अंश की कीमत" के अतिरिक्त भी ऐसे अन्य महत्वपूर्ण विषय हैं (जैसे, कम्पनी के पिछले वर्षों का प्रभाव, वर्तमान आय शक्ति, प्रबन्ध सुचारुता इत्यादि) जिनका ध्यान रखना भी आवश्यक है।

(४) अधिकांश ऋणों की अवधि, जो प्रमण्डल ने औद्योगिक संस्थाओं को दिए हैं, केवल १२ वर्ष की है। यह अवधि बहुत कम है। नियमानुसार अवधि २५ वर्ष हो सकती है, किन्तु इस नियम का अभी तक उपयोग नहीं उठाया गया है।

(५) प्रमण्डल ने अभी तक अंश अथवा ऋण पत्रों के अभिगोपन तथा प्रत्याभूति का कार्य नहीं किया है।

(६) प्रमण्डल की ओर से अभी तक कोई आर्थिक अनुसन्धान विभाग नहीं खोला गया है, जिसकी बड़ी आवश्यकता है।

(७) अंश खरीदने का अधिकार केवल वित्त सम्बन्धी संस्थाओं व केन्द्रीय सरकार को ही है, अतः प्रमण्डल जन साधारण की संस्था नहीं कही जा सकती।

(८) प्रमण्डल द्वारा ऋण केवल सार्वजनिक तथा सहकारी संस्थाओं को ही मिल सकता है, अतः आलोक प्रमण्डल तथा साझेदारी की संस्थायें इस लाभ से वंचित हैं।

आलोचना की कई बातों में तथ्य ही नहीं मार्गदर्शन की रेखा भी मिलती है, किन्तु सारी बातें न सही हैं और न सार पूर्ण ही हैं। यदि कार्पोरेशन अपने अंशों को सभी व्यक्तियों तथा संस्थाओं के लिए केवल अपने नाम के आगे एक जन वादी बिल्ली लगाने के लिए ही उपलब्ध कर दे, तो लाभ के विपरीत हानि और अनर्थ अधिक होगा। जहाँ तक कार्पोरेशन के प्रारम्भ का प्रश्न है, वह अन्य देशों की अपेक्षा कुछ कम आशामय लगता है, किन्तु हमें अपने देश की स्थिति और आर्थिक साधनों की आलोचना करते समय ध्यान रखना चाहिए।

प्रान्तीय अर्थ निगम—

वर्तमान औद्योगिक अर्थ प्रमण्डल का क्षेत्र सीमित है अतः औद्योगिक क्षेत्र के लिए ऐसे प्रान्तीय अर्थ प्रमण्डलों की आवश्यकता है जो साझेदारी संस्थाओं, आलोक प्रमण्डलों तथा व्यक्तियों को भी ऋण प्रदान करें। साथ ही यह भी आवश्यक है कि प्रान्तीय अर्थ प्रमण्डल तथा औद्योगिक अर्थ प्रमण्डल परस्पर सहयोग से कार्य

करें, जिससे वे एक-दूसरे के पूरक हों, क्योंकि मध्यम एवं लघु उद्योगों को आर्थिक सहायता देने का कार्य-क्षेत्र विस्तृत होने से औद्योगिक अर्थ निगम को यह क्षेत्र अपनाने में कठिनाइयाँ भी होंगी। इसी हेतु संसद ने २८ सितम्बर सन् १९५१ को "प्रान्तीय आर्थिक अर्थ-प्रमण्डल अधिनियम" पास किया जो सम्पूर्ण भारत में लागू है। इस अधिनियम के अन्तर्गत भारत के अनेक राज्यों में अर्थ विभाग स्थापित किये जा चुके हैं।

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम—

हमारे देश में बहुत दिनों से राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम की चर्चा चल रही थी। सौभाग्य का विषय है कि २० अक्टूबर सन् १९५४ से इस संस्था की स्थापना दिल्ली में हो गई। यह एक विशुद्ध राजकीय संस्था है, अतः यह पूर्ण रूप से सरकारी स्वामित्व एवं नियन्त्रण में रहेगी, किन्तु औद्योगिक विकास तथा आधारभूत उद्योगों की स्थापना के हेतु आवश्यक तान्त्रिक अनुभव प्राप्त करने के लिए यह व्यक्तिगत उपक्रमियों का सहयोग प्राप्त करेगा। यह सहकारिता इसी दृष्टि से प्राप्त की जा रही है, क्योंकि देश को औद्योगिक विकास की तीव्र आवश्यकता है तथा उपभोक्ता उद्योगों में व्यक्तिगत उपक्रमियों ने बहुत कुछ कार्य किया है एवं भविष्य में भी वे देश की आवश्यकता को पूरा करने में काफी सहायक हो सकते हैं।

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम की पूँजी १ करोड़ रुपया है, किन्तु प्रारम्भिक अवस्था में केवल १० लाख रुपये की दत्त पूँजी होगी, जो सरकार देगी। इस निगम का रजिस्ट्रेशन भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत किया गया है। इस निगम को जो अतिरिक्त राशि की आवश्यकता होगी, वह केन्द्रीय सरकार निम्न रीति से प्रदान करेगी—

(१) औद्योगिक योजनाओं का अध्ययन, अनुसन्धान एवं औद्योगिक निर्माण के लिए तथा ऐसे ही अन्य औद्योगिक योजनाओं की पूर्ति के लिये देश में आवश्यक तान्त्रिक एवं शासकीय कर्मचारियों का दल तैयार करने के लिये वार्षिक अनुदान द्वारा। अनुदान की इस राशि का आयोजन वार्षिक बजट में किया जायगा।

(२) औद्योगिक विकास निगम प्रस्तावित औद्योगिक योजनाओं की पूर्ति के लिये आवश्यकता के समय देकर।

औद्योगिक विकास निगम का प्रबन्ध एक संचालक सभा द्वारा होगा, जिसमें २० सदस्य हैं। वाणिज्य एवं उद्योग मन्त्री इसके सभापति हैं। इन संचालकों को केन्द्रीय सरकार ने मनोनीत किया है। औद्योगिक अनुभव तथा तान्त्रिक एवं इंजीनियरी कार्यक्षमता की दृष्टि से संचालक सभा में १० उद्योगपति, २ अधिकारी तथा ४ इंजीनियर हैं। इस संस्था के मुख्य उद्देश्य निम्नाङ्कित हैं:—

(१) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम का प्रमुख उद्देश्य देश की औद्योगिक

उन्नति के लिए आवश्यक मशीनरी एवं यन्त्र प्रदान करना तथा आधारभूत उद्योगों का प्रवर्तन और उनकी स्थापना करना।

(२) देश के औद्योगिक विकास में सहायक वर्तमान व्यक्तिगत उद्योगों को तान्त्रिक एवं इ'जीनियरिंग सेवाओं की सुविधा देना तथा यदि आवश्यक हो तो पूँजी देना।

(३) व्यक्तिगत उपक्रमियों की सरकार द्वारा स्वीकृत औद्योगिक योजनाओं की पूर्ति के लिए आवश्यक तान्त्रिक इ'जीनियरिंग, आर्थिक अथवा अन्य सुविधायें प्रदान करना।

(४) प्रस्तावित औद्योगिक योजनाओं की पूर्ति के लिये आवश्यक अध्ययन करना, उनको तान्त्रिक इ'जीनियरिंग एवं अन्य सुविधायें प्रदान करना तथा उनकी पूर्ति के लिए धन देना।

औद्योगिक ऋण एवं अर्थ निगम—

यह एक विशुद्ध गैर सरकारी संस्था है। इसकी प्रारम्भिक समिति में सर्व श्री डा० रामास्वामी मुदालियर चेयरमैन, ए० डी० श्रॉफ, घनश्यामदास बिड़ला, कस्तूरभाई लालभाई आदि हैं। इसने विश्व बैंक, भारत सरकार, ब्रिटेन तथा संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका से समझौता कर लिया है। इसकी चुकता पूंजी ५ करोड़ रुपये है—३.५ करोड़ रुपये के अंश भारतीय नागरिक और संस्थायें तथा शेष १.५ करोड़ रुपयों में से १ करोड़ के अंश, ब्रिटिश उद्योगपति तथा ५० लाख रुपये के अमेरिकन उद्योगपतियों द्वारा लिये गये हैं। इस निगम का विदेशों में बड़ा स्वागत हुआ है। ब्रिटिश और अमेरिकन अंशों के इस अनुपात में दो बातें स्पष्ट हैं—प्रथम तो यह है कि ब्रिटेन भारत से अधिक रुचि रखता है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि पिछले १½ सदी के ब्रिटिश शासन में ब्रिटिश उद्योगपति यहाँ के कारोबार तथा उद्योग से भली प्रकार परिचित हैं और उनके अपने जीवन के लिये निर्यात आवश्यक भी हैं। निर्यात विकास के लिए अन्य देशों में पूँजी लगाना एक उत्तम उपाय है। अमेरिका खाद्य और कच्चे माल के लिए स्वावलम्बी है, अत वह अपने जीवन के लिये निर्यात को आवश्यक नहीं मानता है।

बैंक तथा बीमा कम्पनियों की अपेक्षा इस संस्था के अंशों की बटनी में साधारण जनता को प्राथमिकता दी जायेगी। इस बात से ही निगम की जनतन्त्रात्मक प्रकृति का परिचय मिलता है। यह ठीक है कि निगम की ओर से डिवीडेन्ड की कोई गारन्टी नहीं दी गई है, किन्तु भारत सरकार ने १५ वर्षों के लिये बिना सूद के ७.५ करोड़ रुपया देने का निश्चय किया है। इसके बाद यह राशि १५ वार्षिक किश्तों में सरकार को चुकानी पड़ेगी। विश्व बैंक भी इस संस्था को लगभग ५ करोड़ रुपया देगा, अतः स्पष्ट है कि इस नई विराट संस्था की स्थिति काफी दृढ़ है। इसके पास प्रारम्भ में ही १७.५ करोड़ रुपया हो गया है और यह आशा की जाती है कि यह संस्था देश के औद्योगिक विकास में बहुत सहयोग देगी। इस निगम को यह भी अधिकार दिया गया

है कि वह पूंजी से तिगुनी मात्रा तक बाजार से ऋण ले सकता है। भारत सरकार का भी इस संस्था को पूर्ण आशीर्वाद प्राप्त है, क्योंकि न केवल वह ७·५ करोड़ रुपया इसको दे रही है, वरन् विश्व बैंक को भी रुपया वापिस मिलने की गारन्टी दे रही है।

उद्देश्य—

औद्योगिक ऋण एवं अर्थ निगम का प्रमुख उद्देश्य व्यक्तिगत क्षेत्रों के औद्योगिक उपक्रमों को सहायता प्रदान करना है। यह सहायता निम्न रीति से दी जायेगी—

(१) ऐसे उपक्रमों के निर्माण, विस्तार एवं आधुनिकीकरण में आर्थिक सहायता देना।

(२) ऐसे उपक्रमों में देशी एवं विदेशी व्यक्तिगत पूँजी के विनियोग को प्रोत्साहन देना।

(३) विनियोग विपणि को विस्तृत करना एवं औद्योगिक विनियोगों के व्यक्तिगत स्वामित्व को प्रोत्साहित करना।

(४) व्यक्तिगत उपक्रमों को मध्यकालीन एवं दीर्घकालीन आर्थिक सुविधायें देना अथवा उनके निर्गमित साधारण अंशों को खरीद कर आर्थिक सुविधायें देना।

(५) नई कम्पनियों के अंशों एवं प्रतिभूतियों का अभिगोपन करना।

(६) व्यक्तिगत उपक्रमों के लिए व्यक्तिगत विनियोग स्रोतों से प्राप्त ऋणों की जमानत देना।

(७) संचित विनियोग द्वारा पुन विनियोग के लिए व्यक्तिगत उपक्रमों को राशि प्रदान करना।

(८) व्यक्तिगत उपक्रमों को प्रबन्ध सम्बन्धी तान्त्रिक एवं प्रशासकीय सलाह देना एवं उनके उद्योगों को इस हेतु आवश्यक विशेषज्ञ प्रदान करना।

इस निगम का प्रबन्ध सचालक सभा द्वारा होगा, जिसमें ११ सदस्य तथा १ जनरल मैनेजर होगा। इन सचालकों में ७ भारतीय, २ ब्रिटिश, १ अमरीकी तथा १ सचालक वाणिज्य एवं उद्योग मन्त्रालय की ओर से है। इसके जनरल मैनेजर बैंक ऑफ इङ्गलैण्ड के प्रमुख कोषाध्यक्ष पी० एस० जी० हैं।

लघु उद्योग का अर्थ प्रबन्धन—

लघु उद्योगों को निम्न कार्यों के लिए धन की आवश्यकता होती है :—

(१) भूमि और भवन के लिए। (२) मशीन, यन्त्र एवं उपकरण के लिए। (३) पुरानी मशीनों के स्थान पर नई मशीनें लगाने के लिए। (४) कच्चा माल खरीदने तथा उसका स्टाक रखने के लिए। (५) तैयार किये जाने वाले माल म लगाने के लिए। (६) श्रमिकों को पारितोषण देने के लिए। (७) विक्रय होने तक निर्मित माल का संग्रह करने के लिए। (८) बिके हुये माल का मूल्य वसूल होने तक के लिये ग्राहकों को दिए अप्रत्यक्ष ऋण के रूप में। (९) टैन्डर आदि के लिये रुपया जमा करने के हेतु। इस धन के कुछ भाग को लम्बी अवधि के लिए, कुछ को माध्यम अवधि के लिए और शेष की अल्प अवधि के लिए आवश्यकता होती है।

धन के साधन—

इन उद्योगों के लिए धन के साधन निम्न प्रकार हो सकते है।

(१) उद्योग के स्वामियों, सम्बंधियों और मित्रों द्वारा स्वयं लगाया हुआ धन।

(२) *महाजनों से*—लघु उद्योगों मे महाजनों से उधार लिया गया रुपया भी काफी लगा हुआ है। इसी प्रकार हावड़ा इञ्जीनियरी उद्योगों मे इसका प्रतिशत २०·७ है। इस पर महाजन बहुत अधिक ब्याज लेते हैं।

(३) *बीच वालों से*—लघु उद्योगों के अनेक केन्द्रों में कुछ लोग एक ओर माल के आर्डर लेते है और उन्हें कारीगरों को दे देते हैं। वे उन्हें कच्चा माल आदि भी देते हैं और बाद को उनसे तैयार माल ले लेते हैं। अलीगढ़ के ताला उद्योग, मुरादाबाद तथा जगाधरी के बर्तन आदि के उद्योग, आगरे के जूता उद्योग आदि में ऐसा होता है। ये बीच वाले व्यक्ति भी अपना रुपया लगाते है।

(४) *किराया-खरीद साधन*—कुछ व्यक्तियों ने कारीगरों को कहीं-कहीं मशीनें, औजार आदि किराया खरीद प्रणाली पर देने आरम्भ किये हैं, परन्तु अभी इसका काफी चलन नहीं हुआ है।

(५) *बैंक*—बैंकों ने अभी लघु उद्योगों को धन देने मे उत्साह प्रकट नहीं किया है।

(६) *बीमा कम्पनियाँ*—बीमा अधिनियम के अन्तर्गत बीमा कम्पनियाँ अपने जीवन कोष का १५% कुछ शर्तों के साथ उद्योगों में लगा सकती हैं, परन्तु कुछ कम्पनियों के पास जीवन कोष मे काफी रुपया होने पर भी लघु उद्योगों को अब तक उनसे कोई विशेष लाभ नहीं पहुँचा है।

(७) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम मे ससद ने दिसम्बर सन् १९५४ मे जो संशोधन किया है, उसके फलस्वरूप अब रिजर्व बैंक राज्यों, सहकारी बैंकों अथवा वित्तीय कार्पोरेशन के द्वारा लघु उद्योगों को अधिक सुगमता से थोड़े समय के लिए वित्तीय सहायता दे सकता है।

(८) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम की धारा १७ (२) की उपधारा बी बी के अन्तर्गत बैंक को कुटीर तथा लघु उद्योगों को धन की सहायता देने का अधिकार है, यदि निम्न शर्तें पूरी हो जायें—

(क) बिलों पर २ या उससे अधिक अच्छे व्यक्तियों के हस्ताक्षर होने चाहिये। इनमे से एक व्यक्ति राज्य सहकारी बैंक अथवा राज्य वित्त कर्पोरेशन का अवश्य होना चाहिए।

(ख) लघु उद्योग द्वारा यह धन रिजर्व बैंक से स्वीकृत कुटीर और लघु उद्योगो के उत्पादन कार्य अथवा बिक्री व्यवस्था के लिए माँगा जाना चाहिए।

(ग) बिलों की अदायगी की अवधि १२ महीने से अधिक नहीं होनी चाहिये।

(घ) बिलों द्वारा लिए गये धन की अदायगी की पूरी गारन्टी राज्य सरकार द्वारा की जानी चाहिये।

इस प्रकार रिजर्व बैंक लघु तथा कुटीर उद्योगों को अल्पकालीन ऋण देने को

प्रस्तुत है। इसके लिए वह ऐसे उद्योगों की एक सूची चाहता है जो उसके ऋण पाने के पात्र हो सकें और जिनके उत्पादन शीघ्र बिक जाने वाले हों। वह केन्द्रीय अथवा राज्य सरकारों की कोई ऐसी व्यवस्था भी चाहता है जो कारखानों की शैल्पिक परीक्षा करके उसे यह सूचित कर सके कि वे अच्छे व्यापारिक आधार पर चलते हैं या नहीं और उनके उत्पादन शीघ्र बिक जाने वाले हैं या नहीं।

(६) भारत का राज्य बैंक (The State Bank of India) द्वारा भी लघु उद्योगों और विशेषतः सहकारी समितियों को अल्पकालीन ऋण दिये जाने की बहुत अधिक सम्भावना है। इस बैंक का काम चालू हो जाने पर, जब इसके नियम और उपनियम तैयार हो जायेंगे तो पता चल जायेगा कि यह लघु उद्योगों को किस सीमा तक ऋण दे सकेगा, परन्तु सम्भवतः यह बैंक भी इस प्रकार के प्रमाण-पत्र को अवश्य मांगेगा कि ऋण प्राप्त करने के इच्छुक औद्योगिक की साख कैसी है?

राज्यों में औद्योगिक वित्त कार्पोरेशन—

ऊपर के विवेचन के अनुसार लघु उद्योगों को ऋण रूप में सहायता उनके राज्यों द्वारा प्राप्त हो सकती है। इसकी प्रणाली राज्यों के उद्योग डाइरेक्टरों से ज्ञात हो सकती है। बड़ी राशियों के ऋण देने के लिए राज्यों में औद्योगिक वित्त कार्पोरेशन स्थापित किये गये हैं अथवा किये जा रहे हैं। पञ्जाब, सौराष्ट्र, बम्बई, ट्रावनकोर-कोचीन, पश्चिमी बंगाल और हैदराबाद में ये कार्पोरेशन स्थापित हो चुके हैं। उत्तर-प्रदेश, उड़ीसा, मध्य भारत, मैसूर, मध्य-प्रदेश और राजस्थान में इनकी स्थापना पर विचार हो रहा है। ये वित्त कार्पोरेशन मुख्यतः मध्यम श्रेणी अथवा लघु उद्योगों को ऋण देने के लिये स्थापित किये गये हैं। ये व्यक्तिगत, साझेदारी अथवा स्वामित्व के आधार पर चलने वाले उद्योगों और लिमिटेड कम्पनियों तथा सहकारी समितियों को ऋण दे सकते हैं, परन्तु एक व्यक्ति, समिति अथवा कम्पनी को केवल उनकी प्राप्त पूंजी के १०% ही ऋण दिया जा सकेगा और १०,००,००० रुपये से अधिक नहीं होगा। ऋण की न्यूनतम् सीमा भिन्न-भिन्न राज्यों के कार्पोरेशनों ने अपनी स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार रखी है। यह सीमा २,००० रुपये से २०,००० रुपये तक है। हाल में ही इन कार्पोरेशनों ने कारखानों को चालू पूंजी के लिए भी ऋण देना आरम्भ किया है।

कुछ क्षेत्रों में एक निश्चित सीमा तक सहकारी बैंक और सहकारी समितियाँ भी लघु उद्योगों को रुपया देती हैं। सहकारी समितियों के साधनों का पूर्ण तौर पर उपयोग नहीं किया जा सका है। इसका कारण यही है कि औद्योगिक कार्यों में पूंजी को अधिक खतरा होने के कारण इन समितियों ने इन कार्यों में ऋण देने में हिचकिचाहट दिखाई है। राज्य सरकारों ने इस प्रकार दिये जाने वाले ऋणों की वापिसी की गारन्टी के विषय में विचार किया है, परन्तु अपने साधनों से हानि पूरी करने में असमर्थ होने के कारण उन्होंने स्पष्ट रूप से इस प्रकार की गारन्टी प्रणाली चालू करने में हिचक अनुभव की है। यदि यह ऋण कोई बैंक दे तो केन्द्रीय अथवा राज्य सरकार

के धन की आवश्यकता नहीं होगी। यदि गारन्टी प्रणाली को व्यापक रूप से चालू किया जाय, तो केन्द्रीय और राज्य सरकारें अपने बहुत से वित्तीय साधनों को अन्य साधनों के लिए बचा सकती हैं, परन्तु उन्हें केवल ऐसी हानियों को सहन करने के लिए प्रस्तुत होना पड़ेगा, जिन्हें अपना रुपया लगाने पर उनके लिए सहन करना आवश्यक होगा। राज्य सरकारें एक सीमा निर्धारित कर सकती है, जहाँ तक कि कोई बैंक विशेष इस प्रणाली के अन्तर्गत उद्योग डाइरेक्टर अथवा राज्य सरकार के किसी भी अन्य उपयुक्त अधिकारी के परामर्श से किसी औद्योगिक को ऋण दे सकता है। ये बैंक कुल कितना ऋण देंगे इसकी एक सीमा भी राज्य सरकारें अपने राज्यों के लिए निर्धारित कर सकती है। बम्बई सरकार अपने यहाँ एक ऐसी ही प्रणाली जारी कर चुकी है। ऋण के रूप मे राज्य सरकारों द्वारा भी आर्थिक सहायता दी जाती है। प्रायः सभी राज्यों मे ऋण देने के लिए अधिनियम अथवा नियम स्वीकृत हो चुके हैं।

पंच वर्षीय योजना में उद्योगों के लिए वित्त व्यवस्था—

स्मरण रहे कि पंच वर्षीय योजना मे औद्योगिक क्षेत्र को दो भागो मे बांटा गया है—निजी क्षेत्र तथा लोक क्षेत्र। पंच-वर्षीय योजना में केवल लोक क्षेत्र में आने वाले उद्योगों के लिए अर्थ व्यवस्था की गई है। इस क्षेत्र में साधारणतया आधार उद्योग, लोक उपयोगी उद्योग तथा ऐसे उद्योगों को सम्मिलित किया गया है, जिनका सैनिक महत्व है। योजना में उद्योग पर व्यय की प्रस्तावित राशि ८९१ करोड़ रुपए है जो कुल राशि का १९% है। दूसरी योजना मे निजी क्षेत्र के उद्योग धन्धों पर करीब २,३०० करोड़ रुपये लगने का अनुमान है। इसमें करीब ६०० करोड़ रु० संगठित उद्योगों और खानों में लगेगा। करीब १०० करोड़ रु० बागानों तथा परिवहनों और बिजली के छोटे उद्योगों पर लगने का अन्दाज है। खेती और गाँव के छोटे धन्धों पर मोटे तौर पर २०० करोड़ रु० का अनुमान है। मकान, दुकान, स्कूल आदि की इमारतों पर पाँच वर्ष में करीब १,००० करोड़ रु० लग सकता है। शेयरों आदि मे करीब ४०० करोड़ रु० लगने का अन्दाज है।

निष्कर्ष—

जहाँ तक भारत के कुटीर उद्योगो का सम्बन्ध है, उनका भविष्य काफी उज्ज्वल हो सकता है। यदि सहकारी आन्दोलन उनके लिए कम ब्याज पर ऋणों की व्यवस्था करने, कच्चे माल की पूर्ति करने उचित दामों पर औजार आदि सप्लाई करने तथा इन उद्योगों की उपज की बिक्री करने मे सफल हो जाय। कारीगरों की अज्ञानता, रूढ़िवाद आदि को भी शिक्षा तथा विज्ञापन द्वारा दूर किया जा सकता है। जहाँ तक संगठित उद्योगों का प्रश्न है, औद्योगिक बैंकों, निकासीगृहों तथा स्टाक एक्सचेंज का विकास आवश्यक है। इन उद्योगों का देशी बैंकरों पर निर्भरता का अन्त होना चाहिए। निस्सन्देह पंच वर्षीय योजना मे उद्योग पर आवश्यक ध्यान नहीं दिया गया है। हो सकता है कि औद्योगिक वित्त को पूर्ति करने के लिए हमें विदेशी पूँजी को निमन्त्रित करना पड़े। यथार्थ मे पंच-वर्षीय योजना मे इस सम्भावना को स्वीकार किया गया है।

---

[६]

प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली

रूप रेखा—

१. *प्रारम्भिक*—वर्तमान युग 'कम्पनी का युग है'। कम्पनियों के प्रबन्ध की प्रायः तीन रीतियाँ हैं। प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली भारत की ही विशेषता है। भारतीय उद्योगों के जन्म एवं उनके विकास का श्रेय इसी प्रणाली को है। प्रबन्ध अभिकर्त्ता की परिभाषा।

२. *प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का उदय तथा विकास*—प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति का उदय भारत के औद्योगिक विकास के साथ-साथ हुआ। अंग्रेज व्यवसायियों ने इसका श्रीगणेश किया। इसके विकास के मुख्य कारण थे—देश में प्रबन्धकों का अभाव, पूँजी का संकुचित एवं लजीली होना, संयुक्त स्कन्ध व्यवसाय का देर से प्रारम्भ, बैंकों का अभाव आदि। प्रबन्ध अभिकर्त्ता-गृहों का संगठन मुख्यतः साझेदारी की संस्थाओं अथवा प्राइवेट कम्पनियों के रूप में हुआ। कुछ संस्थायें भारतीय हैं तथा कुछ योरोपीय।

३. *प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के काम*—(१) कम्पनियों का प्रवर्तन एवं निर्माण, (२) अर्थ-पूर्ति करना, (३) कम्पनी की व्यवस्था करना।

४. *प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रथा के लाभ*—(१) प्रवर्तन एवं निर्माण, (२) आर्थिक सहायता, (३) वैज्ञानीकरण एवं सूत्रीकरण, (४) विशेषज्ञों द्वारा सहायता, (५) विनियोगों की सुरक्षा, (६) प्रतिभूतियों का अभिगोपन, (७) प्रतिस्पर्धा का अन्त।

५. *प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति के दोष*—(१) आर्थिक प्रभुत्व, (२) अंशों की अधिक परिकल्पना, (३) संचालकीय नियन्त्रण की शिथिलता, (४) अन्तर-विनियोग, (५) अयोग्य व्यवस्था, (६) शोषण।

६. *प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं पर वैधानिक नियन्त्रण*—सन् १९१३ के कम्पनी अधि-नियम में कोई भी व्यवस्था नहीं की गई थी। सन् १९३६ के अधिनियम ने प्रवर्तन, कर्मचारियों की नियुक्ति, पारितोषण, कोषों के हस्तान्तरण तथा संचालकों की नियुक्त करने में प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के अधिकार कम किए गए। सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत बैंकिंग कम्पनियों के लिए प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं को वर्जित कर दिया गया है।

७. *वर्तमान स्थिति*—प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं से सम्बन्धित कम्पनी अधिनियम सन्

१६५६ के आदेश । प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की नियुक्ति, मैनेजिंग एजेन्सी का कार्य काल । मैनेजिंग एजेन्सीज की संख्या पर प्रतिबन्ध । मैनेजिंग एजेन्ट का पद से अलग होना । पद का हस्तान्तरण । पद पैतृक नहीं है । मैनेजिंग एजेन्ट का पारिश्रमिक । मैनेजिंग एजेन्ट की विक्रेता तथा क्रेता प्रतिनिधि के रूप में नियुक्ति । पद की हानि के लिए क्षति पूर्ति । प्रबन्ध अभिकर्त्ता के अधिकारों पर प्रतिबन्ध ।

८. *उपसंहार*—प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली पर नियन्त्रण ही वांछनीय था न कि इसकी समाप्ति । पंच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत प्राइवेट सेक्टर की सफलता इन्हीं पर निर्भर है । प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के आन्तरिक सुधार होने चाहिए ।

प्रारम्भिक—

वर्तमान युग वास्तव में 'कम्पनियों का युग' है, क्योंकि व्यावसायिक संगठन के समस्त स्वरूपों में प्रायः कम्पनी का ही बोलबाला है । अधिकांशतः बड़े-बड़े व्यवसाय संयुक्त स्कन्ध प्रमण्डल के आधार पर ही चलाए जाते हैं, किन्तु इन कम्पनियों का प्रबन्ध विभिन्न रीतियों द्वारा किया जाता है । साधारणतया कम्पनी के प्रबन्ध की तीन प्रचलित प्रणालियां हैं—प्रथम प्रणाली के अन्तर्गत प्रबन्ध का समस्त उत्तरदायित्व एक वेतनभोगी प्रबन्धक पर छोड़ दिया जाता है और संचालकगण केवल व्यवसाय की सामान्य नीति का संचालन करते हैं । द्वितीय पद्धति के अन्तर्गत एक या दो संचालकों को ही प्रबन्ध संचालक बना दिया जाता है और वे ही पूर्णतः प्रबन्ध तथा निरीक्षण के लिए उत्तरदायी होते हैं । हाँ, इस कार्य के लिए उन्हें विशेष पारितोषण अवश्य दिया जाता है । तृतीय पद्धति *'प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली'* के नाम से विख्यात है और यह भारत में अधिक प्रचलित है । इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रबन्ध कार्य पूर्ण रूप से प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं को सौंप दिया जाता है । कोई भी व्यक्ति, फर्म अथवा कम्पनी, जिसे अनुबन्धानुसार कम्पनी के सारे मामलों का प्रबन्ध करने का अधिकार होता है, प्रबन्ध अभिकर्त्ता कहलाती है । प्रबन्ध अभिकर्त्ता कम्पनी के साथ हुए अनुबन्ध के अनुसार काम करते हैं और उनके ऊपर संचालकों तथा कम्पनी अधिनियम का अंकुश रहता है, जिनके आदेशों का पालन करना उसके लिए नितान्त आवश्यक है ।

भारतवर्ष के किसी भी महत्त्वपूर्ण उद्योग में प्रबन्ध अभिकर्त्ता गृहों का बड़ा भाग रहा है । भारतीय प्रशुल्क मण्डल ने सूती वस्त्र उद्योग के बारे में जो रिपोर्ट १६३२ में प्रकाशित की थी, उसमें यह स्वीकार किया गया था कि "केवल उन बड़े उद्योगों को छोड़कर, जिन्हें भारत में राज्य ने संगठित किया अथवा जो उसकी देख रेख में स्थापित किये गये, लगभग प्रत्येक महत्त्वपूर्ण उद्योग इन्हीं प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के साहस के कारण जन्म पा सका है । अब भी अधिकतर औद्योगिक संस्थायें, विशेषकर सीमित उत्तरदायित्व वाले लोक प्रमण्डल, इन्हीं के नियन्त्रण में हैं । उदाहरण के लिये जमशेदपुर का लोहे व स्पात का उद्योग, बम्बई व अहमदाबाद का सूती वस्त्र उद्योग,

बंगाल व बिहार का जूट उद्योग देश के सबसे अधिक सगठित उद्योगों में से है, परन्तु इन उद्योगों में ऐसा शायद ही कोई मिल हो जो किसी प्रबन्ध अभिकर्ता के परोक्ष नियन्त्रण में नहीं है। प्रबन्ध अभिकर्त्ता देश के औद्योगिक क्षेत्र में यह स्थिति कैसे प्राप्त कर सके, इस प्रश्न का उत्तर हमें उन परिस्थितियों में मिलेगा जो भारत की अपनी अनोखी विशेषता रही है।

प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का उदय तथा विकास—

वास्तव में प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति का उदय भारत के औद्योगिक विकास के साथ साथ हुआ। यहाँ उद्योग के प्रारम्भिक प्रमुख विकास कर्त्ता अंग्रेज व्यवसायी थे जो पहिले यहाँ कुछ व्यापारिक संस्थाओं के प्रतिनिधि की भाँति आये। पहिले तो इन्होंने सामान्य व्यापार का काम किया, परन्तु बाद में अन्य काम की ओर भी आकर्षित हुये। इन्होंने देखा कि भारत एक विशाल कृषि देश है, जहाँ भरपूर प्राकृतिक साधन हैं, जो कि विशाल आबादी व पर्याप्त श्रम की सुलभता के होते हुए भी औद्योगिक दृष्टि से बिल्कुल पिछड़ा हुआ है, क्योंकि जनता दूसरों को उद्योग में लगाने के लिए द्रव्य देने में संकोच करती है। पूँजी के अतिरिक्त और सब साधन यहाँ हैं, जिनका कि होना औद्योगिक उन्नति के लिये आवश्यक है।

अस्तु, अपने लाभ के लिये उन्होंने आवश्यक पूँजी स्वयं प्रदान का निश्चय किया एवं अपने मित्रों को भी इसके लिये तैयार किया। उद्योग स्थापित कर दिये गये, साझेदारी बन गई और उद्योग चलाने के लिये आवश्यक पूँजी दे दी गई। हानि एवं अन्य आपत्तियों के समय में भी उन्होंने उद्योग को बचाने के लिये आर्थिक मदद दी, क्योंकि बाहरी जनता से तब ही पूँजी प्राप्त करने की आशा की जा सकती थी, जबकि यह उद्योग स्पष्टतया सफल होता हुआ प्रतीत हो जावे। जब यह दशा पहुँच आती थी, तो वे उसे प्रमण्डल में परिवर्तित कर देते और अपनी पूँजी का बड़ा भाग वापिस लेकर उसे फिर किन्हीं अन्य प्रयत्न में लगा देते थे। प्रमण्डल के जन्मदाता तथा प्रमुख पूँजी प्रदान करने वालों एवं अनुभवी प्रबन्धकर्त्ता होने के रूप में उनका उस प्रमण्डल के नियन्त्रण में काफी हाथ रहता था। एक ही प्रबन्ध अभिकर्त्ता गृह के आधीन कई प्रमण्डल नियन्त्रण रहते थे। प्रबन्ध अभिकर्त्ता-पद्धति बंगाल में शुरू हुई और फिर अन्य भागों में भी फैल गई। कुछ भारतीय पूँजीपतियों ने भी उनकी देख-देखी उनकी सफलता से प्रेरित हो इस प्रकार का कार्य करना प्रारम्भ किया और इसमें उन्हें विदेशियों से बड़ी सहायता मिली।

एक दूसरी बात जो इस पद्धति के जन्म का कारण बनी वह थी बैंकों की यह हठ कि प्रमण्डलों को तब ही ऋण दिया जाय (वह भी लम्बे समय के लिये नहीं, थोड़ी ही अवधि के लिये) जबकि उसके प्रबन्ध अभिकर्त्ता इस ऋण की गारन्टी दें। उनका यह आग्रह इस कारण था कि वे प्रमण्डलों की आन्तरिक स्थिति से तो परिचित होते नहीं थे, परन्तु प्रबन्ध अभिकर्त्ता सब कुछ जानते थे, अस्तु यह स्वाभाविक ही था कि बैंक उनकी गारन्टी की माँग करें। ऊँची आर्थिक स्थिति के प्रमण्डल भी बैंकों से तब ही

ऋण प्राप्त कर सकते थे, जबकि उनके प्रबन्ध अभिकर्त्ता गारन्टी देने को तैयार हों। अस्तु इन परिस्थितियों में, प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का औद्योगिक-संगठन में प्रमुख स्थान पा लेना स्वाभाविक ही था।

प्रबन्ध अभिकर्त्ता गृहों का संगठन वैयक्तिक, साझेदारी अथवा कम्पनी के रूप में हो सकता था, किन्तु मुख्यतः इनका संगठन साझेदारी की संस्थाओं अथवा प्राइवेट कम्पनियों के रूप में ही हुआ है। कुछ ऐसी भी संस्था हैं जो पब्लिक कम्पनी के रूप में निर्माण की गईं। अभिकर्त्ता गृहों मे कुछ संस्थायें भारतीय हैं और कुछ योरोपीय हैं। योरोपीय संस्थाओं मे बर्ड एण्ड कम्पनी का नाम प्रमुख है। इनके संगठन का स्वरूप कुछ भी हो, यह विशेषतः कौटुम्बिक व्यवसाय की भाँति होते हैं, जिनमें किसी कुटुम्ब विशेष का ही अधिक महत्त्व रहता है, जैसे–बिरला ब्रादर्स लिमिटेड। यह अपनी फर्म के सदस्यों में अधिकतर अपने कुटुम्बियों और सम्बन्धियों को ही लेते हैं। बाहरी लोगों के लिए इसमें प्रायः कोई स्थान नहीं होता। यह प्रवृत्ति भारतीय अभिकर्त्ता गृहों में विशेष रूप से देखी जाती है, किन्तु योरोपीय अभिकर्त्ता गृहों में अनुभव विशेष योग्यता अथवा अन्य किसी गुण को ध्यान में रखते हुए बाहरी लोगों को भी सदस्यता दी जाती है।

प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के कार्य—

प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के मुख्य कार्य निम्नांकित है :—

कम्पनियों का प्रवर्तन एवं निर्माण—किसी भी नई कम्पनी की स्थापना के पूर्व कुछ प्रारम्भिक अनुसंधान आवश्यक होता है। प्रबन्ध अभिकर्त्ता इन प्रारम्भिक कार्यों को करते हैं एवं समस्त असुविधाओं और उत्तरदायित्व को सहन करते हुए उसकी व्यवस्था करते हैं। इस प्रकार जहाँ औद्योगिक विकास की कमी रहती है अथवा यों कहें कि जहाँ लोग अधिक जोखिम उठाने के लिए तैयार नहीं होते, वहाँ प्रबन्ध अभिकर्त्ता अखाड़े में कूद कर अपने अथक परिश्रम एवं कर्त्तव्य परायणता द्वारा व्यवसाय को उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचा देते हैं। भारतवर्ष में प्रवर्तकों का सर्वथा अभाव है। यह प्रबन्ध अभिकर्त्ता भिन्न भिन्न व्यवसायों के लिए आवश्यक अनुभव एवं तांत्रिक योग्यता प्राप्त करते हैं तथा अपने अभिकर्त्ता गृहों में कुशल एवं अनुभवी व्यक्तियों को नियुक्त करते हैं, जिससे वे भिन्न-भिन्न व्यावसायिक कम्पनियों का स्थापन एवं संगठन करने में सफल होते हैं। भारत में टाटा एण्ड सन्स लिमिटेड, डालमिया जैन लिमिटेड, बर्ड एण्ड कम्पनी, मार्टिन एण्ड कम्पनी, जेम्स फिनले एण्ड कम्पनी लिमिटेड, जे० पी० श्रीवास्तव एण्ड सन्स, करमचन्द थापर एण्ड ब्रादर्स लिमिटेड आदि प्रसिद्ध प्रबन्ध अभि कर्त्ताओं की संस्थायें हैं, जिन्होंने अनेक कम्पनियों का प्रवर्तन किया है।

अर्थ पूर्ति करना—प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य कम्पनी की आर्थिक व्यवस्था करना है। ये लोग धनाभाव की दशा में उसकी पूर्ति के लिए पूर्ण प्रयत्न करते हैं। यही कारण है कि कम्पनी की समस्त आर्थिक समस्याओं को सुलझाना उनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य माना जाता है। प्रबन्ध अभिकर्त्ता न केवल प्रारम्भिक स्थायी पूँजी का ही, किन्तु बाद में पुनर्संकलन, विकास तथा आधुनिकीकरण व काय-

शील पूँजी के लिए भी अर्थ का प्रबन्ध करते हैं। यह सच है कि गत कुछ वर्षों में जबकि जनता के पास काफी मात्रा में द्रव्य था, सहस्रों कम्पनियाँ केवल जनता के द्रव्य से स्थापित हुईं, परन्तु यह सम्पन्नता अधिक ठहरने वाली नहीं है और अब भी जब से 'कन्ट्रोल ऑफ कैपिटल इश्यूज' लागू हुआ है, इस बात की आवश्यकता होती है कि प्रवर्तक भी कुछ पूँजी प्रदान करें। वे अर्थ प्रबन्ध निम्न ढंगों से करते हैं :—

(अ) वे स्वयं कम्पनी के अंशों व ऋण-पत्रों को ले लेते हैं और अपने मित्रों तथा नातेदारों को भी खरीदवा देते हैं।

(आ) जिस समय बैंक से ऋण लेने की वार्ता चलती है तो कम्पनी द्वारा माँगे हुए ऋण के लिए प्रतिभूति प्रदान करते हैं।

(इ) उनकी ख्याति के बल पर प्रमण्डल अपनी स्थायी पूँजी का बहुत बड़ा भाग जनता से धरोहर के रूप में प्राप्त कर लेता है।

(ई) संकटावस्था में जबकि अन्य ढंगों से उसे सहायता मिलना सम्भव नहीं, उनका आगे आना प्रशंसनीय है। कई उदाहरण ऐसे हैं, जिनमें प्रमण्डल डूबने से केवल इस कारण बच गये कि उन्होंने उनको समय पर आर्थिक सहायता दे दी और उनके पुनर्संकलन में मदद की।

(उ) नई कम्पनी जनता को अपने अंश व ऋण पत्र खरीदने के लिए प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के नाम के बल पर ही आकर्षित कर पाती हैं। किसी अनुभवी एवं ख्याति प्राप्त प्रबन्ध अभिकर्त्ता का नाम जब कम्पनी के प्रविवरण में दिया होता है तो उससे जनता का कम्पनी के प्रति विश्वास बढ़ जाता है।

(ऊ) वे कम्पनियों के अंशों और ऋण पत्रों का अभिगोपन करते हैं, इससे कम्पनी निडर होकर कार्य आरम्भ कर सकती है, क्योंकि निश्चित मात्रा में अंश न बिकें तो यह अभाव प्रबन्ध अभिकर्त्ता स्वयं पूरा कर देंगे।

कम्पनी की व्यवस्था—

प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपने तांत्रिक ज्ञान एवं व्यावसायिक अनुभव द्वारा कम्पनी की लाभार्जन शक्ति बढ़ाते हैं। यह डंके की चोट पर कहा जा सकता है कि भारत में कम्पनियों की यशस्विता है तथा व्यवस्थापन एवं प्रबन्ध कार्य की सफलता का सम्पूर्ण श्रेय इन्हीं प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं को है।

प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रथा के लाभ—

भारत के औद्योगीकरण के इतिहास में प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का महत्वपूर्ण स्थान रहा है, क्योंकि इनकी विभिन्न सेवाओं द्वारा ही देश की औद्योगिक प्रगति सम्भव हो सकी। इस प्रणाली के प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं:—

(१) *प्रवर्तन एवं निर्माण*—प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं ने प्रारम्भिक अनुसन्धान करके एवं असुविधाओं तथा असफलताओं का सामना करते हुए अनेक सफल उद्योग

की नींव डाली थी। इनकी सहायता के बिना चाय, जूट, कपास, कोयला आदि बड़े बड़े व्यवसाय न तो स्थापित ही किये जाते और न उनकी शीघ्र उन्नति ही होती। प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का कम्पनियों से घनिष्ट सम्बन्ध होता है, अत वे सुदृढ़ कम्पनियों की ही स्थापना करते हैं। यही नहीं, कम्पनी को स्थापना के लिए समस्त वैधानिक कार्यवाही करते हैं और योग्य एव अनुभवी व्यक्तियों को सचालक पद के लिए चुनते है।

(२) *आर्थिक सहायता*—प्रबन्ध अभिकर्त्ता विभिन्न रीतियों से, जिनका उल्लेख हम कर चुके हैं, कम्पनी को आर्थिक सहायता पहुँचाते हैं। इनके व्यावसायिक जीवन और वाणिज्य जगत में ख्याति के बल पर जनता को नव निर्मित कम्पनियों से सम्पर्क स्थापित करने में सुविधा रहती है।

(३) *वैज्ञानीकरण एव सूत्रीकरण*—इन सेवाओं के अतिरिक्त प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपनी अन्तर्गत कम्पनियों की व्यवस्था में एक सूत्रता लाते हैं, जिससे उनमें मितव्ययता होती है और कार्यक्षमता बढ़ती है। प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की व्यावसायिक सस्थायें होती हैं, जिनके विशिष्टीकरण के लिए वे अपने कार्यालय में अलग अलग विभाग रखते हैं, जिससे उनके अन्तर्गत जितनी कम्पनियाँ है, उनको उनकी विशेष योग्यता का लाभ हो सके। व्यक्तिगत रूप में कम्पनियों के लिये यह सम्भव नहीं होता कि विशिष्ट योग्यता वाले अनुभवी व्यक्तियों की नियुक्ति कर सके, किन्तु प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के माध्यम से न्यूनतम् व्यय पर उन्हें विशेषज्ञों की सेवा का लाभ प्राप्त हो जाता है। दूसरे, पूरक व्यवसायों की दशा में एक व्यवसाय का माल दूसरे व्यवसाय मे सुविधा से खप जाता है। उदाहरण के लिए, सूती वस्त्र, यातायात तथा कोयला, ये तीनों उद्योग एक दूसरे के पूरक होने के कारण कोयले की खपत वस्त्र मिल उद्योग में हो सकती है एव वस्त्र व्यवसाय को यातायात की सुविधायें मिल जाती हैं तथा यातायात उद्योग को स्थायी ग्राहक मिल जाते हैं। यदि ये तीन उद्योग अलग अलग प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के नियन्त्रण में हैं तो सम्भवत यह लाभ न होगा। तीसरे, प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपना क्रय विक्रय विभाग भी रखते हैं, जिससे उनके प्रबन्ध में जो व्यवसाय हैं, उनकी आवश्यकताओं का क्रय तथा विक्रय इसी विभाग के द्वारा सुगमता से हो जाता है।

(४) *विशेषज्ञों द्वारा सहायता*—प्रत्येक प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपने यहाँ कुशल एव अनुभवी विशेषज्ञ रखता है। इस प्रकार थोड़े से व्यय में ही सरलतापूर्वक इन विशेषज्ञों का परामर्श प्राप्त हो जाता है, जिससे समय समय पर व्यवसाय को अत्यन्त लाभ होता है।

(५) *विनियोगों की सुरक्षा*—प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपनी ख्याति का बड़ा ध्यान रखते हैं और जहाँ तक बन पड़ता है इस पर कलक नहीं लगने देते, इसलिये जनता तथा विनियोगताओं को यह विश्वास हो जाता है कि प्रतिष्ठित प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के प्रबन्ध में जो कम्पनियाँ हैं, उनमें उनका धन सुरक्षित रहेगा।

(६) *प्रतिभूतियों का अभिगोपन*—अन्य देशों की भाँति हमारे देश में औद्योगिक प्रतिभूतियों का अभिगोपन करने के लिये विशेष संस्थाओं का अभाव है, अतः परिस्थितिवश यह कार्य बिचारे प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं को ही करना पड़ता है, इसलिये इनकी इन सेवाओं के परिणामस्वरूप कम्पनी के अंश ऋणपत्रादि शीघ्र बिक कर उन्हें पूँजी की प्राप्ति हो जाती है तथा जनता के निष्क्रिय धन का भी उद्योगों में सदुपयोग हो जाता है।

(७) *प्रतिस्पर्धा का अन्त*—एक ही प्रबन्ध अभिकर्त्ता के नियन्त्रण में रहने से कम्पनियों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का उन्मूलन हो जाता है, अतः उनमें सहयोग की भावना बढ़ती है, जिससे प्रबन्ध एवं व्यवस्था में मितव्ययिता आती है।

प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति के दोष—

उपरोक्त गुणों के होते हुए भी प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति को दोष रहित नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि इसके दोष का उन्मूलन करने के लिए समय-समय पर कम्पनी अधिनियम में संशोधन किये गये एवं सन् १९५६ के कम्पनी अधिनियम में तो कायापलट ही कर दिया गया है। इस प्रणाली के प्रमुख दोष निम्नांकित हैं—

(१) *आर्थिक प्रभुत्व*—प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति में प्रायः सभी उद्योगों के अन्तर्गत औद्योगिक प्रतिफल की अपेक्षा आर्थिक प्रभुत्व की ही महत्ता दिखाई देती है। इसका कारण यह है कि इन संस्थाओं में मुख्यतः पूँजीपति ही होते हैं जो तांत्रिक योग्यता उतनी नहीं रखते, जितनी कि आर्थिक सहायता प्रदान कर सकते हैं। रोते हुए बच्चे को पुचकारने की भाँति ये लोग संकट की अवस्था में कम्पनी को केवल आर्थिक सहायता देकर उनमें पुनर्जीवन का संचार कर देते हैं, परन्तु उस कम्पनी की सच्ची प्रगति के लिये जिस तांत्रिक एवं व्यापारिक योग्यता की आवश्यकता होती है, उसकी पूर्ति यह नहीं कर पाते। फलतः कम्पनी की व्यवस्था में अनेक दोष आ जाते हैं। इस आर्थिक प्रभुत्व का यह परिणाम होता है कि यदि किसी समय कम्पनी अर्थ संकट के दलदल में फँस जाती है और इन लोगों के पास भी पर्याप्त धन नहीं होता तो ऐसी संकटपूर्ण परिस्थितियों में प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपने अधिकार दूसरे प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं को, जिनके अच्छे आर्थिक साधन होते हैं, सौंपकर स्वयं अलग हो जाते हैं। ऐसा करते समय वे अंशधारियों के हितों की लेश मात्र भी चिन्ता नहीं करते।

(२) *अंशों की अधिक परिकल्पना*—इस प्रणाली के अनुसार अनेक स्कन्ध विपणियों में, विशेषकर बम्बई में कम्पनियों के अंशों में अत्यधिक परिकल्पना पाई जाती है। ये लोग प्रायः कम्पनी या अंशधारियों के हितों की ओर ध्यान न देते हुए सट्टेबाजी में व्यस्त हो जाते हैं। अपने हित के लिए कम्पनी के धन की बलि चढ़ा देते हैं, जिससे कभी-कभी कम्पनी को महान् आर्थिक संकट का सामना करना पड़ता है। आर्थिक स्थिति बिगड़ने पर अंशों का मूल्य दिन पर दिन गिरने लगता है। यही नहीं, ये लोग एक प्रकार के अंशों को दूसरे प्रकार के अंशों में परिवर्तित करके भी उनके मूल्यों को प्रभावित करते हैं। जिन अंशों को वे स्वयं खरीदना चाहते हैं, उन पर लाभांश की

दर कम कर देते हैं, जिससे उनका मूल्य गिर जाये तथा गिरे हुए मूल्य पर वे उन्हें खरीद लें। इनके विपरीत जिन अंशों को यह बेचना चाहते हैं, उन पर लाभांश की दर बढ़ा देते हैं। इन दूषित कार्यवाहियों से विनियोक्ताओं को बड़ी हानि होती है।

(३) *संचालकीय नियन्त्रण की शिथिलता*—अभी तक संचालकों की नियुक्ति में प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का बहुत बड़ा हाथ रहता है, अतः यद्यपि कम्पनी की व्यवस्था का समस्त भार संचालकों पर ही होता है और उन्हीं को प्रबन्ध नीति का निर्धारण करना चाहिए, किन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि संचालकगण कठपुतली की भाँति नाचते हैं और इनको नचाने वाले हैं परदे के पीछे कार्य करने वाले प्रबन्ध अभिकर्त्ता। नये अधिनियम में इस सम्बन्ध में काफी सुधार कर दिये गये हैं।

(४) *अन्तर-विनियोग*—प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं ने अपने नियन्त्रण के अन्तर्गत आधिक्य राशि को दूसरी कम्पनियों को ऋण देने में भी लगाया। यदि दोनों ही कम्पनियों की आर्थिक स्थिति अच्छी होती तब तो इसमें कोई हानि नहीं थी, किन्तु विपरीत परिस्थिति में यदि अच्छी स्थिति की कम्पनी का कोष एक दुर्बल कम्पनी को दे दिया जाए तो इससे अच्छी स्थिति वाली कम्पनी को हानि उठानी पड़ती है। नये अधिनियम के अन्तर्गत अन्तर विनियोग पर रोक लगा दी गई है।

(४) *अयोग्य व्यवस्था*—प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति के अन्तर्गत कौटुम्बिक अनुशासन के कारण व्यावसायिक संगठन में स्थिरता आ जाती है। व्यवसाय में कार्य-कुशल व्यक्तियों का प्रवेश रुक जाता है। पिता के बाद पुत्र को, पुत्र के बाद प्रपौत्र को तथा इसी प्रकार अनेक प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं को पैत्रिक अधिकार मिलते हैं। इससे यह आशंका रहती है कि पुत्र अथवा प्रपौत्र उतने कार्य-कुशल न हों, जितने कि उनके पूर्वज थे।

(५) *शोषण*—प्रबन्ध अभिकर्त्ता विभिन्न ढगों से कम्पनियों का शोषण करते रहते हैं :—प्रथम तो, इन लोगों को कम्पनी की व्यवस्था सम्बन्धी समस्त आंतरिक बातों का ज्ञान रहता है, जोकि अंशधारियों को नहीं होता, अतः वे आन्तरिक व्यवस्था में ऐसा परिवर्तन करते हैं कि जिससे केवल इनको ही लाभ होता है, अन्य अंशधारियों को तो उसकी हवा भी नहीं लगती। अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए ही ये लाभांश की दर कम या अधिक करते रहते हैं। दूसरे, प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपने पारिश्रमिक के लिए जो अनुबन्ध करते हैं, वे अनुचित एवं न्याय विरुद्ध होते हैं। ये निम्न प्रकार के विभिन्न रूपों में पारिश्रमिक लेते रहते हैं—व्यक्तिगत भत्ता, उत्पादन पर कमीशन, कच्चे माल के क्रय पर कमीशन, निर्मित माल के विक्रय पर कमीशन, लाभ पर कमीशन, अन्य विशेष कमीशन तथा कार्यालय भत्ता आदि। इस प्रकार कम्पनी के लाभ का एक बहुत बड़ा भाग, जिसे 'शेर का भाग' कह सकते हैं, प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की जेब में जाता है एवं झूठन जाठन बिचारे अंशधारियों को मिलती है। तीसरे, कभी-कभी ये लोग कम्पनी के धन को भी व्यक्तिगत कार्यों में प्रयोग कर लेते हैं। चल लेखे की चाल द्वारा ये लोग कम्पनी का धन पर्याप्त मात्रा

में ऋण लेकर अपना काम चलाया करते हैं। चौथे, प्रबन्ध अभिकर्त्ता बहुधा कम्पनी के लाभ को लाभांशों के रूप में वितरण न करके कम्पनी के कार्यों में लगा देते हैं और अन्य लोगों को दिखाने के लिए कम्पनी की कार्यशीलता बढ़ जाती है। कभी-कभी भवन निर्माण और मशीनरी के क्रय में रुपया लगा देते हैं। यह विस्तार चाहे अनुचित भले ही हो, किन्तु ये कार्यक्षमता का आडम्बर करने के लिए ऐसी रचना करते रहते हैं।

(६) किन्हीं-किन्हीं प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं ने अपने दिए हुए ऋण को ऋण पत्रों में परिवर्तन कर लिया और इस प्रकार संस्थायें उनके हाथ में पहुँच गईं। बेचारे अंशधारियों की वह पूँजी, जो उन्होंने कम्पनी में लगाई थी, उनके हाथ में चली गई।

(७) कम्पनियों की संख्या में लगातार वृद्धि से प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की संख्या में भी बरसाती नदी के पानी की भांति वृद्धि होने लगी है। नये प्रबन्ध अभिकर्त्ता-गृह पुरानों की भाँति अनुभवी, योग्य और साधन सम्पन्न भी नहीं हैं जो सेवायें कर सकें, जैसा कि इस पद्धति के अन्तर्गत अब तक होती रही हैं।

प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं पर वैधानिक नियन्त्रण—

सन् १९१३ के कम्पनी अधिनियम में प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की विशेष स्थिति के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की व्यवस्था नहीं की गई थी। तत्पश्चात् इस प्रणाली का इतना पतन हुआ और प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की शक्तियों का इतना दुरुपयोग किया गया कि सन् १९३६ के कम्पनी (सन्शोधन) अधिनियम में विशेष व्यवस्थाओं की आवश्यकता अनुभव की गई। सन् १९३६ के सन्शोधनों ने आरम्भ में ही कुछ ऐसी व्यवस्थायें की हैं, जिससे अंशधारी अधिक सतर्क तथा सावधान रह सकें। इस सम्बन्ध में निम्न व्यवस्थायें की गईं—(अ) कम्पनी के प्रविवरण में प्रबन्ध अभिकर्त्ता के साथ किए गए समझौते की शर्तों का दिखना अनिवार्य किया गया, प्रबन्ध अभिकर्त्ता के साझेदारों के नाम तथा उस हित की प्रकृति, जो कम्पनी के सचालकों को मैनेजिंग एजेन्सी में है, साफ-साफ दिखाना आवश्यक कर दिया गया और (आ) प्रबन्ध अभिकर्त्ता के लिए समुचित लेखों का रखना तथा विस्तृत चिट्ठों एवं लाभ हानि खातों का प्रकाशन आवश्यक कर दिया गया। इनके अतिरिक्त और भी अनेक सन्शोधन किए गए, किन्तु फिर भी स्थिति में कोई सन्तोषजनक सुधार नहीं हुआ। प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं ने शोषण का मार्ग निकाल लिया, अतः विवश होकर सरकार को सन् १९५१ में एक ऑर्डिनेन्स जारी करना पड़ा। इस आर्डिनेन्स के द्वारा भारतीय कम्पनी अधिनियम १९१३ की धारा ८७ में सन्शोधन किया गया और यह व्यवस्था की गई कि प्रबन्ध अभिकर्त्ता द्वारा अपने अधिकारों को सौंपना उस समय तक वैध न होगा, जब तक कि कम्पनी तथा केन्द्रीय सरकार उसे स्वीकार न कर लें। सन् १९४९ से बैंकिंग कम्पनियों के लिए प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की नियुक्त करना अवैध घोषित कर दिया गया।

जनतन्त्रात्मक पद्धति से उद्योगों के प्रबन्ध एवं संचालन के हेतु भारत सरकार ने कम्पनी अधिनियम में सुधार करने के लिए, एक समिति सन् १९५२ में नियुक्त की, जिसकी सिफारिशों पर नया कम्पनी अधिनियम बनाया गया है, जो १ अप्रैल १९५६ से लागू भी हो गया है।

वर्तमान स्थिति—

नए कम्पनी अधिनियम १९५६ में प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के सम्बन्ध में निम्न आदेश है,—

प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की नियुक्ति—

केन्द्रीय सरकार चाहे तो सरकारी गजट में सूचना निकाल कर यह घोषणा कर सकती है कि अमुक तिथि से अमुक वर्ग के उद्योग या व्यापार में पूर्णतः या अंशतः संलग्न कम्पनियों के मैनेजिंग एजेण्ट न हो सकेंगे। यदि ऐसी किसी कम्पनी का उस निर्दिष्ट तिथि को कोई मैनेजिङ्ग एजेण्ट है तो उसका कार्य काल १५ अगस्त सन् १९६० तक अवश्य ही समाप्त हो जायगा और फिर वह कम्पनी उसको या किसी अन्य व्यक्ति को एजेण्ट नहीं रख सकेगी। यदि ऐसी किसी कम्पनी का पहले से ही मैनेजिंग एजेण्ट नहीं है तो चाहे उसका निर्दिष्ट तिथि के पहले समामेलन हुआ हो या बाद में, वह कोई मैनेजिंग एजेण्ट नियुक्त नहीं कर सकती।

कोई भी कम्पनी, जो किसी दूसरी कम्पनी की मैनेजिंग एजेण्ट है, इस अधिनियम का प्रचलन होने के बाद अपने लिये मैनेजिंग एजेण्ट नहीं रख सकती और न वह खुद ही किसी अन्य कम्पनी की मैनेजिंग एजेण्ट हो सकती है। यदि इन आदेशों के विरुद्ध मैनेजिंग एजेण्ट की नियुक्ति की जाय, तो वह व्यर्थ होगी। इस अधिनियम का प्रचलन होने पर यदि कोई कम्पनी, जिसका अपना मैनेजिंग एजेण्ट है, किसी अन्य कम्पनी के लिये मैनेजिंग एजेण्ट का कार्य कर रही है, तो पहली कम्पनी का मैनेजिंग एजेण्ट के रूप में कार्य-काल (यदि वह पहले ही समाप्त न हो) १५ अगस्त सन् १९६० तक अवश्य समाप्त हो जायगा।

अन्य कम्पनियों के सम्बन्ध में, जिनमें उपरोक्त धारायें लागू नहीं होतीं, मैनेजिंग एजेण्ट केवल तभी नियुक्त या पुनर्नियुक्त किया जा सकता है, जबकि कम्पनी साधारण सभा में प्रस्ताव पास करे और केन्द्रीय सरकार ऐसी नियुक्ति या पुनर्नियुक्ति के लिये सहमति प्रदान कर दे। केन्द्रीय सरकार तभी अपनी सहमति प्रदान करेगी, जबकि वह निम्न बातों से संतुष्ट हो जाय —

(१) कि कम्पनी को मैनेजिंग एजेण्ट रखने की आज्ञा देना सार्वजनिक हितों के विरुद्ध न होगा।

(२) कि प्रस्तावित मैनेजिंग एजेण्ट एक उपयुक्त व्यक्ति है और मैनेजिंग एजेन्सी की शर्तें भी उचित और न्यायपूर्ण हैं।

(३) कि प्रस्तावित मैनेजिंग एजेण्ट उन शर्तों को पूरा करता है, जो केन्द्रीय सरकार आवश्यक समझती है।

मैनेजिंग एजेन्सी का कार्य काल—

इस अधिनियम का आरम्भ होने के पश्चात् कोई कम्पनी (यदि वह पहली बार अपना मैनेजिंग एजेण्ट नियुक्त कर रही है) १५ वर्ष से अधिक के लिये नियुक्ति न कर सकेगी। अन्य किसी दशा में मैनेजिंग एजेण्ट को एक समय पर १० वर्ष से अधिक के लिये नियुक्त नहीं किया जा सकता। नई अवधि के लिये पुनर्नियुक्ति तभी की जा सकती है, जब चालू कार्य काल २ वर्ष से कम रह गया हो। हाँ, यदि केन्द्रीय सरकार कम्पनी के हित में आवश्यक समझे तो इससे पहले भी वह पुनर्नियुक्ति की आज्ञा दे सकती है। यदि इन आदेशों का पालन नहीं किया जाता, तो सम्पूर्ण अवधि के लिये ही वह नियुक्ति या पुनर्नियुक्ति अवैध होगी।

मैनेजिंग एजेन्सी के ठहराव में कोई परिवर्तन करना हो तो उसके लिये साधारण सभा में कम्पनी के प्रस्ताव की आवश्यकता होगी। ऐसा प्रस्ताव पास करने के पहले केन्द्रीय सरकार की पूर्व आज्ञा आवश्यक है।

विद्यमान मैनेजिंग एजेन्सीज के बारे में कम्पनी अधिनियम के निम्न आदेश हैं—

(१) इस अधिनियम का प्रचलन होने पर यदि किसी कम्पनी के कोई मैनेजिंग एजेन्ट हैं तो उनका कार्य काल (यदि वह पहले ही समाप्त न हो जाय) १५ अगस्त सन् १९६० तक समाप्त हो जायगा। हाँ, इस अधिनियम के ऊपर बताये गये नियमों के अनुसार उनको नई अवधि के लिए पुनर्नियुक्त किया जा सकता है।

(२) मैनेजिंग एजेन्ट के कार्य-काल सम्बन्धी आदेशों को छोड़कर इस अधिनियम के अन्य सभी आदेश उनको तात्कालिक रूप से लागू होंगे।

मैनेजिंग एजेन्सीज की संख्या पर प्रतिबन्ध—

१५ अगस्त १९६० के पश्चात् कोई व्यक्ति एक समय में १० से अधिक कम्पनियों का मैनेजिंग एजेन्ट नहीं रह सकता। यदि कोई व्यक्ति इस तिथि के पहले उक्त आदेश की पूर्ति नहीं करता तो केन्द्रीय सरकार उसको केवल उन १० कम्पनियों का मैनेजिंग एजेन्ट रहने दे सकती है, जिन्हें वह (केन्द्रीय सरकार) निर्धारित करे।

प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली—

प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली भारत की अपनी अनोखी विशेषता रही है। ये लोग निम्न ढंगों से कम्पनी को आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं—(अ) वे स्वयं कम्पनी के अंशों व ऋण पत्रों को खरीद लेते हैं तथा अपने मित्रों एवं नातेदारों को भी खरीदवा देते हैं। (ब) जिस समय बैंक से ऋण लेने की वार्ता चलती है, तो ये कम्पनी द्वारा मांगे हुए ऋण के लिए प्रतिभूति प्रदान करते हैं। (स) इन्हीं की ख्याति के बल पर कम्पनी अपनी स्थायी पूँजी का बहुत बड़ा भाग जनता से निक्षेप के रूप में प्राप्त करती है। (द) संकटावस्था में जबकि अन्य ढंगों से कम्पनी को सहायता मिलना सम्भव नहीं होता, इनका आगे आना प्रशंसनीय है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनमें कम्पनी टूटने से केवल इस कारण बच गई कि प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं ने समय पर आर्थिक सहायता

प्रदान की तथा उनके पुनर्संगठन में मदद की। (य) नई कम्पनी भी जनता को अपने अंश व ऋण पत्र खरीदने के लिए प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के नाम के बल पर ही आकर्षित कर पाती हैं। (ह) यही नहीं, ये कम्पनियों के अंशों व ऋण पत्रों का अभिगोपन भी करते हैं।

इतना होते हुए भी इस प्रणाली में अनेक दोष हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रणाली की उपयोगिता का काल समाप्त हो चुका है। इस प्रणाली ने उद्योग तथा अधिकोषण को एक दूसरे से पृथक कर दिया है और यह जनता की कुल प्राप्त बचत तथा देश में उपलब्ध औद्योगिक तथा संगठन योग्यता के बीच समन्वय स्थापित करने में असफल रही है। बैंक तथा इस प्रणाली का एक साथ चालू रहने का परिणाम यह हुआ है कि औद्योगिक प्रगति ढीली पड़ गई है। प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपने उद्योग का पूँजी-मूल्य जान बूझकर दबा देते हैं, जिससे कि बाद को वे उसे कम मूल्य में खरीद सकें। वे अपने द्वारा दिए हुए ऋणों को ऋण-पत्रों में बदल देते हैं, जिससे कि प्राथमिकता प्राप्त कर सकें तथा साधारण अंशधारियों की अपेक्षा अधिक लाभपूर्ण स्थिति प्राप्त कर सकें। इसके अतिरिक्त वे सट्टेबाजी करके उद्योग को संकट में डाल देते हैं, ऊँचा पारिश्रमिक लेते हैं एवं विविध रीतियों से अंशधारियों तथा जनसाधारण का शोषण करते हैं।

सौभाग्य का विषय है कि इन दोषों के निवारण के हेतु भारतीय कम्पनी अधिनियम सन् १९५६ में पूर्ण व्यवस्था कर दी गई है। अब वे पूर्णत अधिनियम तथा संचालकों के नियन्त्रण में रहेंगे। उनका कार्यकाल भी १५ वर्ष से अधिक न होगा। १५ अगस्त सन् १९६० के बाद कोई व्यक्ति एक समय में १० से अधिक कम्पनियों का प्रबन्ध अभिकर्त्ता नहीं रह सकता। कोई कम्पनी अपने प्रबन्ध अभिकर्त्ता को नए अधिनियम का प्रचलन होने पर या इसके बाद आरम्भ होने वाले किसी आर्थिक वर्ष के सम्बन्ध में प्रबन्ध अभिकर्त्ता की हैसियत से या किसी अन्य रूप में उस वर्ष के कम्पनी के शुद्ध लाभ पर १०% से अधिक राशि न दे सकेगी। एजेन्ट का न्यूनतम पारिश्रमिक ५०,०००) से अधिक न होगा।

मैनेजिंग एजेन्ट का पद से अलग होना—

निम्नलिखित दशाओं में मैनेजिंग एजेन्ट का पद रिक्त समझा जायगा—

(१) यदि मैनेजिंग एजेन्ट कोई व्यक्ति है तो उसके दिवालिया होने पर या इसके लिए प्रार्थना पत्र देने पर।

(२) यदि मैनेजिंग एजेन्ट कोई फर्म है तो उसके किसी भी कारण से भंग होने पर।

(३) यदि मैनेजिंग एजेन्ट कोई समामेलित संस्था है तो उसके समापन की कार्यवाही आरम्भ होने पर।

(४) मैनेजिंग एजेन्ट द्वारा प्रबन्धित कम्पनी के समापन की कार्यवाही आरम्भ होने पर।

यदि कोई मैनेजिंग एजेन्ट (अथवा जब मैनेजिंग एजेन्ट कोई फर्म है तो उसकी

फर्म का कोई साझेदार अथवा जब मैनेजिंग एजेन्ट एक समामेलित संस्था है तो उसका कोई संचालक या प्रतिनिधित्व का अधिकार रखने वाला कोई अन्य अधिकारी) भारत में किसी न्यायालय द्वारा इस अधिनियम के चलन के बाद किसी अपराध के लिए दोषी पाया जाता है और कम से कम ६ महीने की सजा पाता है, तो यह समझा जायगा कि उसने कम्पनी का मैनेजिंग एजेन्सी पद खाली कर दिया है।

किसी कम्पनी की साधारण सभा एक साधारण प्रस्ताव द्वारा अपने मैनेजिंग एजेन्ट को निम्नलिखित के लिये पद से हटा सकती है —

(१) अपने या अपनी किसी सहायक अथवा सूत्रधारी कम्पनी के कार्यों से सम्बन्धित किसी कपट या प्रन्यास भंग के लिए, चाहे वह इस अधिनियम के पहले हुआ हो या बाद में।

(२) किसी अन्य समामेलित संस्था के कार्यों से सम्बन्धित किसी कपट या प्रन्यास भंग के लिये (चाहे वह इस अधिनियम के पहले हुआ है या बाद में) जो किसी न्यायालय (भारतीय या विदेशी) में प्रमाणित हो गया है।

साधारण सभा में विशेष प्रस्ताव पास करके एक कम्पनी अपने मैनेजिंग एजेन्ट को अपनी या अपनी सहायक कम्पनी के कार्यों में उसकी किसी बड़ी लापरवाही के लिए हटा सकती है।

मैनेजिंग एजेन्ट द्वारा पद का हस्तान्तरण—

कोई मैनेजिंग एजेन्ट अपने पद का तभी हस्तान्तरण कर सकता है, जबकि कम्पनी की साधारण सभा और केन्द्रीय सरकार दोनों ही की अनुमति प्राप्त हो जाये।

मैनेजिंग एजेन्ट का पद पैतृक नहीं है—

इस अधिनियम का प्रचलन होने के बाद किसी कम्पनी द्वारा अपने मैनेजिंग एजेन्ट से किया गया कोई ठहराव, जिसमे पद को विरासत द्वारा हस्तान्तरण करने की बात हो, व्यर्थ होगा। यदि अधिनियम का प्रचलन होने पर कोई व्यक्ति किसी कम्पनी के मैनेजिंग एजेन्ट पद पर आसीन है और मैनेजिंग एजेन्सी ठहराव पद के विरासत द्वारा हस्तान्तरित होने का आयोजन करता हो तो इस व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् कोई अन्य व्यक्ति विरासत से पद तभी ग्रहण कर सकता है, जब इसके लिये केन्द्रीय सरकार आज्ञा दे और केन्द्रीय सरकार यह आज्ञा तभी देगी जब उसकी सम्मति में वह व्यक्ति कम्पनी के मैनेजिंग एजेन्ट का पद सम्भालने के उपयुक्त है। यह बातें एक प्राइवेट कम्पनी को, जो किसी पब्लिक कम्पनी की सहायक नहीं है, लागू नहीं होंगी।

मैनेजिंग एजेन्ट का पारिश्रमिक—

कोई कम्पनी अपने मैनेजिंग एजेन्ट को इस अधिनियम का प्रचलन होने पर या इसके बाद आरम्भ होने वाले किसी आर्थिक वर्ष के सम्बन्ध में मैनेजिंग एजेन्ट की हैसियत से या किसी अन्य रूप में उस वर्ष के कम्पनी के शुद्ध लाभ पर १०% से अधिक रकम नहीं दे सकती। इस सीमा से अधिक पुरस्कार तभी दिया जा सकता है,

जब कम्पनी विशेष प्रस्ताव द्वारा उसे स्वीकृति प्रदान करे और केन्द्रीय सरकार सार्वजनिक हित की दृष्टि से इसके लिये अनुमति दे दे। मैनेजिंग एजेन्ट को उसका परिश्रमिक तभी दिया जावेगा, जब सम्बन्धित वर्ष के खातों का अंकेक्षण हो जाय और कम्पनी की साधारण सभा में रख दिये जायें। हाँ, न्यूनतम् पारिश्रमिक* (यदि कोई तय हो) मैनेजिंग एजेन्ट को ऐसी उचित किश्तों में चुकाया जा सकता है, जिसकी अन्तर्नियम आज्ञा दें या जैसा कि ठहराव में तय हुआ हो। यह उल्लेखनीय है कि मैनेजिंग एजेन्ट को अब किसी कार्यालय द्वारा भत्ता नहीं दिया जावेगा, परन्तु कम्पनी के लिये उसने जो खर्चे किये हैं और जिनके लिये कम्पनी ने साधारण सभा में अथवा संचालक सभा ने स्वीकृत प्रदान कर दी है, उनके लिये भुगतान किया जा सकता है।

मैनेजिंग एजेन्ट की विक्रेता प्रतिनिधि के रूप में नियुक्ति—

मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली का एक दोष यह भी रहा है कि मैनेजिंग एजेन्ट अपनी कम्पनी के लिए माल के क्रय या विक्रय के एजेन्ट बन जाया करते थे और इन पर कमीशन वसूल करते थे। नये अधिनियम ने अब इस दशा में प्रतिबन्ध लगा दिये हैं। किसी मैनेजिंग एजेन्ट (और उसके किसी सहयोगी) को कम्पनी से कोई कमीशन या अन्य पुरस्कार प्रबन्धित कम्पनी द्वारा उत्पन्न माल की बिक्री करने के सम्बन्ध में पाने का अधिकार नहीं होगा। भारत के बाहर किसी स्थान से की गई बिक्री के सम्बन्ध में मैनेजिंग एजेंट या उसके सहयोगी को निम्नलिखित शर्तों के आधीन बिक्री प्रतिनिधि नियुक्त किया जा सकता है—(१) उनका ऐसे स्थान पर निजी व्यापार के लिये कोई कार्यालय हो। (२) उनका बिक्री-कमीशन इस सम्बन्ध में, कम्पनी द्वारा पास किये गये विशेष प्रस्ताव के अनुसार हो। यह नियुक्ति पाँच वर्ष से अधिक के लिए नहीं की जा सकती। हाँ, बाद में उसका नवकरण किया जा सकता है। किसी मैनेजिंग एजेंट या उसके किसी सहयोगी को कम्पनी से उसकी ओर से भारत में खरीदे गये माल के सम्बन्ध में कोई कमीशन प्राप्त करने का अधिकार नहीं होगा। हाँ, कार्यालय भत्ते के बदले में मिलने वाले खर्च तो उनको मिलेंगे ही, किंतु भारत के बाहर किसी स्थान से मैनेजिंग एजेंट या उसके सहयोगी द्वारा कम्पनी की ओर से खरीदे गये माल के सम्बन्ध में, कम्पनी की इच्छा पर मैनेजिंग एजेंट या सहयोगी को या तो उसके कार्यालय का खरीद सम्बन्धी खर्च या कमीशन दिया जा सकता है। हाँ, शर्त यह है कि उक्त कार्यालय मैनेजिंग एजेंट के व्यक्तिगत व्यापार के लिये होना चाहिये। नियुक्ति का यह विशेष प्रस्ताव तीन वर्ष से अधिक के लिये न होगा। बाद में उसका नवकरण कराया जा सकता है।

एक कम्पनी विशेष प्रस्ताव द्वारा अपने प्रबन्ध अभिकर्त्ता या उसके सहयोगी के साथ किसी अचल या चल जायदाद के खरीदने, बेचने या सप्लाई करने अथवा मैनेजिंग एजेन्सी के अतिरिक्त किसी अन्य सेवा की सप्लाई के लिए अथवा कम्पनी द्वारा

---

* एजेन्ट का पारिश्रमिक आदि मिला कर प्रबन्ध पर ११% से अधिक खर्च न किया जा सकेगा। एजेन्ट का न्यूनतम् पारिश्रमिक ५० हजार रुपये से अधिक न होगा।

निर्गमित या बेचे गये अंशों या ऋण पत्रों के अभिगोपन के लिए किए जाने वाले अनुबन्ध की अनुमति प्रदान कर सकती है। यह आवश्यक है कि किसी कम्पनी द्वारा माल की बिक्री या म्फ़ाई की गई सेवा का भुगतान कम्पनी को प्रबन्ध अभिकर्त्ता १ महीने के अन्दर कर दे।

पद की हानि के लिए क्षति पूर्ति—

निम्न लिखित दशाओं में पद की हानि के लिए कोई कम्पनी अपने मैनेजिंग एजेन्ट को हर्जाना नहीं देगी —

(१) जबकि प्रबन्ध अभिकर्त्ता कम्पनी के पुनर्संङ्गठन या किसी अन्य समामेलित संस्था के साथ संयुक्तीकरण के लिए अपने पद से त्याग पत्र देता है और फिर वही पुनर्संङ्गठित कम्पनी का या संयुक्तीकरण के फलस्वरूप बनी, नई समामेलित संस्था का प्रबन्ध अभिकर्त्ता, सैक्रेटरी एवं कोषाध्यक्ष मैनेजर या अन्य अधिकारी नियुक्त हो जाय।

(२) जब प्रबन्ध अभिकर्त्ता कम्पनी के उक्त पुनर्संङ्गठन या संयुक्तीकरण के अतिरिक्त किसी अन्य कारण से त्याग पत्र दे।

(३) जब प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपने पद को इस कारण छोड़ने के लिए विवश होता है कि केन्द्रीय सरकार ने इस प्रकार की कम्पनियों में मैनेजिंग एजेन्ट रखने का निषेध कर दिया है अथवा इस अधिनियम के आदेशानुसार उसका कार्य काल १५ अगस्त सन् १९६० तक अवश्य समाप्त हो जाता है अथवा १० कम्पनियों से अधिक मैनेजिंग एजेन्सी न रखने के नियम का पालन करना पड़ा है।

(४) जब प्रबन्ध अभिकर्त्ता का पद उसके दिवालिया होने (यदि वह एक व्यक्ति है) या फर्म के भंग होने (यदि वह एक फर्म है) अथवा समापन की कार्यवाही आरम्भ होने (यदि वह एक सम मेलित संस्था है) के कारण या प्रबंध अभिकर्त्ता को किसी अपराध का दोष पाये जाने पर उसका पद खाली मान लिया जाता है।

(५) जबकि प्रबंध अभिकर्त्ता का पद इस कारण खाली समझ लिया जाता है कि उसके द्वारा प्रबंधित कम्पनी के समापन की कार्यवाही आरम्भ हो गई है। हाँ, शर्त यह है कि कम्पनी का समापन प्रबंध अभिकर्त्ता की लापरवाही या त्रुटि के कारण हो।

(६) जबकि प्रबंध अभिकर्त्ता को उसके पद से रिसीवर की नियुक्ति हो जाने से मुअत्तिल मान लिया गया है।

(७) जबकि प्रबन्ध अभिकर्त्ता को कपट या न्यास भंग के लिए अथवा अत्यधिक लापरवाही एवं कुप्रबन्ध के लिए विशेष प्रस्ताव द्वारा पद से हटा दिया गया हो।

(८) जबकि प्रबन्ध अभिकर्त्ता ने स्वयं अपने पद की समाप्ति के लिए प्रेरणा दी है या समाप्ति के लिए प्रयत्न किया है।

प्रबन्ध अभिकर्त्ता के अधिकारों पर प्रतिबन्ध—

कम्पनी का प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपने अधिकारों को सचालक सभा की देख-रेख, नियत्रण एव निर्देशन के आधीन और कम्पनी के पार्षद सीमा नियम व अतर्नियमो तथा ६ वीं अनुसूची में दिये गए प्रतिबन्धों के आधीन प्रयोग करेगा। कोई पब्लिक कम्पनी और किसी पब्लिक कम्पनी की कोई सहायक प्राइवेट कम्पनी अपने प्रबन्ध अभिकर्त्ता या उसके सहयोगी को अथवा किसी समामेलित सस्था को, जिसकी सचालक सभा, प्रबध सचालक, प्रबध अभिकर्त्ता, सैक्रेटरी एव कोषाध्यक्ष अथवा प्रबध अभिकर्त्ता इस प्रबध अभिकर्त्ता या सहयोगी के निर्देशों पर चलते हैं, भले ही समामेलित सस्था उस कम्पनी की सहयोगी न हो, न तो कोई ऋण देगी और न किसी अन्य व्यक्ति द्वारा दिये गये ऋण के लिए प्रतिभूति या जमानत ही देगी। साथ ही वह प्रबध अभिकर्त्ता या सहयोगी या ऐसी समामेलित सस्था द्वारा किसी अन्य व्यक्ति को दिये गये ऋण की प्रतिभूति या जमानत भी नहीं देगी। हाँ, कम्पनी अपने व्यापार की सुविधा के लिये प्रबन्ध अभिकर्त्ता को साख प्रदान कर सकती है, जिसकी सीमा किसी भी दशा में २० हजार रुपए से अधिक नहीं होगी और जिसके लिए सचालकों की पूर्व सहमति आवश्यक होगी। कोई भी कम्पनी किसी समामेलित सस्था को, जो उसी प्रबन्ध के अन्तर्गत, जिसमें कि वह कम्पनी स्वय है, न तो कोई ऋण देगी और न किसी अन्य व्यक्ति द्वारा दिये गये ऋण के लिए प्रतिभूति या जमानत ही देगी, जब तक कि इसके लिए विशेष प्रस्ताव द्वारा पूर्व अनुमति न हो। कोई कम्पनी एक ही ग्रुप के अन्तर्गत किसी समामेलित सस्था के अश या ऋण पत्रों को भी नहीं खरीद सकती।

कोई प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपने लाभार्थ ऐसे किसी व्यापार में सलग्न नहीं हो सकता, जिसकी प्रकृति उसकी कम्पनी के (जिसका वह प्रबन्ध अभिकर्त्ता है) अथवा ऐसी कम्पनी की किसी सहायक कम्पनी के व्यापार के समान है और उससे प्रतिस्पर्धा करने वाला है। यदि वह ऐसा करता है तो इससे अर्जित समस्त लाभ वह उस कम्पनी के लिए ट्रस्ट में रखेगा।

यदि कम्पनी के अन्तर्नियम आज्ञा दें, तो प्रबध अभिकर्त्ता अधिक से अधिक दो सचालक (यदि सचालकों की कुल सख्या ५ से अधिक है) नियुक्त कर सकता है। यदि सचालकों की कुल सख्या ५ से कम है तो वह केवल एक ही सचालक नियुक्ति कर सकेगा। अपने नियुक्ति किये सचालक को प्रबन्ध अभिकर्त्ता चाहे जब हटा सकता है या उसका पद खाली होने पर किसी अन्य व्यक्ति का नियुक्त कर सकता है। यदि अन्तर्नियमों में या कम्पनी के साथ मैनेजिंग एजेन्ट के किसी ठहराव में कोई ऐसा नियम है, जो उक्त सीमा से अधिक सचालकों के नियुक्त करने का अधिकार देता हो तो वह अधिनियम के चलन में आते ही अधिक सख्या के सम्बन्ध में व्यर्थ हो जायगा। यदि अधिनियम का चलन होने के समय उक्त सीमा से अधिक सचालक किसी प्रबध अभि-

कर्ता ने नियुक्त कर रखे हैं तो उसे यह निर्णय करना होगा कि कौनसे दो या एक संचालक बने रहेंगे। यदि एक महीने के अन्दर यह निर्णय नहीं करता तो सब संचालक अपने पद से अलग मान लिए जायेंगे।

उपसंहार—

कम्पनी अधिनियम सन् १९५६ के एकमात्र अवलोकन से यह स्पष्ट है कि प्रबंध अभिकर्त्ता प्रणाली की सफलता की सूची इसकी असफलताओं से अधिक लम्बी है। यही कारण है कि नए अधिनियम के अन्तर्गत इसकी समाप्ति नहीं की गई, वरन् दोषों पर कठोर नियंत्रण रखने के उद्देश्य से यत्र-तत्र आवश्यक संशोधन कर दिये गये। हमारी नई औद्योगिक नीति के अनुसार देश के आर्थिक विधान में निजी उद्योग को भी पर्याप्त स्थान मिला है और हमारी सरकार को प्राइवेट सेक्टर से बड़ी-बड़ी आशायें भी हैं, अतः प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं को सयुक्तीकरण तथा वैज्ञानिक प्रबन्ध के आंतरिक सुधार करने चाहिये एवं राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए अधिक उत्तरदायित्व से *काम करना चाहिए। उन्हें औद्योगिक विकास के नये तथा लाभदायक सूत्रों की जाँच* करनी चाहिए और एक ऐसी आयोग्य प्रतियोगिता उत्पन्न करनी चाहिए, जिससे कि उनमें से अयोग्य बलहीन तथा प्राचीन विचारों वाले एजेन्ट समाप्त हो जायँ। तभी वे सरकार की आशा को पूर्ण कर सकते हैं।



[७]

उद्योगों का राष्ट्रीयकरण

रूप रेखा—

१. *प्रस्तावना*—स्वतन्त्र व्यापार युग। स्वतन्त्र व्यापार नीति मे परिवर्तन एव राजकीय हस्तक्षेप की आवश्यकता। सन् १६२६-३० की विश्व व्यापी आर्थिक मन्दी तथा द्वितीय महासमर ने राजकीय हस्तक्षेप को अधिक महत्ता प्रदान की। वर्तमान युग हस्तक्षेप का युग ही है। राजकीय उपक्रम का बढता हुआ महत्व।

२ *राजकीय हस्तक्षेप के ढग*—(अ) राज्य द्वारा प्रत्यक्ष सुविधाये प्रदान करना। (आ) राज्य की ओर से अप्रत्यक्ष सहायता एव प्रोत्साहन प्रदान करके। (इ) आर्थिक क्रियाओं के नियमन द्वारा। (ई) राष्ट्रीयकरण द्वारा।

३ *राष्ट्रीयकरण के उद्देश्य*—प्रमुख उद्देश्य। राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध मे दो विचारधारायें। राज्य हस्तक्षेप के क्षेत्र।

४ *राष्ट्रीयकरण के गुण एव दोष—*

दोष—(अ) प्रजातन्त्रात्मक ढग से चुने हुए व्यक्ति औद्योगिक-सचालन के *अयोग्य होते हैं, (आ) राज्यो का निर्माण वहाँ के औद्योगिक आधारों पर नहीं* होता, अत प्रत्येक राज्य अपनी अलग खिचडी पकाता है, (इ) चुनाव द्वारा जीते हुए व्यक्ति प्राय अपना स्वार्थ पूरा करने का प्रयत्न करते हैं, (ई) राज्य हस्तक्षेप के कारण आर्थिक प्रवाह अपने प्राकृतिक रूप में नहीं बहता। (उ) राज्य-कर्मचारियों मे कर्त्तव्यपरायणता एव उत्सुकता की कमी होती है। समय भी अधिक लगता है।

गुण—(अ) सरकारी नौकरी के आकर्षण के कारण योग्य एव अनुभवी व्यक्तियों की सेवाओं का लाभ, (आ) पर्याप्त एव कुशल नियन्त्रण, (इ) एकाधिकार के दोषों से सरक्षण, (ई) राजकीय कोषों मे वृद्धि, (उ) राष्ट्रीय आय मे वृद्धि तथा धन का समान वितरण।

५ *भारत में उद्योग का राष्ट्रीयकरण*—गत कुछ वर्षों से राष्ट्रीयकरण का जोर। राष्ट्रीयकृत उद्योगों के उदाहरण।

६ *उपसंहार*—हमारी नई औद्योगिक नीति, सन् १६५६। राष्ट्रीयकरण के पूर्व *सावधानी।*

प्रस्तावना—

एक समय था जबकि विश्व के सभी औद्योगिक देशों में यह धारणा थी कि उद्योगों के विकास के लिए सरकार का हस्तक्षेप अवांछनीय है। उन दिनों यही नारा था कि किसी भी उद्योग के प्रबन्ध एवं अधिकार पर राज्य की ओर से किसी प्रकार का हस्तक्षेप न हो। जन साधारण की यही भावना थी कि "यदि राजा व्यापार करेगा तो देश नष्ट हो जायेगा। स्वतन्त्र व्यापार के युग (Era of Laissez Faire) में देश की सरकार का काम केवल देश की आन्तरिक एवं बाहरी सुरक्षा, न्याय तथा जन हित कार्य करने तक सीमित समझा जाता था। उद्योग एवं व्यापार उद्योगपति एवं व्यापारियों के ही हाथों में था। इस क्षेत्र में वे मनमानी कर सकते थे, क्योंकि उनके कार्य में हस्तक्षेप करने का किसी को भी अधिकार न था। कोई भी व्यक्ति भले ही वह योग्य हो अथवा न हो, कोई भी व्यवसाय कर सकता था तथा अपनी इच्छानुसार कहीं भी उद्योग स्थापित कर सकता था। उद्योग के आकार, पूँजी के कलेवर, निर्माण आदि के सम्बन्ध में उसे किसी की सम्मति लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। उस युग के लोगों की यह भावना थी कि राज्य सरकार का काम केवल सुरक्षा हेतु पुलिस की व्यवस्था करना है, अन्य मामलों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। राजा को बहुधा "युद्धनायक' (War Lord) कहते थे, क्योंकि युद्ध के समय ही उसका विशेष काम होता था। आर्थिक अथवा सांस्कृतिक मामलों में हस्तक्षेप करने का उसे अधिकार ही न था। १९ वीं शताब्दी के व्यक्तिवाद' (Individualism) ने राज्य के अधिकारों को न्यूनतम कर दिया और प्रायः एक ऐसा वातावरण पैदा हो गया, जिसमें राज्य के अधिकारों में वृद्धि करना, जनहित के विरुद्ध समझा जाने लगा।

स्वतन्त्र व्यापार नीति में परिवर्तन—

उपर्युक्त धारणा कई सदियों तक काम करती रही, किन्तु प्रजातन्त्रवाद की प्रगति के साथ-साथ कालान्तर में लोगों को यह स्वीकार करना पड़ा कि स्वतन्त्र व्यापार नीति केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से ही महत्व रखती है, क्रियात्मक क्षेत्र में इससे कोई लाभ नहीं। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि ऐसी नीति के अनुकरण से केवल किंचित लोगों को ही लाभ हो सकता है। जनहित की दृष्टि से नीति कल्याणकारी नहीं कही जा सकती, अतः सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक प्रगति के साथ साथ राजकीय यन्त्र भी सुचारू रूप से कार्य करने लगा, उसकी कार्यक्षमता बढ़ गई एवं कार्यक्षमता में बढ़ते हुए विश्वास के कारण जनता ने आर्थिक क्षेत्र में भी राज्य को अनेक अधिकार प्रदान किये। वर्तमान युग में राज्य के चार मुख्य कार्य हैं—(१) प्राकृतिक प्रसाधन का अधिकतम् उपयोग करना। (२) पूर्ण रोजगार की सुविधायें प्रदान करना। (३) सुदृढ़ आर्थिक स्थिति प्राप्त करना। (४) समस्त समाज का जीवन स्तर ऊँचा करना।

जनता का वर्तमान तथा भविष्य में कल्याण कैसे हो ? वे सुखी एवं समृद्धशाली कैसे बनें ? प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि क्योंकर हो इत्यादि समस्याओं का हल आज राज्य को करना पड़ता है, अतः देश की सरकार का कार्य एवं उसका उत्तरदायित्व

आज इतना बढ़ गया है जिसका कि कभी स्वप्न मे भी विचार न था। दूसरे, प्रतियोगिता के इस युग में केवल उन्हीं लोगों के रहने योग्य स्थान है, जो दूसरे प्रतियोगिता करके आगे बढ सकते है। प्रतियोगिता में बाजी मारने के लिये आज एक अकेला व्यक्ति अपने को निस्सहाय पाता है। उसे आज अन्य व्यक्तियो के सहयोग की आवश्यकता है। संगठन के बिना वह आगे नहीं बढ सकता। इस आधार पर कहते हैं कि 'संघे शक्ति कलियुगे'। जब मनुष्य ने समय की आवश्यकता को पहिचाना, तब ज्ञान हुआ कि इस उद्देश्य की पूर्ण सफलता, विशेषत आर्थिक क्षेत्र में, राज्य हस्तक्षेप के बिना नहीं हो सकती। आजकल विश्व के उन्नतिशील देशो म यह विश्व स हो चुका है कि किसी भी देश के आर्थिक विकास को उस देश के इने गिने उद्योगपतियो या पूँजीपतियों पर ही बिल्कुल नहीं छोड़ा जा सकता। देश के आर्थिक विकास के लिये किसी न किसी रूप मे राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक मान लिया गया है। यदि हम भिन्न भिन्न देशों के आर्थिक विकास के पिछले १२० वर्षो के इतिहास को देखें तो हमें पता चलेगा कि उन देशो के आर्थिक विकास में राज्य का एक बहुत बड़ा हाथ है। उदाहरणार्थ इंगलैंड में पिछली शताब्दी के मध्य तक सरकार का काफी हस्तक्षेप रहा है। इसके कुछ समय बाद, अर्थात् सन् १८८६ तक वहाँ की सरकार का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप उठ गया, क्योंकि उस समय में उस देश की आर्थिक स्थिति ऐसी हो गई थी कि उद्योग पतियों को स्वतन्त्रतापूर्वक उद्योगों को चलाने दिया जाये, किन्तु इस समय में भी किसी रूप में चाहे वह कारखाने म काम करने वाले मजदूरों के हितों की रक्षा के लिए बनाये जाने वाले अधिनियमों तक ही सीमित थे, हस्तक्षेप अवश्य रहा। सन् १८७६ के बाद जब स्थिति मे कुछ परिवर्तन हुआ, तब इंगलैंड की जनता ने हस्तक्षेप के पक्ष में आवाज उठाई। साथ ही राज्य भी अपने प्रभाव एवं बल से इस उद्देश्य मे सफलीभूत हो सकता है। जहाँ भी कोई कमजोरी दिखाई पड़ती है जनता चाहती है कि राज्य सरकार उस कमजोरी को दूर करे, जिससे जनता के हितों पर आघात न हो। दूसरा उदाहरण संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का है। स्वर्गीय श्री रूजवेल्ट ने अपनी कांग्रेस के समक्ष साठ मिलियन लोगों को रोजगार देने का प्रस्ताव रक्खा था। हेनरी वेल्स ने अपनी विख्यात पुस्तक "Sixty Million Jobs में राजकोष यन्त्र द्वारा आर्थिक क्षेत्र मे एकाधिकार का उन्मूलन करने एवं व्यापार को प्रोत्साहित करने की रूपरेखा प्रस्तुत की है। इससे स्पष्ट है कि वर्तमान प्रगतिशील राष्ट्र में राज्य सरकार का क्या उत्तरदायित्व है। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि वर्तमान राज्य का कार्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ढंग से आर्थिक प्रगति के लिये परिस्थितियाँ उत्पन्न करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए देश की उत्पादन क्षमता बढानी पड़ती है। सामान्य शिक्षा एवं औद्योगिक प्रशिक्षण की सुविधाएँ देनी पड़ती हैं। वैज्ञानिक, औद्योगिक एवं आर्थिक क्षेत्रों मे अनुसंधान करने पड़ते हैं। भूगर्भशास्त्र, प्राणिशास्त्र एवं रसायन शास्त्र आदि विद्याओं से सम्बन्धित छानबीन करनी पड़ती है, क्योंकि यह कार्य किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं किये जा सकते।

मुक्त-व्यापार युग में प्रतिबन्ध रहित प्रतियोगिता थी, किन्तु इसके दोषों ने (जैसे, शक्तिशाली व्यक्ति द्वारा निर्बल का शोषण, काम के घन्टे अधिक होना, स्त्री एवं बालक श्रमिकों का शोषण, आदि) राज्य को हस्तक्षेप के लिए विवश किया। श्रमिकों की काम करने की दशाएँ इतनी दयनीय थीं कि सामान्य जनता त्राहि-त्राहि करने लगी, परिणामस्वरूप लोक-रक्षा के लिए राज्य सरकार को आगे बढ़ना पड़ा। काम करने की दशाओं में सुधार करने के लिए कारखाना अधिनियम बनाये गये, जिनमें क्रमशः अनेक परिवर्तन किये गये, जिससे कि श्रमिक सुखी एवं कार्यक्षम बन सकें। इसके बाद सामाजिक सुरक्षा की दिशा में भी राज्य ने अपना कदम बढ़ाया, जिसके द्वारा "आवश्यकता", "बीमारी", "अज्ञानता", "फिजूल खर्ची" और "बेकारी" इन पाँच दानवों पर विजय प्राप्त करने के सुप्रयत्न किए गये। इङ्गलैंड में तो विलियम बेवरिज की योजना के अन्तर्गत मनुष्य के जन्म से मृत्यु तक उसकी सुरक्षा का भार सरकार ने स्वयं अपने कन्धों पर ले लिया है।

इस नैतिक दृष्टि के अतिरिक्त, आर्थिक दृष्टिकोण से भी 'मुक्त व्यापार नीति' की कड़ी आलोचना हुई और लोग इसे घृणा की दृष्टि से देखने लगे। स्वतंत्र व्यापार के युग में अधिकतम् लाभ कमाने की भावना से प्रकृति दत्त प्रसाधनों का दुरुपयोग किया गया। उदाहरणार्थ, कोयला, लोहा, तेल तथा लकड़ी जैसी अपार सम्पत्ति का बुरी तरह से शोषण किया गया। व्यक्तिगत उद्योगपतियों ने कभी भी इस सम्पत्ति के सदुपयोग की ओर ध्यान नहीं दिया।

यही नहीं पूँजीवाद का बोलबाला था। उद्योगपति जन हित की दृष्टि से नहीं, वरन् लाभ कमाने की दृष्टि से कार्य करते थे। उपभोक्ताओं की उन्हें लेशमात्र भी चिन्ता न थी। वे तो उन वस्तुओं का उत्पादन करते थे, जिससे उनका लाभ बढ़े। यही कारण है कि उस युग में अनिवार्य वस्तुओं का नहीं, वरन् विलासिता सम्बन्धी वस्तुओं का अधिक उत्पादन होता था। बनार्ड शा ने एक स्थान पर ठीक ही लिखा है कि "पूँजीपतियों के आत्मा नहीं होती, उनका ईश्वर स्वर्ण एवं अभिलाषा लाभ है।" अधिक से अधिक लाभ कमाने की भावना से प्रेरित होकर, उत्पादक गण वस्तुओं की किस्म गिराने एवं अशुद्ध पदार्थों की मिलावट करने में भी नहीं हिचकते हैं। ऐसी परिस्थितियों से विवश होकर बेचारे उपभोक्तागण त्राहि-त्राहि करने लगे और परिणामस्वरूप उनके हितों की रक्षा करने के लिये राज्य सरकार को अपने उत्तरदायित्व का क्षेत्र बढ़ाना पड़ा।

राज्य की अहस्तक्षेप नीति (Non-intervention Policy) से अर्थ तथा अधिकोषण के क्षेत्रों में भी अनेक दुर्बलतायें आ गई थीं। अत्यन्त अपर्याप्त शेषों (Insufficient Balances) एवं अस्वस्थ विनियोगों (Unsound Investments) के कारण अनेक बैंक तथा अन्य अर्थ संस्थाएँ फेल हो गई। पूँजी का केन्द्रीयकरण किंचित व्यक्तियों के हाथों में होने लगा। तेजी तथा मन्दी का आर्थिक चक्र तीव्रता से चलने लगा तथा इस चक्र से अनेक शिथिल इकाइयों के पैर लड़खड़ाने लगे और वे

नष्ट हो गईं, अतः उत्पादन के पूँजीवादी कलेवर को बदलने तथा इसके दोषों को दूर करने के लिये राजकीय हस्तक्षेप अनिवार्य हो गया।

राजकीय हस्तक्षेप के प्रारम्भिक चरण में शिक्षा तथा जन स्वास्थ्य राजकीय कार्य क्षेत्र के परे समझे जाते थे, किन्तु बाद में इनकी ओर भी राज्य को ध्यान देना पड़ा। विश्व की दो महान् घटनाओं ने—(१) सन् १९२९-३० की आर्थिक मन्दी तथा (२) द्वितीय महासमर—राजकीय हस्तक्षेप को और भी महत्ता प्रदान की। इन्हीं घटनाओं से विवश होकर विश्व में शान्ति स्थापित करने के उद्देश्य से राज्य सरकारों को आगे बढ़ना पड़ा एवं अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन बनाये गये, जैसे—अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय खाद्य एवं कृषि संगठन, आदि। राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय किसी भी दृष्टि से देखिये, आर्थिक क्षेत्र में राजकीय हस्तक्षेप तीव्र गति से बढ़ता जा रहा है और भविष्य में और भी बढ़ेगा।

वर्तमान युग हस्तक्षेप का युग है—

सच बात तो यह है कि वर्तमान युग ही 'हस्तक्षेप का युग' है। आजकल केवल आर्थिक क्षेत्र में ही नहीं, वरन् हमारे उठने-बैठने, खाने-पीने, चलने-फिरने, व्यवसाय निर्धारण करने आदि सभी बातों में राज्य का कुछ न कुछ हस्तक्षेप है। सुनने में यह बात बड़ी अटपटी प्रतीत होती है, किन्तु वास्तविक स्थिति ऐसी ही है। ज़रा सोचिए! हम स्वेच्छा से सड़क पर नहीं चल सकते, "बाँये को बचो" का नियम ध्यान में रखना पड़ता है। यदि सरकार ने मदिरापान वर्जित कर दिया है, तो अपनी इच्छा से शराब नहीं पी सकते। व्यवसाय खोलने के पूर्व भी सरकार की सम्मति लेनी पड़ती है एवं इसके बाद भी कारखाना अधिनियम अथवा कम्पनी अधिनियम के आदेशों का पालन करना पड़ता है। वर्तमान जगत् में राष्ट्रीयकरण के पक्ष में एक लहर सी आ गई है। लोगों का यह विश्वास होता जा रहा है कि देश के स्वस्थ आर्थिक विकास के लिए राजकीय हस्तक्षेप वांछनीय है।

यद्यपि पिछले दोनों महासमर में व्यक्तिगत उद्योग प्रणाली (Private Enterprise) को अत्यधिक महत्व दिया गया, किन्तु फिर भी न तो उत्पादन व्यय ही कम हुआ और न उत्पादन की मात्रा ही अधिक बढ़ी। उचित क्षेत्र, उचित अवसर एवं उचित लाभ होते हुए भी न तो देशी पूँजी का ही विनियोग बढ़ा और न विदेशी पूँजी के आयात को ही विशेष प्रोत्साहन मिला, अतः जनता की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए विभिन्न देशों की सरकारों को आगे आना पड़ा। आज प्रायः प्रत्येक देश में राजकीय उपक्रम का महत्व बढ़ता जा रहा है। वर्तमान आर्थिक नियोजन के युग में राजकीय उपक्रम (State Enterprise) की जितनी भी महिमा गाई जाय, कम ही होगी। अधिक उत्पादन एवं समुचित वितरण के लिए राजकीय हस्तक्षेप का होना आवश्यक है।

राजकीय हस्तक्षेप के ढंग—

किन्तु अब यह प्रश्न उठता है कि सिद्धान्ततः वे कौन से क्षेत्र हैं जिनमें राज्य

का हस्तक्षेप अत्यन्त आवश्यक है और न्याय सगत भी। इस समस्या का हल देने के पूर्व यह लिखना अनावश्यक न होगा कि किसी उद्योग या कार्य में राज्य का कितना हस्तक्षेप हो ? इस प्रश्न का उत्तर उस राज्य की आर्थिक स्थिति तथा वहाँ के वातावरण को देख कर ही दिया जा सकता है। उद्योगों में देश विशेष की आवश्यकतानुसार राज्य का हस्तक्षेप होना चाहिए। यह हस्तक्षेप चार प्रकार से किया जा सकता है:—

(१) राज्य द्वारा प्रत्यक्ष सुविधाओं के रूप में। (२) राज्य की ओर से अप्रत्यक्ष सहायता एवं प्रोत्साहन प्रदान कर के। (३) आर्थिक क्रियाओं के नियमन द्वारा। (४) उस क्रिया विशेष का राष्ट्रीयकरण करके।

जनता को राज्य द्वारा प्रत्यक्ष सहायता की आवश्यकता उस समय पड़ती है, जबकि वैयक्तिक उपक्रम दुर्लभ हों एवं विकास का कम अवसर हो। इस प्रकार की सहायता का प्रत्यक्ष उदाहरण हमारे सामने जापान का है, जहाँ कि औद्योगिक उन्नति का श्रेय वहाँ के राज्य द्वारा किये गये प्रयत्नों का है। राज्य द्वारा किसी उद्योग को दी जाने वाली प्रत्यक्ष सहायता के कई रूप हो सकते हैं, जैसे—सरक्षण, राजकीय अर्थ-सहायता, विनिमय सविदा, औद्योगिक शिक्षा, क्रय नीति का निर्धारण, इत्यादि। राज्य द्वारा हस्तक्षेप का दूसरा ढङ्ग अप्रत्यक्ष सुविधायें प्रदान करना है। यह हस्तक्षेप प्राय अधिनियम बनाकर किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के, चाहे वह उद्योगपति हो या उद्योग में काम करने वाला श्रमिक अथवा अन्य कोई, उसके कार्य एवं उत्तरदायित्व को अधिनियमों द्वारा सीमित कर दिया जाता है। यदि ऐसा न हो तो 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ होने लग जाय और समाज में जो व्यक्ति शक्तिशाली हैं वह दुर्बल व्यक्तियों को हड़पने का पूरा पूरा प्रयत्न करने लगें, अत दुर्बल व्यक्तियों की सहायता या रक्षा राज्य स्वय अधिनियमों द्वारा करता है। इसी प्रकार उपक्रम के भिन्न भिन्न क्रमों को अधिनियमों द्वारा नियमित करके भी राज्य, व्यापार एवं उद्योग की अप्रत्यक्ष सहायता करता है, इसलिए हम देखते हैं कि प्रत्येक देश में भागिता अधिनियम, प्रमण्डल अधिनियम, प्रयाम्न अधिनियम इत्यादि अधिनियम प्रचलित हैं। राज्य द्वारा हस्तक्षेप करने का तीसरा ढङ्ग आर्थिक क्रियाओं पर राज्य का नियन्त्रण होना है। इसके द्वारा राज्य देश मे होने वाले उत्पादन, पूँजी के विनियोग, आयात एवं निर्यात, विदेशी विनिमय, इत्यादि पर पूरा पूरा नियमन रखता है। इसी प्रकार वह उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों के हितार्थ कई अधिनियम, जैसे—निर्माणी अथवा कारखाना अधिनियम, भृति अधिनियम, श्रमिक सघ अधिनियम, व्यापारिक सघर्ष अधिनियम, बाल श्रमिक नियोजन अधिनियम तथा स्त्रियों को कारखानों की रात पालियों में काम करने से रोकने के सम्बन्ध में अधिनियम बनाता है। इन अधिनियमों के बनाने का एक मात्र उद्देश्य यही है कि देश का उत्पादन देश में रहने वाले श्रमिकों के स्वास्थ्य का ध्यान रखते हुए हों। औद्योगिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप का चौथा प्रकार उद्योगों का राष्ट्रीयकरण है। राष्ट्रीयकरण का यह अर्थ है कि उद्योगों पर पूर्णत राष्ट्र का अधिकार हो। यदि उद्योगों का स्वामित्व, प्रबन्ध एवं नियन्त्रण किसी

व्यक्ति या संस्था के हाथ में हो, तो दूसरे व्यक्ति अथवा संस्थाओं से प्रतियोगिता की सम्भावना हो सकती है, जो कि वाँछनीय नहीं कही जा सकती। विशेषकर जन हित कार्यों में तो प्रतियोगिता प्रणाली जन हितों के विरुद्ध ही सिद्ध हुई है। ऐसे कार्यों में हम रेल, पानी, गैस, डाक व तार तथा अन्य यातायात के साधनों का समावेश कर सकते हैं, इसलिए हम देखते हैं कि संसार के लगभग सारे देशों में ये कार्य उन देशों की सरकार के ही आधीन हैं। आधुनिक युग में तो स्थिति और भी बदलती जा रही है। न केवल उपर्युक्त कार्य ही राज्य के आधीन होना आवश्यक समझा जा रहा है, वरन् मूल उद्योगों को, जैसे—खनिज कार्य, अधिकोष, संचार, स्थूल रासायनिक उद्योग तथा लोहे व स्पात उद्योगों का भी राष्ट्रीयकरण देश के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक समझा जाने लगा।

वर्तमान युग में राष्ट्रीयकरण का बड़ा बोल-बाला है। व्यक्तिवाद अथवा स्वेच्छावाद के प्रति घृणा उत्पन्न होती जा रही है और प्रायः चारों ओर से यही पुकार सुनाई पड़ती है कि उत्पादन क्रियाओं का सरकार द्वारा नियन्त्रण हो। औद्योगिक क्रान्ति के आरम्भ में अर्थशास्त्री स्वेच्छावाद के ही पक्ष में थे। उसी नीति का बहुत समय तक प्रयोग किया गया। इसका परिणाम यह निकला कि विश्व में पूँजीवाद बढ़ गया एवं श्रम तथा पूँजी में संघर्ष होने लगे। इङ्गलैंड तथा अन्य पश्चिमी देशों के इतिहास से यह ज्ञात होता है कि व्यक्तिवाद की नीति से समाज को क्षति अवश्य पहुँची है, फलतः ऐसे कानून बने जिससे उत्पादन तथा वितरण सम्बन्धी कार्यों में सरकार को पर्याप्त अधिकार मिलने लगे। उद्योगों का राष्ट्रीयकरण भी उन अधिकारों का ही एक स्वरूप है। राष्ट्रीयकरण के अन्तर्गत उद्योगों का स्वामित्व एवं प्रबन्ध राज्य सरकारों के हाथों में सौंप दिया जाता है।

राष्ट्रीयकरण के उद्देश्य—

राष्ट्रीयकरण के कुछ प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हो सकते हैं :—

(१) मूल सेवायें प्रदान करना, जैसे—जल विद्युत, यातायात इत्यादि।

(२) व्यक्तिगत नियन्त्रण के स्थान पर जन हित की दृष्टि से राजकीय नियन्त्रण स्थापित करना।

(३) राजकीय आय में वृद्धि करना, जिससे कि बाद में जन-कल्याण की सेवायें प्रदान की जा सकें।

(४) एकाधिकार का उन्मूलन करके उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा करना।

(५) सम्पत्ति का समुचित वितरण करना।

(६) औद्योगीकरण को प्रोत्साहित करना।

(७) अन्य उद्योगों के लिए आधारभूत उद्योगों की स्थापना करना।

(८) पारस्परिक विषम प्रतिस्पर्धा के स्थान पर स्वस्थ प्रतिद्वन्दिता की स्थापना करना।

(९) अक्षम इकाइयों के स्थान पर सुदृढ़ इकाइयों की स्थापना करना।

(१०) आर्थिक प्रगति के लिये आगे बढ़ कर आदर्श संस्थाओं की स्थापना करना।

उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ हैं :—कुछ लोगों का कहना है कि देश में उद्योगों का शीघ्र ही राष्ट्रीयकरण होना चाहिए, जिससे पूँजीवाद का अन्त हो और वर्ग संघर्ष की समस्या समाप्त हो जाय। दूसरा मत यह है कि विश्व की सरकारें अभी उद्योगों का प्रबन्ध एवं संचालन करने के योग्य नहीं हुई हैं, इसलिए इसका प्रबन्ध व्यक्ति के अधिकार में ही रहना चाहिए। हमारा मत तो यह है कि केवल हस्तक्षेप के लिए ही राजकीय हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। हस्तक्षेप की कसौटी जन कल्याण होनी चाहिए।

किन्तु अब प्रश्न यह उठता है कि सिद्धान्ततः वे कौन-कौन से क्षेत्र हैं, जिनमें राज्य का हस्तक्षेप अत्यन्त आवश्यक है और न्याय संगत भी। इस समस्या को हल करने के लिए पिछले वर्षों में जितनी समितियाँ नियुक्त की गईं उन सबके विचार लगभग एक से थे। उन्हीं के आधार पर निम्न उद्योगों को सरकारी नियन्त्रण में रखा जा सकता है :—

(१) ऐसे उद्योग जिनकी कार्य प्रवृत्ति एकाधिकृत है, जैसे—रेल, डाक, तार, पानी तथा विद्युत सम्बन्धी उद्योग। इन उद्योगों को चलाने के लिए जन हित की दृष्टि से यह आवश्यक है कि एक ही प्रकार के उपक्रमों में किसी प्रकार की प्रतियोगिता हो। ऐसे जन हित कार्यों को वैयक्तिक उपक्रम पर छोड़ देने से जनता का हित होना असम्भव है।

(२) वे उद्योग जिनमें वैयक्तिक उपक्रम अधिक लाभ अथवा उसकी शीघ्र प्राप्ति की सम्भावना के अभाव में आकर्षित नहीं हो पाते, जैसे—भूमि सुधार, वृक्षारोपण, सड़कों का निर्माण, पुल निर्माण, नहरें खुदवाने इत्यादि कार्य।

(३) वे उद्योग जिन पर नियन्त्रण राजनैतिक दृष्टि से आवश्यक हैं, जैसे—देश की रक्षा के लिए आवश्यक युद्ध सामग्री का निर्माण, जो किसी भी वैयक्तिक उपक्रम पर नहीं छोड़ा जा सकता।

(४) वे उद्योग जिनमें कोई अकेला व्यक्ति अपने निज के हितों की रक्षा करने में असफल हो, जैसे—रसायन एवं औषधियाँ तैयार करना, खाद्यान्न में मिलावट करना, आदि।

(५) ऐसा उद्योग जो राष्ट्र द्वारा निर्धारित उत्पादन लक्ष्य को प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं, उनका राष्ट्रीयकरण करना भी वांछनीय है, जिससे कि पर्याप्त मात्रा में उत्पादन सम्भव हो सके।

(६) यदि जन-कल्याण की दृष्टि से अथवा योजना के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए किसी उद्योग विशेष का राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक समझा जाय, तो भी अनुचित न होगा। उदाहरण के लिए, भारत सरकार

द्वारा द्वितीय पंच-वर्षीय योजना की सफलता के हेतु जीवन बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण किया जाना।

राष्ट्रीयकरण के गुण एवं दोष

राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में—

राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में सबसे पहला कारण यह बताया जाता है कि आजकल संसार में प्रजातन्त्रात्मक ढंग से चुनाव हो कर जनता के चुने हुए व्यक्तियों द्वारा राज्य चलाया जाता है। बहुधा ऐसे व्यक्ति 'सर्व गुण सम्पन्न' नहीं होते। वे उद्योग सम्बन्धी कार्यों में इतने दक्ष नहीं होते कि उनका प्रबन्ध ठीक ढंग से कर सकें। वे लोग अपने राजनैतिक स्वार्थों को लेकर आगे आते हैं और उनके लिए निष्पक्ष हो कर कार्य करना कठिन होता है। दूसरी बात यह है कि उनका मन्त्रि मण्डल में रहना या न रहना जनता के ऊपर निर्भर रहता है। कभी-कभी वे राज्य के कार्य को ठीक रूप से समझ भी नहीं पाते कि अपना कार्य छोड़कर अलग हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में उनको किसी समस्या के सुलझाने के लिए आवश्यक समय नहीं मिलता। समय-समय पर मन्त्रि-मण्डल बदलते रहते हैं, जो किसी विशेष राजनैतिक दल का प्रतिनिधित्व करते हैं। मान लीजिए, आज कोई एक मन्त्रि मण्डल है, जिसने कोई नीति उद्योगों के सम्बन्ध में रक्खी। कुछ दिनों बाद किसी दूसरी राजनैतिक संस्था का प्रतिनिधित्व करने वाला मन्त्रि-मण्डल बना जो कि पिछले मन्त्रि-मण्डल के द्वारा चलाई गई नीति में विश्वास नहीं करता, अतः नया मन्त्रि मण्डल अपनी अलग नीति चलायेगा, जो किसी उद्योग के तथा राष्ट्र के हित के लिए अहितकर सिद्ध हो सकती है। उस सम्बन्ध मे हम इङ्गलैण्ड का उदाहरण ले सकते हैं। मज़दूर-दली सरकार उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में थी और इसने बहुत से उद्योगों का राष्ट्रीयकरण भी किया। बाद में चर्चिल का दल आया, उसने उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध आवाज उठाई। इस प्रकार कोई एक स्थिर नीति न होने से उद्योगों की उन्नति उचित रूप से होने में कठिनाइयाँ आती हैं।

प्रत्येक देश अपने-अपने क्षेत्रफल के अनुसार विभिन्न प्रान्तों में बँटा होता है। यदि प्रत्येक राज्य के आवश्यक उद्योगों का स्वामित्व, प्रबन्ध एवं नियन्त्रण उस राज्य की सरकार को सौंप दिया जाय तो यह सम्भव है कि उस देश के विभिन्न राज्यों की उद्योग-सम्बन्धी कार्य-प्रणाली भिन्न हो, क्योंकि राज्यों का निर्माण उस राज्य के व्यापारिक या औद्योगिक आधारों पर स्थिर नहीं है, अतः हो सकता है कि भिन्न-भिन्न राज्य अपनी-अपनी खिचड़ी अलग-अलग पकायें, जो राष्ट्र के हित में कदापि उचित नहीं। वास्तव में सम्पूर्ण राष्ट्र की एक नीति होना आवश्यक है।

तीसरी बात यह है कि चाहे किसी भी रूप से उद्योगों में राज्य का हस्तक्षेप हो, आखिर कार्य तो मनुष्यों द्वारा ही चलाया जायेगा, चाहे वे मनुष्य चुनाव जीत कर ही क्यों न आये हों? हो सकता है कि ऐसे चुने हुए व्यक्ति, जिनके हाथों में उद्योग का

प्रबन्ध सौंप दिया जावे, 'बहती गंगा में हाथ धोने' की चेष्टा करें, अर्थात् वे अपना स्वार्थ पूरा करने का प्रयास करें। यदि ऐसे व्यक्ति समाज में प्रभावपूर्ण रहें तो वे सारी नीति को ही अपने हाथ में लेने का प्रयत्न करेंगे और यदि वे इस कार्य में सफल भी हो गये तो सारे समाज को अपनी ही नीति पर चलावेंगे, चाहे उसमें राष्ट्र की हानि क्यों न होती हो। बहुत से ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जो समाज के कुछ इने-गिने प्रभावपूर्ण व्यक्तियों को खुश करने के लिए, ताकि वे उसकी हाँ में हाँ मिलाते रहें, उनके ही विचारों पर चलते हैं। उनका ध्यान उद्योग की उन्नति तथा अवनति पर नहीं होता। वे स्वतन्त्र रूप से इस प्रकार का कार्य नहीं कर सकते, जो उद्योग एवं राष्ट्र के लिए हितकर हों।

चौथी बात यह भी है कि राज्य-हस्तक्षेप के कारण आर्थिक प्रवाह अपने प्राकृतिक रूप में नहीं बहता। सन्नियमों एवं अधिनियमों द्वारा उसके बहाव को कृत्रिम मार्गों पर मोड़ दिया जाता है। कभी-कभी प्रतियोगिता कम करने के लिये राज्य की ओर से उद्योगों पर एकाधिकार कर लिया जाता है। इससे प्रतियोगिता नष्ट हो जाती है और जो लाभ प्रतियोगिता के होने से हो सकते हैं वे नहीं हो पाते। कहा जाता है कि जहाँ प्रतियोगिता नहीं वहाँ उन्नति भी कठिन है। इसमें यह भी सम्भव हो सकता है कि वस्तुओं के मूल्य बढ़ जायें, वस्तुओं के गुणों में कमी हो जावे, इत्यादि। इन बातों के होने पर उपभोक्ताओं को हानि उठानी पड़ती है। इसी तरह कभी-कभी वस्तुओं के कम से कम और अधिक से अधिक मूल्य भी विशेष सन्नियमों द्वारा बाँध दिये जाते हैं। परिणाम यह होता है कि वस्तुयें अपने स्वाभाविक मूल्यों को नहीं पा सकतीं, जोकि आर्थिक दृष्टि से हित कर होता है।

पाँचवा विरोध यह है कि उद्योगों का कार्य जितना शीघ्र और समतापूर्ण किसी प्राइवेट व्यक्ति के हाथों हो सकता है उतना राज्य अधिकारियों द्वारा नहीं किया जा सकता। प्राइवेट व्यक्तियों के कार्य में अपनी निजी उत्सुकता रहती है, किन्तु राज्य का अधिकारी कार्य को अपना समझ कर नहीं करता, अतः उसे जितनी उत्सुकता होनी चाहिये उतनी नहीं होती और कार्य धीरे-धीरे होते रहते हैं। कोई-कोई कार्य तो ऐसे हैं कि थोड़ा समय चूकने पर ही लाखों करोड़ों रुपयों का उनमें नुकसान हो जाता है, किन्तु सरकारी कार्यों में कई अधिकारी होते हैं और जब तक छोटे से लेकर बड़े अधिकारी तक की स्वीकृति नहीं हो जाती तब तक कोई कार्य नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, समय अधिक लगता है। कभी-कभी यदि कोई सरकारी कार्यालय किसी कार्य के करने के लिए अपनी स्वीकृति दे भी दे तो उसमें सम्बन्धित अन्य कार्यालय अपनी टाँग अड़ा देते हैं। परिणाम यह होता है कि काम में रुकावटें आ जाती हैं, इसीलिए कहा जाता है कि राष्ट्रीयकरण उन्हीं उद्योगों का होना चाहिए जिनमें कार्य की प्रकृति नैत्यक हो तथा जहाँ माल अथवा सेवा की पूर्ति प्रत्येक व्यक्ति विशेष की आवश्यकतानुसार ही की जा सकती हो। उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो जाने के बाद उनमें काम करने वाले अधिकारी तथा कर्मचारियों की नियुक्ति भी राज्य द्वारा होती है।

ऐसी नियुक्तियाँ कभी कभी पक्षपातपूर्ण हो सकती हैं। जिस व्यक्ति का चुनाव किया जाता है उसकी योग्यता को ध्यान में न रखते हुए राजनैतिक दृष्टिकोण सामने लेकर चुनाव किया जाता है। कभी-कभी तो श्रमिक वर्ग भी असन्तुष्ट होकर प्रभाव डालने का प्रयत्न करते हैं, अत उन्हें सन्तुष्ट करने के लिये आवश्यक कदम उठाये जाते हैं, चाहे उनका परिणाम उद्योग के लिये अहितकर ही क्यों न हो।

राष्ट्रीयकरण के पक्ष में विचार—

(१) कुछ लोगों का कहना है कि जब कोई उद्योग छोटी मात्रा पर चलाया जाता है तब ही उद्योगपति व्यक्तिगत उत्सुकता से कार्य कर सकता है अथवा प्रत्येक कार्य की स्वय देख भाल कर सकता है, किन्तु जब उद्योग बड़ी मात्रा का हो तो उद्योगपति के लिए यह असम्भव है कि वह उतनी ही उत्सुकता से काम कर सके। जिस तरह बड़े मिश्रित पूँजी वाले प्रमण्डलों मे उत्सुकता नहीं रही, उसी प्रकार जन-हित कार्यों मे भी इसका न होना स्वाभाविक ही है, अत इस दृष्टि से राष्ट्रीयकरण बुरा नही है। कभी कभी तो राज्य की सरकारी नौकरी से आकर्षित हो कर योग्य, निपुण एव अनुभवी व्यक्ति भी कम वेतन पर नियुक्त पाने का प्रयत्न करते हैं। वास्तव में ऐसे व्यक्तियों की सेवा से उद्योग का हित ही होगा।

(२) राज्य द्वारा उद्योगों का प्रबन्ध तथा नियन्त्रण का यह अर्थ लेना आवश्यक नहीं है कि उद्योगों के सारे कार्य राज्य के साधारण जन पद सेवा (Civil Services) के सिद्धान्तों के अनुसार ही चलें। इन उद्योगों को सुचारु तथा सुयोग्य ढङ्ग से चलाने के लिये योग्य, जानकार तथा अनुभवी व्यक्ति ही नियुक्त किये जावें, जिन्हें अधिकार हो कि वे जन हित ध्यान मे रखते हुए उन व्यापारिक सिद्धान्तों पर ही कार्य चलावें, जिस प्रकार प्राइवेट व्यक्तियों द्वारा उद्योग चलाये जाते हैं। उदाहरण के लिये, डाक विभाग को ही ले लें। उसका सर्वोच्च अधिकारी डाइरेक्टर जनरल होता है, जो किसी मिश्रित पूँजी वाले प्रमण्डल डाइरेक्टर की तुलना में कम नहीं होता। आवश्यकता केवल इस बात की है कि राजकीय उद्योगों को चलाने के लिए जो अधिकारी नियुक्त किये जाये वे उस उद्योग मे निपुण हों, उस पर पूरा पूरा नियन्त्रण कर सकते हों, उस उद्योग के लिए योग्य तथा अपने कार्य में दक्ष हों, राजनैतिक वातावरण से मुक्त हों तथा उनका एक मात्र ध्यान देश, जनता एव उद्योग के हित [illegible] हो।

(३) जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि ऐसे कार्यों को जिनका सम्बन्ध जनता के स्वास्थ्य तथा उनके कल्याण से हो, जिनमें कार्य की प्रवृत्ति नैत्यिक हो, जहाँ कोई नया काम प्रारम्भ न करना हो तथा ऐसे कार्य जो प्राइवेट हाथों में एकाधिकार की ओर बढ़ रहे हों, राष्ट्रीयकरण की ओर लाना आवश्यक हो जाता है, जिससे कि एकाधिकार से होने वाली हानियों से जनता को बचाया जा सके।

(४) राष्ट्रीयकरण होने पर वह सम्पूर्ण आय जो उद्योगपतियों की तिजोरियों में जाती है, राज्य कोष [illegible] ही जमा होगी, अर्थात् राज्य का एक अतिरिक्त आमदनी होने लगेगी। इस प्रकार जमा राशि का उपयोग राज्य सरकार देश की जनता की

भलाई के लिए, उनके रहन सहन को ऊँचा उठाने तथा अन्य आवश्यक कल्याणकारी कार्यों के लिये कर सकती है। यह भी हो सकता है कि इससे जनता द्वारा दिए जाने वाले करों में भी कमी हो जावे।

(४) देश को राष्ट्रीय आय बढ़ाने तथा धन का समान वितरण करने के लिए भी राष्ट्रीयकरण कभी कभी आवश्यक हो जाता है। कोई-कोई उद्योगपति अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये धन का उत्पादन उतना नहीं करते जितना कि उनके द्वारा किया जा सकता है, क्योंकि उन्हें अपने स्वार्थ के आगे देश एवं जनता का कल्याण दिखाई नहीं देता, अतः ऐसे समय में राज्य का हस्तक्षेप अत्यन्त आवश्यक हो जाता है, जिससे देश का आर्थिक विकास उचित दशा में होता रहे।

उपर्युक्त कारणों से ही आजकल संसार के सब देशों में राज्य का हस्तक्षेप और विशेषकर कई उद्योगों का राष्ट्रीयकरण इतना आवश्यक समझा गया है कि उसके बिना देश में धन का उत्पादन एवं समान वितरण सम्भव ही नहीं है और इसीलिए हम देखते हैं कि कई देशों में तो उद्योगों का राष्ट्रीयकरण ऊँचे दर्जे तक पहुँच चुका है।

भारत में उद्योगों का राष्ट्रीयकरण—

गत कुछ वर्षों से सरकार ने ऐसे उद्योग, जिनका राष्ट्रीयकरण जन हित की दृष्टि से आवश्यक है, अपने अधिकार और नियन्त्रण में ले लिये हैं तथा लिए जा रहे हैं। देश के सुरक्षा सम्बन्धी उद्योग, जैसे—बन्दूक, बारूद, रेल, डाक तथा टेलीफोन पहले से ही सरकार के हाथों में हैं। नमक बनाने पर पहले भी सरकार का ही एकाधिकार था और अफीम उद्योग पर भी सरकार का ही एकाधिकार है। सिन्दरी खाद फैक्टरी की आयोजना सन् १९४५ में हुई थी, लेकिन सन् १९५१ से यह सरकारी अधिकार से एक प्राइवेट सीमित कम्पनी में परिणित कर दी गई है। इसका एक अंश छोड़कर बाकी सब अंश सरकार के हैं। ११ कोयला खानों का स्वामित्व एवं सञ्चालन सरकार द्वारा हो रहा है। मशीन, औज़ार फैक्टरी बंगलौर के पास स्थापित हुई है। राष्ट्रीय यन्त्र फैक्टरी कलकत्ता में गणित तथा सर्वे सम्बन्धी यन्त्र, हवाई जहाज के यन्त्र, चश्मे के शीशे, हाइड्रोमीटर आदि बनाये जाते हैं। पेनिसिलीन फैक्टरी पूना के पास खोली गई है। विशाखापट्टम जलपोत यार्ड को भी सरकार ने सन् १९५२ से ले लिया है। चितरञ्जन लाकोमोटिव्स फेक्टरी, रेलवे कोच कारखाना, मशीनों का साक कारखाना, डी० डी० टी० कारखाना भी प्रगति के पथ पर हैं। नेशनल न्यूज़प्रिन्ट एण्ड पेपर मिल को दोषपूर्ण प्रबन्ध के कारण सरकार ने अपने हाथ में ले लिया है। सन् १९५४ से मिर्जापुर में सरकारी सीमेंट फैक्टरी ने कार्य प्रारम्भ कर दिया है। मोटर यातायात का राष्ट्रीयकरण भी तेजी से हो रहा है। कई राज्यों में तो सरकारी विभाग मोटर बसें चलाते हैं और कई में संयुक्त स्कन्ध वाली कम्पनियाँ इनका प्रबन्ध करती हैं। भारत सरकार ने हाल में कई बहुमुखी नदी घाटी योजनाओं को कार्यान्वित किया है, जिनसे सिंचाई, जल विद्युत, बाढ़ नियन्त्रण आदि की सुविधा होती जा रही है। उड़ीसा राज्य में भारत सरकार एक लोहा व इस्पात फैक्टरी की स्थापना कर रही है। भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधायें

बढ़ाने के उद्देश्य से हमारी सरकार ने इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण कर लिया है। इसी प्रकार *द्वितीय पंच-वर्षीय योजना की* सफलता के हेतु २० जनवरी सन् १९५६ को भारत सरकार ने देश की समस्त जीवन बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण कर लिया है।

उपसंहार—

हमारे उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के विवादग्रस्त प्रश्न को सरकार की नई औद्योगिक नीति सन् १९५६ ने लगभग समाप्त कर दिया है। सरकार का मत है कि देश के आर्थिक उत्थान के लिए राष्ट्रीय सम्पत्ति में वृद्धि करने की आवश्यकता है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सब सम्भव साधनों से देश में उत्पादन बढ़ाना चाहिये। सरकार यह भी समझती है कि यदि उत्पादन बढ़ाना है, तो देश के वर्तमान औद्योगिक कलेवर को नहीं छूना चाहिये। सरकारी नीति की घोषणा करते हुये पण्डित नेहरू ने एक बार कहा था कि "इस विषय में कोई भी कदम उठाते समय यह देखने की *आवश्यकता है कि देश में वर्तमान आर्थिक कलेवर को कोई हानि न पहुँचे। देश तथा* विदेश की वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुये वर्तमान कलेवर को बिल्कुल भङ्ग न कर देने से आर्थिक विकास को गहरी चोट लगने की आशङ्का हो सकती है, इसलिए यह आवश्यक है कि इस कलेवर को शनैः शनैः बदला जाय।"

अन्त में, यह कहना आवश्यक न होगा कि किसी भी उद्योग का राष्ट्रीयकरण करने में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए, नहीं तो समस्त आर्थिक कलेवर छिन्न भिन्न हो जायगा। राष्ट्रीयकरण करने के पूर्व इस बात की आवश्यकता है कि योजना बनाई जाय कि किस प्रकार राष्ट्रीयकरण हितकर होगा? कौनसे उद्योगों का पहिले राष्ट्रीयकरण होना चाहिये? किस प्रकार उद्योगों को व्यक्तिगत स्वामियों से प्राप्त किया जाय, उनको बदले में क्या दिया जाय? इन समस्त प्रश्नों पर गम्भीरता से विचार करने के बाद ही राष्ट्रीयकरण के विषय में सोचना चाहिये।

---

[८]

भारत का सूती वस्त्र उद्योग

रूप रेखा—

१. वस्त्र मिल उद्योग का गौरवपूर्ण अतीत—हमारा प्राचीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि पुराने समय में भारत वस्त्र उद्योग के लिए विश्व में विख्यात था। ढाके की मलमल तथा कालीकट के केलीकोज संसार भर में प्रसिद्ध थे, किन्तु इतना प्राचीन एवं उन्नत वस्त्र उद्योग किस प्रकार नष्ट हुआ, इसकी कहानी भी अत्यन्त करुण है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की घातक नीति, भारतीय कारीगरों पर घोर अत्याचार तथा अन्याय, यन्त्रों का निर्माण आदि इस उद्योग के विनाश के कारण हैं।

२. वस्त्र उद्योग का जन्म तथा विकास—प्रथम युग (१८५४ से १९१४ तक), द्वितीय युग (१९१४—१९३९ तक), मन्दी की ओर, उद्योग को संरक्षण प्रदान करना, संरक्षण की पुनर्निरीक्षण, द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व, तृतीय-युग (१९४० से १९४७), देश के बटवारे का उद्योग पर प्रभाव, उद्योग की वर्तमान स्थिति।

३. उद्योग का भारत में वितरण—बम्बई राज्य में अधिक केन्द्रीयकरण है। वर्तमान युग में कुछ विकेन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति है।

४. वस्त्र मिल उद्योग की समस्यायें—(१) कच्चे माल का अभाव, (२) वस्त्र मशीनरी की समस्या, (३) घिसी हुई मशीनों की प्रतिस्थापना, (४) लागत की समस्या, (५) अलाभकारी इकाइयाँ, (६) विदेशी प्रतियोगिता, (७) हाथ करघों तथा मिलों में समन्वय की समस्या।

५. उपसंहार—उद्योग का भविष्य उज्ज्वल है।

वस्त्र मिल उद्योग का गौरवपूर्ण अतीत—

सूती वस्त्र उद्योग भारत का अत्यन्त प्राचीन उद्योग है। ग्रीस का एक प्रसिद्ध इतिहासकार हैरोडाटस इस बात पर आश्चर्य प्रगट करता है कि "भारतीय एक ऐसी ऊन के वस्त्र पहनते हैं, जो भेड़ बकरियों के शरीर पर नहीं होती वरन् पेड़ पौधों के रूप में उगाई जाती है।" वस्तुतः भारत में वस्त्र उद्योग अत्यन्त प्राचीन काल से अपनी उन्नत स्थिति में था। मोहनजोदड़ो के ध्वंसावशेषों में सूती वस्त्रों के अवशेष प्राप्त किए गए हैं। इन अवशेषों के आधार पर प्रसिद्ध वैज्ञानिक जेम्स टर्नर और ए० एन०

गुलाटी ने यह परिणाम निकाला है कि ऐसे वस्त्र रुई से बनाए गए होंगे। ऋगवेद, महाभारत, रामायण इत्यादि के कुछ वाक्यांश इस बात को भली भाँति दर्शाते हैं कि उस युग में भी सूती कपड़े का व्यवसाय उन्नति के शिखर पर था। वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में कपड़ा सीने की सुई के लिए 'सूची' और 'वेशी' का नाम मिलता है। वैदिक साहित्य के अतिरिक्त अन्य अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों से भी प्राचीन भारत में वस्त्र कला के विकास का उदाहरण मिलता है। अजन्ता की गुफा के कुछ चित्रों से भी इस उद्योग के गौरवपूर्ण अतीत का अनुमान लगाया जा सकता है। भारतीय वस्त्र की उत्कृष्टता मुस्लिम काल में असंदिग्ध थी। डच कम्पनी तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारतीय वस्त्र के निर्यात से करोड़ों रुपया कमाया था। ढाका की मलमल तो इतिहास प्रसिद्ध है। श्री टी० एन० मुरर्जी के कथनानुसार मलमल का एक २० गज लम्बा और एक गज चौड़ा सुन्दर टुकड़ा अगूठी के बीच से सुगमता से निकाला जा सकता था, जिसे तैयार करने में ६ मास लगते थे। श्री रमेशदत्त के शब्दों में—"कपड़ा बुनना राष्ट्रीय धन्धा था और सूत कातना लाखों-करोड़ों स्त्रियों का व्यवसाय।" श्री टैवर्नियर के कथनानुसार—"कालीकट की मलमल इतनी महीन थी कि हाथ से वह अनुभव नहीं की जा सकती थी।'

भारतीय कपड़े की इतनी उत्कृष्टता के कारण ही ब्रिटेन में वह अत्यन्त लोकप्रिय हो गया। डैनियल डैफो के मतानुसार—"सन् १८१७ में इंगलैंड के प्रत्येक घर में भारतीय वस्त्र का प्रवेश हो गया था। जब अंग्रेज भारत में आए तो उस समय तक भारत का वस्त्र चीन, जापान, लंका, ईरान, अरब, कम्बोडिया, मेक्सिको और योरुप तक में जाता था। डाक्टर राबर्टसन के निम्नलिखित शब्दों से भी वस्त्र उद्योग के गौरवपूर्ण अतीत की झांकी मिलती है—"भारत में सोना तथा चाँदी दूसरे देशों से हुआ चला आता था। पृथ्वी का कोई भाग ऐसा नहीं था, जहाँ के लोग अपने जीवन की आवश्यकताओं के लिए भारतीय वस्त्र आदि न मँगाते हो। भारत को अपने हाथ के बने हुए अद्भुत वस्त्र के बदले में विदेशों से सदा बहुमूल्य धातुयें मिलती रहीं।"

वस्त्र उद्योग की अवनति—

किन्तु भारत का इतना प्राचीन और उन्नत वस्त्र उद्योग किस प्रकार नष्ट हुआ, इसकी कहानी भी अत्यन्त करुण है। जब से ईस्ट इण्डिया कम्पनी का पदार्पण भारत में हुआ, तब से भारतीय वस्त्र उद्योग का ह्रास होने लगा। कम्पनी ने ऐसी दुधारी घातक नीति अपनाई, जिसने विदेशी माल की प्रतिस्पर्धा को तीव्र करके हमारे देश के उद्योग धन्धों का विनाश किया। भारतीय वस्त्र उद्योग के विनाश का मूल कारण सन् १८१३ का चार्टर था। इस कानून के अन्तर्गत इंगलैंड का वस्त्र भारतियों के गले मढ़ने तथा भारतीय वस्त्र-उद्योग के नाश का निश्चय किया गया। सन् १८१३ में सभी अंग्रेजों को भारत के साथ व्यापार करने का अधिकार दे दिया गया, जिसका तात्पर्य यह था कि अत्याचार के द्वारा वस्त्र उद्योग का नाश किया जाय। भारतीय कारीगरों पर घोर अन्याय किए गए, ताकि वे अपने उद्योग धन्धों को न चला सकें।

वे अधिक कपड़ा न बुन सकें, इसलिए उन पर कम्पनी का नियन्त्रण रहने लगा। जो कपड़ा वे तैयार करते, उसे कम्पनी को ही बेचना अनिवार्य कर दिया गया। प्रसिद्ध अंग्रेज बाल्टस ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि "कम्पनी के नौकरों ने भारत के कारीगरों और मजदूरों के साथ इस तरह जुल्म किये और उनके ऊपर ऐसा अधिकार जमाया कि जैसे वे कम्पनी के गुलाम हों।' जुलाहों को सताने के एक नहीं अनेक उपाय प्रयोग में लाए गए। जुर्माने करना, कैद कर देना, कोड़े मारना, अँगुलियाँ काटना, अनुचित प्रभाव डालकर अनुबन्ध करना आदि सभी प्रकार के अत्याचार किये। क्लाइव के शासनकाल में तो बंगाल में रेशमी वस्त्र उद्योग के नष्ट करने के लिये मानव समाज के पवित्रतम नियमों का घोर उल्लंघन किया गया। इन अत्याचारों से जुलाहे इतने तंग आ गए थे कि वे स्वयं ही अपने अंगूठे कटवाने के लिए विवश हुए, जिससे वे रेशम न लपेट सकें। ब्रुक्स एडम्स ने लिखा है कि "जगत के आरम्भ से अब तक कभी किसी देश ने किसी अन्य देश की पूँजी से इतना लाभ नहीं उठाया, जितना कि इङ्गलैंड ने भारत की लूट से।

देश के वस्त्र उद्योग के विनाश का तीसरा महत्वपूर्ण कारण यन्त्रों की सहायता से निर्माण किए गए विदेशी माल की प्रतिस्पर्धा थी। यह इङ्गलैन्ड की औद्योगिक क्रान्ति का परिणाम था। यन्त्रों की सहायता से बड़ी मात्रा में उत्पादन हुआ। परिणामस्वरूप इङ्गलैन्ड का बना हुआ माल सुगमता से भारत के बाजारों में धड़ाधड़ आने लगा। इसके विपरीत हमारे कारीगरों का माल कम मात्रा में उत्पन्न होता था, मँहगा भी अधिक था और तड़क-भड़क में भी कम था। लंकाशायर और मैनचेस्टर का कपड़ा यद्यपि भारतीय कपड़ों से घटिया होता था, किन्तु सस्ता होने के कारण उसका बोलबाला था। फिर हमारे देश के नवशिक्षित युवक, जिनमें वकील तथा उच्च अधिकारी भी थे, भारतीय माल की अपेक्षा विदेशी वस्तुओं से अधिक अनुराग करते थे। जब अपने देश के ही लोग स्वदेशी वस्तुओं से घृणा करने लगे, तो प्रतियोगिता में विदेशी माल को और भी प्रोत्साहन मिला।

किन्तु मशीनों के चलने पर भी भारत का हाथ का बना कपड़ा विदेश में जाने से न रुकता और उसकी अपेक्षा अधिक बिकता, यदि कारीगरों के साथ पाशविक अत्याचार न किए जाते। भारतीय वस्त्र उद्योग के विनाश के लिए इंगलैंड के वस्त्र को भारत में बिना कर आने दिया गया, किन्तु इंगलैंड में भारतीय वस्त्र के आने पर भारी कर लगाया गया, जिससे वह किसी प्रकार न बिक सके। भारत से रुई के निर्यात पर कोई चुङ्गी नहीं लगाई गई, जिससे ब्रिटेन के कारखानों को सस्ती रुई मिले। देश में कपड़े के उत्पादन के लिए इतने कठोर प्रतिबन्ध लगाए गए कि जुलाहों के लिए कपड़े तैयार करना सम्भव न रहा। धागों का धोना, रँगना तथा कारीगरी के अन्य भेदों को जानकर इंगलैन्ड के कारीगरों को तैयार किया गया। इतना होने पर भी इंगलैन्ड में भारतीय कपड़े की माँग बनी हुई थी। लैकी का कथन है कि "इंगलैन्ड में कारखाने खुलने पर भी भारत के कपड़े इतने सुन्दर, सस्ते और मजबूत होते थे कि इंगलैन्ड

के वस्त्र उद्योग को अपने पनपने की कोई आशा नहीं थी।" अत पालियामेन्ट ने भारतीय कपडे का आयात बिल्कुल बन्द कर दिया। यदि कोई स्त्री व पुरुष भारतीय कपडा पहनता था तो उसे दन्ड दिया जाता था। यदि भारत स्वतन्त्र होता तो वह इसका विरोध करता, अपने यहाँ विदेशी माल के आयात को रोकने के लिए कर लगाता और इस प्रकार अपने उद्योग-धन्धों को नष्ट होने से बचाता। ब्रिटिश माल बिना किसी कर के भारत पर लादा गया। इंगलैन्ड के व्यवसाइयों ने, जिस प्रतिद्वन्दी की बराबरी में वे खडे नहीं हो सकते थे, उसको दबाने एव अन्त में उसका गला घोंटने के लिए राजनैतिक अन्याय के अस्त्र का अवलम्बन किया।

इस सम्बन्ध मे यह लिखना अनावश्यक न होगा कि प्राचीन भारत मे सूती कपडे का उत्पादन कुटीर उद्योग द्वारा किया जाता था। सूत हाथ से काता जाता था और हाथ करघों पर ही कपडा बुना जाता था। निस्सन्देह ही ऐसी दशा में उत्पत्ति का पैमाना छोटा था और शक्ति के उपयोग का विकास नहीं हुआ था।

आधुनिक वस्त्रोद्योग का जन्म तथा विकास—

प्रथम युग (सन् १८५४ से १६१२ तक)—

प्राचीन भारत के कलापूर्ण वस्त्रोद्योग के ह्रास की कहानी जितनी करुण है, आधुनिक वस्त्रोद्योग के जन्म व विकास की कहानी उतनी ही गौरवपूर्ण है। विदेशी शासन की अत्यन्त प्रतिकूल परिस्थितियों में अकथित बाधाओं का सामना करते हुए भारतीय उद्योगपतियों ने वस्त्रोद्योग की दृष्टि से सम्पूर्ण विश्व मे भारत का जो ऊँचा स्थान स्थापित कर दिया है, वह सचमुच उनके अनुपम अध्यवसाय, प्रशसनीय व्यावहारिक कुशलता और योग्यता का अद्भुत उदाहरण है।

यद्यपि सूती कपडे बनाने की मिल भारत में सर्व प्रथम सन् १८१८ में हुगली नदी के किनारे घूसरी नामक स्थान पर स्थापित की गई, पर इस उद्योग की वास्तविक उन्नति सन् १८५४ से प्रारम्भ हुई, जबकि बम्बई में ४ फरवरी सन् १८५४ को एक पारसी उद्योगी श्री कावसजी नाना भाई डावर ने बौम्बे स्पिनिंग एन्ड वीविंग कम्पनी स्थापित की। अहमदाबाद में सर्व प्रथम मिल श्री रणछोडलाल छोटेलाल के प्रबन्ध में सन् १८६१ में स्थापित हुई। प्रारम्भ में उद्योग की प्रगति बहुत शिथिल थी। वस्त्रोद्योग के शैशव में ही भाग्य से उसे विकास का एक अवसर मिल गया। सन् १८६० मे अमेरिका में गृह-युद्ध छिड गया और अंग्रेज सरकार का ध्यान उधर चला गया। इस युग में (सन् १८६०-१८६५ तक) बम्बई के व्यापारियों ने इंगलैण्ड के साथ किए गए रुई के व्यापार में खूब लाभ उठाया था और उन्होंने इस लाभ को सूती कपडे की मिलें स्थापित करने में लगाया। सन् १८६५ तक बम्बई में १० मिलें बन चुकी थीं। सन् १८७५ मे इनकी सख्या २७ हो गई। बम्बई की देखा-देखी अन्य केन्द्रों में भी मिलें खुलने लगीं, जिनकी सख्या सन् १८८१ में ५१ तक पहुँच गई थी। अहमदाबाद में मिलें स्थापित करने के लिए बडे बडे सर्राफों ने पूँजी लगाई। इसी समय रेलों के

खुल जाने से उद्योग को और भी अधिक प्रोत्साहन मिला और १६ वी शताब्दी के अन्त तक भारत में कुल १९३ मिलें खुल चुकी थीं।

भारतीय वस्त्रोद्योग का यह विकास इतना आकस्मिक और तीव्र गति से हुआ कि लङ्काशायर के उद्योगपति स्तब्ध व आश्चर्य विमूढ़ रह गए। उन्होंने अपने देश में आन्दोलन आरम्भ किया, जिसके फलस्वरूप सन् १८७९ में इंगलैण्ड से आने वाले सूती कपड़े पर लगने वाला आयात कर हटा दिया गया। आर्थिक कारणों से जब सन् १८८४ मे इस कर को फिर लगाना पड़ा तब अंग्रेजी व्यापार की रक्षा के लिए भारतीय मिलों पर ३½% उत्पादन कर लगा दिया गया। इस कर का बहुत विरोध किया गया। भारत में बने कपड़े की लागत में वृद्धि करने के उद्देश्य से सन् १८८१ में कारखाना अधिनियम बनाया गया। इस अधिनियम के पूर्व प्रतिबन्धों के अभाव में भारतीय उद्योगपतियों का माल सस्ता पड़ता था। लङ्काशायर के उद्योगपति भारत में मानवता के नाम पर फैक्टरी एक्ट बनाने के लिए अनुरोध करने लगे, यद्यपि उनकी आन्तरिक भावना ब्रिटिश उद्योग का हित साधन थी। उन्होंने इसमे "भारतीय उद्योग-पतियों की प्रतिस्पर्धा से बचने का उपाय देखा"। सन् १८८१ के बाद सन् १८९१ में दूसरा कारखाना अधिनियम बनाया गया, जिसके द्वारा मिलों में सफाई, स्वास्थ्य तथा बच्चों के प्रबन्ध में अनेक प्रतिबन्ध लगाए गए। इन हितकार कानूनों का विरोध नहीं किया जा सकता था, किन्तु इनके मूल में अंग्रेज पूँजीपतियों का स्वार्थ निहित था।

भारतीय वस्त्रोद्योग के विरुद्ध इन कुप्रयत्नों के होने पर भी यह उद्योग निरन्तर उन्नति करता गया। इसका प्रमुख कारण देश मे बढ़ती हुई देश-प्रेम तथा स्वदेशी भावना थी। बङ्गभङ्ग के कारण सन् १९०२ में स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार हो चुका था और कांग्रेस स्वदेशी प्रचार के साथ विदेशी वस्तु के बहिष्कार का आन्दोलन करने लगी। स्वभावतः इनसे भारतीय कारखानों को बहुत प्रोत्साहन मिला।

प्रथम महासमर के समय और उसके बाद उद्योग की प्रगति—

द्वितीय युग (सन् १९१४ से १९४३ तक)—

प्रथम महासमर ने वस्त्र मिल उद्योग को विशेष प्रोत्साहन दिया। इङ्गलैंड से सूत का माल आना कम होता गया, इसलिए देश का बाजार पूर्णतया अपने ही हाथ आ गया। सेना के लिए कपड़े की मांग एवं उसका भाव बढ़ जाने से मिलों को बड़ा लाभ हुआ। पड़ोसी देशों में भी भारतीय कपड़े की मांग बढ़ गई। इस मांग को पूरा करने के लिए मिलों ने भरसक प्रयत्न किए, यद्यपि मार्ग मे अनेक कठिनाइयाँ आईं, जैसे—कोयले के मूल्य में वृद्धि, कल पुर्जों की कमी और उनके दामों में तेजी। नए मिल तो कल पुर्जों की कमी के कारण अधिक नहीं बढ़ाए जा सके; हाँ, विद्यमान मिल पूर्ण क्षमता से कार्य करते रहे। सन् १९१७—१८ और सन् १९२१—२२ के बीच की अवधि में इस उद्योग मे लगाई गई कुल पूँजी की मात्रा २०·५८ करोड़ रुपये से बढ़कर ४०·१८ करोड़ रुपया हो गई। इस काल में सूती कपड़ा उद्योग मे बड़े ऊँचे-

ऊँचे लाभांश बांटे गए। सन् १६१८, १६२० और सन् १६२२ में क्रमशः ४०'११%, ३९'१% और ३०% लाभांश घोषित किए गए।

मन्दी की ओर—

युद्ध के कुछ समय बाद स्वाभाविक मन्दी आई और वस्त्र व्यवसाय भी उसके प्रभाव से अछूता न रहा। विदेशी कपड़ा फिर सस्ता आने लगा और भारतीय मिलों के कपड़े की मांग कम हो गई। बम्बई में मन्दी सबसे अधिक रही। जापान में सूती वस्त्र व्यवसाय की अच्छी प्रगति हो गई थी। उसने भारतीय सूत के प्रधान बाजार चीन पर अपना अधिकार जमा लिया और अब भारत में भी धड़ाधड़ सूती कपड़े भेजने लगा। इसके अतिरिक्त देश में भी मांग गिर गई, क्योंकि सैनिक आवश्यकताओं के लिए कपड़े की मांग समाप्त हो गई थी। दूसरे, कृषि में मन्दी आ जाने के कारण जन साधारण के पास क्रय शक्ति कम हो गई थी। विश्व व्यापी आर्थिक मन्दी बढ़ती ही गई और सन् १६२९ में तो हालत बहुत खराब हो गई।

उद्योग को संरक्षण प्रदान करना—

सन् १६२३ में विवेचनात्मक संरक्षण की नीति स्वीकार की गई। सूती वस्त्र उद्योग ने भी संरक्षण के लिए प्रार्थना की। संरक्षण के प्रश्न पर विचार करने के लिए जून सन् १६२६ में सरकार ने एक टैरिफ बोर्ड बनाया, जिसने अपनी रिपोर्ट सन् १६२७ में दी। इसमें यह बताया गया था कि भारत के उद्योग की इस दयनीय अवस्था का मुख्य कारण जापान में औरतों और बच्चों का मिलों में कार्य करना है। बोर्ड ने बहुत से ऐसे सुझाव दिए जिनसे उद्योग में आन्तरिक और बाह्य बचत प्राप्त की जा सकें। बोर्ड ने संरक्षण को विशेष महत्त्व नहीं दिया। उसने यह सुझाव अवश्य दिया कि संरक्षण के लिए आयात कर ११% से बढ़ाकर १५% कर दिया जाय। बोर्ड ने यह भी सिफारिश की कि मिल स्टोर तथा मशीनों पर लगने वाले आयात कर हटा लिए जायें। सितम्बर सन् १६२७ से सूत के आयात पर तीन वर्ष के लिए डेढ़ आना प्रति पौंड के हिसाब से आयात कर लगा दिया गया। यह आयात कर फिर तीन वर्ष के लिए और बढ़ा दिया गया, किन्तु इससे स्थिति में कुछ भी सुधार न हो सका। येन (Yen) के अवमूल्यन के कारण जापान के साथ प्रतियोगिता और भी बढ़ गई थी। विवश होकर भारत सरकार ने श्री० जे० एस० हार्डी को जांच करने तथा रिपोर्ट देने के लिए नियुक्त किया। श्री हार्डी के सुझाव पर सन् १६३० में 'सूती कपड़ा संरक्षण अधिनियम' पास किया गया और इसके अन्तर्गत निम्न आयात कर लगाए गए:—

ब्रिटेन के बने हुए सादे भूरे कपड़े पर ...१६% या ३½ आना प्रति पौंड (जो भी अधिक हो)

ब्रिटेन के बने हुए अन्य कपड़े पर....१५%

अन्य स्थानों के बने हुए सादे भूरे कपड़े पर....२०% या ३½ आ० प्रति पौंड

अन्य स्थानों के बने हुए अन्य कपड़ों पर ...२०%

मार्च सन् १९३१ में महान मन्दी के कारण भारत सरकार को करों में वृद्धि करनी पड़ी। सरकारी बजट में काफी घाटा था, जिसको पूरा करने के लिए सभी प्रकार के करों पर २५% की अति-देन (Surcharge) लागू की गई। इसी काल में येन का और भी अधिक अवमूल्यन कर दिया गया। इससे भारतीय उद्योग की रक्षा करने के लिए गैर ब्रिटिश माल पर करों की दर में वृद्धि की गई। अगस्त सन् १९३२ में ऐसे करों की दर ५०% यथामूल्य (Advalorem) हो गई और जून सन् १९३३ में इसे बढ़ाकर ७५% यथा मूल्य कर दिया गया।

संरक्षण का पुनर्निरीक्षण—

सन् १९३२ प्रशुल्क बोर्ड ने उद्योग की पुनः जाँच की और सन् १९३० में लगाए हुए रक्षण-करों की अवधि अक्टूबर सन् १९३३ तक बढ़ा दी। तत्पश्चात् इन्हे ३० अप्रैल सन् १९३४ तक बढ़ा दिया गया और इस बात का प्रयत्न किया गया कि जापान के साथ व्यापारिक समझौता कर लिया जाये। अप्रैल सन् १९३४ में भारत सरकार ने *भारतीय प्रशुल्क (सूती कपड़ा उद्योग संरक्षण) संशोधन अधिनियम,* सन् १९३४ पास किया। इस अधिनियम में जो व्यवस्थाएँ की गईं वे भारतीय प्रशुल्क बोर्ड की रिपोर्ट, भारत-जापान-व्यापारिक समझौता और मोदी लीज पैक्ट पर आधारित थीं। इस अधिनियम के अनुसार गैर ब्रिटिश सूती सामान पर ५०% आयात कर लगाया गया। इसके अतिरिक्त ५¼ आना प्रति पौण्ड का न्यूनतम कर भी लगाया गया। मोदी लीज समझौते में अनेक बातें तय की गईं और उनमें से एक बात यह भी थी कि भारतवर्ष में कपड़े पर आयात-कर लगाना ठीक है पर इङ्गलैंड से आये हुए कपड़े पर जापान से आये हुए कपड़े की अपेक्षा कर कम लगना चाहिए। इसके बदले में ब्रिटिश प्रतिनिधि मण्डल ने भारतीय रुई का इंगलैंड में अधिक प्रयोग कराने का आश्वासन दिया। यह समझौता ३१ दिसम्बर सन् १९३५ तक के लिए रखना निश्चय हुआ। सन् १९३५ में एक विशेष प्रशुल्क बोर्ड ने ब्रिटेन से आने वाले माल पर कर की दर में ५% कमी करने का सुझाव दिया, जबकि सूत पर कर की दर ज्यों की त्यों रखनी थी।

सन् १९३६ के प्रारम्भ में ब्रिटेन और भारत के बीच एक और समझौता हुआ, जिसके अन्तर्गत आयात कर की दरें इस प्रकार रखी गईं —

छपे हुए माल पर	१०½%
भूरे माल पर	१५% या २ आना ७½ पाई प्रति पौ०
अन्य माल पर	१५%

यदि ब्रिटेन से आयात किया हुआ माल ३५ करोड़ गज से कम है तो इन दरों पर २½% कटौती की जायेगी और यदि आयात किया हुआ माल ५० करोड़ गज से अधिक है तो २½% की वृद्धि कर दी जायेगी। इसी समय सूती कपड़ा उद्योग संरक्षण की अवधि ३१ मार्च सन् १९४२ तक बढ़ा दी गई। इस बीच दूसरा महायुद्ध प्रारम्भ हो गया, जिसने सारी परिस्थितियों को ही बदल दिया।

द्वितीय विश्व-युद्ध के पूर्व—

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत में २२७ मिलें थीं, जो भारतीय माँग का ६१% उत्पादन करती थीं तथा शेष में से २८% की पूर्ति हाथ-करघा उद्योग द्वारा तथा ११% की आयात द्वारा पूर्ति होती थी। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ तक वस्त्र मिलों की संख्या १२७ से ३८१ तकलों की संख्या ६७ से १०० लाख तथा करघों की संख्या १,१७,००० से बढ़कर २,०२,००० हो गई। सूत एवं कपड़े का उत्पादन भी बढ़ गया तथा उत्पादन की किस्म में भी सुधार हुआ। विदेशों से आयात की मात्रा भी कम हो गई।

द्वितीय युद्धकाल एवं उसके बाद—

तृतीय युग (सन् १६४० से १६४७ तक)—

यदि पिछले महायुद्ध ने भारत का एक महान प्रतिस्पर्धी (जापान) पैदा कर दिया था, तो द्वितीय विश्व-युद्ध ने उसे कुछ वर्षों के लिए इस क्षेत्र से बिल्कुल निकाल दिया और वस्त्र उद्योग में भारत का एक छत्र साम्राज्य कर दिया। सन् १६३६ के अन्त में जो युद्ध छिड़ा उसका एक महान अंग था पनडुब्बी तथा बम वर्षा द्वारा समुद्री जहाजों की समाप्ति, परिणामस्वरूप समुद्री मार्ग अत्यन्त असुरक्षित हो गये। भूमध्यसागर में एक भी जहाज आना दुर्लभ हो गया। दो वर्ष बाद जापान के भी महायुद्ध में कूद पड़ने के कारण उसके कल कारखाने न तो भारत को कपड़ा भेज सके और न अफ्रीका या मध्यपूर्व में। फलतः भारत के उद्योग को विकास का एक स्वर्ण अवसर मिला। मित्र-राष्ट्र अपनी कपड़े सम्बन्धी सैनिक आवश्यकता के लिये एक प्रकार से भारत पर निर्भर हो गये। भारत सरकार भी देश में सबसे बड़ी ग्राहक बन गई। भारतीय मिलें दिन रात चलने लगीं। सभी मिलों में दो पालियाँ शुरू हो गईं और बहुत सी मिलों में तीन पालियाँ भी चलने लगीं। कपड़े के भाव भी अधिक बढ़ गये। वृद्धि का प्रमुख कारण तो यह था कि अन्य सभी वस्तुओं के मूल्य में काफी वृद्धि हो गई थी, अतः कपड़े के भावों में वृद्धि होना स्वाभाविक था। दूसरे, जापान तथा इङ्गलैंड से कपड़ों का आयात बिल्कुल बन्द हो गया था और मध्य पूर्वी देशों को निर्यात बढ़ गया था। तीसरे, सैनिकों के लिए कपड़ों की अधिक आवश्यकता होने लगी। चौथे, भविष्य में अधिक लाभ उठाने के उद्देश्य से व्यापारी लोग कपड़े को इकट्ठा करने लगे। उपभोक्ताओं को यह भय हो गया कि भविष्य में कपड़े की और अधिक तंगी होगी, अतः वे भी कपड़े को इकट्ठा करने लगे। पाँचवाँ, कारण यह था कि रुपये की चलन मात्रा बहुत बढ़ गई और इसलिये कपड़े और अन्य वस्तुओं के भाव अधिक बढ़ गये। इधर श्रमिकों के वेतन में वृद्धि, कच्चे माल तथा मशीनों, रंग, मांडी तथा अन्य रासायनिक मसालों के मूल्यों में वृद्धि हो जाने के कारण वस्त्र का उत्पादन व्यय भी अधिक हो गया था। परिणाम-स्वरूप मूल्य इतने ऊँचे हो गये कि भारत की जनता के लिये वे एक प्रकार से निषेधात्मक हो गये। सन् १६४३ में तो मूल्य अपनी चरम सीमा तक पहुँच गये और चारों ओर वस्त्र का सङ्कट छा गया।

वस्त्र-सङ्कट की समस्या को हल करने के लिये उद्योग पर नियन्त्रण लगाना

आवश्यक हो गया। फलतः केन्द्र में एक 'सिविल सप्लाई विभाग' की स्थापना कर दी गई और जून सन् १९४३ में "टैक्सटाइल क्लाथ एण्ड यार्न आर्डर" लागू कर दिया गया, जिससे जनता को उचित कीमतों पर कपड़ा मिल सके। इसके अतिरिक्त 'स्टैन्डर्ड' वस्त्र के नाम से भी सरकार ने कुछ कपड़ों के नमूने तैयार कराये, जिन पर मूल्य इत्यादि की मुहर लगा दी जाती थी। जनवरी सन् १९४४ से बिना मुहर का कपड़ा बेचना कानूनी अपराध घोषित कर दिया गया। कपड़ों पर उत्पादन की तिथि तथा बेचे जाने की अन्तिम तिथि भी छाप दी गई। इस तिथि का कपड़ा न बिकने पर व्यापारियों को वह वापिस भेजना पड़ता था। इन प्रयत्नों के द्वारा संग्रह व चोर बाजारी की समाज विरोधी कुप्रवृत्तियों को रोकने का प्रयत्न किया गया, किन्तु सरकारी अफसरों की मूढ़ता व अयोग्यता तथा मिल मालिकों और व्यापारियों की चोर-बाजारी प्रवृत्ति के कारण भारत में कपड़े पर नियन्त्रण अधिक सफल न हो सका।

देश के बँटवारे का उद्योग पर प्रभाव—

१५ अगस्त सन् १९४७ को देश का बटवारा हुआ, जिसके परिणामस्वरूप पाकिस्तान को अविभाजित भारत की १४ वस्त्र मिलें तथा लम्बे रेशे वाली रुई उपजाने वाला ७१% भाग मिला। भारत में वस्त्र मिलों की संख्या केवल ४०२ रह गई। दूसरे, पाकिस्तान से रुई का आयात भी कठिन हो गया, फलतः उत्पादन गिरने लगा। भारतीय कारखानों के सम्मुख अच्छी किस्म की रुई प्राप्त करने की एक समस्या पैदा हो गई। इस समस्या को हल करने के लिए पाकिस्तान के साथ व्यापारिक समझौते किये गये, किन्तु दुर्भाग्य से ये सफल न हुये, अतः 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' के अन्तर्गत अधिक औद्योगिक कच्चा माल उपजाना आरम्भ किया गया। रुई एवं पटसन की फसल के लिए कृषि-भूमि बढ़ाई गई। इसके साथ ही तत्कालीन समस्या को दूर करने के लिए मिश्र, अफ्रीका आदि देशों से रुई का आयात भी किया गया। परिणामस्वरूप सन् १९५१ से वस्त्र उद्योग का उत्पादन फिर से बढ़ने लगा।

वर्तमान स्थिति—

जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है सन् १९५१ के उपरान्त उत्पादन में पुन वृद्धि प्रारम्भ हो गई यहाँ तक की सन् १९५३ के अन्त तक उत्पादन पंच-वर्षीय के लक्ष्य से भी आगे बढ़ गया। आज हमारे देश में वस्त्र मिलों की संख्या ४१३, सूत का वार्षिक उत्पादन १,९०० मि० पौंड और वस्त्र का उत्पादन ४,८०० मि० गज है। यही नहीं भारत का विश्व के सूती वस्त्र उद्योग के स्पिंडलेज में चौथा क्रमांक है, जो हमारे देश के इस उद्योग की महत्ता की ओर संकेत करता है। आज इस उद्योग में १ अरब ४ करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई है एवं लगभग ८,००,००० श्रमजीवी काम करते हैं। उद्योग की वर्तमान प्रगति का अनुमान निम्न आँकड़ों से भली प्रकार लगाया जा सकता है* :—

* India 1954—Publication Division, Delhi

वस्त्र-व्यवसाय—एक दृष्टि में

वर्ष	कारखानों की संख्या	करघे (०००)	स्पिन्डल्स (०००)	उत्पादन		निर्यात मि० गज
				सूत (मि० पौं०)	कपड़ा (मि० पौं०)	
१९४७-४८	४०८	१९७	१०,२२६	१,३३०	३,७७०	१६७
१९४८-४९	४१६	१९८	१०,५३४	१,४७५	४,३८१	३४१
१९४९-५०	४२५	२००	१०,८४६	१,२६०	३,७६६	६१०
१९५०-५१	४४५	२०१	११,२४१	१,१६२	३,६७६	१,२१०
१९५१-५२	४५३	२०४	११,४२७	१,३२५	४,२६७	४२६
१९५२-५३	४५४	२०४	११,४२७	१,५००	४,८००	६५०

वस्त्र-उत्पादन तथा इसके निर्यात के कुछ नवीन आँकड़े इस प्रकार हैं :—

वर्ष	सूत (लाख पौंड)	सूती कपड़ा (लाख पौंड)	मिल निर्मित वस्त्र का निर्यात (लाख गज)
१९५३	१५,०६०	४८,७८०	—
१९५४	१५,६१२	४१,९८०	७,६२०
१९५५	१६,३४४	५०,९२८	—
१९५६			
जनवरी	१,४२०	४,२००	६,८०३
फरवरी	१,३३०	४,१४०	
मार्च	१.३१०	४,१६०	

उद्योग का भारत में वितरण—

सूती वस्त्र उद्योग का भारत मे वितरण सचमुच बड़ा अनोखा है। आधे से ज्यादा मिलें केवल बम्बई में स्थित हैं। अन्य राज्यों में उत्तर-प्रदेश बहुत बढ़ा हुआ था। इधर अब मद्रास व बंगाल ने बहुत उन्नति करली है। मध्य-भारत व मध्य प्रदेश मे सूती वस्त्र मिल उद्योग का काफी विस्तार हुआ है। बम्बई राज्य की भी आधी मिलें केवल बम्बई नगर में केन्द्रित हैं। बम्बई नगर में इस उद्योग के केन्द्रीयकरण के अनेक कारण हैं। बम्बई नगर यातायात की सुविधाओं द्वारा देश के आन्तरिक भागों से भली प्रकार सम्बन्धित है, इस कारण कच्चा माल प्राप्त करने में कठिनाई नहीं होती। दूसरे, वह इङ्गलैंड अमेरिका इत्यादि पाश्चात्य देशों से अधिक निकट पड़ता है, इसलिये वह मशीनें इत्यादि कम व्यय पर आयात कर सकता है। तीसरे, बम्बई की जलवायु नम होने के कारण सूती वस्त्र उद्योग के लिये बड़ा उपयुक्त है। चौथे, यहाँ की मिलों के लिए सस्ते श्रमिक भी बड़ी सुविधा से प्राप्त हो जाते हैं। पाँचवे, यहाँ जल विद्युत उत्पादन के भी केन्द्र हैं, इसलिए मिलों को पर्याप्त मात्रा में सस्ते दाम पर शक्ति सुलभ हो जाती है। भारत के कुछ अन्य केन्द्रों मे भी उद्योग के स्थानीयकरण की सुविधायें उपलब्ध हैं।

उत्तर-प्रदेश मे कानपुर की मिलों को अपने निकटवर्ती क्षेत्रों से लम्बे रेशे वाली कपास प्राप्त हो जाती है। पजाब से भी लम्बे रेशे वाली रुई आती है। सस्ते दाम पर पर्याप्त मात्रा में श्रम जीवी उपलब्ध हैं। यातायात के सुव्यवस्थित साधनों के द्वारा कानपुर देश के सभी भागों से मिला हुआ है और वहाँ मजदूरी और किराया आदि भी बम्बई की अपेक्षा कम है। बगाल में कलकत्ते के आस-पास सूत के कारखाने स्थापित हो गये हैं। इसके अतिरिक्त हैदराबाद को कच्चे माल की और बँगलौर (मैसूर) को नम जलवायु, सस्ते श्रम, वितरण एव जल विद्युत की सुविधायें हैं। ग्वालियर, इन्दौर, उज्जैन, रतलाम, मन्दसौर इत्यादि नगरों में सूती वस्त्र मिलों का केन्द्रीयकरण वास्तव में कर सम्बन्धी छूट मिलने के कारण हुआ था। बाद में इन नगरों मे अन्य सुविधायें भी पैदा हो गईं, जिनके परिणामस्वरूप आज ये नगर वस्त्र मिल उद्योग के प्रमुख केन्द्र हो गये।

भारतवर्ष में सूती वस्त्र मिल उद्योग पर लगभग पूर्णतः व्यक्तिगत उद्योग-पतियों का अधिकार है। केवल ट्रावनकोर-कोचीन तथा उडीसा में कुछ ऐसी मिलें हैं, जिन्हें राज्य से सहायता मिली है। इस उद्योग के विकास मे प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की प्रणाली का विशेष हाथ रहा है, यद्यपि इस प्रणाली के इन दोषों के परिणामस्वरूप उद्योग को कुछ क्षति भी उठानी पड़ी।

वस्त्र-मिल-उद्योग की समस्यायें—

आज इस उद्योग के सम्मुख अनेक समस्यायें हैं, जिनका समुचित हल होना उद्योग को सुदृढ आधार पर स्थिर रखने के लिये आवश्यक है। उद्योग की कुछ प्रमुख कठिनाइयाँ इस प्रकार हैं :—

(१) पर्याप्त कच्चे माल का अभाव—रुई के सम्बन्ध में भारत स्वावलम्बी नहीं है। देश के विभाजन ने भारत को पाकिस्तान (सिन्ध तथा पश्चिमी पजाब) में पैदा होने वाली लम्बे रेशे की रुई की १६ लाख गाँठों से वंचित कर दिया है। विभाजन के कारण रुई का उत्पादन केवल २६½ लाख गाँठ ही रह गया। रुई की दृष्टि से स्वावलम्बन बहुत आवश्यक है। इसी कारण योजना कमीशन ने सन् १९५०-५१ की उपज से १२·५८ लाख गाँठ अधिक रुई की उत्पत्ति अपना लक्ष्य रखा है। सबसे बड़ी कमी यह है कि हमारे यहाँ रुई की उपज प्रति एकड़ बहुत कम है। वर्षा पर निर्भर क्षेत्रों में प्रति एकड़ ६० से ९० पौ० तक और नहरी सिंचित क्षेत्रों में १८० से २०० पौ० प्रति एकड़ रुई पैदा होती है। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका और मिश्र में ये सख्यायें क्रमशः २६७ और ३६० पौ० प्रति एकड़ हैं। इसी कारण, यद्यपि भारत में रुई की खेती का क्षेत्र कुल ससार के रुई की खेती के क्षेत्र का २० प्रतिशत है, तथापि उसकी रुई की उपज ९% से अधिक नहीं है और यह रुई भी अधिकाँश १ इंच से कम रेशे की है।

हर्ष का विषय है कि भारत अब रुई के विषय में आत्मनिर्भर हो चुका है। सन् १९५३-५४ मे भारत में रुई का उत्पादन इतना अधिक हुआ है कि हम रुई की दृष्टि से प्रायः आत्म निर्भर होते जा रहे हैं।" यह वे शब्द हैं जो भारत सरकार के कृषि

मन्त्री डा० पंजाबराव देशमुख ने भारतीय केन्द्रीय रुई समिति की ७० वीं बैठक में भाषण करते हुए कहे। आपने आगे कहा कि सरकारी अनुमान के अनुसार सन् १९४९ ५० में जहाँ २६ लाख गाँठ रुई पैदा हुई थी, वहाँ १९५३ ५४ में वह ३१ लाख गाँठ से भी अधिक पैदा हुई है। यह भी उल्लेखनीय है कि यह वृद्धि अधिकाँश में लम्बे और मध्यम दर्जे के रेशे वाली रुई में हुई है। योजना कमीशन ने रुई को १८० लाख एकड क्षेत्र में बोने का लक्ष्य रखा था। सन् १९५३ ५४ की फसल १७० लाख एकड मे बोई गई है। इस प्रकार रुई का क्षेत्र बराबर बढ रहा है। भारत में रुई क्षेत्र तथा उपज दोनों में ही वृद्धि हुई है। उत्पादन का अनुमान अब ३५ लाख गाँठ है, जो युद्धोत्तर वर्षों में सबसे अधिक है। हैदराबाद और मध्य प्रदेश में देशी तथा अमेरिकन रुई की किस्में सुधारने में सफलता हुई है। उत्तर प्रदेश में जहाँ सिंचाई का अच्छा प्रबन्ध है, लम्बे रेशे की रुई उत्पन्न करने के यत्न किये जा रहे हैं। पंजाब मे अमरीकी रुई से १″ लम्बे रेशे वाली रुई उत्पन्न करने के प्रयत्न हो रहे हैं। मैसूर मे भी ऐसे ही प्रयत्न हो रहे हैं, जिनमें कुछ सफलता मिली है। इन्दौर की पौध उद्योगशाला में भी नई किस्में निकालने के प्रयोग किए जा रहे हैं। इनके फलस्वरूप कई किस्म की लम्बे रेशे की रुई उत्पन्न हुई है। मद्रास में १½″ लम्बे रेशे की रुई पैदा करने के प्रयोग हो रहे हैं। आंध्र में लक्ष्मी किस्म की रुई बहुत उपजाई जाने लगी है। बम्बई में ऐसी रुई पैदा करने के यत्न हो रहे हैं, जिसका रेशा तो अमरीकन रुई के समान लम्बा होगा, परन्तु मज़बूती में वह एशियाई रुई के समान होगी। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी किस्में भी निकली हैं, जो प्राय ५ महीने में ही पक कर तैयार हो जायेंगी, किन्तु रुई का क्षेत्र इस प्रकार बढ़ाने की भी एक सीमा होगी, अत प्रति एकड उपज बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए।

(२) *वस्त्र मशीनरी की समस्या*—उद्योग की दूसरी बडी कमी यह है कि उसमें लगने वाली मशीनरी बाहर से मगानी पडती है। गत युद्ध में मिलों में दो दो और तीन तीन पालियाँ चलीं, जिससे वे बिल्कुल जीर्ण हो गई हैं, अत उन्हें बदलना अनिवार्य है। फिर इनमें उन्नति इतनी हो गई है और इनके द्वारा पैदावार इतनी बढ़ गई है कि पुरानी मशीनों की पैदावार को लेकर दुनियाँ के मुकाबिले में हम टिक नहीं सकते, किन्तु प्रश्न यह है कि नई मशीनरी कहाँ से खरीदें ? जिन देशों से ले सकते हैं, वे या तो हमारे लिये बनाकर देने की परिस्थिति में नहीं हैं या बहुत देरी से दे सकते हैं और महगी देते हैं, जिसके लिये हमारी मिलों के पास पैसा नहीं है, अत देश में ही वस्त्र सम्बन्धी यन्त्रों का निर्माण करने के लिये कारखाने खोलने चाहिये। अब कुछ कारखाने स्थापित हो गये हैं, किन्तु औद्योगीकरण की आवश्यकता को देखते हुये वे कम हैं। इस क्षेत्र में अधिक कारखाने खोलने की आवश्यकता है। इस दशा में "टैक्समैको' कलकत्ता (Textile Machinery Corporation Ltd, Calcutta) ने अवश्य कुछ सराहनीय कार्य किया है। यह कम्पनी सन् १९३९ में बनी और सन् १९४३ में ग्वालियर में भी इसकी शाखा खोल दी गई है। इनके अतिरिक्त

अन्य कम्पनियाँ ये हैं:—(अ) टैक्सटायल कम्पनी लिमिटेड कोयम्बटूर (स्थापित सन् १९४६)। (आ) एकमे मैन्यूफेक्चरिंग कम्पनी लिमिटेड, वडाला, बम्बई (स्थापित सन् १९१९)। (इ) रामकृष्ण इन्डस्ट्रीज, कोयम्बटूर (इसने सन् १९४८ में उत्पादन प्रारम्भ किया)।

उपरलिखित पुरानी कम्पनियों के अतिरिक्त दो नये उत्पादक हैं:—(अ) मशीनरी मैन्यूफेक्चरर्स कॉरपोरेशन लिमिटेड और (आ) नेशनल मशीनरी मैन्यूफेक्चरर्स लिमिटेड।

इतना होते हुए भी आज वास्तविक समस्या समस्त संस्थाओं में समन्वय करने की है। इस कार्य के हेतु श्री महिन्द्रा के विचार से एक केन्द्रीय संस्था का निर्माण होना चाहिए, जिसका नाम 'टेक्स-टायल मशीनरी" (T. M. D.) रखा जाय और जिसका काम समस्त संस्थाओं का संचालन करना हो। इस केन्द्रीय संस्था को चाहिए कि देश की वस्त्र मिलों की मशीनरी सम्बन्धी आवश्यकताओं का पता लगावे तथा फिर उसका उचित प्रबन्ध भी करे। इस कार्य के अर्थ-प्रबन्ध के लिए भी एक विशिष्ट अर्थ संस्था होनी चाहिए।

(३) घिसी हुई मशीनों की प्रतिस्थापना—आज पुरानी मशीनों को बदल कर नई मशीनें लगाना व्यवसायी की प्रधान आवश्यकता बन गई है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि इस उद्योग में हमारे प्रतिस्पर्धी देश नई मशीनरी पर बहुत अधिक व्यय करते रहते हैं। जापान में ९२% मशीनरी नई है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में सन् १९४५ से अब तक नई मशीनरी पर ९० करोड़ डालर, अर्थात् लगभग दो अरब ४० करोड़ रुपया प्रति वर्ष खर्च किया जा रहा है, जिसमें से ४०% केवल वस्त्र उद्योग में हो रहा है। मार्च सन् १९५० में केन्द्रीय सरकार ने सूती वस्त्र उद्योग के सम्बन्ध में एक वर्किंग पार्टी नियुक्त की थी। इस पार्टी ने मशीनों की जांच पड़ताल करने के लिए एक औद्योगिक उपसमिति नियुक्त की, जिसने इस समस्या का सूक्ष्म अध्ययन किया था। वर्किंग कमेटी ने बताया था कि स्पिनिंग विभाग में ९२% मशीनरी सन् १९२५ से पहले लगाई गई थी और ३०% तो सन् १९१० से भी पहले। वीविंग विभाग में तो स्थिति और भी असन्तोषजनक है। ७२% लूम्स सन् १९२५ से पहले लगाये गये थे और ४६% सन् १९१० से भी पहले के हैं। साधारणतः एक मशीन ३० वर्ष तक काम करती है, अतः इसे बदलना नितांत आवश्यक है।

(४) लागत की समस्या—बहुत समय तक उद्योग रक्षित व्यवस्था में कार्य कर चुका, जिसमें उसे 'किसी भी मूल्य पर उत्पादन' करने की छूट थी, किन्तु अब उसे प्रतियोगी व्यवस्था में कार्य करना है, जिसमें उसे उत्पादन ऐसे मूल्य पर करना होगा कि वह साधारण स्थिति के व्यक्ति की पहुँच के भीतर आ जाय। विदेशों से कपड़े का आयात आरम्भ हो गया है। विदेशी बाजारों में भी भारतीय उद्योग को स्पर्धा का सामना करना पड़ रहा है। विदेशी स्पर्धा से मोर्चा लेने एवं 'बेचने वालों का बाज़ार' से 'खरीदने वालों का बाज़ार' लेने के लिए यह आवश्यक है कि लागतें जितनी कम की जा सकें उतना ही ठीक है। अमेरिका

में क़ीमतों को कम रखने में सफलता मिली है, यद्यपि वहाँ कच्चे माल आदि के दाम अधिक हो गये हैं। इंगलैण्ड मे भी शिरले इन्स्टीयूट ने यंत्र एवं क्रियाओं के सम्बन्ध में उत्पादन की लागत कम करने एवं श्रमिकों का कार्य भार घटाने के लिए नये-नये आविष्कार करने के प्रयत्न किए है, किन्तु भारत में सन् १६४४-४५ की तुलना में श्रम लागतें दुगनी हो गई हैं और उत्पादन की कार्य-क्षमता बजाय बढ़ने के घट गई। श्रम लागतों में जो बढ़ोत्तरी हुई वह कार्य घण्टों में कमी, अधिक भत्ता और दूसरे लाभों, जैसे—सवेतन दस दिन का अवकाश, सेवायुक्त राजकीय बीमा एवं प्राविडेन्ट फण्ड योजना आदि के कारण हैं। ये सामाजिक संनियम तब अधिक न्याययुक्त ठहरते जब उनके कारण कार्य क्षमता में वृद्धि हो जाती हो अन्यथा उनका अर्थ एक वर्ग का दूसरे वर्ग के मूल्य पर लाभ उठाना है। भारतीय सूती वस्त्र उद्योग में प्रति तकुआ एवं प्रति करघा श्रमिक जापान, अमेरिका एवं इङ्गलैण्ड की अपेक्षा अधिक लगते हैं। सच तो यह है कि उस उत्पादन के लिए दूसरे देशों की अपेक्षा भारत में तिगुने चौगुने श्रमिक काम पर रखे जाते हैं। कार्य क्षमता में अभिवृद्धि, किन्तु मजदूरी में वृद्धि, यही भारतीय वस्त्र के मूल्य बढ़ने का कारण है, जिसे हल करने के लिए कार्य-क्षमता बढ़ाना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि भारतीय मिल उद्योग को वैज्ञानिक आधार पर फिर से सगठित किया जाय, जिसका एक मात्र उपाय विवेकीकरण है। 'अहमदाबाद टैक्सटायल अनुसन्धान संघ' ने उत्पादन शक्ति, वैज्ञानीकरण एव किस्म-नियंत्रण के सम्बन्ध में बहुत अच्छा कार्य किया है। निश्चिय ही वैज्ञानीकरण का श्रमिकों की ओर से कानपुर जैसा थोड़ा विरोध होगा, लेकिन उसे श्रमिकों के मनोनुकूल थोड़ा संशोधित करके कार्यान्वित किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में हमारे सुझाव ये हैं:—

(अ) उत्पादन विधियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाय और यह देखा जाय कि उनमें सरलता एवं उन्नति किस प्रकार की जा सकती है। इस काम में कारीगरों का अत्यधिक सहयोग प्राप्त करके आपसी विश्वास की भावना पैदा की जाय।

(आ) उत्पादन सम्बन्धी हर विषय के लिए अनुसन्धान की व्यवस्था की जावे।

(इ) कारीगरों के औद्योगिक शिक्षण की व्यवस्था हो।

(ई) मिलों में कार्य सम्बन्धी परिस्थितियों मे सुधार किया जाय, जिससे कारीगरों में काम के प्रति विशेष उत्साह उत्पन्न हो।

(उ) नवीन एव आधुनिक यन्त्रों तथा श्रम संचय यन्त्रों का प्रचार हो।

(५) *अलाभकारी इकाइयाँ (Un-economic Units)*—हमारे देश मे लगभग १२० मिल ऐसे हैं, जो अपने आकार की तुलना में कम उत्पादन करते हैं। ६० मिल ऐसे हैं, जिनका उत्पादन केवल सीमान्तक रेखा तक है। यही कारण है कि मिलों की कुल सख्या अधिक होते हुए भी उत्पादन में आशाजनक वृद्धि नहीं हो पाई है। पूँजी के अभाव, कुप्रबन्ध तथा कच्चे माल की कमी के कारण इन मिलों को सफलता नहीं मिल रही है, अतः उनके पुनर्संगठन और पुनर्निर्माण की आवश्यकता है।

(६) विदेशी प्रतियोगिता—युद्ध के बाद जापान भारत की प्रतियोगिता में फिर से आ गया है। सन् १९५२ में तो विश्व के वस्त्र निर्यातकों में जापान का नम्बर पहिला था। इस प्रकार हमारे निर्यात बाजार हमारे हाथ से निकलते जा रहे हैं। आज इस बात की आवश्यकता है कि हम वर्तमान निर्यात बाजारों को कायम रखने के साथ साथ देशी बाजार में भी सफल हों। इसके लिए उत्पादन व्यय को कम करने की जरूरत है। विदेशी निर्यात बढ़ाने के लिए एक्सपोर्ट प्रमोशन कमेटी भी काफी प्रयत्नशील है। उसके सुझावों पर निर्यात के लिए लाइसेंस देने की पद्धति भी सुविधाजनक बना दी गई है।

(७) हाथ करघों एवं मिलों में समन्वय की समस्या—श्री टी० टी० कृष्णामाचारी (उद्योग एवं वाणिज्य मंत्री) ने ९ जून सन् १९५२ को दिए गए इस भाषण पर कि हाथ करघा के लिए सुरक्षित रखे गये बाजार को निरस्त करने के लिए मिल उद्योग पर और अधिक प्रतिबन्ध लगाना हितकर न होगा। हाथ करघों एवं मिल उद्योग के मध्य प्रतिस्पर्धा की समस्या लगभग समाप्त हो गई थी, किन्तु मद्रास के प्रधान मंत्री श्री राजगोपालाचार्य एवं उनके पश्चात् अन्य प्रमुख व्यक्तियों की यह माग करने पर कि धोती एवं साड़ियों का उत्पादन हाथ करघों के लिए सुरक्षित कर दिया जाय, उक्त समस्या फिर उग्र हो गई है। निस्सन्देह हाथ करघा उद्योग आज कठिन परीक्षा से गुजर रहा है, किन्तु उसे सहायता पहुँचाने के लिए जो मार्ग राजगोपालाचार्य ने सुझाया है ठीक नहीं, क्योंकि प्रथम तो वह बड़ा कीमती है, जिससे उपभोक्ताओं को आजकल अपनी वस्त्र सम्बन्धी आवश्यकताओं के लिए जितना देना पड़ रहा है उसका दूना देना होगा। इसका अधिकांश भार मध्यम श्रेणी के लोगों पर पड़ेगा। वे भला इतना रुपया कहाँ से लावेंगे ? दूसरे यदि हाथ करघों को धोती एवं साड़ियाँ बनाने का एकाधिकार दे भी दिया जाय, तो क्या वे देश की आवश्यकताओं के लायक माल तैयार कर सकेंगे ? यदि हाथ करघे दो-दो तीन तीन पालियों कार्य करें, तो भी किसी हालत में ७०० ८०० मिलियन गज धोती व साड़ियाँ प्रति वर्ष से अधिक नहीं बना सकते, जबकि इस सम्बन्ध में भारत की आवश्यकतायें २,००० या २,५०० मिलियन गज प्रति वर्ष के लगभग है। स्पष्ट है कि यदि हमें हाथ करघों पर निर्भर रहना पड़ा तो फिर अधनंगे रह कर ही दिन गुजारने होंगे। तीसरे, ऐसा ही प्रयोग कुछ वर्ष पहले आरम्भ किया गया था, जबकि मई सन् १९५० का कन्ट्रोल आर्डर इस प्रकार संशोधित किया गया कि मिलों के लिए धोती बनाना असम्भव हो गया। यह स्थिति आठ महीने रही, जिसमें लोग धोतियों के लिए तरस गये। जो धोतियाँ हाथ-करघों ने तैयार की, वे या तो बहुत खराब थीं अथवा उनका क्रय साधारण उपभोक्ता की शक्ति के बाहर था। फिर यह भी नहीं कहा जा सकता कि मिल उद्योगों से हाथ करघों को कोई प्रतिद्वन्द्विता उठानी पड़ रही है, क्योंकि युद्ध के बाद कभी भी कपड़े का उत्पादन माँग के समतुल्य नहीं हो पाया है। हाथ करघों के बने माल के मूल्य, उत्पादन एवं विक्रय पर कोई प्रतिबन्ध भी नहीं है और न उन पर मिल उद्योग जैसे

कर ही लगे है। इन लाभों के होते हुए भी यदि करघे उन्नति न कर सकें तो उसमें दोष मिल उद्योग का न होकर उनके ऊँचे दाम या घटिया किस्म का है, अतः मिलों का क्षेत्र अनावश्यक ही सीमित करना बुद्धिमानी का कार्य नहीं होगा।

---

[६]

भारत का लौह एवं स्पात उद्योग

रूपरेखा—

१. *प्रारम्भिक*—कृषि एवं औद्योगिक विकास की किसी भी योजना में लौह एवं स्पात उद्योग का प्रमुख स्थान है। इस उद्योग के लिए आवश्यक कच्चे माल की दृष्टि से भारत की स्थिति अच्छी है।

२. *उद्योग का अतीत*—इतिहास इस बात का साक्षी है कि अत्यन्त प्राचीन-काल में भी भारतवासी लोहे के उपयोग एवं स्पात के निर्माण से परिचित थे एवं स्पात की बनी चीजों का निर्यात भी करते थे, किन्तु विदित इतिहास १५० वर्ष पुराना है। सर्वप्रथम सन् १७७६ में विदेशियों ने यहाँ लोहे के कारखाने खोलने के प्रयत्न किए। उद्योग की सफलता का श्रेय श्री टाटा को है।

३. *प्रथम महायुद्ध में उद्योग*—लोह एवं स्पात की माँग बढ़ने के कारण तथा आयात बन्द होने के कारण उद्योग ने विशेष प्रगति की। फिर युद्धोत्तर-काल में इसे कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, जिसके निर्माणार्थ उद्योग को संरक्षण प्रदान किया गया। संरक्षण द्वारा प्रगति अच्छी हुई।

४. *द्वितीय महासमर एवं उसके बाद*—युद्ध के आरम्भ होते ही उद्योग की प्रगति तेजी से होने लगी, अनेक नई उत्पादनशालायें खोली गईं तथा सरकार ने कीमतों पर अंकुश लगा दिए।

५. *उद्योग की वर्तमान स्थिति एवं भविष्य*—अनेक विकास योजनायें बनाई जा रही हैं। पंच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत इस उद्योग को राजकीय क्षेत्र में रक्खा गया है। योजना में उत्पादन लक्ष्य, नई प्रवृत्तियाँ—जर्मन तथा रूसी विशेषज्ञों की सहायता से रूरकेला तथा भिलाई में लौह एवं स्पात के विशाल कारखानों की स्थापना।

प्रारम्भिक—

जीवन की सामान्य दशाओं को सुधारने लिये कृषि एवं औद्योगिक विकास की किसी भी योजना में लौह एवं इस्पात उद्योग को प्रथम स्थान दिया जाता है। यह उद्योग कारखानों के लिए आधारभूत कच्चा माल, यन्त्र एवं उपकरण, ट्रेक्टर, बिजली, इंजन, जलपोत एवं अन्य वस्तुयें, जो जीवन को अधिक सुखमय बनाती हैं, प्रदान करता है। किसी भी देश की राजनैतिक सुरक्षा एवं उसका आर्थिक विकास पर्याप्त

इस्पात के बिना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है। यह उद्योग भारत मे बड़ी तेजी से प्रगति कर रहा है। इस्पात उत्पादन के लिये आवश्यक कच्चे माल की दृष्टि से विश्व में ऐसे थोड़े ही देश हैं, जिनकी तुलना भारत से की जा सकती है। सम्पूर्ण यूरोप में स्वीडन को छोड कर ऐसा कोई भी देश नहीं है जहाँ भारत के समान अच्छा कच्चा लोहा एवं उच्च कोटि का कोयला मिलता हो। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे लोहे की खानें कोयला खानो से लगभग १,२०० मील की दूरी पर है, अतएव एक निश्चित केन्द्र पर इन पदार्थों को लाने की आवश्यकता पड़ती है, जिससे यातायात का व्यय अधिक हो जाता है। भारत में इसके विपरीत लोहे एव कोयले की खानें एक दूसरे से २०० मील से अधिक दूर नहीं हैं। दूसरे, हमारे उच्च कोटि के लोहे का भण्डार साधारण नहीं है। केवल सिंहभूमि में ही १०,००० मिलियन टन से अधिक लोहा है, जो यदि वर्तमान गति से प्रयोग किया जाय तो २,००० वर्ष तक चल सकता है। हाँ, यह अवश्य है कि लोहे के लिए कोयला आवश्यक मात्रा मे उपलब्ध नहीं है। कोयले की मात्रा केवल १,२०० मिलियन टन ही है, जो सम्भवतः १२० वर्ष में समाप्त हो जायगा, किन्तु यदि सावधानी से कोयले का प्रयोग किया जाय, तो यह अभाव न रहेगा। मैंगनीज के सम्बन्ध में भी, जोकि इस उद्योग के लिये एक अत्यन्त आवश्यक पदार्थ है, हमारा देश सर्वश्रेष्ठ स्थिति मे है। इस दृष्टि से भारत केवल अपनी ही नहीं वरन् अन्य देशों की भी आवश्यकतायें पूरी कर सकता है और कर भी रहा है। भारत के समान अधिक जन-संख्या वाले देश में श्रम की भी कोई समस्या नहीं है, इतना अवश्य है कि तान्त्रिक श्रमिकों एव अनुभवी व्यक्तियों का यहाँ अभाव है, अत. भारतीय इस्पात-उद्योग को अधिक व्यय करके कुशल श्रम मिलता है। सौभाग्य से पिछले ४० वर्षों में कठिन परिश्रम एव त्याग करके टाटा उद्योग ने निपुण श्रमजीवियों की सेना तैयार कर ली है। इन्हीं सराहनीय दृढ़प्रयत्नों के फलस्वरूप आज हमारे देश में कुशल श्रम की कोई विशेष कमी नहीं है।

उद्योग का अतीत—

लौह एव इस्पात-उद्योग भारत में बहुत प्राचीन-काल से चला आ रहा है। आज से ६-७ हजार वर्ष पूर्व भी भारतीय लोहे का उपयोग जानते थे। भारतीय इस्पात का बना हुआ माल विदेशों को जाया करता था और अपनी सुन्दरता के लिए वह विश्व में प्रसिद्ध था। जगत प्रसिद्ध दमिश्क के उस्तरे भारतीय इस्पात के ही बने होते थे। इङ्गलैंड मे कटलरी का सामान बनाने के लिये भारतीय इस्पात की बहुत माँग थी। दिल्ली का लौह स्तम्भ हमारे देश के इन्जीनियरों की कला का जीता-जागता प्रमाण है। इससे प्रगट होता है कि उन दिनों यह उद्योग कितनी उन्नति पर था। मुगल राज्य काल मे भी इस उद्योग की काफी सन्तोषजनक दशा रही और योरोपीय देशों में हमारे लोहे एव इस्पात की बडी माँग थी।

किन्तु यह सब भूतकाल की गाथा है एव लोहे तथा इस्पात उद्योग का इतिहास, जो आज विदित है, कठिनता से १२० वर्ष पुराना होगा, इस युग में सर्व-

प्रथम सन् १७७१ में दो विदेशियों ने लोहे के कारखाने खोलने के प्रयत्न किये, किन्तु वे असफल रहे। सन् १८२१ में एक भारतीय द्वारा मद्रास प्रान्त में लोहे का कारखाना खोलने का प्रयत्न किया गया, किन्तु वह भी आर्थिक कठिनाइयों के कारण सफलता न पा सका। तब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने उक्त कारखाना सन् १८२१ में मोल लेकर सन् १८७४ तक चलाया। इस कम्पनी को भी सफलता नहीं मिली, अतः कारखाना बन्द कर दिया गया। इस कम्पनी से सन् १८८७ में एक दूसरी कम्पनी ने, जिसकी स्थापना सन् १८७२ में हुई थी, कारखाना खरीद लिया। सन् १८८१ में कारखाने का नवीन नाम "बंगाल आयरन एण्ड स्टील कम्पनी" रखा गया। कम्पनी ने इस्पात का उत्पादन करना आरम्भ किया, किन्तु सफलता न मिली। सन् १६०७ में कम्पनी द्वारा ६० लाख टन कच्चा लोहा तैयार किया गया।

सफलता का श्रेय श्री टाटा को—

आधुनिक काल में हमारे देश में इस उद्योग की नींव डालने वाले श्री जमशेद जी नसरवान जी टाटा हैं, जिन्होंने १६ वीं शताब्दी के अन्तिम १० वर्ष तथा २० वीं शताब्दी के प्रथम वर्षों में जर्मनी एवं अमेरिकन विशेषज्ञों द्वारा हमारे देश के मध्य प्रान्त में जाँच कराई और सरकारी विभाग से स्वीकृति लेकर विदेशों में भ्रमण कर अनेकानेक कठिनाइयों को पार करने के पश्चात् कारखाना खोलने का निश्चय किया, किन्तु जो स्थान निश्चित किया गया था वह कोयले एवं लोहे की खानों से समान दूरी पर था, अतः वह नापसन्द कर दिया गया। तत्पश्चात् श्री पी० एन० बसु की सहायता से पता लगा कर एवं जाँच करके उन्होंने मयूरभंज राज्य (उड़ीसा) में सन् १६११ में कारखाना खोला, जो आज जमशेदपुर के नाम से प्रचलित है। इस कारखाने का नाम "दी टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी' (Tisco) रखा गया। कार्य प्रारम्भ होने के एक वर्ष बाद सन् १६१२ में इस्पात भी तैयार होने लगा। 'टिस्को' आज भारत का ही नहीं वरन् एशिया का गौरव है।

प्रथम महायुद्ध से उद्योग—

इस उद्योग के सौभाग्य से सन् १६१४ से यूरोपीय महासमर प्रारम्भ हो गया। एक ओर तो बाहर से लोहे एवं इस्पात का आयात कम हो गया, दूसरी ओर देश की माँग भी बढ़ गई। बढ़ी हुई माँग को पूरा करने का भार भारतीय उद्योग पर पड़ा। इस अनुकूल अवसर से देश के कारखाने उन्नति करने लगे। टाटा कम्पनी ने बहुत लाभ उठाया। इसने लोहे के अतिरिक्त इस्पात का भी निर्माण किया। रेल का सब सामान बनाने व राजकीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये घोर प्रयत्न किये गये। कम्पनी ने अपने कार्य क्षेत्र के विस्तार के लिये नई योजनायें बनाई, जो यद्यपि अंशतः ही पूर्ण हुईं। फिर भी कारखाने की उत्पादन-शक्ति काफी बढ़ गई। देश की बढ़ती हुई माँग से प्रेरणा लेकर एवं टाटा कम्पनी की सफलता से उत्साहित होकर अन्य कम्पनियों ने भी कारखाने खोले। आसनसोल में "इण्डियन आयरन एण्ड स्टील', मनोहरपुर में "दी यूनाइटेड स्टील कारपोरेशन ऑफ इण्डिया" व "दी ईस्टर्न आयरन

कम्पनी", भद्रावती में "दी मैसूर स्टेट आयरन वर्क्स" की स्थापना विशेष उल्लेखनीय है। मैसूर में भट्टी के अन्दर पत्थर के कोयले के स्थान पर लकड़ी जलाई जाती है।

उद्योग का संरक्षण एवं उसका विकास—

युद्धोत्तर काल में विदेशी लौह व इस्पात के अधिकाधिक यातायात से इस उद्योग को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा, अत सन् १६२३ में संरक्षण का विचार करने के लिये एक समिति नियुक्त की गई, जिसने आठ समाप्त होने पर इस्पात के धन्धे को संरक्षण का पूरा अधिकारी बतलाया। समिति के सुझावों को मान कर सरकार ने १६२४ में 'इस्पात संरक्षण सनियम' पास किया, जो तीन वर्ष के लिये था। इसके अन्तर्गत संरक्षण कर लगाने की अपेक्षा आर्थिक सहायता देने की नीति काम में लाई गई। प्रारम्भ में यह सहायता ५० लाख रुपये प्रति वर्ष दी गई, परन्तु बाद में विदेशी इस्पात का मूल्य अधिक गिरने पर यह सहायता बढ़ा दी गई तथा कुछ विदेशी वस्तुओं पर आयात कर बढ़ा दिया गया। १६२७ में इस सनियम की अवधि समाप्त होने पर समिति द्वारा फिर जाँच की गई। टाटा आदि अन्य कम्पनियों ने काफी आर्थिक लाभ उठाया, जिसे उन्होंने हिस्सेदारों में न बाँट कर अपना क्षेत्र बढ़ाने व नई योजनाओं को कार्यान्वित करने में लगाया। इससे उत्पादन बढ़ने व उत्पादन मूल्य कम होने की सम्भावना थी। विदेशी श्रम के स्थान में देशी कुशल श्रमिक रखे जा रहे थे। फिर भी कुछ अधिक समय के लिये संरक्षण की आवश्यकता समझी गई। अस्तु १६२७ में "इस्पात संरक्षण (संशोधित) सनियम" ७ वर्ष के लिये लागू किया गया। इसमें आर्थिक सहायता न देकर विदेशी माल पर आयात-कर लगाने का निश्चय हुआ। इङ्गलैण्ड के माल पर कर कम रखा गया।

१६२७-१६३४ के बीच विदेशी माल की प्रतियोगिता बढ़ने लगी। विश्वव्यापी मन्दी के कारण विदेशी इस्पात का मूल्य और अधिक गिर गया, इसलिये भारतीय उद्योग को संरक्षण की अधिक आवश्यकता अनुभव हुई। कर-समिति के सुझाव पर संरक्षण बढ़ा दिया गया। १६३४ में सप्त वर्षीय संरक्षण समाप्त हुआ। इस समय तक उद्योग यथेष्ठ उन्नति कर चुका था, अतः संरक्षण की आवश्यकता न थी, किन्तु सरकारी आय में कमी आने के भय से संरक्षण जारी रखा गया।

द्वितीय महासमर एवं उसके बाद—

१६३६ में शस्त्रीकरण की दौड़ प्रारम्भ होने से इस्पात की माँग बढ़ी। भारत ने फिर सुअवसर का लाभ उठाया। देश के कई भागों में नये नये कारखाने खुले। विद्यमान मिलों ने कार्य क्षेत्र बढ़ा लिया। मूल्य, लाभ और उत्पादन सब ऊँचे हो गये। विभिन्न प्रकार के मारने के लिये, जैसे—बम के गोले, तेज धार वाले शस्त्र, जलयान, वायुयान, मशीनगन, रायफल, टेलीग्राफ आदि के तार, डाक्टरों के औजार आदि तरह तरह का उपयुक्त इस्पात तैयार किया जाने लगा। १६३६ में पहले टाटा एवं तत्पश्चात् अन्य कम्पनियों से सरकार ने युद्ध कार्य हेतु आवश्यक स्टील के मूल्य के विषय में समझौते किये, जो आज भी किसी न किसी रूप में चले आ रहे हैं। सन्

१९४१ में युद्धजनित माँग पूरी करने के लिये टाटा ने जमशेदपुर में ह्वील टायर एण्ड एक्सिल प्लान्ट की स्थापना की, जिससे रेल के पहिये भी भारत में बनने लगे। ये प्लान्ट 'दी जमशेदपुर इञ्जीनियरिंग एण्ड मैन्यूफैक्चरिंग कंपनी' के नाम से विख्यात हैं।

युद्धोत्तर काल में उत्पादन गिरना एवं निर्यात कम होना इस उद्योग की विशेषता रही। इसके अनेक कारण थे, जैसे—उद्योग को कोयला प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई हुई, मजदूरी बढ़वाने के लिये श्रमिकों द्वारा हड़तालें की गई और यातायात की ओर असुविधा रही। परिणामस्वरूप उत्पादन कम हो गया और निर्यात भी घटने लगे। देश को विदेशी विनिमय की भी हानि हुई। देश के अन्दर प्रान्तीय कोटे बहुत कम कर दिये और विकास की योजनायें खटाई में पड़ गई।

मूल्य नियन्त्रण—

जैसा कि हम ऊपर संकेत कर चुके हैं, युद्ध के कारण यह उद्योग देश की माँग को पूरा करने में असमर्थ रहा है, जिससे इस्पात की कीमतें बढ़ने लगीं और विवश हो कर सरकार को इस उद्योग के उत्पादन पर १ जुलाई सन् १९४४ से मूल्य नियन्त्रण लगाना पड़ा। इसी प्रकार लोहे एवं इस्पात कारखाने के उत्पादन का भी राशनिंग किया गया, जिससे ये वस्तुएँ केवल परमिट द्वारा ही मिल सकती थीं। इस नियन्त्रण के अनुसार इस्पात की उच्चतम कीमत निश्चित कर दी गई, परन्तु उत्पादकों को अपनी अलग रिटेन्शन कीमतें रखने की स्वतन्त्रता थी। रिटेन्शन मूल्य से विक्रय मूल्य जितना अधिक होता था उतनी राशि से सरकार ने आयात में सहायता देने के लिये एक निधि बनाई।

उद्योग का उत्पादन बढ़ाने के लिए सहायता देने के हेतु यह आवश्यक है कि इस देश में स्टील का नियन्त्रण कुछ ढीला कर दिया जाये। स्टील आधारभूत कच्चा माल है, जिस पर अनेक उद्योगों की उन्नति अवलम्बित है। हमारे इन्जीनियरिंग कारखाने युद्ध-काल में पर्याप्त स्टील न पा सकने के कारण पूर्ण क्षमता से कार्य न कर सके थे। अभी कुछ कारखानों के काम में स्टील की कमी के कारण बड़ी बाधा पड़ रही है, इसलिये उत्पादन एवं उपयोग दोनों के लाभ के लिए सरकार को चाहिए कि नियन्त्रण इस प्रकार ढीला कर दे कि निश्चित मात्रा से ऊपर जो आधिक्य हो उसे मनवांछित व्यक्ति को स्वतन्त्र बाजार में बेचा जा सके एवं भाव भी १० या १२% ऊँचे बाँध दें। ऐसा करने से भारतीय स्टील विदेशों की अपेक्षा सस्ती पड़ेगी। तब ही सरकार को पंच-वर्षीय योजना में जो रकम स्टील कम्पनियों को देने के लिये रखी गई है, अन्य कार्यों में लगाने का अवसर मिलेगा।

भारत को इस्पात के सम्बन्ध में अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए विदेशों पर निर्भर नहीं रहना चाहिये, क्योंकि प्रथम तो सम्पूर्ण विश्व में ही इस्पात की कमी है। दूसरे, विदेशी इस्पात के लिए भारतीय इस्पात से अधिक दाम देने पड़ते हैं। तीसरे, खाद्य पदार्थ एवं यन्त्रों के यातायात के लिये, जो देश की वर्तमान परिस्थिति में अत्यन्त

आवश्यक है, विदेशी विनिमय मितव्ययिता से काम मे लाना चाहिये। इसमे लेशमात्र भी सन्देह नहीं है कि देश के औद्योगीकरण के लिये, जिसकी अत्यन्त आवश्यकता है। भारत को अधिकाधिक मात्रा में यन्त्रादिक आवश्यक होंगे, जिनकी पूर्ति के हेतु इस्पात उद्योग को अपना उत्पादन बढाना होगा। फिर दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों मे भी इस उद्योग का उत्पादन खपने की सम्भावना है। यदि अवसर का सदुपयोग करने में लापरवाही न दिखाई गई, तो निश्चय ही भारत का यह मौलिक उद्योग विश्व में उन्नति का एक आदर्श स्थापित कर सकेगा।

उद्योग की वर्तमान स्थिति एवं भविष्य—

पच-वर्षीय योजना की पूर्ति होने पर व्यक्तिगत क्षेत्र से पिग आयरन एव इस्पात का वार्षिक उत्पादन क्रमशः १६'२५ लाख टन एवं १२'८ लाख टन होगा, ऐसा योजनाओं के निर्माताओं का अनुमान है। यह सचमुच बडे सौभाग्य का विषय है कि हमारी लोकप्रिय सरकार भी इस उद्योग की प्रगति के लिये प्रयत्नशील है। इसी उद्देश्य से १ जनवरी १९५३ को स्टील कारपोरेशन ऑफ बगाल तथा इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनियों का एकीकरण (Merger) किया गया। इस सयुक्त सस्था की उत्पादनशीलता बढ़ाने के लिये विकास योजनायें भी चालू की गई, जिनकी पूर्ति के लिये दिसम्बर १९५१ में अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने ३१.२ मिलियन डालर का ऋण दिया है। इसके अलावा टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी तथा मैसूर आयरन एन्ड स्टील कम्पनी का भी आधुनिकीकरण एव विकास योजनायें कार्यान्वित हो रही हैं। इन योजनाओं के पूर्ण हो जाने पर सन् १९५७ में टाटा तथा मैसूर स्टील कम्पनी का वार्षिक उत्पादन क्रमश १,७१,००० एव ६०,००० टन अधिक होगा।* टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी को भारत सरकार से १० करोड रुपये का ऋण आधुनिकीकरण एव विस्तार योजनाओं की पूर्ति के लिये मिलेगा, जिसका समझौता २४ मई सन् १९५५ को हो गया है। इस समय हमारे देश मे 'टिस्को', स्कॉब व 'मैसूर आयरन वर्क्स भद्रावती'— ये तीन प्रमुख कारखाने लोहे व स्पात का उत्पादन कर रहे हैं।

इनके अतिरिक्त भारत सरकार ने जर्मनी की एक कम्पनी क्रुप डेमाग (Crupps Demag) की सहायता से रूर केला उडीसा मे हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड नामक इस्पात का एक बड़ा कारखाना खोलने का निश्चय किया है। यह कारखाना १०० करोड़ रुपये की अधिकृत पूँजी से खोला जा रहा है। उपरोक्त जर्मन सस्था के साथ तात्रिक एव आर्थिक सहयोग के लिये भारत सरकार ने २१ दिसम्बर सन् १९५३ को समझौता कर लिया है। इस कारखाने की वार्षिक उत्पादन क्षमता प्रारम्भ से ही १० लाख टन होगी, जब कि शुरु में ५ लाख टन उत्पादन को कालान्तर में दुगना करने का विचार था। रूर केला इस्पात कारखाने की योजना से सम्बन्धित अन्तिम प्रतिवेदन हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड के शिल्पिक परामर्शदाताओं ने तैयार कर

* द्वितीय पंच वर्षीय योजना के अन्तर्गत उत्पादन की मात्रा १०,००,००० टन होने का अनुमान है।

लिया है। योजना के मुख्य शिल्पक सलाहकार डा० टरमैन वलीनर हैं और श्री एस० एन० मजूमदार इस कम्पनी के प्रबन्ध संचालक हैं। इस योजना के अन्तर्गत १७ डिवीजनल इन्जीनियर पिछले दिसम्बर से पश्चिमी जर्मनी में प्रशिक्षण ले रहे हैं और हाल ही में ७ और भेजे गये हैं। भारत में कुशल शिल्पकों को प्रशिक्षण देने वाली 'वर्कशाप' के लिये अधीक्षक चुने जा चुके हैं। हर साल १०० प्रशिक्षार्थियों को प्रशिक्षण दिया जाएगा। इसके अतिरिक्त उड़ीसा सरकार भी सन् १९५८ तक ४०० प्रशिक्षित कर्मचारी देने का प्रबन्ध कर रही है। इसके लिए कई प्रशिक्षण योजनायें चालू हैं।

उत्पादन मन्त्रालय की एक विज्ञप्ति में बताया गया है कि इस देश में लोहा व इस्पात तैयार करने का एक आधुनिक कारखाना खड़ा करने के विषय में यहाँ भारत और रूस के बीच एक करार पर हस्ताक्षर हो गये हैं। यह कारखाना प्रति वर्ष १० लाख टन माल तैयार करेगा, जिसमें से ७॥ लाख टन इस्पात रौल की हुई चीजों के रूप में होगा। बाद में कारखाने की सामर्थ्य बढ़ा कर १० लाख टन रौल किया हुआ माल तैयार करने की कर दी जायेगी। रूसी इस्पात विशेषज्ञों का दल नवम्बर सन् १९५५ में भारत आया था। भारत सरकार ने दल की सिफारिश मानते हुए यह कारखाना मध्य-प्रदेश के भिलाई क्षेत्र में खोलने का निश्चय किया है:—

(१) सारा कारखाना ३१ दिसम्बर सन् १९५९ तक और उसके कई मुख्य विभाग एक साल पहले से काम करने लगेंगे।

(२) कारखाने का साज-सामान और मशीनरी रूस देगा, जिसका मूल्य १२ सालाना किश्तों में बची रकम पर ढाई प्रतिशत वार्षिक ब्याज सहित अदा किया जायगा। इस प्रकार अदा किया जाने वाला रुपया, रिजर्व बैंक में खोले गये एक विशेष खाते में जमा होगा तथा इस रुपए से रूस भारत में माल खरीद सकेगा और या उसे पौंडों में बदलवा सकेगा। मूल्य का निश्चय अन्तिम प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के बाद किया जायगा।

(३) भारतीय विशेषज्ञ भी रूस में इसी प्रकार के कारखाने देखने के लिये जा सकेंगे।

(४) भारतीय शिल्पियों के प्रशिक्षण के लिए भारत में और रूस में भी आवश्यक व्यवस्था रहेगी, ताकि शुरू में ही वे कारखाने की योजना में अधिकाधिक हाथ बँटा सकें।

यह करार द्वितीय पञ्च-वर्षीय योजना की अवधि में प्रति वर्ष ६० लाख टन इस्पात तैयार करने के भारत सरकार के लक्ष्य की ओर एक महत्त्वपूर्ण कदम है। भारत और रूस के बीच अपनी किस्म का यह पहला करार और इन दोनों देशों के बीच होने वाला सबसे बड़ा व्यापारिक समझौता है।

इस सम्बन्ध में यह लिखना अनावश्यक न होगा कि कुशल श्रमिक एवं तांत्रिक के अभाव को मिटाने के लिए औद्योगिक तान्त्रिक प्रशिक्षण योजनायें बनाई गई हैं जो हीराकुण्ड क्षेत्र उड़ीसा में कार्यान्वित की जायेंगी। उपलब्ध कोयले की अधिकता एवं

मितव्ययिता से उपयोग करने में भारतीय प्रमाप संस्था सराहनीय काम कर रही है। इसके अतिरिक्त 'दी मैटलार्जीकल लेबोरेटरीज की स्थापना भी की गई है, जो देशी लाहे से इस्पात की अनेक किस्में बनाने तथा 'इस्पात का श्रेष्ठतम उपयोग कराने में सहायक होगी।

इस प्रकार लोहे एव इस्पात उद्योग की वर्तमान प्रगति से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि निकट भविष्य में यह उद्योग केवल भारत की ही नहीं अपितु समस्त एशिया की माँग को पूरा कर सकेगा। इसका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है।

---

[१०]

भारतीय जूट उद्योग

रूपरेखा—

१. प्रारम्भिक—जूट उद्योग भारत का गौरव है। बगाल में इस उद्योग का केन्द्रीयकरण है। विदेशी विनिमय की दृष्टि से यह उद्योग अधिक महत्वपूर्ण है।

२ उद्योग का प्रारम्भिक इतिहास—जूट मिल उद्योग का श्रीगणेश सन् १८५४ में सेरमपुर नामक स्थान पर हुआ। सन् १८८२ तक मिलों की सख्या २० थी, जिनमें से १७ मिलें कलकत्ते में ही केन्द्रित थीं। सन् १८९६ से सन् १९०० के मध्य दुर्भिक्ष से उद्योग को धक्का लगा। २० वीं शताब्दी में औद्योगीकरण के विकास के साथ जूट उद्योग ने भी अच्छी प्रगति की।

३ प्रथम महायुद्ध एव इसके बाद—युद्धकाल मे माँग बढ जाने के कारण उद्योग ने विशेष लाभ कमाए। युद्ध समाप्त होते ही मन्दी का झोंका आया, माँग कम हो गई एव मूल्य भी गिर गए। मिलों ने काम के घण्टे घटा दिए।

४ द्वितीय महासमर में उद्योग—पूर्व की ही भाँति इस काल मे पुन माँग बढ गई एव उद्योग ने खूब लाभ कमाए। उत्पादन की मात्रा भी काफी बढ गई। सन् १९४७ तक ऐसी ही स्थिति रही।

५ भारत के विभाजन का उद्योग पर प्रभाव—देश के बँटवारे का इस उद्योग पर गहरा प्रभाव पड़ा। पाट की उपज का ७२% भाग पाकिस्तान में रह गया एव जूट की मिलें प्राय शत प्रतिशत भारत में ही रहीं, अत पाट की कमी को पूरा करने के लिए भारत सरकार को 'अधिक जूट उपजाओ' आन्दोलन शुरू करना पड़ा। नयी योजनायें।

६ उद्योग की वर्तमान समस्यायें एव उनके हल—(१) पाट की कमी, (२) जलवायु सम्बन्धी कठिनाई, (३) पाकिस्तान का असन्तोषजनक व्यवहार, (४) मुद्रा सम्बन्धी कठिनाई, (५) विदेशी प्रतिस्पर्धा का भय, (६) पाट के मूल्य का प्रश्न पटसन जाँच आयोग।

७ वर्तमान स्थिति और भविष्य—उद्योग की वर्तमान स्थिति सन्तोषजनक है। उद्योग में नवयुग का प्रारम्भ हो गया है। समस्यायें प्राय सुलझ गई हैं। भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है।

प्रारम्भिक—

जूट-उद्योग भारत का गौरव है। देश की अधिकाँश जूट मिलें बगाल में, विशेषत: हुगली नदी के तट पर कलकत्ता के आस पास स्थित हैं। सुन्दर भौगोलिक

दशायें, समुन्नत यातायात के साधन, सस्ती शक्ति एवं पर्याप्त श्रमिकों की सुलभता ही वे कारण हैं, जिन्होंने इस उद्योग की स्थिति को इस क्षेत्र में दृढ़ कर दिया है। इस उद्योग का महत्व इसलिए विशेष है कि इसका अधिकांश उत्पादन देश में ही खप जाता है और शेष निर्यात हो कर हमें अमूल्य विदेशी विनिमय प्राप्त कराता है, जिसकी हमें विदेशों से व्यापारपूर्ण अन्य वस्तुओं के आयात का भुगतान करने के लिए आवश्यकता है। आगे सारिणियों में पिछले तीन वित्तीय वर्षों में भारतीय जूट-उद्योग द्वारा अर्जित विदेशी मुद्रा की तुलना भारत के अन्य प्रमुख निर्यात उद्योगों से की गई है।

भारत द्वारा विदेशी मुद्रा का अर्जन

(करोड़ रुपयों में)

		जूट का सामान		चाय		कपास की बनी वस्तुएँ		खालें और चाम		भारत का कुल निर्यात
		पावना रु०	प्रतिशत	पा० रु०	प्र० श०	पा० रु०	प्र० श०	पा० रु०	प्र० श०	
१९५२-५३	१२९		२३.२	८०	१४.४	७०	१२.६	२६	४.७	५५५
१९५३-५४	११४		२२.०	१०२	१९.७	७२	११.६	३१	६.०	५१८
१९५४-५५	१२४		२०.७	१४७	२५.७	६६	११.५	२६	४.५	५७२

भारत द्वारा अमेरिका को निर्यात

(करोड़ रुपयों में)

	जूट का सामान		चाय		कपास की बनी वस्तुएँ		लाख		कुल
	पावना रु०	प्र० श०	पा० रु०	प्र० श०	पा० रु०	प्र० श०	पा० रु०	प्र० श०	पावना रु०
१९५२-५३	३७.०	३३	५.१	५	१४.४	११	३.७	३	१११.८
१९५३-५४	२७.४	३०	७.२	८	१०.३	११	२.८	३	८१.९
१९५४-५५	२९.८	३४	१०.४	१२	८.७	२०	३.५	४	८७.४

उद्योग का प्रारम्भिक इतिहास—

भारत में जूट की खेती बहुत प्राचीन-काल से होती आ रही है, किन्तु यूरोपीय देशों को निर्यात ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आने के बाद ही प्रारम्भ हुआ। पालों से चलने वाले जहाजों में रस्सी की आवश्यकता पड़ती थी। पाट के बोरे और बिछौने भी बनते थे। १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक बंगाल में पाट की वस्तुओं का निर्माण हाथ के करघों पर ही होता था, किन्तु जब से डन्डी में यंत्रों की सहायता से चलने वाला पाट का कारखाना खुला, तब से हमारे देश से कच्चा माल अधिक निर्यात होने लगा और देश के जुलाहों के धन्धे में अवनति होने लगी। सन् १८५४ में रूस तथा इंगलैंड में युद्ध प्रारम्भ होने के कारण रूसी पाट का निर्यात बन्द हो गया, अतः भारतीय कच्चे पाट के निर्यात में और भी अधिक वृद्धि हुई।

भारत में यन्त्रों की सहायता से चलने वाले पाट मिल का श्री गणेश सन् १,८५४ में सेरामपुर स्थान पर श्री आकलैंड नामक एक अंग्रेज द्वारा हुआ। इस मिल की स्थापना से १० वर्ष तक मिलों की संख्या में कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हुई। इस अवधि में एक मिल और बढ़ा, किन्तु सन् १८८२ तक मिलों की संख्या २० हो गई और इनमें काम करने वाले मजदूरों की संख्या २०,००० तक पहुँच गई। इन मिलों को अच्छी सफलता मिली और इन्होंने काफी लाभ कमाया। इन मिलों के मालिक अंग्रेज ही थे। कुल २० मिलों में से १० मिलें केवल कलकत्ता नगर और उसके आस-पास ही केन्द्रित थीं, अतः इस उद्योग पर कलकत्ते का ही एकाधिकार था। पटसन का उत्पादन हमारे देश की माँग पर उतना निर्भर नहीं था जितना कि विदेशी माँग पर। यन्त्रों से बनाया हुआ पटसन विदेशों को निर्यात किया जाने लगा। विदेशों से पटसन के माल की अधिक माँग आने के कारण मिलों की संख्या में भी वृद्धि हुई। काम करने वालों की संख्या करीब दो गुनी, करघों की संख्या ढाई गुनी और तकुओं की संख्या लगभग तीन गुनी हो गई। उत्पादन की वृद्धि के साथ उत्पादन व्यय कम हुये और लाभ की मात्रा बढ़ी। मिलों में अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा भी नहीं हुई और संगठन अच्छा रहा। पटसन उद्योग के हित में यह बात भी अच्छी है कि कच्चा पटसन कारखानों के आस-पास मिल जाता है।

सन् १८९६ से सन् १९०० के मध्य दुर्भिक्ष से इस उद्योग को धक्का लगा, किन्तु २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ में कृषि की उन्नति होने पर पाट के धन्धे में तेजी आई। सन् १९०१-६ में विश्व-व्यापी मन्दी के कारण दो वर्ष फिर उद्योग में उदासी छा गई। उधर जर्मनी व अमेरिका में पाट की स्थानापन्न वस्तुओं के उपयोग को प्रोत्साहन दिया जा रहा था, किन्तु इससे उद्योग को विशेष क्षति नहीं हुई।

प्रथम महायुद्ध में उद्योग—

प्रथम महायुद्ध के दिनों में जूट-उद्योग ने बड़े लाभ उठाये। कल-यन्त्रों आदि का बाहर से आयात रुक गया था, इसलिये नई मिलों की स्थापना पर उनसे प्रतिस्पर्धा का डर न रहा। फौजी आवश्यकताओं के लिए जूट की माँग बढ़ गई। विदेशों से भी

भारी माँग आई। मिल मालिकों का सगठन अच्छा था ही। पूर्ण कार्यक्षमता से जुटकर उत्पादन किया गया। कारखाना अधिनियम ढीले कर दिये गये और कच्चे माल का निर्यात एक दम रोक दिया गया। इस अवधि में (सन् १६१५-१८) खपत ५५ लाख गाँठे प्रति वर्ष रहीं, जबकि युद्ध के पूर्व ४५ लाख वार्षिक थी। मजदूरी की दर व पाट के मूल्य में विशेष वृद्धि के कारण मालिकों को ६०% से ७५% तक लाभ हुये।

मन्दी के युग में उद्योग—

युद्ध समाप्त होते ही मन्दी का झोंका आया। सरकारी मांग लुप्त हो गई थी, किन्तु मजदूरी एवं कच्चे माल के दाम बढ़ गये। युद्धकालीन लाभ से उत्साहित होकर इस झोंके से पूर्व ही कुछ नई मिलें खुल गई थीं एवं कुछ विद्यमान मिलों ने अपने कार्य क्षेत्र का विस्तार करना आरम्भ कर दिया था। इस प्रकार उत्पादन बढ़ने लगा, किन्तु खपत घटने से मन्दी बढ़ती गई। इधर कोयले की भी कमी अनुभव हुई, अस्तु मिलों में काम के घण्टे घटा दिये गये और यह निश्चय किया गया कि कोई मिल अपना और अधिक विस्तार न करे। इसके अतिरिक्त करघों के कुछ प्रतिशत को बन्द भी कर दिया गया। यद्यपि इस नियन्त्रण में कुछ मिलों का सहयोग न था, फिर भी सगठन अच्छा होने के कारण स्थिति धीरे धीरे सुधरने लगी।

द्वितीय महासागर में उद्योग—

द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने पर जूट उद्योगपतियों ने फिर बहुत लाभ कमाये। युद्ध के कारण जूट के माल की माँग बहुत बढ़ गई और भारतीय मिलों ने उत्पादन की मात्रा भी काफी बढ़ा दी। सन् १६४७ तक ऐसी ही स्थिति रही।

भारत के बटवारे का उद्योग पर प्रभाव—

किन्तु १५ अगस्त १६४७ के बाद जूट उद्योग के भाग्य ने पलटा खाया। देश के विभाजन का इस उद्योग की स्थिति पर गहरा प्रभाव पड़ा, जबकि पाट की उपज का ७५% क्षेत्र पाकिस्तान में रह गया है, पाट की मिलें प्राय शत प्रतिशत भारत में ही हैं। पाकिस्तान द्वारा पाट के निर्यात पर कर लगा देने से भारतीय मिलों को कच्चे माल का अभाव अनुभव होने लगा है। इस सम्बन्ध में पाकिस्तान से वार्ता चल रही है। अभी तक जितने भी समझौते हुये उन्हें पाकिस्तान ने ईमानदारी से नहीं निभाया है। ऐसा भी सुना गया है कि पाकिस्तान चिटगाँव के बन्दरगाह को जूट निर्यात का केन्द्र बनाने वाला है और कई कारखाने खोलने के आदेश भी दे दिये हैं। ब्रिटिश विशेषज्ञों को पाकिस्तान में जूट तैयार करने का धन्धा विकसित करने के लिये निमन्त्रित किया गया है।

अब भारत को अपने कारखानों के लिये काफी पाट उत्पन्न करने का प्रयत्न स्वय करना होगा। हर्ष का विषय है कि बिहार, उडीसा एवं उत्तर-प्रदेश में पाट की खेती को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। एक पृथक विभाग की भी स्थापना हो गई है, जो गाँवों में पाट की खेती करने के लिये प्रचार करता है, बीज बाँटता है, खेती के सम्बन्ध में सब प्रकार की जानकारी प्रदान करता है और विक्रय सम्बन्धी कठिनाई को बचाने

है। आजकल यहाँ तीन बड़ी मिलें हैं। इनकी आवश्यकता को पूरा करने के लिए उत्तर-प्रदेश की सरकार ने ''अधिक जूट उत्पादन'' के हेतु चार क्षेत्र बनाये हैं :—लखीमपुर, सीतापुर, गोंडा तथा गोरखपुर। पहले उत्तर-प्रदेश में केवल ६,००० मन पाट होता था, किन्तु राजकीय प्रयत्नों के परिणामस्वरूप आज ६,००,००० मन से भी अधिक पाट उत्पन्न होता है। हाँ, यह अवश्य है कि उत्तर-प्रदेश का पाट घटिया होता है और लोग इसे 'जङ्गली पाट' कहते हैं। यदि सरकार किसी प्रकार बढ़िया पाट उत्पन्न करा सके, तो इस प्रान्त की मिलों का सिर-दर्द काफी दूर हो जाय।

निस्सन्देह भारतीय जूट उद्योग अपने निर्यात बढ़ाने और पैकिंग सामग्री का प्रमुख विक्रेता बनने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ है। इसके प्रमाणस्वरूप अभिनवीकरण की उन योजनाओं का उल्लेख कर देना अनुचित न होगा जो कलकत्ते की मिलों में या तो कार्यान्वित कर दी गई हैं अथवा की जा रही हैं। इन योजनाओं का उद्देश्य है कम से कम लागत पर उत्पादन में अधिकतम कार्य निपुणता उत्पन्न करना। इस प्रकार की नीति अपनाकर ही भारतीय जूट उद्योग इतने अधिक प्रतिस्पर्धात्मक व्यापार-क्षेत्र में जीवित रह सकता है। आधुनिक ढङ्ग के यन्त्रों तथा मशीनों के प्रयोग से प्राप्त जानकारी ने इस भय को निर्मूल सिद्ध कर दिया है कि भारतीय मिलों ने अपने उपकरणों का अभिनवीकरण न करके अपना स्थान ही खो दिया है। अब तो पर्याप्त समय से भारतीय मिलों में संसार के किसी अन्य भाग के जूट उद्योग से अधिक आधुनिक ढंग की मशीनें लगी हुई हैं। सन् १९६० तक अभिनवीकरण के इस कार्य का मुख्य अंश पूरा हो जायगा और भारतीय जूट उद्योग अन्य देशों के जूट उद्योगों के स्तर पर आकर अत्यधिक बल प्राप्त कर लेगा। भारत सरकार ने अभिनवीकरण सम्बन्धी योजनाएँ पूरी करने में भारतीय जूट उद्योग के साथ अधिकतम सहयोग करके अत्यन्त दूरदर्शिता का परिचय दिया है। उद्योग को इसके लिए सरकार की कृतज्ञता स्वीकार करनी चाहिए। अब तो सरकार का यह सहयोग और भी अधिक सुनिश्चित स्वरूप धारण कर रहा है। सरकार उन कम्पनियों को ऋण दे रही है जो केवल अपने ही साधनों द्वारा अभिनवीकरण की योजनायें कार्यान्वित नहीं कर सकतीं। सरकार और उद्योग का यह सम्मिलित प्रयत्न उस सहयोग का सूचक है जो पिछले वर्षों में इस उद्योग की एक प्रमुख विशेषता रहा है और भविष्य के लिए भी एक शुभ संकेत है।

उद्योग की वर्तमान समस्याएँ एवं उनके हल—

पाट की कमी—

भारत के बटवारे से हमारे जूट उद्योग की एकाधिकार की स्थिति छिन्न-भिन्न हो गई है। आज सबसे जटिल समस्या है, कच्चे माल अर्थात् पाट के उत्पादन की। पाट की कमी तो अविभाजित भारत में भी रही। सन् १९२६ से सन् १९३१ तक इस

वर्षों के मध्य जूट की औसत वार्षिक फसल ८३ लाख गाँठ के लगभग थी। सन् १९५२ के बाद यह मात्रा १० लाख गाँठ कम हो गई। युद्धोत्तर-काल में जूट के माल की अत्यधिक माँग, जो स्टॉक संग्रह रखने एवं व्यापारिक विकास के कारण उत्पन्न हुई। स्मरण रखते हुये हम यह कह सकते हैं कि ६ साल की अवधि में एक साल की उत्पत्ति के बराबर पैदावार में कमी हो जाना एक बड़ी दुर्भाग्य पूर्ण बात थी। यह अभाव उत्पादन के क्षेत्र में कमी होने व प्रति एकड़ उपज घटने का परिणाम था। पट के उत्पादन को बढ़ाने के लिए भारत सरकार ने अनेक प्रयत्न किये, किन्तु कोई उनके उल्लेखनीय प्रभाव न हुये।

जलवायु सम्बन्धी कठिनाई—

पाट उत्पादन के नवीन क्षेत्रों में जलवायु सम्बन्धी कठिनाई (जैसे, सूखा पड़ना, बाढ़ आना आदि) भी एक प्रधान समस्या है, जो इस अभाव की स्थिति में जले पर नमक छिड़कने का काम करती है। कृत्रिम वर्षा, बाढ़ नियन्त्रण, उन्नत बीज एवं खाद द्वारा कच्चे जूट की फसल प्रति एकड़ काफी बढ़ाई जा सकती है।

पाकिस्तान का असन्तोषजनक व्यवहार—

भारत पाकिस्तान के बीच व्यापारिक सम्बन्ध ठीक न होना भी हमारे जूट उद्योग की एक जटिल समस्या है। पाकिस्तान ने सदैव भारत को अपना वचन पूरा न करके निराश ही किया। ५ अगस्त सन् १९५२ को भारत तथा पाक के बीच नई दिल्ली में जिस समझौते पर हस्ताक्षर हुये वह भी सफल न हो सका। इससे भारत के जूट के व्यापारियों को बड़ी निराशा हो गई है। भारत को आशा थी कि इस समझौते के अनुसार २३ रुपया प्रति मन का विवेचनात्मक लाइसेन्स शुल्क (Discriminating License Fee), जो कि पाकिस्तान ने लगा रक्खा था, हटा दिया जायेगा, किन्तु समझौता होने पर भी पाकिस्तान अपनी हठ से न हटा। किसी भी विषय पर हस्ताक्षर करना तो वे मज़ाक समझते हैं, जबकि भारत की नीति है कि "प्राण जाहिं पर वचन न जाई।" पाकिस्तान ने अन्य देशों को (भारत को छोड़ कर) निर्यात की जाने वाली जूट की गाँठों पर निर्यात कर ३) प्रति मन और भारत को भेजे जाने वाली जूट की गाँठों पर पौने चार रुपया प्रति मन का निर्यात कर लगाया। इस प्रकार भारत में जो माल आता है उस पर २॥) निर्यात का लाइसेन्स शुल्क तथा बारह आने अधिक निर्यात कर, कुल पौने चार रुपये प्रति मन भारत को अधिक देना पड़ता है। भारतीय मुद्रा में वह पाँच रुपए लगभग पड़ता है, अतः पाकिस्तानी जूट से सामान तैयार करने में भारत को अधिक व्यय करना पड़ता है। यह है भाई-चारे का व्यवहार ! सच तो यह है कि पाकिस्तान भारत को नीचा दिखाना चाहता है। उसकी प्रत्येक क्रिया प्रतिद्वन्द्विता तथा ईर्ष्या की भावना से भरी हुई होती है। पाकिस्तान की धारणा है कि भारत विवश होकर उसके पैर छुयेगा।

मुद्रा सम्बन्धी कठिनाई—

२१ सितम्बर सन् १९४९ को भारत ने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के डालर के

सम्बन्ध में अपने रुपये का अवमूल्यन (Devaluation) किया। स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के सभी देशों ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया, परन्तु पाकिस्तान ने एक दूसरा ही मार्ग अपनाया। उसने अवमूल्यन न करने का निश्चय किया, परिणाम यह हुआ कि पाकिस्तान के १००) के माल के लिए भारत को अब १४४) देने पड़े अथवा दूसरे शब्दों में, पाकिस्तान से माल मंगाने में भारत को अब पहले की अपेक्षा ४४ प्रतिशत अधिक देना पड़ा। मुद्रा सम्बन्धी इस कठिनाई ने भारत के सम्मुख एक कठिन समस्या उपस्थित कर दी। अपनी मिलों को चलाने के लिये उसको ४४ प्रतिशत अधिक मूल्य देना पड़ा। भारत अपने जूट के मिल के दाम नहीं बढ़ा सकता, क्योंकि ऐसा करने से उसके निर्यात व्यापार पर प्रभाव पड़ता है। विवश होकर जूट मिल एसोसियेशन ने पाकिस्तानी जूट की खरीद कम कर दी। इससे उद्योग को बड़ी हानि उठानी पड़ी तथा आज भी उठानी पड़ रही है।

निस्सन्देह इस अभाव को पूरा करने के लिये जूट टैक्नोलोजिकल इन्स्टीट्यूट ने केन्द्रीय जूट समिति के संकेत पर मेस्तों के छिलके से रेशा निकालने की कला में विकास किया है और उसे वे जूट में मिलाते हैं, किन्तु इससे कोई विशेष लाभ न हो सकेगा, क्योंकि स्थानापन्न रेशे का मूल्य अधिक है।

विदेशी प्रतिस्पर्धा का भय—

भारतीय जूट मिल-उद्योग की एक बड़ी समस्या विदेशी माल (विशेषकर जूट के स्थानापन्न) से प्रतिस्पर्धा भी है। विभिन्न पत्रों में ऐसी चेतावनी अनेक बार निकली है कि अमेरिका, यू० के०, रूस तथा योरोप के कुछ अन्य देश भी स्थानापन्न जूट बनाने में प्रगति कर रहे हैं। भारत के बटवारे ने इन देशों को विशेष प्रोत्साहन मिला। पाकिस्तान आज पाट का निर्यात अन्य देशों को खुशी से कर रहा है, किन्तु भारत की सहायता करने में वह आनाकानी करता है। भारतीय मिलों का उत्पादन भी कम हो गया है, अतएव अन्य देशों का जूट मिल-उद्योग काफी उन्नति कर रहा है। पाकिस्तान भी जूट-निर्माण के लिए प्रयत्न कर रहा है। ऐसी परिस्थितियों में भारत को सावधान होकर कार्य करना चाहिये।

पाट के मूल्य का प्रश्न—

जूट के दामों में अन्य स्थानापन्न वस्तुओं की अपेक्षा जो अधिक वृद्धि हुई है उसका एक कारण तो यह है कि पाकिस्तान से आयात किये गए पाट के मूल्य में बढ़ोतरी हो गई है। सन् १९४७ के अन्तिम दिनों में पाकिस्तान सरकार ने अपनी सीमा से बाहर जाने वाले तमाम जूट पर चुंगी लगादी। इसके अतिरिक्त इस ऋतु में मिलों को पाकिस्तान से आई जूट में अधिक नमी के कारण १६२ लाख रुपये की हानि हुई। दूसरे, श्रम लागतों में भी बढ़ोतरी हुई। एक बात यह भी है कि भारतीय मिल एक मजदूर के काम के लिए ४ मजदूर नियुक्त करते हैं। प्रारम्भ में तो यह कठिन न था, क्योंकि श्रम सस्ता था, किन्तु अब हमारे श्रमजीवी भी वही सुविधायें

प्राप्त करने का यत्न करते है, जो अन्य देशों में केवल कुशल कारीगरों को दी जाती हैं। इन सबका उद्योग की आय पर कुप्रभाव पडा और मशीनों की मरम्मत एवं नवकरण पर व्यय करने की उनकी क्षमता भी घट गई। अन्य देशों में तो मिलें बराबर अपने यन्त्रों को बदल रही हैं, अतः यदि हमने जूट उद्योग के वैज्ञानिकन के लिए उचित प्रयत्न न किए, तो ये व्यय कम न हो सकेंगे। इसके साथ ही सरकार जूट के माल पर निर्यात-कर की दरें भी कम करे, जो भारतीय रुपये के अवमूल्यन के पश्चात् बहुत बढ गई हैं। साथ ही सरकार निर्यात की कोटा-पद्धति भी समाप्त करे। हाँ, वह अंश बना रहे जो विदेशों से हुए द्विपक्षीय समझौतों की पूर्ति के लिए आवश्यक हो।

पटसन जाँच आयोग—

उपयुक्त समस्याओं को सुलझाने के लिए भारत सरकार ने एक पटसन जाँच आयोग नियुक्त किया था, जिसने अनेक सिफारिशें दी हैं। भारत सरकार ने पटसन जाँच आयोग की यह सिफारिश मान ली है कि भविष्य में पटसन की खेती बढाने के बजाय उसकी किस्म अच्छी करने की ओर ध्यान देना अधिक आवश्यक है। सरकार ने आयोग की यह सिफारिश भी मान ली है कि नई मिलों के खोलने की इजाजत न दी जाय, क्योंकि इस समय जो मिलें हैं उनके पास ही पूरा काम नहीं है, इसलिए लक्ष्य यह होना चाहिए कि वर्तमान मिलें पूरा काम करें। पटसन की बिक्री के बारे में सरकार ने आयोग की यह सिफारिश स्वीकार कर ली है कि बम्बई के ईस्ट इन्डियन कॉटन एसोसिएशन की तरह पटसन के लिए भी एक व्यापारिक सगठन कायम किया जाय।

सरकार ने पटसन उद्योग का ध्यान भी आयोग के सुझावों की ओर खींचा है। दूसरी बातों के साथ इन सुझावों में कलकत्ते में पटसन के गोदामों का उचित इस्तेमाल, काम के घन्टे बढ़ाकर सप्ताह में ४८ घंटे करने, विविध प्रकार का माल बनाने, काम के घन्टे बढ़ाने से मजदूर फालतू हों तो उन्हें काम पर लगाने तथा उद्योग के विकास और उन्नति के लिए अपने ही साधनों पर निर्भर रहने के लिए विशेष जोर दिया गया है। अपने साधनों पर निर्भर होने के लिए उद्योग को लाभांश कम रखने की सलाह दी गई है।

जूट के उत्पादन की प्रगति निम्न आँकड़ों से देखी जा सकती है :—

वर्ष	जूट का माल (००० टन)
१९४६	१,०८८·५
१९४७	१,०५१·२
१९४८	१,०८८·४
१९४९	९४५·६
१९५०	८३५·२
१९५१	८७४·८
१९५२	८५१·६
१९५३	८६८·८
१९५४	९२७·७

वर्तमान स्थिति और भविष्य—

जूट उद्योग की प्रतिस्पर्धा शक्ति दृढ़ करने के लिए पटसन जाँच आयोग द्वारा सुझाए गए कदम यदि न उठाए गये, तो जो स्थिति हम खो चुके हैं उसे पुनः पाने की बात तो अलग रही, हम बाकी रही प्रतिष्ठा को भी खो देंगे। हमारा जूट-उद्योग महत्व में वस्त्र उद्योग के बाद आता है, जिसमें २० करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई है, ३,०२,००० श्रमिकों को काम मिला हुआ है और लगभग १६१ करोड़ रुपया प्रति वर्ष मज़दूरी एवं अन्य लाभ के रूप में वितरित करता है। इसके अतिरिक्त निर्मित जूट हमारे निर्यात की प्रमुख वस्तु भी है। अभी जूट निर्यात में पर्याप्त कमी आ जाने से हमें कम डालर विनिमय प्राप्त हुए, अतः मशीनों के आयात करने की, जिसकी हमें पंच वर्षीय योजना को सफल बनाने के लिए आवश्यकता है, क्षमता भी कम हो गई है, इसलिए निर्यात परामर्शदाता समिति एवं सरकार दोनों को इस ओर ध्यान देना चाहिए अन्यथा ऐसा न हो कि उद्योग नष्ट हो जाय और फिर फलस्वरूप न केवल पूँजी एवं श्रमिक ही बेकार हों, अपितु देश का औद्योगिक एवं आर्थिक संतुलन नष्ट हो कर हमारी अर्थ-व्यवस्था को धक्का भी पहुँचे।

नवयुग का समारम्भ—

महायुद्ध के उपरान्त भारतीय जूट उद्योग एक दोराहे पर खड़ा हो गया था, परन्तु अब यह अपनी अभीष्ट दिशा की ओर बढ़ चुका है। कोरिया युद्ध के दिनों में सामने आने वाले अशान्त तथा अस्त व्यस्त वातावरण से उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों पर विजय पाकर अब यह उद्योग बहुत तेजी के साथ प्रगति कर रहा है और अपना खोया हुआ स्थान प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है। इसका लक्ष्य है पैकिंग सामग्री के व्यापार में अपेक्षाकृत प्रमुखता प्राप्त करना और अपने उन अपरिमित शक्ति साधनों के समुचित विकास के लिए उपयुक्त दिशाओं की खोज करना जो अभी अज्ञातः बेकार पड़े हैं। इसके लिए बाजारों की खोज करने और सामान्य रूप से प्रगति करने के लिए उदार और स्थाई कार्यक्रम बनाना होगा। सन् १९५४ से इस उद्योग ने ऐसा कार्यक्रम आरम्भ कर दिया है। इस कार्यक्रम का श्री गणेश अधिकतम महत्वपूर्ण मंडियों—अमरीका, ब्रिटेन और आस्ट्रेलिया—से किया गया। इनमें से प्रथम दो देशों में इंडियन जूट मिल्स एसोसियेशन के कार्यालय हैं। इनके अतिरिक्त इस एसोसियेशन ने अमरीका, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड में भी शिष्टमंडल भेजे हैं। इन क्षेत्रों में प्रचार-कार्य, जनसम्पर्क और विज्ञापन आदि के आन्दोलन अधिक तेजी से आरम्भ कर दिये गए हैं और अमरीका में जूट के सामान के प्रयोग के सम्बन्ध में नये क्षेत्रों की खोज करने पर अधिकाधिक बल दिया जा रहा है। अमरीका के औद्योगिक तथा अन्य क्षेत्रों में इस प्रकार के अनुसन्धान कार्य के लिए बहुत गुंजाइश है। ये प्रयत्न इस कथन का निश्चित रूप से खंडन कर देंगे कि भारतीय उद्योग अपनी पराकाष्ठा पर है। सत्य तो यह है कि यह उद्योग इस बात से भली प्रकार अवगत है कि इसकी व्यापार प्रणाली में नव जीवन का संचार आवश्यक है और इसकी उत्पादन

प्रणाली में भी अधिक विविधता होनी चाहिए। यह तो सर्व-विदित ही है कि जूट एक ऐसी वस्तु है जिसका प्रयोग केवल उन्हीं कामों के लिए नहीं हो सकता जिनके लिए अब तक होता रहा है, बल्कि कुछ नये अनुभवों ने यह सिद्ध कर दिया है कि इसे और भी अनेक प्रकार काम में लाया जा सकता है। इस तथ्य से ही इस उद्योग का महत्त्व और भी स्पष्ट हो जाता है।

संक्षेप में भारतीय जूट उद्योग निम्नलिखित दो लक्ष्यों की पूर्ति की ओर बढ़ रहा है :—

(१) उत्पादन के अभिनवीकरण तथा सामान्यतः बढ़ी हुई कार्य कुशलता द्वारा पुरानी मंडियों में अधिकतम प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति अर्जित करना।

(२) बाजारों का विस्तार और जूट के सामान के लिए नये क्षेत्रों की खोज।

पिछले तीन वर्षों में इस उद्योग से सम्बद्ध दृष्टिकोण में एक सुनिश्चित सुधार हुआ है और उपर्युक्त लक्ष्यों तक पहुँचने के लिए अधिक अनुकूल वातावरण बन गया है। निम्नलिखित सारिणी से इस सत्य का तनिक आभास हो जाएगा :—

भारत द्वारा निर्यातित जूट का सामान—

अप्रैल से मार्च	(हजार टनों में)
१९५२-५३	७०५.६
१९५३-५४	७७६.८
१९५४-५५	८५२.३

इन आंकड़ों से यह प्रत्यक्ष है कि भारतीय जूट-उद्योग अपनी कठिनाइयों को पार कर रहा है और भारत अपने इस उद्योग को निरन्तर प्रगति के पथ पर ही बढ़ाता रहेगा।

—

[११]

भारत का सीमेन्ट उद्योग

रूपरेखा—

१ प्रारम्भिक—यह युग ही 'सीमेन्ट का युग' है। सीमेन्ट उद्योग का राष्ट्र निर्माण से घनिष्ट सम्बन्ध है। देश का सामाजिक तथा आर्थिक विकास बहुत कुछ इस पर निर्भर करता है।

२ विकास का संक्षिप्त इतिहास—सर्व प्रथम मद्रास राज्य में सन् १९०४ में समुद्री सीपियों से सीमेन्ट बनाने का कारखाना खोला गया। प्रथम महायुद्ध तक उद्योग ने कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं की। उस समय तक भारत सीमेन्ट का आयात करता था, किन्तु युद्ध युग में माँग बढ़ने से उत्पादन भी बढ़ा। नई कम्पनियाँ भी खोली गई। सन् १९२३ तक ६ कम्पनियाँ हो गई। पारस्परिक प्रतिस्पर्धा भी बढ़ गई, जिसका अन्त करने के लिए सयोग की शरण ली गई। सन् १९३६ में सीमेन्ट कम्पनियों का सम्मिश्रण।

३ द्वितीय महासमर और उद्योग—सीमेन्ट की माँग बढ़ गई जिसे पूरा करने के लिए उत्पादन भी बढ़ाया गया। सीमेन्ट का मूल्य बढ़ गया। जनता को सीमेन्ट मिलना कठिन हो गया। ए० सी० सी० तथा डालमिया ग्रुप में गठबन्धन हो गया।

४ उद्योग पर देश के विभाजन का प्रभाव—२३ कारखानों में से केवल १८ भारत में रह गये। बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए उत्पादन क्षमता बढ़ाई गई तथा विस्तार योजनायें बनीं। कुछ लाभ तथा असुविधायें। अन्य देश और भारत। सन् १९५६ तक उत्पादन ५४ लाख टन।

५ उद्योग का भविष्य—भविष्य उज्ज्वल है, माँग उत्पादन से कहीं अधिक है। द्वितीय पंच वर्षीय योजना के अन्त तक उत्पादन का लक्ष्य १०० लाख टन है।

प्रारम्भिक—

कुछ लोगों के मतानुसार वर्तमान युग 'स्टील का युग' नहीं वरन् 'सीमेन्ट का युग' कहलाता है। आजकल सीमेन्ट का प्रयोग बढ़ता ही जा रहा है। किसी भी देश के औद्योगीकरण के लिए कोयला, स्टील तथा सीमेन्ट अत्यन्त आवश्यक पदार्थ हैं। सीमेन्ट उद्योग की गणना भारत के प्रमुखतम् स्थिर उद्योगों में की जाती है। इस उद्योग में अनुमानतः ३० करोड़ रुपए लगे हुए हैं तथा इसमें लगभग ३० हजार श्रमिकों को रोजगार मिला हुआ है। इसका राष्ट्र निर्माण से घनिष्ट सम्बन्ध है। देश की सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति बहुत कुछ इसी उद्योग पर निर्भर करती है।

विकास का संक्षिप्त इतिहास—

भारत में सगठित ढङ्ग से पहिली बार सीमेन्ट तैयार करने का श्रेय मद्रास को है। वहाँ सन् १९०४ में मुख्यतः समुद्री सीपियों से सीमेन्ट बनाने का कारखाना खोला गया, परन्तु यह कारखाना चला नहीं। यह सचमुच बड़े आश्चर्य की बात है कि यद्यपि भारत में सीमेन्ट के उपभोग के लिए विशाल आन्तरिक बाजार है और इसके निर्माण के हेतु सभी सुविधायें तथा अनुकूल परिस्थितियाँ हैं, किन्तु फिर भी सन् १९१४ तक इस उद्योग ने हमारे देश में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं की। सीमेन्ट की किस्म भी ज्यादा अच्छी न थी। प्रथम महासमर के पूर्व भी भारत एक बड़ी मात्रा में सीमेन्ट का आयात करता था (लगभग १,८०,००० टन प्रति वर्ष)। वास्तव में माँग तो सन् १९१४ के महायुद्ध से बढ़ी। बड़ी मात्रा पर सीमेन्ट का उत्पादन सन् १९१२–१३ से प्रारम्भ हुआ, जबकि तीन कम्पनियाँ स्थापित हुईं—'इण्डियन सीमेंट कम्पनी, पोरबन्दर', 'कटनी सीमेन्ट तथा इण्डस्ट्रियल कम्पनी' और 'बूँदी पोर्टलैण्ड सीमेण्ट कम्पनी'। प्रथम महायुद्ध के युग में इस उद्योग को प्रोत्साहन मिला। सीमेन्ट के उत्पादन का अधिकांश भाग तो भारत सरकार ने ही क्रय किया। अनेक कम्पनियाँ और स्थापित हुईं। पुरानी तीन कम्पनियों ने अपना उत्पादन दुगना कर दिया और सन् १९२३ तक ६ नई कम्पनियाँ खुल गईं। प्रगति बड़ी तेजी से हुई और उत्पादन की मात्रा ९४५ टन (सन् १९१४ में) से २३९, ७४६ टन (सन् १९२४ में) हो गई। आयात की मात्रा घट गई। सन् १९३१–३२ में उत्पादन ५,६३,००० टन हो गया और सन् १९३७ ३८ में तो लगभग दुगना हो गया। सीमेन्ट की किस्म भी काफी सुधर गई।

सीमेन्ट कम्पनियों की संख्या में वृद्धि के साथ-साथ पारस्परिक स्पर्धा भी तेज होती गई। इससे उद्योग को काफी चोट पहुँची, यहाँ तक कि इसका अस्तित्व भी खतरे में पड़ गया। सन् १९३० में *"सीमेन्ट मार्केटिंग कम्पनी" का जन्म हुआ और* इस कम्पनी को सदस्यों के द्वारा उत्पन्न की हुई कुल वस्तुओं को, सस्ते मूल्य पर बेचने का अधिकार दिया गया। प्रत्येक सदस्य फैक्टरी को उत्पादन के लिए एक निश्चित मात्रा दी गई। भिन्न-भिन्न रेलवेज पर भाड़ों की व्यवस्था की गई। तेज भाड़ों को रोका गया और बाजार में भिन्न भिन्न नमूनों के सीमेन्टों के ढेर लग गए।

सन् १९३६ में सीमेन्ट कम्पनियों का सम्मिश्रण—

सन् १९३६ में उद्योग की युक्तिपूर्ण प्रगति के हेतु एक ठोस कदम उठाया गया, जिसके अनुसार समस्त विद्यमान सीमेन्ट कम्पनियों का सम्मिलित (Merger or Amalgamation) कर दिया गया और "एसोसियेटेड सीमेन्ट कम्पनीज लिमिटेड' (A.C.C.) *के नाम से उसका रजिस्ट्रेशन कराया गया।* देश की प्रधान दस कम्पनियों के इस महत्वपूर्ण सम्मिश्रण से उद्योग की दशा बहुत सुधर गई। पारस्परिक स्पर्धा का अन्त हो गया तथा तान्त्रिक विकास सम्भव हुआ।

द्वितीय महासमर और उद्योग—

सन् १९३९ में महायुद्ध के प्रारम्भ होने से सीमेन्ट उद्योग को और भी प्रोत्सा-

इन मिला। सीमेन्ट की माँग बहुत बढ़ गई, उत्पादन भी काफी बढ़ा। सीमेन्ट का मूल्य भी चढ़ गया। साधारण जनता को सीमेन्ट प्राप्त करना भी कठिन हो गया, क्योंकि अधिकतर युद्ध-सम्बन्धी आवश्यकतायें पूरी हो रही थीं। एक उल्लेखनीय बात यह भी हुई कि ए० सी० सी० तथा डालमिया कम्पनियों के समूह में एक समझौता भी हुआ, जिससे आन्तरिक स्पर्धा पर और भी अधिक नियन्त्रण लगा दिया गया।

देश का विभाजन—

अगस्त सन् १९४७ में देश का विभाजन होने पर १८ कारखाने, जिनकी कुल स्थापित उत्पादन क्षमता २१·१९ लाख टन थी, भारत में रह गये। पाँच कारखाने पाकिस्तान में रहे। देश में सीमेन्ट की माँग इतनी अधिक रही है कि कारखानों की उत्पादन क्षमता बढ़ाई गई और सन् १९५०-५१ के अन्त तक भारतीय कारखानों की स्थापित उत्पादन क्षमता में १० लाख टन की और वृद्धि हो गई।

आज भारत में सीमेन्ट बनाने वाली १२ कम्पनियाँ हैं। इनमें सबसे बड़ी दी एसोसियेटेड सीमेन्ट कम्पनीज लि० है। इसके बाद डालमिया वर्ग का स्थान है और उसके पश्चात् १० अन्य भिन्न-भिन्न कम्पनियाँ हैं। सभी कम्पनियों की उत्पादन क्षमता मिलकर ४५ लाख टन वार्षिक है। इसमें से एसोसियेटेड कम्पनी की क्षमता २५ लाख टन है।

द्वितीय महायुद्ध में स्पष्ट हो गया कि सीमेन्ट उद्योग को न केवल सेना की आवश्यकता पूरी करने के लिए ही वरन् भविष्य में जनता और सरकार द्वारा होने वाले विशाल निर्माण कार्य के लिए भी उत्पादन में भारी विस्तार करना होगा, इसलिए सरकार ने इस उद्योग के विस्तार की योजना बनाने में भाग लिया और एक ऐसा कार्यक्रम तैयार किया गया, जिसके द्वारा १९५२ तक उद्योग की उत्पादन क्षमता बढ़ाकर ६० लाख टन (अविभाजित भारत के लिए) हो जाने की थी। देश का विभाजन हो जाने और निर्माण की अन्य सामग्री मिलने में कठिनाई होने के कारण उद्योग का विस्तार कम ही हो सका, परन्तु सन् १९५० में योजना कमीशन ने स्थिति पर पुनः विचार किया और सन् १९५५-५६ तक उत्पादन का लक्ष्य ५४ लाख टन निर्धारित कर दिया। यद्यपि इस योजना के अन्तर्गत बढ़ा हुआ अधिकांश उत्पादन निजी औद्योगिकों द्वारा किया जायेगा तथापि सरकार भी इसमें प्रमुख भाग ले रही और उसने उत्तर-प्रदेश में मिर्जापुर के निकट एक कारखाना बनाया है, जिसमें दो लाख टन उत्पादन होगा। बम्बई राज्य के दलजनोद स्थान में भी सरकार द्वारा नियोजित एक कारखाना चालू हो रहा है।

कुछ लाभ और सुविधायें—

भारतीय सीमेन्ट उद्योग की एक विशेषता है। इसके कारखाने अनेक प्रकार का कच्चा माल काम में लाते हैं, देश के विभिन्न भागों में जिस प्रकार जलवायु भिन्न-भिन्न प्रकार की है उसी प्रकार कच्चा माल भी भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। उदाहरण के लिए, सीमेन्ट बनाने के काम आने वाला चूने का पत्थर अथवा केलशियम युक्त अन्य

पदार्थ भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। ये समुद्री सीपियों से लेकर बड़े पत्थर तक होते हैं। हाल में ही एक नये प्रकार का कच्चा माल काम में लाया जाने लगा है। यह सिन्दरी के खाद के कारखाने में अमोनिया सल्फेट की खाद बनाने के साथ निकलने वाली रद्दी राख है।

सीमेंट बनाने के काम आने वाले प्रमुख कच्चे माल का कुल योग हो सकता है कि काफी अधिक प्रतीत हो, परन्तु उच्च कोटि के कच्चे माल के साधन सभी प्रदेशों में उचित रूप से बिखरे नहीं हैं। ये कुछ क्षेत्रों में ही केन्द्रित हैं जहाँ सीमेन्ट बनाने से उसे देश के अन्य भागों में पहुँचाने के लिए ढुलाई के साधनों का बड़े पैमाने पर प्रबन्ध करना पड़ता है, इसलिए देश में सीमेन्ट की ढुलाई का खर्च मूल्य का २० प्रतिशत तक पड़ जाता है, जो बहुत अधिक है, संसार भर से यह अधिक है। भारत में सीमेन्ट बनाने में मुख्यतः कोयले का प्रयोग होता है और यह कोयला भी देश के कुछ विशेष स्थानों में निकलता है जहाँ उसे सीमेन्ट के कारखाने तक ले आने में निर्माता को भारी खर्च करना पड़ता है। इससे रेलों का काम भी बढ़ जाता है। इस कारण भविष्य में सीमेन्ट उद्योग को एक ओर तो नीचे दर्जे के चूने के पत्थर का उपयोग करना पड़ेगा और दूसरी ओर अधिक राख वाले कोयले को धोकर काम में लाना पड़ेगा। नीचे दर्जे के चूने के पत्थर को मजबूत बनाने के लिये नये वैज्ञानिक उपाय करने होंगे। कोयला धोने का काम अब बहुत से कोयला खोदने वाले कारखाने करने लगे हैं। इस प्रकार के घटिया कोयले का भी प्रयोग होने लगने से यह सीमेन्ट कारखानों को निकट ही मिल सकेगा और दूर से कोयला लाने की समस्या बहुत कुछ हल हो जायेगी। लिगनाइट या भूरे रंग के कोयले तथा अन्य घटिया कोयले की गैस दूर करने की ओर भी सरकार तथा निर्माताओं को ध्यान होगा, क्योंकि ऐसा करने से भी कोयले की कठिनाई दूर होने में सहायता मिलेगी।

अन्य देश और भारत—

यह निसंकोच कहा जा सकता है कि सीमेन्ट उद्योग के आकार को देखकर देश की औद्योगिक और सामाजिक प्रगति का पता लगाया जा सकता है। इस दृष्टि से यदि अनुमान लगाया जाय तो भारत को अभी अमेरिका और अन्य यूरोपीय देशों के बराबर पहुँचने में बहुत समय लगेगा। नीचे की तालिका से पता लगता है कि भारत तथा अन्य देशों में प्रति व्यक्ति पीछे कितना सीमेन्ट खर्च होता है —

अमेरिका	५१६ पौंड
ब्रिटेन	४११
स्वीडन	७४०
बेल्जियम	७१७
डेनमार्क	४६०
जापान	६०
भारत	२७

इस उद्योग में हजारों टन कच्चे तथा तैयार माल को सम्हालना पडता है। अब इसमें मशीनों का बहुत अधिक उपयोग होना अनिवार्य है। इस दृष्टि से भी हम अमेरिका तथा अन्य पाश्चात्य देशों से बहुत पीछे हैं। मशीनों के प्रयोग से न केवल कम मानव शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है वरन् इसके द्वारा मजदूरी में भी वृद्धि हो जाती है और इस प्रकार मजदूर के रहन सहन का प्रतिमान ऊँचा हो जाता है, परन्तु उद्योग का सच्चे अर्थों में मशीनीकरण करने में अभी काफी समय लगेगा, क्योंकि हमारे यहाँ अभी खुदाई, भराई आदि की मशीनें, डीजल इंजन आदि पर्याप्त संख्या में तैयार नहीं होते। मशीनीकरण तभी हो सकता है जब मशीनें तैयार करने का उद्योग भी देश में चालू हो जाये, जिससे निरन्तर मशीनें प्राप्त होती रहें।

सन् १९५६ तक ५४ लाख टन—

अब आइये। देश ने सीमेन्ट का उत्पादन करने में जो आश्चर्यजनक उन्नति की है उस पर भी विचार कर लें। सच्चे अर्थों में भारत में सीमेन्ट का निर्माण केवल सन् १९१३ से ही आरम्भ हुआ है, जबकि पोरबन्दर में एक छोटा सा कारखाना खोला गया था। उसमें केवल ४० हजार टन सीमेन्ट प्रति वर्ष बनता था। इसकी तुलना में अब आज भारत में ४५ लाख टन सीमेन्ट प्रति वर्ष बनता है। गत १० वर्षों में उत्पादन में २५ से ३० लाख टन तक की उल्लेखनीय वृद्धि हुई है और सन् १९५६ तक आशा है कि देश में ५४ लाख टन से भी अधिक सीमेन्ट बनने लगेगा। प्रथम पंच वर्षीय योजना में सीमेन्ट के उत्पादन का लक्ष्य भी इतना ही रखा गया था।

इस उद्योग ने एक ओर उल्लेखनीय उन्नति की है। वह यह है कि शैल्पिक और इंजीनियरी की दृष्टि से यह उद्योग अन्य उद्योगों की अपेक्षा अधिक आत्म निर्भर हो गया है। पिछले कुछ वर्षों में इस उद्योग में काम आने वाली कुछ बड़ी बड़ी मशीनें, जो पहले बाहर से आती थीं, देश में बनने लगी हैं।

उद्योग का भविष्य—

सीमेन्ट उद्योग का भविष्य बड़ा उज्ज्वल है। देश में जितना सीमेन्ट बनता है उसकी अपेक्षा माँग अधिक रहती है। जिस तेजी से हम प्रगति कर रहे हैं उसे देखते हुये अभी बहुत दिनों तक माँग की यही दशा बनी रहेगी। इसके सिवाय भाकड़ा-नंगल, हीराकुण्ड, भवानी सागर, दामोदर घाटी योजना, कोयना, कोसी, आदि बाँध बनाने के काम भी अभी चलेंगे, जिनके लिये बहुत अधिक सीमेन्ट की आवश्यकता होगी।

देश की सबसे बड़ी समस्या खाद्य की है। इस समस्या को केवल वर्तमान आबादी को देखते हुए ही नहीं वरन् भावी जन संख्या को भी ध्यान में रखते हुये हल करना है। एक ओर तो देश के कुछ भागों में सूखा पड़ता है और दूसरी ओर बाढ़ से विनाश होता है। बाढ़ वाली नदियों का नियंत्रण करना आवश्यक है जो जल विद्युत तथा सिंचाई योजना चला कर ही किया जा सकता है। यह कार्य सीमेंट के बिना नहीं

हो सकते । देश को बढ़िया सड़कों की आवश्यकता है। साथ ही अच्छे ढंग के मकान, अस्पताल और स्कूल भी बनाये जाने हैं । इनके अतिरिक्त नागरिक तथा सैनिक दोनों ही कार्यों के लिए हवाई अड्डे भी बनाये जायेंगे । इन सभी कार्यों के लिए सीमेन्ट की आवश्यकता होगी।

द्वितीय पंच-वर्षीय योजना की समाप्ति, अर्थात् सन् १९६१ तक सीमेन्ट के उत्पादन का लक्ष्य १०० लाख टन कर लेने का निश्चय किया गया है। यह वर्तमान क्षमता से कुछ ही अधिक है । यह लक्ष्य ऐसा भी नहीं है जो पूरा न हो सके। सार्वजनिक और निजी दोनों ही क्षेत्र इसे पूरा करने में जुट गये हैं । निजी क्षेत्र में जो योजनायें बनाई हैं उनके कार्यान्वित हो जाने पर आशा है कि न केवल देश की आवश्यकता ही पूरी होगी वरन् पड़ौसी देशों को भी कुछ सीमेन्ट भेजा जा सकेगा। समुद्र तटवर्ती क्षेत्रों में स्थित कारखाने इस निर्यात में प्रमुख भाग ले सकेंगे।

ऊपर बताया जा चुका है कि अभी सीमेन्ट के कारखाने योजनापूर्वक देश के सभी भागों में स्थापित नहीं किये गये हैं । यदि इन्हें सभी भागों में बिखेर दिया जाये तो चूने के पत्थर, कोयले, कोक की भाप आदि को वैज्ञानिक प्रक्रियाओं की सहायता से सीमेन्ट बनाने में उपयोग किया जा सकेगा।

भविष्य में "मिश्रित सीमेन्ट" नामक पदार्थों का भी देश में बनाया जाना निश्चित है। ये सीमेन्ट फूँकी हुई मिट्टियों, भट्टियों की राख आदि को मिलाकर पीसने के बाद बनाये जाते हैं । इन मिश्रित सीमेन्टों में निर्माण की दृष्टि से कुछ विशेष गुण होते हैं।

कंक्रीट में मिलाये जाने की प्रणाली में भी सुधार की आवश्यकता है। यह तो सभी जानते हैं कि सीमेन्ट साधारण हो या मिश्रित, उसका शुद्ध रूप में गत ७-८ वर्षों में सीमेन्ट उद्योग ने विशेष उन्नति की है। इसका एक कारण यह भी है कि सन् १९४९ के उपरान्त उद्योग की क्षमता ५०% बढ़ गई है। सन् १९४६ में उद्योग की क्षमता २०'१९ लाख टन थी, किन्तु सन् १९५० में यह ३१'२५ लाख टन हो गई, अतः काफी सीमा तक आज यह उद्योग हमारी आवश्यकताओं को पूरा करने के योग्य हो गया है, किन्तु विदेशों को निर्यात करने के योग्य हम नहीं हुए हैं। सन् १९५०-५१ में भारत ने केवल ३'६५ लाख रुपए के मूल्य का, अर्थात् केवल ५०२४ टन सीमेंट निर्यात् किया। कुछ विशेषज्ञों के मतानुसार सन् १९५५-५६ तक हमारी निर्यात-क्षमता बहुत बढ़ जायगी, जबकि योजना कमीशन के प्रोग्राम के अनुसार देश ४६ लाख टन सीमेंट तैयार करेगा, किन्तु ऐसी आशा करना सन्देहपूर्ण प्रतीत होती है, क्योंकि नदियों की घाटियों से सम्बन्धित बहु-मुखी विकास योजनाओं को पूरा करने के लिए ही भारत को स्वयं एक बड़ी मात्रा में सीमेंट की आवश्यकता पड़ेगी, अतएव हम शायद निर्यात न कर सकें। निम्नलिखित तालिका से देश की विभिन्न सीमेंट फैक्टरीज तथा उनकी उत्पादन-क्षमता का पता लगता है :—

नं०	फैक्टरी का नाम	राज्य		क्षमता (टनों में)
१.	मध्य-प्रदेश सीमेंट वर्क्स, काईमोर	मध्य-प्रदेश	ए० सी० सी० ग्रूप	२०,४९,०००
२.	लखेरी सीमेंट वर्क्स, लखेरी	राजस्थान		
३.	खालारी सीमेंट वर्क्स	बिहार		
४.	भूपेन्द्र सीमेंट वर्क्स	पेप्सू		
५.	ग्वालियर सीमेंट वर्क्स			
६.	ओखा सीमेंट वर्क्स, द्वारका	बम्बई		
७.	पोरबन्दर सीमेंट वर्क्स	सौराष्ट्र		
८.	शाहाबाद सीमेंट वर्क्स	हैदराबाद		
९.	कोयम्बटूर सीमेंट वर्क्स	मद्रास		
१०.	चौबासा सीमेंट वर्क्स	बिहार		
११.	कृष्णा सीमेंट वर्क्स	मद्रास	डालमिया ग्रूप	४,४०,०००
१२.	सेवालिया सीमेंट वर्क्स	बम्बई		
१३.	डालमिया दादरी सीमेंट लि०	पेप्सू		
१४.	डालमिया सीमेंट लि०	मद्रास		
१५.	रोहतास इण्डस्ट्रीज लि०	बिहार	अन्य कम्पनियाँ	१०,३२,०००
१६.	सोन वैली पोर्टलैण्ड सीमेंट	बिहार		
१७.	आन्ध्रा सीमेंट क०	मद्रास		
१८.	मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स भद्रावती	मैसूर		
१९.	कल्याणपुर सीमेंट वर्क्स	बिहार		
२०.	भाभा सीमेंट इण्डस्ट्रीज लि०	बिहार		
२१.	इण्डियन सीमेंट लि० जामनगर	सौराष्ट्र		
२२.	ट्रावनकोर सीमेंट लि०	ट्रा०-कोचीन		
२३.	उड़ीसा सीमेंट लि० राजगंगपुर	उड़ीसा		

राजगंगपुर की उड़ीसा सीमेन्ट फैक्टरी का उद्घाटन, व्यापार एवं उद्योग सचिव श्री हरेकृष्ण महताब ने ४ जनवरी सन् १९५२ को किया। इस पर लगभग १.६२ करोड़ पूँजी व्यय की जा चुकी है और इसमें आधुनिक ढंग की नवीनतम मशीनरी लगी है। इस फैक्टरी की स्थापना करने का मुख्य उद्देश्य, हीराकुण्ड योजना को शीघ्र पूरा करना है। फैक्टरी का उद्घाटन करते समय श्री मेहताब ने कहा कि "सरकार की ओर से ऐसे उद्योग का चलाना बड़ा महत्त्व रखता है। भारत के निर्यात को बढ़ाने तथा विदेशी विनिमय प्राप्त करने के लिये ऐसे उद्योग खोले ही जाने चाहिये।"

[१२]
भारतीय कागज उद्योग

रूप रेखा—

१. *प्रारम्भिक*—कागज-निर्माण-उद्योग सर्व प्रथम चीन में प्रारम्भ हुआ, जब यह हाथ से बनाया जाता था। भारत में मशीन से कागज बनाना सन् १८७० में आरम्भ हुआ। सन् १९०० तक भारत में केवल ७ कारखाने थे।

२. *उद्योग के विकास का संक्षिप्त इतिहास*—सन् १९२५ में संरक्षण मिल गया तथा उद्योग ने प्रगति की। सन् १९२९-३३ तक उत्पादन निरन्तर बढ़ता गया। सन् १९३९ में युद्ध छिड़ गया। कागज की विशेष कमी हो गई। सन् १९५१ के उद्योग अधिनियम के बनने से कागज उद्योग का नियमन योजनानुसार होने लगा है।

३. *उद्योग के लिए आवश्यक कच्चा माल*—बाँस, सवाई घास तथा रासायनिक पदार्थ—इन पदार्थों की दृष्टि से भारत की स्थिति।

४. *वर्तमान स्थिति*—इस समय देश में १२ मिलें हैं, जिनकी उत्पादन क्षमता २,११,९०० टन है। नई योजनायें भी हैं। कागज के प्रकार अखबारी कागज। कागज़ उद्योग के मजदूर तथा पूँजी।

५. *कागज उद्योग की समस्यायें तथा भविष्य*—मुख्य समस्या आधुनिकीकरण की है। सरकार सहायता दे रही है। भविष्य उज्जवल प्रतीत होता है।

प्रारम्भिक—

कागज़ बनाने का काम संभवतः सबसे पहले चीन में आरम्भ हुआ। उस समय कागज़ हाथ से बनाया जाता था। चीन के सम्पर्क से ही कई सदियों पूर्व भारत को भी हाथ से कागज़ बनाने की प्रेरणा मिली। आज भी भारत के अनेक भागों में हाथ से कागज़ बनाया जाता है। भारत में मशीन से कागज़ बनाना सन् १८७० में आरम्भ हुआ जब हुगली के तट पर पहले कारखाने में उत्पादन आरम्भ हुआ। सन् १८८० में सरकार ने देशी कागज़ उद्योग के साथ प्राथमिकतापूर्ण व्यवहार करने का वचन दिया। इस घोषणा तथा उस समय कागज के चढ़े हुए भावों ने इस उद्योग के विस्तार की प्रेरणा दी। सन् १९०० तक कागज़ बनाने के ७ कारखाने स्थापित हो गये, जिनमें प्रति वर्ष १६,००० टन कागज़ बनता था।

उद्योग के विकास का संक्षिप्त इतिहास—

इसके बाद देशी उद्योग को सस्ते विदेशी कागज से कड़ी प्रतिद्वन्द्विता करनी पड़ी। फिर भी सन् १९२४ तक कागज का उत्पादन ३३,००० टन तक हो गया और कागज मिलों की संख्या ९ हो गयी। सन् १९२५ में इस उद्योग को तटकर संरक्षण प्राप्त हो गया और आयात किये जाने वाले कई प्रकार के कागज पर २५ प्रतिशत शुल्क लगा दिया गया। इस कदम का एक उद्देश्य यह भी था कि यह उद्योग अधिक से अधिक देशी कच्चा माल प्रयोग करने लगे।

सन् १९२५ से सन् १९३२ तक की अवधि में कागज का उत्पादन निरन्तर बढ़ता गया। सन् १९२५ में आयात की लुग्दी २१२ प्रतिशत प्रयोग की जाती थी, वहाँ सन् १९३१ में ५५ प्रतिशत होने लगी। सन् १९३२ में दूसरे तटकर बोर्ड ने छापने और लिखने के कागज पर लगने वाला शुल्क बढ़ा कर १८.७ प्रतिशत कर दिया और अखबारी कागज तथा पुराने अखबारों पर यह आयात शुल्क २५ प्रतिशत कर दिया। आयात की हुई लकड़ी की लुग्दी पर भी आयात शुल्क बढ़ा दिया गया। सन् १९३८ में लकड़ी की लुग्दी पर तो आयात शुल्क घटा दिया, किन्तु लिखने और छपाई के कागज पर शुल्क बढ़ाकर २५ प्रतिशत और अखबारी कागज पर शुल्क बढ़ा-कर ३० प्रतिशत कर दिया गया।

सन् १९३९ में दूसरा महायुद्ध छिड़ने से यह उद्योग बहुत ही बढ़ा। सन् १९४१ तक देशी कागज के दाम आयात किए गये कागज से कम थे। इन दिनों कागज की कमी अनुभव होने लगी थी। सन् १९४२ में सरकार ने मूल्य निय-न्त्रण लागू कर दिया, जो फिर सन् १९५१ में ही समाप्त हुआ। इस अवधि में कागज उद्योग ने पर्याप्त प्रगति की।

सन् १९३० से सन् १९५५ के उत्पादन और खपत के आँकड़ों का विश्लेषण करने से पता चलता है कि सन् १९३१ की अपेक्षा सन् १९५५ में उत्पादन ४५० प्रति-शत बढ़ गया है। सन् १९३१ में उत्पादन ४०,००० टन था। लिखने छापने तथा आव-रण के काम के कागज का आयात जहाँ अब भी उसी स्तर पर है, वहाँ अखबारी कागज का आयात २५० प्रतिशत बढ़ गया है और गत्ते का आयात ६० प्रतिशत घट गया है।

सन् १९५१ उद्योग (विकास तथा नियमन) अधिनियम के बनने से कागज उद्योग का नियमन योजना के अनुसार होने लगा है। आधुनिक आधार पर कागज के नये कारखाने खोलने की योजना बनाई जा रही है, जिनमें बढ़िया उपकरण होंगे और कम लागत पर अधिक उत्पादन हो सकेगा। गत ५ वर्षों में निम्न प्रकार का नया कागज भारत में बनने लगा है—मोटे गत्ते, आर्ट और क्रोमो कागज, सिगरेटों में प्रयोग होने वाला पतला चिकना कागज, चैक का भारी कागज और सेलूलोज फिल्म। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अब हम सिगरेट का कागज पर्याप्त मात्रा में तथा कागज और गत्ता अल्प परिमाण में निर्यात करते हैं। कागज और गत्ते के उत्पादन आँकड़े निम्न हैं:—

वर्ष		उत्पादन (टनों में)	कारखानों की संख्या
१९००	....	१९,०००	७
१९२४	....	३३,०००	९
१९३३	....	४४,०००	[illegible]
१९४२	....	१,००,०००	१५
१९५३	....	१,३९,७०३	१९
१९५४	....	१,५५,३२७	२०
१९५५ (जन० से जून)		८९,२५३	२०

आवश्यक कच्चा माल—

आज कागज उद्योग के लिए सबसे प्रमुख कच्चा माल बांस है। कागज और गत्ते का हमारा वर्तमान उत्पादन १,८०,००० टन है। इसके उत्पादन में हम ३,२५,००० टन बांस का प्रयोग करते हैं। दूसरी पंच-वर्षीय योजना में ६ लाख टन कागज और गत्ता बनाने का लक्ष्य रखा गया है। इतना कागज बनाने के लिए १६ लाख टन बांस की आवश्यकता होगी। देश में कितना बांस निरन्तर उपलब्ध होता रह सकेगा, इसके लिए विश्वसनीय जानकारी एकत्र की जा रही है, जिससे इस उद्योग के विकास की समुचित योजना बनायी जा सके। हाल ही में केन्द्रीय वन बोर्ड बना है, जो कागज मिलों को बांस तथा सवाई घास सुलभ करने की समस्या सुलझा रहा है।

सवाई घास का प्रयोग करके कागज उद्योग के विस्तार की अधिक गुंजाइश प्रतीत नहीं होती, क्योंकि यह घास थोडी मात्रा में ही प्राप्त है। विदेशों में कागज अखबारी कागज तथा रसायनिक लुग्दी बनाने के लिए पहाडी वृक्षों (Conifer) की लकडी सदा से प्रयोग होती आयी है। यद्यपि भारत में भी यह लकडी प्राप्त है, लेकिन इसका प्रयोग करना बहुत ही कठिन है, क्योंकि हिमालय के जिस पर्वतीय प्रदेश में यह लकडी मिलती है वहाँ तक पहुँचना बहुत ही कठिन है। इन दुर्गम प्रदेशों तक पहुँच सकने के प्रयत्न किए जा रहे हैं, जिससे उनकी लकडी का प्रयोग हो सके।

अखबारी कागज के उत्पादन में आजकल सलाई की लकडी प्रयोग की जा रही है। यूकेलिप्टस (Eucalyptus), वैटल (Wattle) और शहतूत के वृक्ष आदि की लकडी की जाँच पडताल की गयी और उसे कागज बनाने के उपयुक्त पाया गया है। यह आवश्यक है कि इन किस्मों के पेड बडी संख्या में उगाए जाँय। सन् १९४८ में मद्रास सरकार ने नीलगिरी पहाड पर यूकेलिप्टस के पेड बडे पैमाने पर लगाने आरम्भ किए थे। इनमें से यूकेलिप्टस की एक किस्म ब्लू गम (Blue Gum) के पेड २,००० एकड में और वैटल (Wattle) के पेड २,४००० एकड में हैं। ब्लू गम का पेड़ १२ साल में तैयार हो जाता है, उससे प्रति एकड़ ५० टन लकडी प्राप्त होती है और वैटल का पेड १० वर्ष में ही पूरा हो जाता है, लेकिन उससे २० टन प्रति एकड़ ही लकडी प्राप्त होती है। आशा है कि अकेले नीलगिरी क्षेत्र में दोनों प्रकार के यूकेलिप्टस

वृक्ष २८,७२२ एकड़ में लगाए जायेंगे। पालनी क्षेत्र में भी इन वृक्षों के लगाने का कार्यक्रम है।

कागज और लुग्दी बनाने के लिए गन्ने की छोई को महत्वपूर्ण कच्चे माल के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। देश में इस समय जिस गति से गन्ना पेला जाता है, उसके अनुसार प्रति वर्ष २४ लाख टन गन्ने की छोइयाँ निकलती हैं। इस समय चीनी मिल प्रायः इतनी छोइयों का प्रयोग कर लेते हैं कि उनके पास बचती नहीं हैं, इसलिए आवश्यकता यह सोचने की है कि हमारे चीनी मिलों के लिए ऐसी व्यवस्था की जाए जो कम छोइयां जलाने से उनका काम चल जाए और इसमें से कुछ या तो अधिकांश छोइयाँ कागज तथा लुग्दी बनाने के काम आ सकें। शीघ्र ही एक विशेषज्ञ दल भारत आ रहा है जो इन समस्याओं का आगे अध्ययन करेगा और छोइयों तथा लुग्दी की लकड़ी के प्रयोग के लिए योजना रिपोर्ट प्रस्तुत करेगा।

आयात की हुई लकड़ी की लुग्दी बहुत ही कम परिमाण—२४ प्रतिशत—में प्रयुक्त होती है।

इस उद्योग के लिए निम्न रासायनिक पदार्थों की आवश्यकता होती है—कास्टिक सोडा, क्लोरीन, लाहौरी नमक, गन्धक, चूना, राल, फिटकरी और विशेष प्रकार की मिट्टी। गन्धक कुछ हद तक कास्टिक सोडा का आजकल आयात किया जाता है।

वर्तमान स्थिति—

इस समय देश में कागज बनाने की २० मिलें हैं, जिनकी स्थापित वार्षिक उत्पादन क्षमता २,११,१०० टन है। इसमें से ४ मिलें बंगाल में, दो-दो मिलें उत्तर-प्रदेश और मैसूर में तथा उड़ीसा, बिहार, पंजाब, मध्य-प्रदेश, आन्ध्र, मद्रास और त्रिवांकुर-कोचीन में एक-एक मिल है। बम्बई में भी चार मिलें हैं। सात नये कारखाने स्थापित करने के लाइसेंस दिये जा चुके हैं, जिनकी कुल उत्पादन क्षमता ४५,१०० टन होगी। इसमें से ४ मिल बम्बई में और आसाम, बंगाल, उड़ीसा तथा आंध्र में एक-एक मिल होगा। वर्तमान कारखानों में से ८ कारखानों का पर्याप्त विस्तार किया जाएगा, जिसमें १,०१,१०० टन कागज और बनाने की उत्पादन क्षमता बढ़ जाएगी। इन विस्तार योजनाओं के कार्यान्वित होने तथा नये कारखाने स्थापित हो जाने पर देश की कागज उत्पादन की क्षमता कुल ३,४०,८०८ टन कागज बनाने की हो जाएगी। कागज की उत्पादन क्षमता और बढ़ाने की योजनाएँ भी विचाराधीन हैं।

इस समय हमारा कागज उद्योग छापने और लिखने के कागज की ८०%, विशेष कागज की ४०%, पैक करने और चीजें लपेटने के कागज की ३०% तथा कागज और लुग्दी के गत्तों की ११% आवश्यकताएँ पूरी करता है। शेष कमी कागज का आयात करके पूरा की जाती है। लिखने और छापने का कागज, पतला कागज आदि विभिन्न प्रकार के कागज भिन्न-भिन्न मात्राओं में मँगाये जाते हैं।

पुराने अखबारों पर जो बहुत अधिक शुल्क लगाया हुआ है और अखबारी कागज के अन्य प्रयोगों पर रोक लगाई हुई है, उसका उद्देश्य यही है कि देश में माल पैक करने तथा छपाई का सस्ता कागज बनने लगे।

कागज उद्योग को मोटे तौर पर निम्न चार वर्गों में बाँटा जाता है —

(१) लिखने और छापने का कागज।

(२) विशेष प्रकार का कागज।

(३) औद्योगिक प्रयोग का कागज तथा पैकिंग के काम आने वाला सामान्य तथा चिकना बादामी बाँसी कागज, दियासलाई में लगाने वाला नीला कागज, परतदार गत्ता और जमाया हुआ गत्ता।

(४) अखबारी कागज।

देश में जितना भी अखबारी कागज काम में आता है, इस समय लगभग सारा का सारा विदेशों से आयात किया जाता है। देश में अखबारी कागज का एकमात्र कारखाना मैसर्स न्यूजप्रिंट एण्ड पेपर मिल लि० (नैपा मिल) जिसकी स्थापित उत्पादन क्षमता ३०,००० टन कागज बनाने की है। इस मिल में परीक्षण के तौर पर इसी वर्ष कागज बनना आरम्भ हुआ है। इस मिल में लकड़ी पीस कर लुग्दी बनाने के लिए सलाई लकड़ी को काम में लाते हैं और रासायनिक लुग्दी के लिए बांस का प्रयोग करते हैं। विदेशों में अखबारी कागज बनाने के लिए सदा से जिस कच्चे माल का प्रयोग होता रहा है, इस मिल में उसका प्रयोग न होगा। आशा है कि बांस की रासायनिक लुग्दी बनाने का यन्त्र आगामी वर्ष के आरम्भ में चलने लगेगा।

सन् १९५४-५५ में लगभग ७१,००० टन अखबारी कागज आयात हुआ। अनुमान है कि सन् १९६०-६१ तक अखबारी कागज की खपत बढ़कर १ लाख टन हो जायगी। ऊपर उल्लिखित नैपा मिल देश की अखबारी कागज की कुल आवश्यकता पूर्ण नहीं कर सकता, इससे अखबारी कागज के और कारखाने खोलने की आवश्यकता होगी।

कागज उद्योग के मजदूर तथा पूँजी—

कागज उद्योग में प्राय गाँवों के किसान आदि ही काम करने आते हैं। इनको साल में ४ से लेकर ६ महीने तक काम मिलता है। इन दिनों में वे जंगल से लकड़ी काटते हैं, उसे ढोकर लाते हैं और मिल में फुटकर काम करते हैं। कागज मिलों में जिन मजदूरों को स्थायी रूप से रखा हुआ है, उनकी संख्या सन् १९५३ में २३,१००, सन् १९५४ में २३,५०० और सन् १९५५ में २७,५०० थी। अनुमान है कि सन् १९६१ तक कागज उद्योग में ६,५०० मजदूरों को और नौकरी मिल जायगी।

सन् १९१३ में भारतीय कागज उद्योग में ८७ प्रतिशत विदेशी पूँजी लगी हुई थी। सन् १९३२ में इस उद्योग में भारतीय पूँजी का तेजी से बढ़ना आरम्भ हुआ। सन् १९५३ में इस उद्योग में भारतीय पूँजी ६२ प्रतिशत हो गई। सन् १९५२ में

इस उद्योग में २४ करोड़ रु० की पूँजी लगी थी। वर्तमान मिलों के विस्तार, आधुनिकीकरण तथा जिन नये कारखानों के लायसेंस दिये जा चुके हैं, उन्हें खोलने के लिए २० करोड़ रु० की पूँजी और लगाने की आवश्यकता होगी। दूसरी पंच वर्षीय योजना में ६ लाख टन कागज और गत्ता तैयार करने के लिए ६६ करोड़ रु० की पूँजी लगाने की योजना है। यह पूँजी मुख्यतः निजी क्षेत्र में लगाई जायेगी।

कागज उद्योग की समस्याएँ—

आजकल हमारा कागज उद्योग अधिकांशतः पुरानी मशीनों का ही प्रयोग कर रहा है। हाल ही में आधुनिक यन्त्र लगाने के लिए पर्याप्त पूँजी लगाई गई है। प्रगतिशील कारखानों ने यह अनुभव कर लिया है कि आजकल प्राप्त बढ़िया मशीनों का यदि पूरा लाभ उठाना है, तो कारखाने की उत्पादन क्षमता एक न्यूनतम सीमा तक तो बढ़ानी ही पड़ेगी। आज कागज उद्योग को काफी मात्रा में पूँजी लगाने तथा देश में मशीनों के जो पुर्जे नहीं मिलते, उनको अपने पास अतिरिक्त मंगाकर रखने के लिए काफी चालू पूँजी की आवश्यकता होगी। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि अधिकांश मशीनें तथा कागज बनाने में प्रयोग होने वाली कुछ चीजों तक का आयात करना होता है, इसलिए हमारे इन्जीनियरी उद्योग को शीघ्र से शीघ्र कागज बनाने की मशीनें तैयार करने में लगना चाहिये। विदेशों में कागज उद्योग ने बढ़िया उत्पादन प्रणाली के कारण जितनी कार्यकुशलता प्राप्त कर ली है, उसकी तुलना में भारतीय उद्योग को कागज की किस्म में और कच्चे माल से रासायनिक पदार्थ प्राप्त करने में काफी सुधार करना होगा, जिससे उत्पादन लागत में काफी कमी हो सके। साथ ही इस उद्योग को कच्चा माल मुख्यतः बाँस निरन्तर दीर्घकाल तक मिलते रहने का भरोसा मिलना चाहिए।

देहरादून में भारतीय वन गवेषणशाला में सेलुलोज तथा कागज की एक शाखा है। इस गवेषणशाला ने बाँस से लुग्दी बनाने की एक प्रक्रिया निकाली है। हाल ही में कागज बनाने की एक आधुनिक मशीन तथा अन्य उपकरण भी इस गवेषणशाला में लगा दिये गये हैं। बहुत से प्रगतिशील कागज मिलों में अपनी अनुसंधानशालाएँ हैं, किन्तु दुर्भाग्य से उनके कार्यों में किसी प्रकार का समन्वय नहीं है। भारत के कागज उद्योग के व्यापक हित की दृष्टि से इनके गवेषणा कार्यों में समुचित समन्वय होने की आवश्यकता है, जिससे इस उद्योग की विभिन्न समस्याओं को हल किया जा सके।

कागज उद्योग को सरकार ने अनेक प्रकार से सहायता दी है। इस उद्योग की रक्षा के लिए तटकर शुल्क की ऊँची दीवार बना दी गई है। सन् १६२० से अब तक आयात नियन्त्रण नियम से इस उद्योग का पर्याप्त विकास हुआ है। विभिन्न शैल्पिक सहायता तथा सहयोग संस्थाओं यथा चतुस्सूत्रीय शैल्पिक सहयोग प्रशासन, खाद्य एवं कृषि संस्था और संयुक्त राष्ट्रीय शिल्पिक प्रशिक्षण प्रशासन के अन्तर्गत विदेशी परामर्शदाताओं और विशेषज्ञों की सेवाओं का प्रबन्ध भी सरकार करती रही है। इन विशेषज्ञों को योजना रिपोर्ट बनाने के ही लिए नहीं बुलाया जाता वरन् उद्योग की स्थिति देखने

श्रौर सुधार के सुझाव देने को भी बुलाया जाता है। उद्योग (विकास श्रौर नियमन) श्रधिनियम ने भी इस उद्योग के युक्तियुक्त विकास में योग दिया है। कागज उद्योग को श्रौद्योगिक वित्त निगम श्रौर राष्ट्रीय श्रौद्योगिक विकास कारपोरेशन श्रादि से भी वित्तीय सहायता मिली है। इन संस्थाश्रों को सरकार ने देश में उद्योगों के विकास के लिए स्थापित किया है।

कागज उद्योग का भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता है श्रौर दूसरी पंच-वर्षीय योजना में इसके क्रमिक विकास की श्राशा है।

द्वितीय पुष्प :

श्रम-समस्यायें
(LABOUR PROBLEMS)

"श्रम-समस्या को वास्तव में उद्योग का 'काश्मीर' कह सकते है। यह एक स्थायी, विकासशील एवं मनोवैज्ञानिक समस्या है। राजनैतिक क्षेत्र में काश्मीर की ही समस्या की भाँति, श्रम-समस्या को हल करने के लिये केवल चतुराई, सक्रिय राजनीति एवं संविधान-निर्माण की शक्ति की ही आवश्यकता नहीं पड़ती, वरन् इसके लिए गम्भीर अध्ययन एवं दूरदर्शिता की भी आवश्यकता होती है। काम के घण्टों में परिवर्तन, भृत्ति में वृद्धि, रोजगार के दफ्तरों की स्थापना एवं कल्याण सुविधायें प्रदान करना—श्रमिक क्षेत्र की ये समस्यायें काश्मीर समस्या की अनेक बातों से कम महत्वपूर्ण नहीं हैं।"

[१३]

औद्योगिक संघर्ष की समस्यायें

रूपरेखा—

1. *प्रस्तावना*—औद्योगिक क्रान्ति एवं मार्क्सवादी विचारधाराओं के प्रसार के बाद समाज के दो टुकड़े—श्रम एवं पूँजी परस्पर विरोधी दल बन गए और तभी से इन विरोधी शक्तियों में संघर्ष चला आ रहा है। इस संघर्ष ने सभी को उलझन में डाल दिया है क्योंकि इससे सेवायोजक, सेवायुक्त, उपभोक्ता तथा राष्ट्र सभी की हानि होती है।
२. *औद्योगिक संघर्ष के कारण*—२७% से भी अधिक झगड़े मजदूरी तथा बोनस के प्रश्न को लेकर हुए। संघर्ष के अन्य कारण हैं—अस्वस्थ वातावरण, बुरी गृह व्यवस्था, दोषपूर्ण यन्त्र, काम करने के अधिक घण्टे, श्रम-पूँजी का पारस्परिक वैमनस्य, श्रम संघ आन्दोलन आदि। मार्क्सवादी विचारधाराओं तथा श्रम संघों पर राजनीतिज्ञों के अधिकार से हड़तालों के राजनैतिक कारण उत्पन्न होते हैं।
३. *भारत में औद्योगिक संघर्ष*—सामूहिक रूप से श्रमिकों की प्रथम हड़ताल सन् १८७७ में नागपुर के एम्प्रेस मिल्स में हुई। सन् १९२० के प्रथम छः माह में लगभग २०० हड़तालें हुईं। तत्पश्चात् सन् १९२१-२५ तक हड़तालों की भरमार रही। फिर मन्दी का युग आ गया। सन् १९३७ में पुनः हड़तालों का रूप बड़ा उग्र हो गया। द्वितीय युद्ध-युग के बाद फिर हड़तालें हुईं। मई सन् १९५५ में कानपुर के वस्त्र-उद्योग में भीषण हड़ताल हुई।
४. *राज्य एवं औद्योगिक शान्ति*—औद्योगिक शांति के उद्देश्य से प्रथम कानूनी व्यवस्था सन् १९२९ में व्यापारिक संघर्ष अधिनियम द्वारा हुई। इससे सरकार को यह अधिकार मिल गया कि वह संघर्ष को एक समझौता बोर्ड या जाँच अदालत को सौंप दे। जन उपयोगी उद्योगों में हड़ताल की १४ दिन पूर्व सूचना देना अनिवार्य कर दिया गया। बम्बई सरकार ने विशिष्ट अधिनियमों द्वारा स्थायी समझौते की व्यवस्था की। औद्योगिक संघर्ष अधिनियम सन् १९४७ में पास किया गया, इसके अन्तर्गत कार्य-समितियाँ बनाना अनिवार्य कर दिया गया। सन् १९५० से एक श्रम अपील न्यायालय की भी व्यवस्था की गई है। योजना कमीशन ने त्रिदल सभा की स्थापना का सुझाव दिया है।
५. *औद्योगिक संघर्ष अधिनियम—एक दृष्टि*—समझौता अधिकारी तथा समझौता बोर्डों की असफलता का प्रधान कारण यह है कि इस रूप में कार्य

करने वाले व्यक्ति प्राय अयोग्य तथा अनुभवहीन होते है। अधिनियम के आदेशों का अक्षरश. पालन नहीं किया जाता। अपील पद्धति भी दूषित है। वर्क्स व मेटियों को भी विशेष सफलता नहीं मिली ?

६. *औद्योगिक शान्ति को बढ़ाने के उपाय*—लाभ अंश भागिता द्वारा शान्ति स्थापित की जा सकती है, किन्तु अव्यावहारिक होने के कारण यह योजना कहीं सफल नही हुई। दूसरा उपाय है उद्योगों का राष्ट्रीयकरण। सर्व श्रेष्ठ विधि है कल्याण सुविधाये प्रदान करना तथा मानसिक क्रान्ति।

७. *उपसंहार*—मजदूर-हड़ताल एक धर्म-युद्ध व सत्याग्रह है। माग करने मे पहिले श्रमिकों को उनके औचित्य, अनौचित्य पर पूर्ण विचार कर लेना चाहिए। मजदूर और उद्योगपति का पारस्परिक सम्बन्ध, प्रेम, सुख तथा सहानुभूति पर अवलम्बित होना चाहिए। श्रमिकों को चाहिये कि वे सेवायोजकों को अपना पालक तथा हितैषी समझें एव सेवायोजकों को भी श्रमिकों के प्रति पुत्रवत् व्यवहार करना चाहिए। तभी औद्योगिक सघर्ष की समस्या हल हो सकती है।

प्रस्तावना—

औद्योगिक क्रान्ति के उपरान्त जबसे मार्क्सवादी विचारधाराओं का बोलबाला हुआ, औद्योगिक समाज मे दो पृथक वर्ग पैदा हो गये —पूँजीपति एव श्रमजीवी अथवा शोषक एव शोषित। इन दोनो विरोधी शक्तियो मे निरन्तर सघर्ष चलता रहता है जो हड़तालों तथा तालेबन्दियों के रूप मे प्रकट होता है। बीसवीं शताब्दी में तो औद्योगिक सघर्ष की समस्या ने एक विकराल रूप धारण कर लिया, जिसने विश्व के सेवायोजकों, समाज सेवकों, राजनीतिज्ञों, अर्थशास्त्रियों तथा साधारण व्यक्तियों को भी उलझन में डाल दिया। उलझन की बात यह है कि औद्योगिक सघर्ष के आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिणाम बड़े कष्टदायी होते हैं। वर्तमान युग में श्रम तथा पूँजी उत्पादन के अत्यावश्य साधन है। जिस प्रकार अधिक से अधिक एवं कुशलता से अनाज की पिसाई के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि चक्की के दोनो पाट एक दूसरे के बिल्कुल निकट हों, इसी प्रकार अत्यधिक राष्ट्रीय उत्पादन के लिए यह परम आवश्यक है कि उद्योग रूपी चक्की के दोनों पाट, अर्थात् श्रम एव पूँजी पारस्परिक सहयोग से कार्य करें। इन दोनों पक्षकारों का विरोध राष्ट्रीय उत्पादन के लिए बड़ा घातक सिद्ध होता है। यही नहीं, सघर्ष काल में सेवायोजक तथा सेवायुक्त दोनों को ही आपत्ति का सामना करना पड़ता है। श्रमजीवियों को मजदूरी की हानि होती है एव सेवायोजकों को आर्थिक हानि। उत्पादन के अभाव की दशा में व्यापार के अन्य मध्यस्थ (जैसे—थोक विक्रेता, फुटकर विक्रेता आदि) भी हाथ पर हाथ रक्खे बैठे रहते हैं। राज्य एव केन्द्रीय सरकार के लिए सघर्ष एक सिर दर्द हो जाता है तथा जन साधारण को भीषण असुविधा का सामना करना पड़ता है, किन्तु इन सब कठिनाइयो एव राष्ट्रीय क्षति के होते हुए भी समाज हड़तालों को सहनशीलता एवं क्षमाशीलता की दृष्टि से

देखता चला आया है। इसका कारण यह है कि समाज में आज यह विश्वास पैदा हो
गया है कि श्रमिकों की दयनीय दशा को सुधारने के लिए हड़ताल ही एकमात्र
संजीवनी है।

औद्योगिक संघर्ष के कारण—

औद्योगिक संघर्षों के सम्बन्ध में जो आँकड़े प्रकाशित होते रहते हैं, उनसे
इनके कारण स्पष्ट प्रकट होते हैं। ये कारण निम्नांकित हैं :—श्रम तथा पूँजी के बीच
झगड़ों के कारणों के विषय में जो आँकड़े प्रकाशित हुये हैं, उनमें 'मजदूरी की समस्या'
सर्व प्रथम है। सन् १६२१ से सन् १६४१ तक के ४,६२२ झगड़ों में से २,६४४ झगड़े
अथवा ठीक ५७% से भी अधिक भृतियों और अधिलाभांश सम्बन्धी कारणों से हुए।
भारतीय श्रमिकों की मजदूरी इतनी कम होती है कि वे उससे अपना उदर निर्वाह भी
समुचित रूप से नहीं कर सकते, फिर मनोरंजन तो दूर ही रहा। औद्योगिक अशान्ति
की जड़ सचमुच कम मजदूरी ही है। जिस व्यक्ति का पेट न भरेगा, वही असन्तुष्ट होने के
कारण त्राहि त्राहि करेगा एवं अन्त में हड़ताल की शरण लेगा। रहन-सहन का स्तर
बहुत कुछ मजदूरी पर निर्भर करता है, परन्तु दुर्भाग्य से उसको निश्चित करने का
कोई विशेष आधार नहीं है। पक्षों के पारस्परिक सौदा ठहराने की शक्ति ही एक मात्र
निर्धारक है। उचित आधार के इस अभाव से झगड़ों की उत्पत्ति को बड़ा अवसर
मिला। इस समय भारत में जबकि मुद्रा प्रसार के कारण कीमतें बहुत ऊपर चढ़ी हुई
हैं, हड़तालों का प्रमुख कारण आर्थिक ही रहता है। हड़तालों का एक दूसरा आर्थिक
कारण भी है और वह यह है कि कीमतों और मूल्यों के निर्माण में श्रम ही एक सबसे
अधिक आधारभूत कारण है। श्रमिक ऐसा अनुभव करता है कि पूँजीपतियों की लाभ
- कमाने की इच्छा पर कोई भी प्रभावशाली नियन्त्रण नहीं है, तो फिर बिचारे श्रमिक
से ही यह आशा क्यों की जाय कि वह अपनी माँगों को सीमित रक्खे। अस्वस्थ वाता-
वरण, बुरी गृह व्यवस्था, दोषपूर्ण यन्त्र, काम करने के अधिक घण्टे आदि बातों को
लेकर भी कुछ झगड़े हुये हैं, किन्तु इनका प्रतिशत कम ही रहा है। कुछ झगड़े श्रम
एवं प्रबन्धकों के पारस्परिक वैमनस्य के कारण भी हुये। मजदूरों को भांति-भांति से
परेशान करना, श्रमिक संघों से सम्बन्धित मजदूरों को निकाल देना, श्रमिक संघों को
मान्यता न देना, काम दिलाने वाले ठेकेदार की बेईमानी तथा भ्रष्टाचार इत्यादि।
कुछ ऐसे कारण हैं, जिन्होंने प्रति पाँच में एक झगड़े को जन्म दिया। श्रमिक संघ के
आन्दोलन भी गत वर्षों में झगड़ों के लिए उत्तरदायी हैं। यह संघ आन्दोलन अभी
हमारे सेवायोजकों के लिए नया सा है। वे इसे अपने अधिकारों के लिए चुनौती
समझते हैं। छुट्टी तथा नौकरी की शर्तों सम्बन्धी नियमावली का अभाव, बिना पूर्व
सूचना के काम से हटा देना, जुर्माने करना या श्रमिकों की मजदूरी में से गैर कानूनी
कटौतियाँ कर देना आदि बातें श्रमिकों को भड़का देने में काम देती हैं और उस
समय तक हड़ताल जारी रखते हैं, जब तक उनकी शर्तें पूरी नहीं हो जातीं।

उपर्युक्त आर्थिक कारणों के अतिरिक्त, कभी कभी अन्य साधारण कारणों से संघर्ष पैदा हो जाते हैं, जैसे—किसी राजनैतिक नेता के आगमन अथवा किसी देशभक्त की वर्ष गाँठ के अवसर पर एक दो दिन के लिए काम रोक देना, किन्तु ये आगे नहीं बढ़तीं। हाँ, जब कुछ अदूरदर्शी सेवायोजक ऐसे अवसरों पर जुर्माने आदि कर दें तो भले ही स्थिति बिगड जाती है। कभी कभी तो छोटी सी बातों पर तूल दे दिया जाता है, जो सरलता से ठीक की जा सकती है। बहुधा मजदूर नहीं जानते कि वे क्या चाहते हैं और हड़ताल कर देते हैं। बाद में माँगों की सूची तैयार होती है। यदि मजदूरों का शक्तिशाली संघ हो तो ऐसी अनुत्तरदायित्व पूर्ण घटनायें बन्द हो सकती हैं। अधिकतर भारतीय मजदूर अपढ़ तथा अनभिज्ञ हैं और वे अब भी बाहरी पथ प्रदर्शन पर निर्भर रहते हैं। उनकी इस दशा का कुछ स्वार्थी लोगों ने लाभ उठाकर उनमें पारस्परिक वैमनस्य व कटुता के बीज बो दिए हैं। मार्क्सवादियों का यह विश्वास है कि श्रमिकों की तानाशाही अवश्य स्थापित होगी और अन्त में श्रम राज्य भी अवश्य बनेगा। श्रम नेताओं का वर्तमान उद्देश्य केवल श्रमिकों का जीवन स्तर ऊँचा करना ही नहीं है, वरन् इसके विपरीत उनका उद्देश्य यह भी है कि राजनैतिक शक्ति को छीनकर अपनी इच्छानुसार सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करें। इस उद्देश्य की सन्तुष्टि के लिए भी श्रम-नेता मजदूरों को भड़काते हैं एवं अपने स्वामियों से टक्कर लेने के लिए उन्हें विवश करते हैं। हमारे देश में हड़तालों का एक उल्लेखनीय राजनैतिक कारण यह है कि एक महत्वाकाँक्षी राजनीतिज्ञ भारतीय श्रमिकों को अपने राजनैतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपयोग करने में सफल हो जाता है। वह जानता है कि श्रम संगठन पर अधिकार कर लेने से उसे एक संगठित वर्ग पर अधिकार प्राप्त हो जायगा, जिसके द्वारा वह उच्चतम् राजनैतिक पद तथा मान प्राप्त कर सकेगा, अतः यह स्पष्ट है कि भारत में अनेक हड़तालें देश की राजनैतिक अशान्ति का ही एक प्रकट रूप हैं। जब श्रम संघों का संचालन राजनीतिज्ञों के हाथों में चला जाता है तो संघ प्रायः पथ भ्रष्ट होकर श्रमिकों के हितों पर ध्यान दिए बिना कठपुतली के रूप में काम करते हैं।

भारत में औद्योगिक संघर्ष—

ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि सम्पूर्ण श्रमिक वर्ग की सर्व प्रथम सामूहिक हड़ताल कब हुई। यों 'काम रोक' घटनायें तो असंगठित रूप में प्रारम्भ से ही होती रही हैं और वे प्रायः इसलिये हुईं कि सेवायोजकों ने श्रमिकों को ठीक काम न करने पर अर्थ दण्ड दिया अथवा उन्होंने उनके वेतन को घटाने का प्रयास किया, परन्तु वे कुछ घण्टे ही चल पाती और सदैव शान्ति से निबट जाती थीं। धीरे धीरे श्रमिकों में जाग्रति हुई और वे सामूहिक कार्यवाही के महत्त्व को समझने लगे। सामूहिक रूप से श्रमिकों की पहली हड़ताल सन् १८७७ में नागपुर के एम्प्रैस मिल में हुई। तत्पश्चात् तो बहुतेरी घटनायें हुईं जो श्रमिकों के किसी एक वर्ग में ही सीमित नहीं रहीं। मेहतर से लेकर स्कूल अध्यापकों तक ने हड़तालों का झण्डा ऊँचा किया। कारखाना, स्कूल, बैंक, बीमा कम्पनी, रेल, नगर पालिका, पुलिस, फौज कोई विभाग अछूता न बचा। १९ वीं

शताब्दी में हमारे देश में साधारण झगड़ों को छोड़कर कभी कोई उल्लेखनीय संघर्ष नहीं हुए। उस समय वास्तव में श्रमजीवी बड़े असंगठित तथा पूँजीपति संगठित व शक्तिमान थे, अतः ऐसी परिस्थितियों में बिचारे श्रमजीवी चुपचाप पूँजीपतियों द्वारा किये गये अत्याचारों को सहन कर लिया करते थे, किन्तु प्रथम विश्व युद्ध की परिस्थितियों ने इस वातावरण को बदल दिया और श्रमिकों ने अपने अधिकारों के लिये लड़ना सीख लिया। संगठित होकर सन् १९१८ में उन्होंने एक भीषण हड़ताल की। इसके बाद सन् १९२० के प्रथम छह माह में लगभग २०० हड़तालें हुईं, जिनमें १½ लाख श्रमिकों ने भाग लिया। सन् १९२१ में आसाम के चाय के बगीचों में, सन् १९२२ में ईस्ट इण्डिया रेलवे में, सन् १९२३ में अहमदाबाद तथा सन् १९२४ में बम्बई की वस्त्र मिलों में भयंकर हड़तालें हुईं। इसके बाद कुछ दिनों स्थिति संतोषजनक रही, परन्तु विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी के झोंके से विवश होकर सन् १९२८ में पुनः हड़तालों की बाढ़ आई। इस समय तक श्रमिक संघों पर साम्यवादियों का पूरा अधिकार हो चुका था। परिणामस्वरूप सन् १९२८ में बम्बई में एक भीषण हड़ताल हुई और फिर १९२९ में एक लम्बी सहानुभूति प्रदर्शक हड़ताल की गई, जोकि छः महीने तक जारी रही। परिस्थितियों को सुधारने के लिए सन् १९२९ में श्रमिक संघर्ष अधिनियम (Trade Dispute's Act) पास किया गया। इसके बाद सन् १९३७ तक अपेक्षाकृत औद्योगिक शान्ति रही। सन् १९३७ में पुनः हड़तालों का रूप बड़ा उग्र हो गया। इसका प्रधान कारण यह था कि यद्यपि भारत के विभिन्न राज्यों में कांग्रेस सरकारों की स्थापना हो गई थी, किन्तु फिर भी श्रमिकों की स्थिति में कोई आशाजनक सुधार नहीं हुआ था। इस वातावरण से लाभ उठाकर साम्यवादियों ने श्रमिकों को और भी भड़का दिया, फलतः इन दोनों वर्षों (सन् १९३७-३८) में क्रमशः ३७१ व ३९९ हड़तालें हुईं।

सन् १९३९ में द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया। पूँजीपतियों ने मनमाने लाभ कमाये और इसके विपरीत ऊँचे मूल्य-स्तर के कारण श्रमिकों की दशा और भी गिर गई। परिणामस्वरूप सन् १९४० में भारत के विभिन्न क्षेत्रों में ३२२ हड़तालें हुईं, जिनकी संख्या सन् १९४२ में बढ़कर ६६४ हो गई। इन हड़तालों के विभिन्न कारणों में मँहगाई का प्रश्न मुख्य था।

सन् १९४७ में औद्योगिक विवाद अधिनियम पास हुआ, जिसमें श्रम एवं पूँजी के संघर्ष को शान्तिपूर्ण साधनों से सुलझाने के बड़े सुन्दर नियम बनाये, किन्तु देश के विभाजन, जन संख्या के परिवर्तन तथा बिगड़ती हुई राजनैतिक स्थिति के कारण श्रमिकों की दशा में कोई संतोषजनक सुधार नहीं हुआ। साम्यवादियों ने इस अवसर का पुनः लाभ उठाया और श्रमिकों की भावनाओं को भड़काने में अग्नि में घी का काम किया। फलतः चारों ओर हड़तालों का ताँता बँध गया। उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रदेश, बम्बई तथा मद्रास की वस्त्र मिलों में अनेक भीषण हड़तालें हुईं। बङ्गाल में ३ जूट मिलों ने भी तालाबन्दी कर दी। सन् १९४८ में कलकत्ते में १० दिन तक ट्राम गाड़ियों

ने पूरी हड़ताल रखी। कानपुर में भी भीषण हड़तालें हुईं। अगस्त सन् १९५० में बम्बई की वस्त्र मिलों में एक बहुत जबरदस्त हड़ताल हुई, जिसमें लगभग २ लाख मजदूरों ने भाग लिया और इसमें लगभग ६ करोड़ कार्य-दिनों की क्षति हुई। सन् १९५१ में रेल्वे कर्मचारियों ने हड़ताल की धमकी दी, किन्तु सौभाग्य से समाजवादी नेता श्री जयप्रकाश नारायण व रेल-मन्त्री के सुप्रयत्नों से वह टल गई। सन् १९५१ में बैंक कर्मचारियों ने सुप्रीम कोर्ट के निर्णय के विरुद्ध एक देशव्यापी हड़ताल की। सन् १९५२ व ५३ में स्थिति संतोषजनक रही। हाँ, सन् १९५३ में कलकत्ते की ट्रामवे हड़ताल ने बड़ा भयानक रूप धारण कर लिया, जिसमें विवश होकर सरकार को गोली भी चलानी पड़ी। २३ सितम्बर १९५४ को भारत के बैंक कर्मचारियों ने भारत सरकार के द्वारा औद्योगिक न्यायालय के निर्णय में परिवर्तन करने के प्रति रोष प्रकट करने के लिए एक देशव्यापी हड़ताल का आयोजन किया था। इसी प्रकार बीमा कम्पनियों के कर्मचारियों ने भी सितम्बर १९५४ में सरकार को यह नोटिस दिया था कि यदि उनके लिये अखिल भारतीय औद्योगिक ट्रिब्युनल की स्थापना नहीं की गई तो वे हड़ताल कर देंगे। फिर भी सन् १९५४ में औद्योगिक शान्ति का वातावरण रहा। अप्रैल-मई सन् १९५५ में १९ वर्ष की औद्योगिक शान्ति के उपरान्त कानपुर के वस्त्र-उद्योग के ४६,००० श्रमिकों ने सूती मिल मजदूर सभा के नेतृत्व में विवेकीकरण की योजनाओं का विरोध करते हुए एक भीषण हड़ताल की, जिससे उद्योग को बड़ी हानि हुई।

निम्नलिखित आँकड़ों† से गत वर्षों में हुये औद्योगिक झगड़ों की संख्या तथा उनसे होने वाली क्षति का आभास मिलता है :—

वर्ष	झगड़ों की संख्या	भाग लेने वाले श्रमिकों की संख्या	नष्ट होने वाले कार्य दिनों की संख्या
१९४७	१,८११	१८,४०,७८४	१,६५,६२,६६६
१९४८	१,२५९	१०,५९,१२०	७८,३७,१७३
१९४९	९२०	६,८५,४५७	६६,००,५९५
१९५०	८१४	७,१९,८८३	१,२८,०६,७०४
१९५१	१,०७१	६,९१,३२१	३८,१८,९२८
१९५२	९६३	८,०९,२४२	३३,३६,९६१
१९५३	७७२	४,६६,६०७	३३,८२,६०८
१९५४	८४०	४,७७,१३८	३३,७२,६३०
जनवरी १९५५	८७	४७,६९४	३,२०,९५१

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि वर्तमान युग में श्रमिक अत्यन्त जागरूक हो गया है, अतः श्रम और पूँजी के बीच अच्छे सम्बन्ध रखने के लिए यह नितांत आवश्यक है कि इन दोनों पक्षों के साथ न्याय का बर्ताव किया जाय और देश में स्थायी औद्योगिक शान्ति की स्थापना की जाय। यह सचमुच बड़े ही सन्तोष की बात है कि सन्

† Commerce May, 1955,

१९५१ से स्थिति में क्रमशः सुधार होता जा रहा है। राजकीय प्रयत्नों का इस स्थिति पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा है।

राज्य एवं औद्योगिक शान्ति—

औद्योगिक झगड़े रोकने व उनको तय कराने की पहिले-पहल कानूनी व्यवस्था सन् १९२९ में व्यापारिक संघर्ष अधिनियम (Trade Disputes Act) द्वारा हुई। इस कानून के अन्तर्गत राज्य को अधिकार मिल गया कि वह मजदूरों के झगड़ों को एक समझौता बोर्ड या जांच अदालत को सौंप दे, परन्तु अपने इस अधिकार का प्रयोग राज्य ने इने-गिने उदाहरणों में ही किया। बोर्ड तथा अदालत के निर्णय पक्षों पर अनिवार्य रूप से लागू नहीं किये जा सकते थे, क्योंकि इसकी अधिनियम में कोई व्यवस्था न थी। जन-उपयोगी उद्योगों में हड़ताल की १४ दिन पूर्व सूचना देना अनिवार्य कर दिया गया। इस प्रकार कोई स्थायी समझौता व्यवस्था नहीं की गई और न राज्य के लिए यह अनिवार्य किया गया कि वह समझौता बोर्ड या जांच अदालतों को झगड़े अनिवार्य रूप से सौंपे। सन् १९३८ में औद्योगिक विवाद अधिनियम संशोधित किया गया। अब सरकार को यह अधिकार दे दिया गया कि वह समझौता अधिकारी, जिसका कर्तव्य मध्यस्थता करने अथवा औद्योगिक झगड़े के निपटारे को प्रोत्साहित करना हो, नियुक्त करे, परन्तु स्थायी समझौता व्यवस्था करने का विचार अधिनियम पुस्तिका में ही बना रहा। हाँ, बम्बई सरकार ने अवश्य बम्बई व्यापारिक विवाद समझौता अधिनियम सन् १९३४ में और बम्बई औद्योगिक विवाद अधिनियम सन् १९३८ के अन्तर्गत स्थायी समझौता व्यवस्था कर दी है।

युद्ध काल में भारतीय सुरक्षा कानून की ८१-अ धारा के अन्तर्गत सरकार को ऐसे नियम बनाने का अधिकार मिल गया, जिनके द्वारा वह किसी व्यापारिक झगड़े से सम्बन्धित हड़तालों को रोक सके, किसी भी झगड़े को समझौते के लिए सौंप सके और उस निर्णय को अनिवार्य रूप से लागू कर सके। इस अधिनियम के अन्तर्गत यह अधिकार प्रायः ही प्रयोग किया गया, यद्यपि सन् १९२९ के व्यापारिक संघर्ष अधिनियम के अन्तर्गत वैसा नहीं हुआ था।

औद्योगिक संघर्ष अधिनियम मार्च सन् १९४७ में पास किया गया और इसके बाद सन् १९४९, ५०, ५१, व ५२ में क्रमशः इसमें आवश्यक संशोधन किये गये। इसकी मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :—

(१) प्रत्येक औद्योगिक संस्था में, जिसमें कि १०० या अधिक कारीगर हों, कार्य समितियाँ (Works Committees) बनाना अनिवार्य कर दिया गया। इन समितियों का कर्तव्य काम करने व कराने वाले के मध्य सद्भावना और अच्छे सम्बन्ध बनाना और बनाए रखना और इस उद्देश्य से उनके सामान्य हितों पर विचार प्रकट करना एवं ऐसे हितों पर मतभेदों का सामंजस्य करना है। यह व्यवस्था श्रमिकों को वार्ता करने एवं सामूहिक सौदा करने में सहायता देगी।

(२) इसके अतिरिक्त औद्योगिक न्यायालयों (Industrial Tribunals)

की स्थापना की भी इस अधिनियम में व्यवस्था की गई है, जिसमें दो या अधिक सदस्य होंगे, जो कि हाई कोर्ट के जज अथवा डिस्ट्रिक्ट जज के पद के होंगे। हड़ताल करने से पूर्व पहले मामला समझौता अधिकारी (Reconciliation Officer) पर जायगा, जो कि अपनी रिपोर्ट सरकार के सम्मुख १४ दिन के अन्दर प्रस्तुत करेगा। यदि फैसला हो गया तो ठीक है अन्यथा इसके उपरान्त सरकार मामले को समझौता बोर्ड अथवा औद्योगिक न्यायालय के पास भेजती है।

(३) साथ ही इस अधिनियम के अनुसार जन हितकारी सेवाओं में हड़ताल करना अवैधानिक कर दिया गया है। इसके लिये ६ सप्ताह की पूर्व सूचना आवश्यक है। पंच फैसले के मध्य में या उसके फैसले के ७ दिन तक या अदालती कार्यवाही के मध्य में या उसके फैसले के दो माह तक भी हड़ताल या तालाबन्दी अवैधानिक और दण्डनीय है। जो श्रमिक ऐसी हड़तालों में सम्मिलित नहीं होंगे उनकी पूर्ण रक्षा की जायगी।

इसके बाद अप्रैल सन् १९४९ में इण्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स आर्डीनेन्स लागू किया गया, जिसका विस्थापन दिसम्बर सन् १९४९ में अधिनियम से हुआ। इस अधिनियम से सन् १९४७ के व्यापारिक संघर्ष अधिनियम को संशोधित किया गया। इसके अनुसार बैंक और बीमा कम्पनियों के औद्योगिक झगड़ों का निपटारा करने के लिए न्यायालय ट्रिब्यूनल अथवा सभायें बनाने का अधिकार केवल केन्द्रीय सरकार का हो गया। इस अधिकार के अन्तर्गत ही केन्द्रीय सरकार ने बैंकिंग कम्पनियों के कर्मचारियों का झगड़ा निपटाने के लिए सन् १९४९ में औद्योगिक ट्रिब्यूनल स्थापित किया था। सन् १९४९ में औद्योगिक संघर्ष (संशोधित) अधिनियम स्वीकृत हुआ, जिसने निकाले गए श्रमिकों को हानि पूर्ति देने का आयोजन किया। औद्योगिक संघर्ष (अपील न्यायालय) अधिनियम सन् १९५० में एक श्रम अपील न्यायालय (Labour Appellate Tribunal) स्थापित करने की व्यवस्था की गई है। इसकी स्थापना मुख्यत औद्योगिक न्यायालयों, मजदूर बोर्डों तथा अन्य इसी प्रकार की वैधानिक संस्थाओं के निर्णयों की अपील सुनने के लिए की गई है, जिसमें एक अध्यक्ष तथा सरकार की इच्छानुसार अन्य सदस्य होंगे। यह अध्यक्ष अपनी इच्छानुसार अपील न्यायालय के कार्य संचालन तथा अपने अधिकारों का प्रयोग करने के लिये इस न्यायालय की बेंचें भी स्थापित कर सकता है। प्रत्येक बेंच में कम से कम दो सदस्य होंगे, जिसमें एक सभापति नियुक्त किया जायगा। यह अपील न्यायालय किसी भी न्यायाधिकरण के निर्णय के सम्बन्ध में अपील सुनेगा, यदि—(१) अपील में कोई वैधानिक बात उठाई गई है या (२) इस निर्णय का सम्बन्ध मजदूरी, बोनस या सफर खर्च, पेन्शन या प्रोवीडेन्ट फन्ड में मालिक के भाग अथवा श्रमिक को दिए जाने वाले उसके विशेष उद्यम से सम्बन्धित किसी भुगतान से या पृथक होने पर दिये जाने वाले उपहार श्रेणी के अनुसार वर्गीकरण, छटनी और कानून के अन्तर्गत बनाये गये किसी अन्य नियम से है। प्रत्येक अपील की सुनवाई या अवार्ड प्रकाशन के ३० दिन के अन्तर्गत हो जायगी। इस अधिनियम के

अनुसार ८ अगस्त सन् १९५० को भारत सरकार ने एक औद्योगिक अपील न्यायालय की स्थापना बम्बई में कर दी है। ११ अक्टूबर सन् १९५० को कलकत्ता में अपील न्यायालय की एक बैंच भी स्थापित कर दी है, जो आसाम, बिहार, दिल्ली, हिमाचल-प्रदेश, मणिपुर, उड़ीसा, पेप्सू, पंजाब, राजस्थान, त्रिपुरा, उत्तर-प्रदेश तथा पश्चिमी बंगाल के राज्यों की अपीलें सुनेगी। शेष राज्यों की अपीलें बम्बई में सुनी जायेंगी। इनके अतिरिक्त राज्यों में भी श्रमिक और पूँजीपतियों के सम्बन्धों में सुधार करने तथा उनके झगड़ों का निपटारा करने के लिये कुछ कानून बनाये गये हैं, जिनकी मुख्य बातें औद्योगिक विवाद अधिनियम सन् १९४७ के समान हैं।

पञ्च वर्षीय योजना और औद्योगिक सम्बन्ध—

योजना कमीशन ने श्रमिक एवं नियोक्ताओं के सम्बन्धों को ठीक रखने के लिए त्रिदल-सभा की स्थापना का सुझाव दिया है, जिसमें सरकार, सेवायोजक एवं श्रमिकों का प्रतिनिधित्व हो। यदि इस सभा के द्वारा कोई समझौता नहीं हो पाता तो उसे सरकार निपटाये। औद्योगिक झगड़ों को रोकने के लिए सेवायोजक और श्रमिकों के उत्तरदायित्वों की निश्चित शर्तें बनाई जायें। प्रत्येक औद्योगिक संस्था में इनकी सूचियाँ रखी जावें तथा उनकी तकलीफों को दूर करने का समुचित आयोजन हो। श्रमिकों को उद्योग की वास्तविक स्थिति से परिचित कराया जाय तथा उनके हितों को प्रभावित करने वाले परिवर्तनों की जानकारी उनको दी जाय। श्रमिकों के काम करने की दशा में क्या सुधार किया जाय, सेवायोजकों को इससे परिचित कराने के लिये समुचित आयोजन हो। औद्योगिक शान्ति की आदर्श व्यवस्था के लिये यह आवश्यक समझा गया है कि यथा सम्भव आपसी समझौतों से झगड़े मिटाये जायें। इसके लिये योजना आयोग ने वर्क्स कमेटियों की स्थापना की सिफारिश की है।

औद्योगिक संघर्ष अधिनियम—एक दृष्टि—

उक्त अधिनियम के अन्तर्गत किसी औद्योगिक विवाद के उत्पन्न हो जाने पर सरकार समझौता अधिकारी तथा समझौता बोर्ड की नियुक्ति करती है। समझौता किसी भी स्थिति में श्रेष्ठ होता है, किन्तु गत वर्षों के अनुभव से यह स्पष्ट है कि समझौता अधिकारी व बोर्ड दोनों ही प्रायः सर्वथा असफल सिद्ध हुए हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि समझौता अधिकारी प्रायः अनुभवहीन तथा कम आयु के व्यक्ति होते हैं और ऐसे ही व्यक्ति समझौता बोर्ड के अध्यक्ष बनाए जाते हैं। अधिनियम में यह स्पष्ट लिखा है कि समझौता अधिकारी १४ दिनों में तथा समझौता बोर्ड २ माह में अपनी रिपोर्ट दें, किन्तु व्यवहार में समय की इस अवधि का पालन नहीं किया जाता। इस स्थिति को सुधारने के लिए निम्न उपाय हैं—

(१) अत्यन्त योग्य व अनुभवी व्यक्ति ही समझौता अधिकारी नियत किये जायें।

(२) समझौता अधिकारी के बजाय मामला शुरू में ही समझौता बोर्ड के पास जाय।

(३) ३० दिनों की अधिकतम् अवधि नियत कर दी जाये, जिसमें बोर्ड को अपनी सम्बद्ध अधिकारियों को पहुँच देनी चाहिए।

औद्योगिक संघर्ष अधिनियम के अन्तर्गत विवादग्रस्त मामला अन्तिम निर्णय के लिए निर्णायक (एडजुडिकेटर) औद्योगिक न्यायलय या ट्रिब्यूनल सुपुर्द किया जा सकता है। निर्णायक का निर्णय दोनों पार्टियों के लिए मान्य होगा। यदि कोई कानूनी प्रश्न खड़ा हो जाये अथवा वेतन, बोनस आदि के सम्बन्ध में कोई निर्णय दिया गया हो, तो अपीलीय न्यायाधिकरण (अपीलेट ट्रिब्यूनल) में इसकी अपील की जा सकती है, किन्तु पिछले छः वर्षों के अनुभव से मालूम होता है कि निर्णय की इस पद्धति में अनेक दोष हैं —

(१) पहला दोष तो यह है कि इसमें समय की कोई शर्त नहीं है कि समझौता असफल होने के लिए कितने समय बाद तक सरकार को यह मामला निर्णायक के पास भेज देना चाहिए। वह किसी समय यह मामला निर्णायक को सौंप सकती है। इससे मामला और भी उलझ जाता है तथा अनिश्चित स्थिति बनी रहती है।

(२) इस मशीनरी में एक और दोष यह है कि न जाने कब के पुराने मुर्दे गड्ढे से निकाल कर निर्णायक को सौंप दिये जाते हैं। पंजाब में एक कारखाने के मजदूरों ने सन् १९४२ और सन् १९४३ के लिए बोनस का १० साल पुराना सवाल खड़ा कर दिया और वह निर्णायक को सौंप दिया गया। आखिर कोई समय की अवधि होनी चाहिए कि उस समय से पहले का कोई सवाल अब नहीं उठाया जा सकता।

(३) इस कानून के १० वें खण्ड के ५ वें उप खण्ड के अनुसार यदि किसी एक कारखाने या संस्था में औद्योगिक विवाद उत्पन्न हो गया है और सरकार ने वह मामला ट्रिब्यूनल को सौंप दिया है, तो सरकार को यह अधिकार है कि वह केवल संस्था तक ही उसे सीमित न रखकर उसे समस्त उद्योग या उस उद्योग की किसी और एक या अनेक संस्थाओं का मामला भी उस ट्रिब्यूनल को सौंप दे, भले ही उस संस्था में औद्योगिक विवाद न खड़ा हुआ हो। इसका अर्थ यह होता है कि किसी उद्योग के शान्त वातावरण को सरकारी अफसर अपनी इच्छा से अशान्त बना सकता है। व्यापक रूप से समस्त उद्योग को लपेटने का प्रसिद्ध उदाहरण बैंकों का मामला है। दो तीन बैंकों में झगड़ा पैदा हुआ और सरकार ने समस्त छोटे बड़े बैंकों को इसमें लपेट कर मामला ट्रिब्यूनल को भेज दिया। इसके निर्णय का क्या दुष्परिणाम हुआ, यह कौन नहीं जानता। समस्त छोटे बड़े बैंकों पर असह्य व्यय का भार बढ़ गया और बैंकों की नई शाखाएँ खुलनी बन्द हो गई। ट्रिब्यूनलों के लिये यह आवश्यक होना चाहिये कि वे ५-६ मास तक अपना निर्णय दे दें। होता यह है कि इसमें साल और सवा साल तक समय बीत जाता है। इसका एक कारण यह भी है कि सरकार विवाद ग्रस्त क्षेत्र को अत्यन्त व्यापक कर देती है। निर्णय में इस देरी के कारण किसी भी उद्योग में अनिश्चित और अस्थिर अवस्था दीर्घकाल तक बनी रहती है।

(४) औद्योगिक संघर्ष अधिनियम मे एक बड़ा दोष और है। यदि निर्णायक के निर्णय के विरुद्ध एक पक्ष अपील करता है, तो स्वभावतः पहला निर्णय तब तक लागू नहीं होना चाहिए, जब तक कि उस अपील का निर्णय नहीं हो जाये, किन्तु व्यवहारतः होता यह है कि अपीलेट ट्रिब्यूनल पहले निर्णय को लागू न करने का फैसला देने से यह कहकर इन्कार कर देता है कि इससे दूसरे पक्ष पर कोई बहुत गम्भीर बोझ नहीं पड़ेगा।

(५) हर एक विवादग्रस्त प्रश्न का निर्णय करने के लिए कुछ कानून होते हैं, किन्तु ट्रिब्यूनल या निर्णायक अधिकाँशतः सामाजिक न्याय (सोशल जस्टिस) के नाम से बिना स्थिति व तथ्यों की जाँच पड़ताल किये या तर्क व उक्ति का विचार किये बिना निर्णय दे देते हैं। म्यूर मिल्स को १ वर्ष २ लाख रुपये का घाटा हुआ, फिर भी अपीलेट ट्रिब्यूनल ने मजदूरों को बोनस देने का फैसला दे दिया। इससे पहले अपीलेट ट्रिब्यूनल की फुल बैंच ने यह निर्णय दे दिया था कि घाटा होने की स्थिति में बोनस नहीं दिया जा सकता। कभी-कभी तो ट्रिब्यूनलों के निर्णय अत्यन्त हास्यास्पद होते हैं—न्यू इण्डिया शुगर मिल्स (बिहार) के मजदूरों को १२ महीनों का विशुद्ध वेतन बोनस देने का फैसला दिया गया। बड़ोदा में क्रिस्टल ग्लास वर्क्स लि० को इतने भारी वेतन व मंहगाई भत्ता देने की आज्ञा दी गई कि लाचार हो कर मिल बन्द करनी पड़ी। तब बेकार होने वाले मजदूर खुद मिल वालों के पास गये, कम वेतन लेकर काम करने को राजी हो गये और मिल फिर खोल दी गई। ऐसे अदूरदर्शितापूर्ण निर्णयों से उद्योग को अति क्षति होती है। इसका मुख्य कारण एक तो यह है कि सरकारों के श्रम मन्त्रालय उद्योग की कार्यक्षमता का विचार किये बिना केवल मजदूरों को प्रसन्न करना अपना एकमात्र कर्तव्य समझते हैं और उनके इस रुख को देखकर ट्रिब्यूनल या निर्णायक निर्णय देते हैं। दूसरा कारण यह है कि बहुत कम अनुभव के लोग इस पद के लिए नियुक्त किये जाते हैं। होना यह चाहिये कि ट्रिब्यूनल या औद्योगिक अदालतों की नियुक्ति श्रम-मन्त्रालय न किया करें। न्याय और कानून विभाग ऐसे न्यायाधिकारियों की नियुक्ति किया करें अथवा उद्योग-व्यापार मंत्रालय के हाथ में ये नियुक्तियाँ हों, जिसे उद्योग की स्थिति का भली-भाँति ज्ञान होता है।

अन्त में, वर्क्स कमेटियों की भी चर्चा अनावश्यक न होगी। औद्योगिक संघर्ष अधिनियम के तीसरे खण्ड के अनुसार सरकार को यह अधिकार प्राप्त है कि वह १०० या अधिक मजदूरों की संस्थाओं में वर्क्स कमेटी नियत करने के आदेश दे सकती है। वर्क्स कमेटी में मजदूरों व मिल प्रबन्धकों के बराबर-बराबर सदस्य होते हैं। मजदूर अपने प्रतिनिधि स्वयं चुनते हैं। इन कमेटियों का उद्देश्य दोनों पक्षों में सद्भावना व प्रेम उत्पन्न करना तथा आपसी मतभेदों को दूर करना होता है। उत्तर-प्रदेश, बिहार, बम्बई, मध्य-प्रदेश, मद्रास और अनेक राज्यों में वर्क्स कमेटी बनाने की आज्ञाएँ प्रचारित की जा चुकी हैं। अहमदाबाद के सिवा जहाँ सन् १९४६ के बम्बई कानून के अनुसार वर्क्स कमेटियाँ स्थापित हुई थीं, अन्य स्थानों में ये कमेटियाँ सफल सिद्ध नहीं

हुई। उत्तर प्रदेश में तो सरकार ने इनकी व्यर्थता देखकर स्वय ही वर्क्स कमेटियों को सन् १९५० में भङ्ग कर दिया। कुछ स्थानों में इन कमेटियों को आंशिक सफलता मिली है, किन्तु अधिकांश स्थानों व उद्योगों में ये असफल ही सिद्ध हुई हैं। इसके कुछ कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) मजदूर संघों ने इस भय से इनके निर्माण में सहयोग नहीं दिया कि कहीं ये कमेटियाँ ही उनकी प्रतिस्पर्धी न हो जावें।

(२) वर्क्स कमेटियों के सदस्य सद्भावना व प्रेम का वातावरण बनाने की अपेक्षा स्वयं संघर्षशील पक्ष बन जाते हैं और वातावरण को अधिक कटु बना देते हैं।

(३) कारीगर जहाँ देखते हैं कि वर्क्स कमेटी उनकी किसी माँग को अनुचित समझती है या मिल अधिकारियों से मनवाने में असफल होती है तो वह कमेटी के सदस्यों को मिल मालिकों का दलाल कहने लगते हैं। इस तरह कारीगर ही कमेटी की प्रतिष्ठा को समाप्त कर देते हैं।

(४) इन कमेटियों की स्थापना मजदूर व मिल-मालिक अपनी इच्छा से नहीं करते, कानून के द्वारा विवश हो कर करते हैं। सद्भावना फैलाने का वातावरण प्रारम्भ में ही नहीं होता। अमेरिका व इङ्गलैण्ड में सद्भावना का वातावरण बनने और दोनों पक्षों के तैयार होने पर ये कमेटियाँ बनती हैं।

औद्योगिक शान्ति को बढाने के उपाय—

औद्योगिक शान्ति की स्थापना के लिए लाभ अंशभागिता की योजना का प्रभाव रखा जा सकता है। इस योजना के फलस्वरूप श्रम तथा पूँजी के हित परस्पर बध जाते हैं एव दोनों पक्षकार उद्योग के समुचित सचालन में भाग लेते है, किन्तु इस योजना की सफलता के लिए सद्भावना की विशेष आवश्यकता है। प्राय. श्रमिकों को उनका भाग देने में देर की जाती है। लाभांश बहुधा वर्ष के अन्त में दिया जाता है, जिससे श्रम तथा उद्योग दोनों को ही हानि होती है। लाभ अंश-भागिता की योजना उन्हीं उद्योगों मे सफल हो सकती है जिनमें लाभ नियमित रूप से बना रहता है अथवा यह योजना छोटे-छोटे उद्योगों में सफल हो सकती है, यदि श्रमिक निपुण तथा बुद्धिमान हैं और श्रमिकों तथा मालिकों का सहयोग साझेदारी की भाँति है। औद्योगिक शान्ति की स्थापना के लिए उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का भी सुझाव दिया जा सकता है। यह तो बिना आपत्ति के स्वीकार किया जा सकता है कि राष्ट्रीयकृत प्रणाली में श्रमिकों की दशा में भारी सुधार हो सकता है, किन्तु इससे समस्या का पूर्णतः हल नहीं होता। भारत का अनुभव तो यही है कि सरकारी उद्योगों में भी निरन्तर झगड़े होते ही रहे हैं। पिछले वर्षों मे इगलैण्ड के राष्ट्रीयकृति उद्योगों में जो हड़तालें हुई हैं, उनसे भी इसी विचार की पुष्टि होती है। इसके अतिरिक्त औद्योगिक राष्ट्रीयकरण की सफलता के लिए शासन की कुशलता और सेवाओं की आरोग्यता तथा निष्कलङ्कता नितान्त आवश्यक हैं। इस दृष्टि से भारत की स्थिति अभी सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती, अतः भारत की वर्तमान आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों में कड़े

निरीक्षण, मजदूरियों और कार्य की दशाओं के समुचित नियन्त्रण तथा कल्याण कार्यों के विकास द्वारा ही औद्योगिक शान्ति तथा सम्पन्नता की वृद्धि की आशा की जा सकती है। औद्योगिक शान्ति की आवश्यक दशाओं को प्राप्त करने के लिए सभी लोगों के लिए जीवन निर्वाह योग्य मजदूरियों की व्यवस्था होनी चाहिए। मकानों तथा सामाजिक सुरक्षा के विषय में भी काफी सुधार की आवश्यकता है। मूल्यों में स्थायित्व होना चाहिए तथा श्रम पूँजी में पारस्परिक सहयोग।

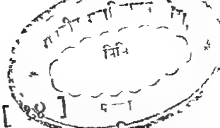
उपसंहार—

इसमें सन्देह नहीं कि जिस प्रकार पूंजी धन है, उसी प्रकार परिश्रम भी धन है और अमूल्य धन है। उद्योगों पर इन दोनों ही धनपतियों का स्वामित्व होना चाहिए। इसके लिए संघर्ष भी करना पड़ता है और कभी-कभी हड़तालों की भी आवश्यकता पड़ जाती है, परन्तु छोटे-बड़े उचित या अनुचित प्रश्नों को लेकर हड़ताल शुरू कर देना सदा सही मार्ग नहीं हो सकता। मजदूर-हड़ताल तो एक धर्मयुद्ध है, जिसमें मजदूर दल अपनी उचित मांगों को उद्योगपतियों द्वारा ठुकराए जाने पर एक ऐसा व्रत ठान लेते हैं, जिसमें धैर्य, संयम, अनुशासन, संघ शक्ति और संघ निष्ठा की आवश्यकता है। मजदूर और उद्योगपति का पारस्परिक सम्बन्ध प्रेम, सुख तथा सहानुभूति पर अवलम्बित होना चाहिए। गांधी जी ने एक लेख में लिखा था कि "नौकर और मालिक के सम्बन्ध को स्वार्थ की भावना से आबद्ध न होकर एक दूसरे को सुख की भावना पर निर्भर होना चाहिए। लेन-देन की नीति पर स्थिर न होकर पारस्परिक सहानुभूति पर स्थिर रहना चाहिए।' मजदूर और उद्योग-पति दोनों ही एक मार्ग के दो राही हैं, एक रथ के दो चक्र हैं, एक जीवन की दो श्वासें हैं तथा एक साधना के दो साधक हैं। दोनों ही को एक दूसरे का हित सोचना चाहिए। उद्योगपतियों को अपनी पूंजी द्वारा मजदूरों की सुविधाओं को प्राप्त कराना चाहिए तथा मजदूरों को अपने श्रम के बल पर पूंजीपतियों को पूर्ण सहयोग देना चाहिए। केवल अपने स्वार्थ तथा राजनैतिक झगड़ों में लिप्त होकर काम बन्द कर देने से केवल दोनों पक्षों को ही हानि नहीं वरन् राष्ट्र के हित में भी घातक है।

मजदूरों की लड़ाई का सारा आधार उनकी उचित मांग पर ही अवलम्बित है। मांग करने से पहले मजदूरों को उनके औचित्य अनौचित्य पर पूर्ण विचार कर लेना चाहिए। अगर मांग अनुचित है तो मजदूरों को कभी सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। अनुचित और अनैतिक मांग करके हड़ताल कर देना और मजदूरी छोड़कर उदासीन हो बैठना ठीक नहीं। मजदूर का मजदूरी न करना ईश्वर का अपना निवास छोड़ देना है। अनुचित मांग को ही ध्यान मानकर हड़ताल कर देना असफलता की पहली सीढ़ी है। उचित माँग के आधार पर की गई लड़ाई वास्तव में नीति युद्ध है। माँग के उचित होने पर भी मजदूर हड़ताल का सफल होना मजदूरों के न्याय पूर्ण कार्य पर निर्भर है। मजदूर-हड़ताल एक धर्म युद्ध है, एक सत्याग्रह है, एक व्रत है, एक तपस्या है, जिसकी सफलता केवल नैतिक आचरणों पर ही निर्भर है। अगर इस

युद्ध में मज्दूर अन्याय का उपयोग करते है, दंगा फसाद मचाते है, झूठ बोलते हैं, तोड फोड करते हैं, दूसरों को दबाते हैं या आलस से काम लेते हैं तो अन्त में उनकी विजय कभी नहीं हो सकती। मज्दूरों को शांति व न्याय से काम करना चाहिए। उनकी ईमानदारी , उनकी आस्था, श्रद्धा और उनकी सहानुभूति तथा हिम्मत ही उनको विजयी बना सकती है। हडताल के समय मजदूरों पर कुछ काम न होने के कारण वे अवगुणों में फस जाते हैं, जैसे—जुआ खेलना, शराब पीना, चोरी करना, तोड़-फोड करना, हल्ला-गुल्ला करना इत्यादि। मजदूर एक ओर धर्म युद्ध छेड़कर दूसरी ओर ऐसे अधर्म में लिप्त होकर युद्ध नहीं जीत सकता। हड़ताल करने वालों को नैतिक व धार्मिक बल की आवश्यकता होती है। सन् १६१८ में अहमदाबाद में होने वाले मजदूर युद्ध में भाषण देते हुए गांधी जी ने मजदूर-हड़ताल करने वालों को नैतिक उत्थान के लिए आदेश दिया था—

"मजदूरों को सत्यवादी होना चाहिए। उचित माँग करने के अतिरिक्त न्याय बुद्धि से काम लेते हुए उद्योगपतियों से मित्रता का ही व्यवहार वर्तना चाहिए। उन्हें प्रत्येक आपत्ति के लिए भी तैयार रहना चाहिए, क्योंकि सम्भव है युद्ध लम्बे समय तक चले और उन्हें भूखे रहने का भी समय आ जाय।" इसके साथ यह भी नितान्त आवश्यक है कि सेवायोजक भी श्रमिकों के प्रति पुत्रवत व्यवहार करें। उन्हें सन्देह की दृष्टि से न देखकर उद्योग का एक अनिवार्य अंग समझें, तभी औद्योगिक सङ्घर्ष की समस्या हल हो सकती है।



[१४]

लाभ-अंश भागिता एवं सहभागिता

रूपरेखा—

१. प्रस्तावना—लाभ अंश भागिता से आशय ऐसी व्यवस्था से है, जिसके अन्तर्गत सेवायोजक अपने कर्मचारियों को वेतन के अतिरिक्त होने वाले लाभ में से एक पूर्व निश्चित भाग देने के लिये प्रस्तुत होते हैं। इस योजना की कुछ मुख्य विशेषतायें। सह भागिता की योजना के अन्तर्गत श्रम जीवियों को लाभ में भाग पाने के अलावा संस्था के प्रबन्ध में भी कुछ अधिकार मिल जाता है, क्योंकि संस्था की पूँजी का कुछ भाग श्रमिकों द्वारा प्रदान किया जाता है।

२. योजना के गुण-दोष—लाभ अंश भागिता की योजना श्रमिकों के हृदय में परिश्रम एवं महत्ता से कार्य-करने की प्रेरणा उत्पन्न करती है, जिसके फल-स्वरूप सेवायोजकों को भी बड़ा लाभ होता है। सह भागिता के अन्तर्गत श्रमिकों को तिहरा लाभ होता है—अंशधारी के रूप में, श्रम के रूप में एवं सह भागी के रूप में। लाभ अंश भागिता की योजना पूर्ण दोष हीन नहीं है। श्रमिकों का लाभ अंश अनिश्चित प्रकृति का होता है एवं कभी कभी इस सम्बन्ध में बड़ा मनमुटाव भी हो जाता है। यह योजना प्रायः पक्षपात पूर्ण कही जाती है। सह भागिता की योजना का मुख्य दोष यह है कि यह केवल संयुक्त स्कन्ध प्रमण्डलों में ही लागू की जा सकती है। श्री. बिरला के विचारानुसार श्रमिकों के हृदय में प्रेरणा जागृत करने के लिये उन्हें अधिकांश देना चाहिये।

३. भारत में लाभ अंश भागिता की योजनायें—औद्योगिक शान्ति सन्धि पर सन् १९४७ में जो प्रस्ताव पास किया गया था उसमें लाभों को नियन्त्रित करने की व्यवस्था की गई थी। मई सन् १९४८ में भारत सरकार द्वारा नियुक्त की हुई समिति ने लाभ अंश-भागिता के सम्बन्ध में अनेक सुझाव दिये। श्रमिकों को जो भाग दिया जाये वह लाभ में से ह्रास कोष, सुरक्षित कोष तथा अन्य कोषों की राशि घटाकर देनी चाहिये। श्रमिकों के भाग का उत्पादन से सम्बन्धित करना सम्भव नहीं है। लाभ अंश भागिता के तीन दृष्टिकोण हो सकते हैं—प्रोत्साहन, औद्योगिक शान्ति तथा श्रमिकों का प्रबन्ध में भाग लेना। समिति के अनुसार श्रमिकों को अतिरिक्त लाभ का ५०% मिलना चाहिये। प्रत्येक श्रमिक का भाग उसकी पिछली १२ माह की कमाई

का अनुपातिक होना चाहिये। समिति ने योजना को प्रयोगात्मक आधार पर कुछ बड़े बड़े उद्योगों में लागू करने की सिफारिश की है।

४ *राजकीय नीति की आलोचना*—विशेषज्ञ समिति में यह सुझाव दिया है कि लाभ अंश योजना को औद्योगिक एवं स्थानीय आधार पर कार्यान्वित किया जाय। इसमें प्रत्येक श्रमिक को एक न्यूनतम लाभ अंश अवश्य मिलेगा, परन्तु इसकी यह कठिनाई है कि एक उद्योग की कुशल इकाइयों अकुशल इकाइयों के कारण हानि उठावेंगी। भारत में उपयुक्त सनियम के अभाव में लाभ अंश योजनायें ऐच्छिक हैं या न्यायालयों के निर्णयों पर आधारित हैं। लाभ अंश की मात्रा का निश्चय प्रत्येक उद्योग की आर्थिक स्थिति को देखकर किया जाता है। लाभ की परिभाषा भी एक सी नहीं दी गई।

५. *उपसंहार*—लाभ अंश-भागिता की योजनायें बड़ी अव्यावहारिक हैं। इनको बहुत कम सफलता मिली है।

प्रस्तावना—

प्राचीन आर्थिक विचार धारा के अनुसार लाभ पर केवल पूँजीपति का ही अधिकार माना गया है, किन्तु वर्तमान युग में अब लोग ऐसा अनुभव करने लगे हैं कि श्रम जीवी भी जो कि औद्योगीकरण के आधार हैं, इस लाभ के अधिकारी हैं, क्योंकि उन्हीं के परिश्रम स्वरूप लाभ सम्भव होता है, अत उन्हें भी लाभ का उचित भाग मिलना चाहिए। लाभ अंश भागिता के अनेक अर्थ हो सकते हैं। एक अर्थ के अनुसार तो प्रत्येक ऐसा भुगतान जो नियमित मजदूरी के अलावा श्रमिक को सेवायोजक की ओर से दिया जाता है (चाहे नगद रुपयों के रूप में हो अथवा वस्तुओं के रूप में), लाभ से ही सम्बन्धित होता है। इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि यदि कोई सेवायोजक श्रमिक की मजदूरी के अतिरिक्त ऐसे शीर्षकों पर, जैसे—चिकित्सा, सवेतन छुट्टी, मनोरंजन शिक्षा आदि पर किसी प्रकार का व्यय करता है, तो वह वास्तव में अपने ही लाभ का एक भाग श्रमिक को देता है। इसी प्रकार यदि कोई संस्था श्रमिकों को आकृषित करने के उद्देश्य से उन्हें बाजार दर से अधिक मजदूरी देता है, तो जो अतिरिक्त शोधन वह करता है उसके सम्बन्ध में भी हम यह धारणा कर सकते हैं कि वह अपने लाभ का एक भाग श्रमिकों को दे रहा है, किन्तु अर्थशास्त्र की शब्दावली में इसे हम लाभ अंश भागिता नहीं कहते। श्री एच आर सीगर के मतानुसार लाभ अंश भागिता से आशय ऐसी व्यवस्था से है जिसके अन्तर्गत सेवायोजक अपने कर्मचारियों को वेतन के अतिरिक्त अपने होने वाले लाभ में से एक पूर्व निश्चित अंश देने के लिए प्रस्तुत होते हैं। लाभ अंश भागिता वास्तव में भृति देने की कोई पद्धति नहीं है। इसके अनुसार तो साधारण वेतन के अतिरिक्त श्रमजीवियों को लाभ का एक भाग दिया जाता है, जिससे उन्हें प्रेरणा मिले। लाभ अंश भागिता का विचार सर्व प्रथम एक फ्रेंच चित्रकार एन० लेकलेयर (N Leclare) के मस्तिष्क में आया

था। उसने अनुमान किया है कि यदि लाभ का कुछ भाग श्रमिकों को भी दिया जाय तो वस्तु, यन्त्र एवं समय की काफी बचत हो सकती है।

लाभ अंश भागिता की कुछ मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—(१) भाग का वह भाग, जो श्रमिकों को वितरित किया जाता है, संस्था के असली लाभ अथवा अंशधारियों को दिये गये लाभांश (Net profit or Dividend) पर निर्भर होता है और उसी के अनुसार घटता बढ़ता है। (२) श्रमिक को लाभ का कितना प्रतिशत दिया जाता है, यह पहले से ही निश्चित कर दिया जाता है। तत्पश्चात् सेवायोजक उसमें परिवर्तन नहीं कर सकते। (३) लाभ अंश भागिता की व्यवस्था का लाभ कुछ विशेष कर्मचारियों तक ही सीमित नहीं होता, वरन् इसका फायदा संस्था के प्रत्येक श्रमिक को मिलता है। (४) वैयक्तिक लाभ अंश निर्धारण करने की मोटी रूपरेखा सब श्रमिकों को पहिले से ही ज्ञात होती है।

लाभ अंश भागिता की योजना में उक्त सारी विशेषताएँ होनी चाहिए अन्यथा वह व्यवस्था लाभ अंश भागिता नहीं कही जा सकती। इस प्रकार यह योजना उत्पादन अथवा सुख-सुविधा विभाजन (Product or Prosperity Sharing) से सर्वथा भिन्न है।

सहभागिता में श्रमिक संस्था के सहभागी बन जाते हैं। लाभ में भाग पाने के अलावा संस्था के प्रबन्ध में उनको अधिकार मिल जाता है, क्योंकि संस्था की पूँजी का कुछ भाग श्रमिकों द्वारा ही प्रदान किया जाता है। सहभागिता की प्रधान विशेषताएँ निम्नांकित हैं—(१) श्रमिक निर्धारित वेतन के अतिरिक्त संस्था के असली लाभ का भी कुछ अंश पाते हैं। (२) श्रमिकों के वैयक्तिक लाभ का कुछ अंश अथवा उसका कुछ भाग संस्था की पूँजी में सम्मिलित कर लिया जाता है। (३) अतः श्रमिक भी अंश पूँजी के स्वामी हो जाते हैं और इस नाते उन्हें संस्था के प्रबन्ध एवं उसकी व्यवस्था में अधिकार मिल जाते हैं।

लाभ अंश भागिता की योजना के लाभ—

कम से कम सैद्धान्तिक दृष्टि से तो यह योजना बड़ी आकर्षित प्रतीत होती है। यह श्रमिकों के हृदय में परिश्रम एवं प्रसन्नता से कार्य करने की प्रेरणा उत्पन्न करती है। उनके परिश्रम के फलस्वरूप ही संस्था को अधिक लाभ हो सकता है और अधिक से अधिक लाभ में ही उनका भी लाभ अंश बढ़ता है। यही प्रेरणा का स्रोत है। इस प्रेरणा के परिणामस्वरूप निम्नलिखित लाभ होते हैं—(अ) श्रमिक इस बात का प्रयत्न करते हैं कि सामग्री, ईंधन, शक्ति आदि का कम से कम व्यय हो। (आ) वे उपकरण, यन्त्र एवं सामग्री का सावधानी से प्रयोग करते हैं। (इ) वे तन-मन से परिश्रम करते हैं, जिससे उत्पादन की मात्रा एवं उसकी किस्म में वृद्धि होती है। दूसरे, सेवायोजक को बदले में कुछ नहीं देना पड़ता, क्योंकि प्रायः जो लाभ अंश श्रमिकों को दिया जाता है, उसके अनुपात से उत्पादन प्रेरणा के फलस्वरूप कहीं अधिक बढ़ जाता है। तीसरे, सेवायोजक एवं सेवायुक्त एक दूसरे के काफी निकट आ जाते हैं, क्योंकि

उनके हित परस्पर बँध जाते हैं। इससे उनमें सहयोग की भावना बढ़ती है। हड़ताल तथा अन्य औद्योगिक संघर्ष कम हो जाते हैं। चौथे, सेवायोजकों को श्रमिकों का विश्वास प्राप्त हो जाता है और उनको कुशल कारीगर मिलने में कठिनाई नहीं होती। पांचवे, लाभ-अंश-भागिता की योजना से श्रमिकों की आय में भी वृद्धि होती है। लाभ का जो भाग उन्हें मिलता है उसे वे किसी भी उपयोगी कार्य में लगा सकते हैं। छठे, इस योजना के फलस्वरूप श्रमजीवी स्थायी रूप में कार्य करते रहते हैं, क्योंकि यदि वे वर्ष के मध्य में नौकरी छोड़ दें, तो वे लाभ-अंश पाने के भी अधिकारी नहीं रहते। इससे सेवायोजकों को बड़ा लाभ होता है।

सहभागिता की योजना में लाभ अंश भागिता के सारे गुण तो पाये ही जाते हैं। इनके अतिरिक्त निम्नलिखित अन्य लाभ भी हैं :—प्रथम, स्वामित्व के बिखर जाने से औद्योगिक-जन तन्त्र स्थापित हो जाता है और श्रमिकों को स्वामित्व की वास्तविक भावना तथा वैयक्तिक चाव के द्वारा अपने उत्तरदायित्व का अनुभव होने लगता है। इससे संस्था का विशेष हित होता है। दूसरे, श्रमिकों के भी सहभागी होने के कारण, सेवायोजक और सेवायुक्त दोनों पक्ष काफी समीप आ जाते हैं और सहयोग की भावना बढ़ जाती है। तीसरे, श्रमिकों को तिहरा लाभ होता है—एक तो अंशधारी के रूप में (लाभांश), दूसरे श्रमिक के रूप में (वेतन) और तीसरे सहभोगी के रूप में (नियन्त्रण में भाग)। चौथे, संस्था के नियन्त्रण में भाग रहने के कारण श्रमिक अपनी वेतन सम्बन्धी समस्याओं के हल के लिये स्वयं भी विशेष प्रभाव डाल सकते हैं।

लाभ अंश भागिता की हानियाँ तथा कठिनाइयाँ—

लाभ अंश-भागिता की योजना बिल्कुल दोषहीन नहीं है। इसके कुछ मुख्य दोष एवं कठिनाइयाँ निम्नलिखित हैं:—प्रथम, श्रमिकों का लाभ-अंश अनिश्चित प्रकृति का होता है। जैसा ऊपर लिख चुके हैं, लाभ का कुल भाग असली लाभ (Net Profit) पर निर्भर होता है, जो प्रति वर्ष घटता-बढ़ता रहता है, अतएव लाभ की यह अनिश्चितता श्रमिक के उत्साह को मन्द कर देती है। दूसरे, प्रयत्न एवं पुरस्कार में प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। परिश्रम करने के बाद तुरन्त ही पुरस्कार नहीं मिल जाता। लाभ वर्ष में केवल एक बार ही वितरित किया जाता है और वह भी वार्षिक हिसाब-किताब के परिणाम पर निर्भर होता है। लाभ की अनिश्चितता और पुरस्कार के दूर रहने से श्रमिक का उत्साह टूट जाता है। तीसरे, इस योजना के अन्तर्गत श्रमजीवियों को जो लाभ दिया जाता है, वह उनकी व्यक्तिगत क्षमता एवं योग्यता पर निर्भर नहीं होता। कुशल श्रमिकों को इससे विशेष हानि होती है, विशेषत: जब उन्हें अकुशल श्रमिकों के बीच काम करना पड़ता है। चौथे, यह पद्धति श्रमिकों की गतिशीलता में बाधा डालती है। पाँचवें, बड़ी-बड़ी संस्थाओं में लाभ का अंश, जो प्रत्येक श्रमिक को मिलेगा, स्वभावत: परिमाण में कम ही होगा। ऐसी दशा में तन, मन से कार्य करने के लिये उनमें कोई विशेष उत्साह उत्पन्न नहीं होता। छठे, लाभ अंश की योजना अधिकतर पक्षपातपूर्ण कही जाती है, क्योंकि लाभ में तो

दोनों पक्षों का भाग रहता है, किन्तु हानि की दशा मे केवल सेवायोजकों को ही
उत्तरदायी होना पड़ता है। सातवें, उतार-चढ़ाव तो व्यापार की एक प्रकृति है।
यदि किसी वर्ष बिल्कुल लाभ न हो अथवा कम लाभ हो, तो ऐसी दशा मे लाभ अंश
वितरित क्यों नहीं किया गया अथवा कम वितरित क्यों किया गया—इन स्वाभाविक
प्रश्नों का श्रमिकों को उत्तर देना कठिन हो जाता है और यदि उनको वास्तविक
परिस्थिति समझाई भी जाय, तो ऐसा करना व्यापार के लिए हानिकारक हो सकता
है। 'लाभ नहीं हुआ', यह स्वीकार करना संस्था की बाजार में साख गिराना है।
आठवें, सेवायोजकों के दृष्टिकोण से लाभ-अंश-भागिता की योजना श्रमिकों के
लिए दान के रूप में है। वे समझते हैं कि हम श्रम-जीवियों पर बड़ी द्या कर रहे
हैं। वे योजना को व्यावसायिक दृष्टि से नहीं देखते। सेवायोजकों का यह भाव
श्रमिकों के आत्म-सम्मान की भावना को खलता है। नवें, योजना द्वारा प्रेरणा के
फलस्वरूप अधिक परिश्रम करने पर भी सम्भव है कि कुछ कारणों से विशेष लाभ
न हो, जैसे—अयुक्तिपूर्ण ढङ्ग से क्रय-विक्रय करना, संगठन-कर्ता की अकुशलता अथवा
मन्दी आना। ऐसी परिस्थिति मे श्रमिकों को कोई लाभ-अंश न मिल सकेगा और
उन्हें बड़ी निराशा होगी। दसवें, पुस्त-पालन एवं लेखा-कर्म मे गड़बड़ करके सही
लाभ छिपाया जा सकता है। ग्यारहवें, लाभ अंश-भागिता की योजना श्रमिकों के
संगठन मे बाधा डालती है, क्योंकि जिन संस्थाओं के श्रमिकों को लाभ अंश मिलता
है वे उस संस्था के श्रमिकों का, जिसमें लाभ-अंश नहीं मिलता, सहयोग नहीं देते,
इसलिये श्रमिक-संघ प्रायः इन योजनाओं को पसन्द नहीं करते।

सह-भागिता की योजना में लाभ अंश भागिता की हानियों के अतिरिक्त
एक मुख्य बात यह है कि यह योजना संयुक्त स्कन्ध प्रमण्डलों में ही लागू की जा
सकती है अन्य संस्थाओं में नहीं। श्री फिनैले के विचार में सहभागिता से कोई
विशेष लाभ की आशा नहीं है।

श्री घनश्यामदास बिड़ला के विचार इस सम्बन्ध में इस प्रकार हैं—"इसमें
कोई सन्देह नहीं कि लाभ-अंश-भागिता की योजना अव्यावहारिक है। विश्व में कहीं
भी ऐसी योजना सफल नहीं हुई, परन्तु मेरे विचार से श्रमिकों को पर्याप्त मजदूरी
अवश्य देनी चाहिये और उनके हृदय में कार्य के प्रति प्रेरणा की भावना जाग्रत करने
के लिए अधिक उत्पादन करने पर अधिलाभांश (Production Bonus) देना
चाहिए। इसके अतिरिक्त श्रमिकों के काम करने की दशाओं मे भी उचित परिवर्तन
करना चाहिए।" बिड़ला जी के विचार सचमुच सराहनीय है। हाँ, प्रेरणा उत्पन्न
करने के लिए एक और युक्ति भी है, वह यह कि श्रमिकों को अच्छी उपस्थित पर भी
वार्षिक अधिलाभांश दिया जाय।

भारत में लाभ अंश भागिता की योजनाएं—

सन् १९४६ एवं सन् १९४७ की औद्योगिक अशान्ति से विवश होकर भारत
की राष्ट्रीय सरकार ने शान्ति स्थापित करने के उद्देश्य से दिसम्बर सन् १९४७ मे एक

औद्योगिक सम्मेलन बुलाया, जिसमे औद्योगिक शांति का प्रस्ताव (Industrial Trece Resolution) रक्खा गया। उस प्रस्ताव में इस बात का वर्णन था कि श्रमजीवी और पूँजीपति दोनों अपने सम्मिलित प्रयत्नों से हुई उत्पत्ति को आपस में बाँट लेंगे, किन्तु यह तभी सम्भव होगा जबकि —

(अ) श्रमिकों को उचित भृतियाँ दी जायें।

(आ) पूँजीपतियों को उद्योग में लगी हुई पूँजी का उचित प्रतिफल दिया जाय, और

(इ) उद्योग को स्थिर रखने तथा बढ़ाने के लिए भी उचित राशि रक्खी जाय।

इसके बाद जो शेष बचे, उसे पूँजीपति और श्रमिक दोनों बाँट लेंगे। तत्पश्चात् अपनी औद्योगिक नीति की घोषणा करते हुए भारत सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया कि लाभों में श्रमिकों का अंश सामान्यतः उत्पत्ति के अनुपातानुसार (Sliding Scale) होना चाहिए। उक्त प्रस्ताव को कार्यान्वित करने के लिए २२ मई सन् १६४८ को भारत सरकार ने 'लाभ अंश भागिता' पर विचार करने के लिए विशेषज्ञों की एक समिति नियुक्ति की, जिसने १ दिसम्बर सन् १६४८ को अपनी रिपोर्ट भी दे दी। इस समिति के सभापति श्री एस० ए० वकटा रमन थे। इस समिति ने निम्नलिखित ६ उद्योगों में सर्व प्रथम पाँच वर्ष की अवधि के लिए लाभ अंश भागिता की योजना पर प्रयोग करने की सिफारिश की —(१) सूती वस्त्र उद्योग, (२) जूट उद्योग, (३) स्टील (मुख्य उत्पादन), (४) सीमेंट उद्योग, (५) टायरों का निर्माण, एवं (६) सिगरेटों का निर्माण, योजना का भविष्य इस प्रयोग पर निर्भर है।

समिति की सम्मति मे अनुपातिक भृति पद्धति (Wages on sliding Scale) का सफल होना असम्भव है। मुख्य कठिनाई यह है कि उद्योग का लाभ श्रम के अतिरिक्त अन्य कई बातों पर निर्भर होता है। लाभ अंश योजना के द्वारा प्रेरणा के फलस्वरूप अधिक परिश्रम करने पर भी कुछ कारणों से सम्भव है कि विशेष लाभ न हो, जैसे—अयुक्तिपूर्ण क्रय विक्रय, संगठन-कर्त्ता की कुशलता अथवा मंदी का आरम्भ। इसके विपरीत श्रमिकों की असावधानी और उपेक्षा करने पर भी उद्योग को अन्य कारणों से बड़े बड़े लाभ भी हो सकते हैं। यही नहीं, एक साधारण इकाई के रूप में कुल उत्पत्ति की माप तौल करना भी कठिन समस्या है और वार्षिक उन्नति का एक स्तर नियत करना और भी कठिन है।

उक्त सभी बातों को ध्यान में रख कर समिति ने इस बात की सिफारिश की है कि वर्तमान परिस्थिति मे व्यापार के प्रयोजन के लिए परिदत्त तथा संचित पूँजी (Paid up and Reserve Capital) पर ६% की दर उचित होगी। साथ साथ २०% संचित रखने का उद्देश्य हो। असली लाभ का १०% तो अनिवार्य रूप से संचित कोष के लिए अलग रख देना चाहिए। कुल लाभ (Gross Profit) में

से घिसाई, संचित धन, पूँजी का प्रतिफल और उचित भृतियों की राशि निकालने के बाद जो शेष रहे वही लाभ समझा जावेगा, जिसका पूँजीपतियों तथा श्रमिकों के बीच विभाजन होना चाहिए। समिति ने यह भी सिफारिश की कि श्रमिकों का भाग अति-रिक्त लाभों का ५०% होना चाहिए। व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक श्रमिक के लाभ का अंश उस आमदनी के अनुपात में होगा, जो उसके द्वारा प्राप्त मँहगाई तथा अन्य अधिलाभांशों को काटकर पिछले वर्ष की आय में से बची हो।

सावधानी से विचार करने के उपरान्त समिति ने यह भी सिफारिश की है कि श्रमिकों का लाभ अंश प्रत्येक औद्योगिक इकाई के आधार पर (Unit basis) होना चाहिए, किन्तु सूती वस्त्र उद्योग के विषय में यह अपवाद रखा गया कि बम्बई, अहमदाबाद और शोलापुर में लाभ का विभाजन उद्योग और स्थानीय क्षेत्र (Industry cum locality Basis) के संयुक्त आधार पर किया जा सकता है।

लाभ अंश भागिता की उपयोगिता तीन दृष्टिकोणों से देखनी चाहिये —
(अ) उत्पादन के लिए प्रेरणा, (आ) औद्योगिक शान्ति की स्थापना, और (इ) प्रबन्ध में श्रमिकों का सहयोग। यहाँ यह कहना आवश्यक न होगा कि लाभ अंश-भागिता की योजना "औद्योगिक जनतन्त्र" (Industrial Democracy) स्थापित करने के लिए पहला कदम है।

लाभ अंश भागिता की योजना से उत्पादन को कहाँ तक प्रेरणा मिलेगी, यह कुछ ठीक नहीं कहा जा सकता। इस योजना की सफलता के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं जिनका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। 'टिस्को' (TISCO—Tata Iron & Steel Company) का उदाहरण इस सम्बन्ध में भुलाया नहीं जा सकता। यहाँ यद्यपि लाभांश (Bonus) के रूप में श्रमजीवियों को असली लाभ का २२½% भाग दिया गया, किन्तु प्रति श्रमिक उत्पादन बढ़ने की अपेक्षा घट गया। उत्पादन में इस कमी के अन्य कारण हो सकते हैं, किन्तु कुछ भी हो यह योजना असफल रही।

दूसरे, समिति का विचार है कि लाभ अंश भागिता की योजना के परिणाम-स्वरूप एक ऐसा वातावरण पैदा हो जायेगा, जो औद्योगिक शान्ति के पक्ष में होगा। यह सम्भव भी है। योजना के फलस्वरूप श्रमजीवियों की भावना में परिवर्तन होना स्वाभाविक है, किन्तु यह बात पूर्णतया निश्चित नहीं। हो सकता है कि स्वस्थ वातावरण के होने पर भी लाभ निश्चित करने की रीति पर मतभेद पैदा हो जाय और वह मतभेद बाद में अशान्ति का रूप धारण कर ले। यदि लाभ अंश श्रमिकों की आशा से ज़रा भी कम हुआ, तो वे असन्तुष्ट होकर आन्दोलन कर सकते हैं, इसीलिए श्रमिक संघ इन योजनाओं के प्रतिकूल हैं, जबकि श्रम संगठनों का तीसरे दृष्टिकोण से सबसे अधिक महत्व माना गया है। फिर भी समिति इस बात को आर्थिक समस्या की अपेक्षा एक राजनैतिक समस्या अधिक समझती है, अतएव योजना तभी सफल हो सकती है

बशर्ते कि मजदूर और मालिक दोनों ही सहयोग, त्याग तथा ईमानदारी से काम करें तथा मालिक श्रमिकों को लाभ का पर्याप्त भाग देते रहें।

राजकीय नीति की आलोचना—

श्रमिक संघों का संगठन सामान्यतः उद्योग के आधार पर होता है, अत. यदि लाभ-अंश भागिता की योजना का आधार औद्योगिक इकाई रखा जाय तो श्रम संगठन का आधार ही नष्ट हो जायगा, जिसके परिणामस्वरूप औद्योगिक संघर्ष बढ़ सकते हैं। इस दोष के निवारण के लिये यह सिफारिश की गई है कि योजना को औद्योगिक तथा स्थानीय आधार पर लागू किया जाय, किन्तु वास्तव में मिल मालिक ही इस प्रकार लाभों को एक साथ एकत्रित करने का विरोध करते हैं, क्योंकि ऐसा करने से एक उद्योग की कुशल इकाइयों का लाभ उसकी अकुशल इकाइयों को मिल जाता है। ऐसी प्रणाली लाभ-अंश-भागिता की प्रणाली नहीं कही जा सकती। दूसरे शब्दों में, यह कुशल इकाइयों पर अकुशल उद्योगों के श्रमिकों को लाभ देने के लिये करारोपण के समान हो जायगा। इस कठिनाई के कारण ही समिति का सुझाव था कि लाभ अंश-भागिता की योजना को औद्योगिक इकाइयों के आधार पर कार्यान्वित किया जाय, हाँ, बम्बई, अहमदाबाद और शोलापुर के सूती कपड़ा उद्योगों में योजना को औद्योगिक एवं स्थानीय आधार पर लागू करने का सुझाव दिया। इसके अन्तर्गत प्रत्येक स्थान की सभी मिलों के अतिरिक्त लाभों को एक साथ जोड़ कर लाभ-अंश की दर निकाली जाती है। इस दर से ही प्रत्येक मिल अपने लाभ बाँटेगा, चाहे उसके लाभ कितने हों। यदि किसी उद्योग विशेष में अतिरिक्त लाभों का ५०% न्यूनतम दर से दी जाने वाली रकम से अधिक है, तो यह आधिक्य भी श्रमिकों को ही दे दिया जायगा, परन्तु एक श्रमिक का लाभ-अंश किसी भी दशा में उसकी गत १२ महीनों की कमाई के २५% से अधिक नहीं मिलेगा। इसके ऊपर जो रकम बचे वह श्रमिक के प्रॉवीडेन्ट फण्ड या किसी अन्य खाते में जमा की जावगी। इस प्रकार स्थान विशेष के प्रत्येक श्रमिक को न्यूनतम हिस्सा तो अवश्य मिलता रहेगा, जिसका निर्धारण कुल अतिरिक्त लाभों के आधे के आधार पर होता है।

हमारे देश में लाभ-अंश-बोनस देने की व्यवस्था करने के लिये कोई कानून नहीं है। अधिकांश योजनायें ऐच्छिक हैं अथवा न्यायालय के निर्णयों पर आधारित हैं। बोनस की मात्रा निर्धारित करने पर भी किसी नियम का प्रतिपादन नहीं किया गया। बहुधा उद्योग विशेष की आर्थिक स्थिति को ही सामने रखा जाता है। इसके अतिरिक्त लाभ की परिभाषा भी एक सी नहीं की गई है। औद्योगिक और व्यावसायिक वर्गों ने भारत सरकार की लाभ-अंश-भागिता सम्बन्धी योजना के सम्बन्ध में यह विचार प्रकट किए हैं कि प्रथम, इसका व्यावसायिक विश्वास पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा। दूसरे, औद्योगिक लाभों में कमी हो जायेगी। तीसरे, विनियोग घट जायेंगे और पूँजी की कमी पड़ जायेगी और चौथे, सरकार को उद्योगों के हिसाब की जाँच करनी

पड़ेगी, किन्तु यह आलोचनाएँ असत्य हैं, क्योंकि सरकार की योजना का सम्बन्ध अतिरिक्त लाभ है न कि सामान्य लाभ से, अतएव उसे उद्योग में हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है।

उपसंहार—

लाभ-अंश-भागिता की योजनायें कोई विशेष सफल नहीं हो पाई हैं, क्योंकि एक तो स्वयं श्रमिक वर्ग इसे पसन्द नहीं करता और दूसरे मिल-मालिक भी अपने पद-को दृढ़ करने के लिए हिसाबों में गड़बड़ कर देते हैं। प्रेरणा देने के लिये श्रमिकों को लाभ-अंश उनकी उपस्थितियों के अनुसार अथवा उनके किये गये उत्पादन के अनुसार भी दिया जा सकता है। हाँ, अतिरिक्त लाभों में भाग पाने के लिए यह आवश्यक है कि श्रमिक ने एक न्यूनतम अवधि तक उद्योग विशेष में काम किया हो। अधिकांश दशाओं में यह अवधि ६ महीने से लेकर १ वर्ष तक रखी जाती है।

---

[१५]

भारत में श्रम-संघ अन्दोलन

रूप रेखा—

१. *प्रस्तावना*—गृह उद्योग प्रणाली के अन्तर्गत श्रमिकों के संगठन की कोई आवश्यकता न थी, किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के उत्पाद पूँजीवाद के विकास ने श्रम संघों की आवश्यकता उत्पन्न की। पूँजीवादी देशों में श्रम संघ आन्दोलन पहले शुरू हुआ, भारत में इसका विकास देर से हुआ।

२. *भारत में श्रम-संघ आन्दोलन का इतिहास*—प्रारम्भिक अवस्था। विकास का दूसरा युग (१६००-१८)। विकास का तीसरा युग (१६१८-१६३६)। आन्दोलन फूट। विकास का चौथा युग (१६३६-१६४१)। वर्तमान स्थिति।

३. *भारत में श्रमिक संघ की सफलताएँ*—

४. *श्रम-संघों के मार्ग में बाधायें*—श्रम की चलायमान प्रकृति, अनुरूपता का अभाव, जाति तथा भाषा भेद, निर्धनता, राजनैतिक विचारों की भिन्नता, बेरोजगारी, मिल मालिकों का विरोधी व्यवहार, अशिक्षतता, समुचित नेताओं की कमी तथा सरकार की उदासीनता प्रमुख बाधाएँ हैं।

५. *राष्ट्र-निर्माण में संघों का भाग*—

६. *उपसंहार*—

प्रस्तावना—

गृह-उद्योग प्रणाली के अन्तर्गत श्रमिकों के सगठन की कोई आवश्यकता ही न थी, क्योंकि जो व्यक्ति किसी उद्योग विशेष के स्वामी होते थे, वे ही श्रमजीवी भी होते थे। श्रम, पूँजी तथा प्रबन्ध मे पृथकता न थी। प्रायः परिवार के सदस्यों की सहायता से ही उत्पादन होता था। कुटुम्ब का कर्त्ता ही मुखिया के रूप में अपने परिवार के समस्त सदस्यों को नियन्त्रण में रख कर उनसे काम कराता था। ऐसी परिस्थिति में किसी प्रकार के आन्दोलन की आवश्यकता ही न थी। परिवार का मुखिया सबको पूर्णतः सन्तुष्ट रखता था एवं स्नेह से काम होता था, किन्तु १८ वीं शताब्दी की औद्योगिक क्रांति ने विश्व के आर्थिक कलेवर मे कौतूहल मचा दिया। इस क्रांति के परिणामस्वरूप परिवार उत्पादन प्रणाली को बडी ठेस पहुँची। संयुक्त परिवार प्रथा टूटने लगी और एक परिवार स्त्री तथा बच्चों तक ही सीमित रह गया। पूँजीवाद का जोर बढ़ा। समाज के दो टुकड़े हो गये—पूँजीपति तथा श्रमजीवी। इस क्रांति ने

सेवायोजक तथा सेवायुक्त के बीच जो पारस्परिक सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध थे, उनका
अन्त कर दिया। मजदूरी करके पेट भरने वाले समाज के इस नये वर्ग की दशा अत्यन्त
शोचनीय थी। अधिकांशतः उद्योग का स्वामी, अर्थात् पूँजीपति उपज का एक बहुत
बड़ा भाग स्वयं रख लेता था, जिसके परिणामस्वरूप बिचारे श्रमिकों के लिए सुखमय
जीवन एक सपना हो गया था। ऐसी परिस्थितियों से विवश हो कर उन्होंने यह
अनुभव किया कि समुचित जीवन स्तर प्राप्त करने के लिए संगठन नितान्त आवश्यक
है। इस प्रकार पूँजीवाद के विकास के साथ साथ ही श्रम संघ आन्दोलन भी पनपता
गया। योरोपीय देशों में, जहाँ औद्योगिक क्रांति के पश्चात् पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली ने
शीघ्रतापूर्वक उन्नति की श्रम संघ संगठन का आरम्भ भी सबसे पहले हुआ, किन्तु
भारत में जहाँ पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली का युग देर से आरम्भ हुआ, श्रम संघ
आन्दोलन भी देर से शुरू हुआ। हमारे देश में इस आन्दोलन का आरम्भ लगभग ५०
वर्ष पहले हुआ।

भारत में श्रम संघ आन्दोलन का इतिहास—

आरम्भिक अवस्था—

यद्यपि भारत में कलकत्ते में सर्वप्रथम कपड़े की मिल सन् १८१८ में खुली
तथापि वास्तव में भारत की पहली वस्त्र मिल सन् १८५४ में खुली। सन् १८७० तक
तो नई मिलें बहुत कम खुलीं। पर उसके बाद वस्त्र उद्योग की प्रगति तीव्रतर हो
गई। साथ ही साथ स्त्री और बच्चे भी काफी संख्या में उनमें काम करने लगे। उ..
समय श्री सोराबजी शापुर जी बंगाली ने सरकार का ध्यान मजदूरों की दयनीय स्थिति
की ओर खींचा। एक कमीशन भी सरकार ने बिठाया पर कोई लाभ न हुआ। एक
रोचक बात यह है कि लंकाशायर के अंग्रेज पूँजीपति भी इस मामले में भारतीय
मजदूरों के हितचिन्तक थे। बात वास्तव में यह थी कि इंगलैंड के पूँजीपति भारतीय
वस्त्र उद्योग को नहीं पनपने देना चाहते थे और इसलिए वे अनेक रुकावटें
भारतीय वस्त्र उद्योगपतियों के मार्ग में डालना चाहते थे। उन्हीं के आन्दोलन के फल
स्वरूप हाउस ऑफ कामन्स (ब्रिटिश संसद) में ४ अप्रैल सन् १८७९ को एक प्रस्ताव पास
हुआ और सन् १८८१ में भारत में पहला फैक्टरी कानून बना। पर उस फैक्टरी एक्ट से
न तो भारत के मजदूर नेता सन्तुष्ट हुए और न इंगलैंड के पूँजीपति। दोनों ने
आन्दोलन शुरू कर दिया। परिणामतः सन् १८८४ में एक नया कमीशन बनाया गया।
इधर भारतीय मिल मालिक भी सतर्क हो गए और उन्होंने मजदूर आन्दोलन का
विरोध किया। दूसरी तरफ कमीशन के सम्मुख मजदूरों का प्रतिनिधित्व श्री नारायण
मेघ जी लोखाडे ने किया और मजदूरों की कुछ मांगें कमीशन के सामने प्रस्तुत कीं,
जिन्हें कमीशन ने अस्वीकार कर दिया। पर श्री लोखाडे इससे विचलित नहीं हुए और
उन्होंने सन् १८९० में पहले भारतीय मजदूर संगठन की स्थापना की। इसका नाम
बम्बई मिल मजदूर संघ या बम्बई मिल हैन्ड्स एसोसियेशन था। श्री लोखाडे ने
मजदूरों का पक्ष लेने वाला दीनबन्धु पत्र भी चालू किया। उसी वर्ष २४ अप्रैल को

१०,००० मजदूरों ने अपनी एक सभा में रविवार की छुट्टी की मांग की, जिसे मिल मालिकों ने स्वीकार कर लिया। यह मजदूरों की पहली विजय थी। ब्रिटिश व्यापारियों के आन्दोलन से प्रभावित होकर भारत मन्त्री ने भारत सरकार को और कमीशन बनाने का आदेश दिया, जिसके एक सदस्य श्री सोराब जी शापुरजी बगाली भी थे। इस कमीशन के सामने बम्बई मिल मजदूर संघ ने अपनी मांग प्रस्तुत की। परिणामतः १६ मार्च सन् १८६१ को एक नया फैक्टरी कानून बना। सन् १८६७ में स्थापित 'दी एमलगमेटेड सोसायटी ग्राफ रेलवे सर्वेन्ट्स' पहली संस्था थी, जो रजिस्टर्ड हुई।

विकास का दूसरा युग (सन् १६०० से १६१८)—

बिजली लग जाने से काम के घन्टों में वृद्धि की सम्भावना से सन् १६०५ में बम्बई में कई हड़तालें हुईं। दूसरी ओर इसी समय अमेरिका में कपास की फसल न होने के कारण भारतीय वस्त्र उद्योग को पनपने का मौका मिला और नई मिलें खुल गईं, जिससे मानचेस्टर के अंग्रेज उद्योगपति और भी चौकन्ने हो गये तथा उन्होंने मजदूरों को और अधिक सुविधायें देने का आन्दोलन शुरू किया। दूसरी ओर देश का राजनैतिक वातावरण भी अशान्त होता जा रहा था। बगभग के समय नेताओं ने मजदूर आन्दोलन का समर्थन किया और मजदूरों ने हड़तालों में भाग लिया। स्वदेशी आन्दोलन में भी मजदूरों का पूरा सहयोग मिला। सन् १६०६ और सन् १६०६ के बीच रेलों में बड़ी-बड़ी हड़तालें हुई। सन् १६०८ में लोकमान्य तिलक की गिरफ्तारी के बाद एक बड़ी भारी हड़ताल हुई।

इन सब कारणों से सन् १६११ में तीसरा फैक्टरी कानून बना। इस समय जो सघ स्थापित हुए, उनमें से कुछ थे—मुद्रक सघ, कलकत्ता (सन् १६०५), बम्बई डाक यूनियन (सन् १६०७) और कामगर हितवर्धक सभा, बम्बई (सन् १६१०), किन्तु अब तक भी मजदूर आन्दोलन बहुत जोरदार नहीं हुआ। ये मजदूर सघ श्रमिकों पर अधिक प्रभाव न डाल सके। मजदूर मालिकों को "माई-बाप" समझते रहे।

विकास का तीसरा युग (सन् १६१८ से १६३६)—

परन्तु प्रथम महायुद्ध (सन् १६१४-१८) ने मजदूरों में बहुत जागृति उत्पन्न कर दी। युद्धकाल में उद्योगपतियों ने भारी लाभ कमाया, परन्तु जीवन व्यय बढ़ जाने पर भी मजदूरों के वेतन नहीं बढ़े। उपनिवेशों में भारतीय मजदूरों के साथ दुर्व्यवहार, महात्मा गांधी का असहयोग आन्दोलन, जलियांवाला काण्ड तथा रूस की औद्योगिक क्रान्ति ने भारतीय मजदूर के अन्दर भारी परिवर्तन ला दिया और अब वह मिल मालिकों को अपना माई बाप न समझकर अपने अधिकारों के लिए उनसे संघर्ष करने लगा। लगभग इसी समय कम्युनिस्ट पार्टी भारत में काम करने लगी। तब से ही राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं का ध्यान मजदूरों की ओर गया और शिक्षित वर्ग उनका नेता बन बैठा। श्री वाडिया ने मद्रास में २७ अप्रैल सन् १६१८ को पहली औद्योगिक ट्रेड यूनियन की स्थापना की। यह सूती कपड़े के कारखानों के मजदूरों की थी। एक ही वर्ष बाद मद्रास में चार ट्रेड यूनियन बन गईं, जिनकी सदस्य संख्या २०,००० थी।

सन् १९१९-२१ के बीच में देश में हड़तालों की बाढ़ सी आ गई। प्रत्येक हड़ताल शुरू होने के साथ एक यूनियन बनती और हड़ताल समाप्ति के साथ यूनियन भी समाप्त हो जाती। २५-२६ जनवरी सन् १९२० को अहमदाबाद में महात्मा गांधी के नेतृत्व में कतियों और बुनकरों की यूनियन की स्थापना हुई। सन् १९२१ के मध्य तक इसके २७,००० सदस्य बन गये और ७२,००० रुपये इसके पास जमा हो गये।

इसी समय अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संस्था के अधिवेशन के लिए प्रतिनिधि भेजने का प्रश्न आया। इसके लिये एक केन्द्रीय संस्था की आवश्यकता थी, अतः अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना हुई, जिसका पहला अधिवेशन लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में सन् १९२० में बम्बई में हुआ।

मिल मालिक भी इस बढ़ते हुए मजदूर संगठन के कारण चिन्तित थे और उसे किसी प्रकार दबाना चाहते थे। शीघ्र ही उन्हें एक अवसर भी प्राप्त हो गया। मद्रास की बकिंघम मिल्स में मजदूरों और मिल मालिकों में झगड़ा हो गया, जिसका परिणाम हड़ताल और तालाबन्दी हुआ। मिल ने मजदूर सभा के नेताओं श्री वाडिया आदि के विरुद्ध हाईकोर्ट में हर्जाने का दावा कर दिया। मद्रास हाईकोर्ट ने मजदूर नेताओं पर ७,००० पौंड और मुकद्दमे के खर्च की डिग्री दे दी। मिल से समझौते के फलस्वरूप श्री वाडिया ने भविष्य में मजदूर आन्दोलन से कोई भाग न लेने का वचन दिया। इस प्रकार मजदूर आन्दोलन एक प्रकार से निरस्त हो गया।

इस अदालती आदेश का मजदूर नेताओं और ब्रिटेन के मजदूर दल ने घोर विरोध किया। फलतः सन् १९२६ में ट्रेड यूनियन एक्ट पास हुआ, जिसके अनुसार मजदूर सभाओं को हड़ताल करने का अधिकार मिल गया।

सन् १९२४ में जब प्रान्तीय सरकारों ने कम्युनिस्ट पार्टी का दमन शुरू किया तो वह ट्रेड यूनियनों में घुस गए। धीमे-धीमे उनका प्रभाव बढ़ता गया। सन् १९२७ में उन्होंने गिरनी कामगार यूनियन की बम्बई में स्थापना की, जो देखते-देखते ही एक प्रबल ट्रेड यूनियन बन गई। बम्बई में हुई छः महीने की लम्बी हड़ताल का नेतृत्व भी कम्युनिस्टों ने ही किया। पं० नेहरू उन्हीं दिनों नए-नए समाजवादी बने थे। उनके प्रभाव का लाभ भी कम्युनिस्टों को मिला। सन् १९२८ में वही अगले वर्ष के लिए ट्रेड यूनियन कांग्रेस के सभापति चुने गये। इण्डियन नेशनल कांग्रेस ने उस समय तक मजदूर आन्दोलन में कोई भाग न लिया था।

आन्दोलन में फूट—

इस प्रकार सन् १९२८-२९ में कम्युनिस्टों और राष्ट्रवादियों का ट्रेड यूनियन कांग्रेस पर पूरा अधिकार हो गया। पर इस समय सरकार कम्युनिस्टों से चौकन्नी हो गई। मेरठ षड्यन्त्र केस में ३१ प्रमुख कम्युनिस्ट नेताओं को पकड़ लिया और जाँच अदालत में गिरनी कामगार यूनियन को ही सब प्रकार के उपद्रवों के लिए उत्तरदायी ठहराया। इससे भारत में ट्रेड यूनियन आन्दोलन के सम्मान को बड़ा धक्का लगा। एक और धक्का भी इसी समय इस आन्दोलन को लगा। इस समय सरकार ने लेबर

कमीशन नियत किया हुआ था। उसको सहयोग देने न देने के प्रश्न पर काँग्रेस में मतभेद उत्पन्न हो गया और काँग्रेस से निकलकर उदारवादियों ने एक श्री एन० एम० जोशी के नेतृत्व मे एक नया सगठन भारतीय ट्रेड यूनियन फेडरेशन बना लिया जिसका प्रथम अधिवेशन दीवान चमनलाल की अध्यक्षता में १ दिसम्बर सन् १६१६ को नागपुर में हुआ। जब मजदूर आन्दोलन में फूट पड गई तब अखिल भारतीय रेलवे मैन्स फेडरेशन काँग्रेस और फेडरेशन दोनों से अलग हो गया। रेलवे बोर्ड भी इसी को स्वीकार करता है।

सन् १६३१ में सुभाष बोस के सभापतित्व में होने वाले कलकत्ता अधिवेशन में एक दरार और पड़ी। गिरनी कामगर यूनियन का प्रतिनिधि काँग्रेस में किस दल को माना जावे, इस प्रश्न पर भीषण मतभेद हो गया और सभापति को अधिवेशन तक स्थगित करना पड़ा। फलत कट्टर कम्युनिस्ट श्री देशपाँडे और श्री रणदिवे के नेतृत्व में अलग हो गए। उन्होंने लाल ट्रेड यूनियन काँग्रेस की स्थापना की। फूट को दूर करने के लिए उसी समय से एकता प्रयत्न भी शुरू हो गए। मई सन् १६३१ में रेलवे मैन्स फेडरेशन ने बम्बई में एक एकता सम्मेलन बुलाया और सन् १६३३ मे एक राष्ट्रीय फेडरेशन की स्थापना की और सन् १६३३ में ही यह भारतीय ट्रेड यूनियन फेडरेशन में शामिल हो गया तथा इसका नाम नेशनल ट्रेड यूनियन हो गया। सन् १६३४ में काँग्रेस समाजवादी पार्टी भी मजदूर आन्दोलन मे भाग लेने लगी। सन् १६३८ में इण्डियन ट्रेड यूनियन काँग्रेस और नेशनल ट्रेड यूनियन फेडरेशन का मद्रास के तत्कालीन श्रम-मन्त्री श्री० वी० वी० गिरि ने समझौता करा दिया। समझौते की शर्तों में से कुछ निम्न थीं—

(क) काँग्रेस का विधान नेशनल ट्रेड यूनियन फेडरेशन का ही रहेगा। (ख) काँग्रेस का झण्डा लाल होगा पर उसमें हसिया हथौड़ा नहीं होगा। (ग) हड़ताल और राजनैतिक प्रश्नों पर ३ बहुमत का निर्णय ही मान्य होगा। (घ) काँग्रेस किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय या विदेशी श्रम सगठन से कोई सम्बन्ध नहीं रखेगी। जनरल कौंसिल में दोनों के बराबर (४४–४४) प्रतिनिधि रहेंगे। इसी समय सन् १६३७ में महात्मा गाँधी के आदर्शों पर हिन्दुस्तान मजदूर सेवा सघ की नींव डाली गई।

विकास का चौथा युग (सन् १६३६–१६४६)—

सन् १६३६ में महायुद्ध शुरू हो गया। ट्रेड यूनियन काँग्रेस ने निष्पक्ष रहने का निर्णय किया, क्योंकि रूस उस समय अँग्रेजों के विरुद्ध था, इसलिए कम्युनिस्ट उसे साम्राज्यवादियों का युद्ध घोषित करते थे और इसलिए वे काँग्रेस के युद्ध में सहायता देने के विरुद्ध में थे। काँग्रेसी तथा समाजवादी भी युद्ध से भारत का कोई सम्बन्ध नहीं मानते थे। दूसरी ओर श्री एम० एन० राय युद्ध में सरकार को सहायता देना चाहते थे। पर काँग्रेस में उनका प्रभाव नगण्य था, इसलिए उन्होंने श्री जमनादास मेहता के साथ मिल कर एक नई सस्था ट्रेड यूनियन फेडरेशन बना ली। इस समय काँग्रेसी समाजवादी और कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ता जेलों में थे। पर जब रूस और इंगलैण्ड में सम-

तब यद्यपि मजदूरों की हालत बद से बदतर होती जा रही थी, पर अपने आका रूस की विजय के लिए वे जी जान से युद्ध प्रयत्नों में सहायता देने लगे।
फाँसा हो गया तो साम्राज्यवादी युद्ध कम्युनिस्टों के लिए जनता का युद्ध बन गया।

काँग्रेसी समाजवादी तब भी जेलों में थे, इसलिए सन् १९४२ के आन्दोलन में अहमदाबाद, मद्रास, जमशेदपुर आदि स्थानों के सिवाय मजदूरों ने इस आन्दोलन में कोई विशेष भाग नहीं लिया। इस प्रकार युद्ध काल में ट्रेड यूनियन काँग्रेस का नेतृत्व कम्युनिस्टों के हाथ में रहा, क्योंकि केन्द्रीय कार्यालय पर उनका अधिकार था, इसलिये उसमें काँग्रेसी कार्यकर्ताओं का प्रभावशाली होना कठिन था। दूसरे, काँग्रेसी कम्युनिस्टों पर यह भी दोषारोपण करते थे कि उन्होंने कई बोगस सभाओं को सम्बन्धित कर रखा है। फलतः मई सन् १९४७ में होने वाले हिन्दुस्तान मजदूर सेवा संघ के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर जो सरदार वल्लभभाई पटेल की अध्यक्षता में हुआ, भारतीय राष्ट्रीय मजदूर काँग्रेस (इन्टक) की नींव डाली गई, जिसमें हिन्दुस्तान मजदूर सेवा संघ से सम्बन्धित और प्रभावित यूनियन सम्मिलित हो गए। इसके नेता श्री गुलजारी लाल नन्दा, श्री खंडूभाई देसाई और श्री एस० आर० वसावडा हैं। इसी बीच समाजवादी काँग्रेस से अलग हो गए और उन्होंने हिन्द मजदूर सभा की नींव डाली।

संगठन के नाम	सम्बन्धित संघों की संख्या				सदस्यता			
	१९५०	१९५१	१९५२	१९५३	१९५०	१९५१	१९५२	१९५३
(१) भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन काँग्रेस	१०४३	१२३२	९९३	८८७	१४३१८७८	१५४८५६८	१३७८८०६	११९९७४८
(२) भारतीय ट्रेड यूनियन काँग्रेस	७९२	७३५	७३०	३११७	७३००११	७५८३२४	७५८३१४	३७०४८९
(३) हिन्द-मजदूर-सभा	४१०	४१७	४७४	१२०	६१८८७०	८०४३२७	८०४४६४	२१०९१८
(४) यूनाइटेड ट्रेड यूनियन काँग्रेस	३०६	३३२	२०२	१५४	३११४०१	३८४९६२	२२३२१६२	१२६२४०
योग	२५३१	२८१३	२४२४	१२१५	३१२७०३५	३४९६१८२	३०५४७०६	१९१२८७३

वर्तमान स्थिति—

वर्तमान समय में इन्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन काँग्रेस देश के श्रमिक संघों की सबसे अधिक प्रतिनिधि संस्था है। इसमें लगभग ८०० संघ सम्मिलित हैं, जो लगभग १२ लाख श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसके बाद ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन काँग्रेस है, जो किसी समय श्रमिकों की प्रतिनिधि संस्था थी, परन्तु कम्युनिस्टों के घुस आने पर जब से भारतीय राष्ट्रीय श्रमिक-संघ काँग्रेस उससे अलग हो गई तब से

उनकी सदस्य संख्या घटती जा रही है। ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अतिरिक्त सोशलिस्ट पार्टी द्वारा आयोजित हिन्द मजदूर सभा भी है तथा सन् १९३९ में यूनाइटेड यूनियन काँग्रेस की और स्थापना हुई। इस प्रकार भारत में आज ४ प्रमुख अखिल भारतीय श्रम संगठन हैं, जिनके सदस्यों की संख्या ऊपर तालिका से ज्ञात की जा सकती है।

भारतीय श्रम संघों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—शिल्प-संघ (Craft Unions), औद्योगिक संघ (Industrial Unions) तथा साधारण श्रमिक-संघ। भारत के अधिकांश श्रम संघ औद्योगिक संघ हैं, जिनका उद्देश्य एक उद्योग के सभी श्रमिकों को बिना कार्य निपुणता, लिंग आदि पर विचार किए एक ही श्रम-संघ में संगठित करना होता है, किन्तु इस सम्बन्ध में अहमदाबाद का सूती वस्त्र मजदूर-संघ अन्य संघों से भिन्न है, जिसके सदस्य संघ शिल्प संघ हैं। साधारण श्रम-संघ के भीतर विभिन्न उद्योगों तथा शिल्पों के मजदूरों की सदस्यता पाई जाती है। कानपुर की मजदूर सभा और बम्बई का गिरनी कामगार-संघ इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

भारत में श्रमिक संघ की सफलतायें—

भारत में श्रमिक संघों का इतिहास नया ही है, इसलिये व्यवहार में उनका वास्तविक महत्व आँकना दुष्कर नहीं तो कठिन अवश्य है। यह तो निस्संकोच कहा जा सकता है कि उन्हें पर्याप्त सफलतायें प्राप्त हुई हैं। उदाहरण के लिये अपनी स्थापना के प्रथम वर्ष में ही वे मजदूरी बढ़वाने और काम के घण्टे कम करवाने में सफल हुईं और सन् १९२९ में उन्होंने मजदूरी में कटौती होने से रोकी। इसके अतिरिक्त वे मालिकों का श्रमिकों की ओर व्यवहार बदलने में भी सफल हुई हैं। वे उनके प्रति अब पहले की तरह उदासीन एवं विरुद्ध नहीं रहे। कर्मचारी संघ ने सन् १९२५ में बी० एन० आर० की हड़ताल एवं सन् १९२७ में खड़गपुर वर्कशाप की 'ताला बन्दी' घटना में सफलतापूर्वक हस्तक्षेप किया।

दूसरे देशों की अपेक्षा हमारे देश के श्रमिक संघों की प्रगति लगभग नगण्य है। कठिनता से २% श्रमिक इन संघों के सदस्य होंगे। दुर्भाग्यवश हमारे अधिकतर संगठन केवल खोखले आयोजन मात्र हैं, जिन्हें अपर्याप्त कोष एवं जाली सदस्य संख्या और बाहरी लोगों के उत्साह द्वारा ही जीवित रखा जा सकता है। बहुत कम श्रमिक संघों ने बेरोजगारी, बीमारी व बुढ़ापे के लाभ दिये हैं। उनकी "पारस्परिक सहायता" की प्रवृत्ति तो लगभग अविकसित है और उन्होंने अपने का केवल लड़ाकू कार्यों तक ही सीमित रखा है। अहमदाबाद का वस्त्र संघ अवश्य ही श्रमिकों के लिये कई कल्याण कार्य अस्पताल, शिक्षा, सस्ते अनाज, सहकारी ऋण एवं मनोरंजन की सुविधाओं के रूप में कर रहा है। प्रति सप्ताह वह एक पत्र भी प्रकाशित करता है।

यह आशा की जाती है कि शिक्षा के फैलने पर दशा सुधरेगी, श्रमिक अपने अधिकार एवं कर्त्तव्यों को समझेंगे, अनुशासन बढ़ेगा, संगठन के महत्व का उन्हें ज्ञान

होगा व श्रमिक संघों के सदस्यों की संख्या भी बढ़ेगी, वे स्वयं अपने वर्ग में ही से नेता प्रगट कर सकेंगे, बाहरी लोगों की स्वार्थपूर्ण चालों से छुटकारा पावेंगे और अपना कार्य अधिक चतुरता एवं बुद्धिमता से चला सकेंगे। वह दिन दूर नहीं है जबकि भारत इस बात का गर्व कर सकेगा कि उसके श्रमिक संघ अन्य देशों से किसी भाँति पीछे नहीं।

भारतीय श्रमिक-संघों के मार्ग में बाधायें —

भारत में श्रमिक संघ आन्दोलन की प्रगति बहुत सी कठिनाइयों के कारण धीमी रही है। कुछ महत्वपूर्ण बाधायें ये हैं —

(१) भारतीय श्रमिक प्रायः अपढ़ हैं अस्तु वे अनुशासन के महत्व को नहीं समझते और न संघ को बुद्धिमानी और चतुरता से चला ही सकते हैं।

(२) भारतीय श्रमिक वर्ग विभिन्न प्रकार के धर्मावलम्बी, विचार-धाराओं, रीति रिवाजों और आदतों के मजदूरों का मिश्रण है, इसलिये उनके संगठित होने में देर लगती है।

(३) वे दूर-दूर के गाँवों से नौकरी की खोज में आते हैं और चले जाते हैं, अतः वे कार्य अथवा उद्योग परिवर्तित करते रहते हैं, इस कारण वे किसी संघ में स्थायी उत्साह नहीं लेते।

(४) भारत में मजदूरों को बहुत कम वेतन मिलता है, इस कारण बहुत से तो चन्दा नहीं दे पाते। यदि कुछ दे भी सकें, तो ऐसा शुल्क इतना न्यून होगा कि उससे संघ को यथेष्ट द्रव्य प्राप्त नहीं हो सकता, अतः वे फिर अच्छा कार्य, जिसकी उनमें आशा की जाती है, नहीं कर पाते। यही नहीं भारतीय मजदूर केवल समत्य-त्मक लाभ के लिए शुल्क देने में संकोच करते हैं और अपने शुल्क के बदले में अपना सब आपत्तियों से बचाव अथवा थोड़ी अवधि ही में वेतन वृद्धि की आशा रखता है।

(५) न्यूनतम शुल्क भी वसूल करने में कठिनाई होती है, क्योंकि उस मिल मालिक तनख्वाह बाँटते समय उगाहने नहीं देते। बाद में वह या तो सरलता से कोषाध्यक्ष तक पहुँचता भी है तो बीच में ही उसका कुछ भाग इधर-उधर कर दिया जाता है।

(६) मजदूरों को अवकाश इतना कम रहता है कि वे अन्य बातें, जैसे—संघ आदि के विषय में सोच ही नहीं पाते।

(७) सेवायोजकों एवं कर्मकारियोजकों का विरोध संघ आन्दोलन की प्रगति में एक अन्य बाधा है। उन मजदूरों को जो संघ के प्रति कुछ सहानुभूति रखते हैं, तरह तरह से परेशान किया जाता है। वे मजदूर संघों को मान्यता प्रदान नहीं करते और यदि करते भी हैं तो ऐसी शर्तों के साथ कि फिर संगठन व्यर्थ रहता है। कभी-कभी सच्चे संघों के विरोध में सेवायोजकों द्वारा झूठे संघ स्थापित कर दिये जाते हैं और इनकी सहायता से उनकी कार्यवाहियों में विघ्न डालने का प्रयत्न किया जाता है। संघ के कार्यकर्ताओं को घूँस देकर फोड़ लेना तो एक साधारण बात है।

(८) हमारे देश में मजदूर एक बड़े क्षेत्र में फैले हुए हैं और किन्हीं दशाओं में तो उन तक खबर पहुँच ही नहीं पाती, जैसे—आसाम के चाय बगान आदि। अस्तु इनसे सम्बन्धित सूचनायें दबाई जा सकती हैं और बाहर वालों को उनकी जानकारी नहीं हो पाती। यह दशा संघों की प्रगति में बाधक है।

(९) सबसे बड़ी बाधाओं में एक बाधा अच्छे नेतृत्व का अभाव होना भी है। श्रमिक अपढ़ हैं, वे अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों से अपरिचित हैं, इसलिये उन्हें बाहरी नेतृत्व पर निर्भर रहना पड़ता है। यह उनकी बड़ी दुर्बलता है, क्योंकि ऐसी दशा में प्राय अपने राजनैतिक अथवा सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये स्वार्थी लोग नेतृत्व सम्हाल लेते हैं। इन्हें श्रमिकों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि उन्हें कभी कारखाने में काम नहीं करना पड़ा। वे उद्योग की औद्योगिक आवश्यकताओं से भी अपरिचित होते हैं। उन्हें श्रमिकों से सच्ची सहानुभूति भी नहीं होती। कुछ पढ़े लिखे वकील आदि, जिन्हें काम नहीं मिलता, बैठे-ठाले इस कार्य को सभाल लेते हैं और अपना स्वार्थ सिद्ध करने के प्रयत्न में संलग्न रहते हैं। कहीं-कहीं तो ऐसे लोगों ने मजदूरों के चन्दे भी हजम कर लिये। कुछ नेता कई संघों का काम सभालते रहते हैं, इसलिये वे प्रत्येक संघ को पर्याप्त समय भी नहीं दे पाते। रायल कमीशन ने स्पष्ट कहा है कि जब तक ये संघ इस विषय में आत्म निर्भर नहीं हो जाते, तब तक विशेष प्रगति की आशा करना व्यर्थ है।

राष्ट्र-निर्माण में संघों का भाग—

किसी भी देश को कल्याणकारी राज्य बनाने में श्रमिक संघ बहुत लाभ कारी हो सकते हैं। श्रमिक संघों को मजदूरों में यह भावना व प्रवृत्ति पैदा करनी चाहिये कि वे राष्ट्र हित की दृष्टि से उत्पादन को बहुत बढ़ावें। मिल मालिकों का भी यह कर्त्तव्य है कि वे उत्पादन बढ़ाने के उपायों को श्रमिक प्रति निधियों (श्रमिक संघ के प्रतिनिधियों) के सामने रखें और उनका सहयोग प्राप्त करें। श्रमिक प्रतिनिधि उन्हें राष्ट्रीय समृद्धि में जहाँ अपने सहयोग का विश्वास दिलायेंगे वहाँ वे अपने लिये भी मिल मालिकों से निम्नलिखित आश्वासन चाहेंगे —

(१) उत्पादन क्षमता में हुई वृद्धि के कारण जो लाभ होगा उसमें मजदूर भी वेतन वृद्धि और अन्य सुविधाओं के रूप में उसके भागीदार होंगे।

(२) नये उपायों का अर्थ मजदूर पर कार्य का अनुचित भार डालना नहीं होगा।

(३) नये उपायों का परिणाम मजदूरों की छटनी और बेकारी भी नहीं होनी चाहिये।

इसके बाद श्रमिक संघ मजदूरों को राष्ट्रीय उत्पादन में अधिकाधिक हार्दिक सहयोग देने के लिये समझावेंगे। मजदूरों को मशीनों का काम अधिक कुशलता से करने की ट्रेनिंग भी देंगे, उनके शिक्षण की व्यवस्था भी करेंगे। श्रमिकों के प्रतिनिधि मिल इन्जीनियरों के साथ बैठ कर उत्पादन की कई योजनाओं पर विचार करेंगे और

व्यवस्था निर्माण में सहयोग देंगे। इस तरह श्रमिक संघ राष्ट्रीय समृद्धि में महत्वपूर्ण भाग ले सकते हैं।

शिक्षा प्रचार देश की उन्नति के लिये अत्यन्त आवश्यक है। आज श्रमिक संघ ४९% व्यय अपने कार्यकर्त्ताओं के वेतन पर करते हैं और केवल ७% शिक्षा प्रसार पर व्यय करते हैं। यह बहुत असन्तोषजनक स्थिति है। शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

निम्नलिखित अन्य क्रियाओं में भी काम करके श्रमिक संघ राष्ट्र-निर्माण में सहायक हो सकते हैं :—

(१) श्रमिक संघ सहकारी समितियाँ बना कर मजदूरों के लिये घर बनवा सकते हैं।

(२) मजदूरों में बचत की आदत पैदा की जा सकती है और विभिन्न कार्यों के लिये सहकारी समितियों का संगठन किया जा सकता है।

(३) मजदूर परिवारों में तथा वयोवृद्ध पुरुषों में ग्रामोद्योग का प्रसार करके आमदनी बढ़ाई जा सकती है।

(४) शारीरिक व्यायाम, खेल-कूद आदि का प्रचार करके मजदूरों को स्वास्थ बनाने में श्रमिक संघ सहयोग दे सकते हैं।

जब से हमारे देश में स्वतन्त्र सरकार की स्थापना हुई है, तब से श्रम-नीति में भी काफी उदारता आ गई है। श्रम तथा उद्योग सम्बन्धी सभी नये अधिनियमों में श्रमिकों की स्थिति सुधारने के लिए प्रयत्न किये जा रहे हैं। सन् १९५० में भारतीय संसद के सम्मुख एक नया ट्रेड यूनियन बिल प्रस्तुत किया गया, जिसके अनुसार सभी श्रम-संघों का रजिस्ट्रेशन अनिवार्य करने की व्यवस्था की गई थी। केवल राजकीय कर्मचारियों के श्रम-संघों की व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया गया था, किन्तु प्रायः सभी पक्षों द्वारा कड़ी आलोचना के कारण इस बिल पर संसद द्वारा विचार नहीं किया गया। इस बिल की दूसरी उल्लेखनीय बात यह थी कि श्रम संघ की कार्यकारिणी में बाहरी व्यक्तियों की अधिक से अधिक संख्या ४ अथवा कुल सदस्यों की $\frac{1}{4}$ से अधिक नहीं होनी चाहिए। इसके विपरीत सन् १९२६ के अधिनियम के बाहरी व्यक्तियों के लिए ५०% तक की व्यवस्था की गई थी। इसके अतिरिक्त बिल में श्रम संघों के लिए पृथक राजनैतिक कोष की भी व्यवस्था की गई है, जिससे कि राजनैतिक कार्यों को कुछ अंश तक आर्थिक कार्यों से अलग रक्खा जा सके। इसमें श्रम संघों द्वारा अपने कोषों के दुरुपयोग को रोकने का भी प्रयत्न किया गया है।

उपसंहार—

हमारी द्वितीय पंच वर्षीय योजना का प्रधान उद्देश्य देश का तीव्र गति से औद्योगीकरण करना है। देश के कोने-कोने से "अधिक उत्पादन करो" के नारे लग रहे हैं। श्रम-संघ इस आवाज को ठुकरा कर जीवित नहीं रह सकते। इन्हें भी चाहिए कि राष्ट्रीय माँग की पूर्ति के हेतु वे अपने स्वामियों के साथ कदम व कदम मिला कर चलें।

श्रम-सघ आन्दोलन के विकास के साथ साथ सघों के आन्तरिक शासन की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। श्रमिकों का हित इसी में है कि श्रम संघ को लड़ाकू सगठन से एक ऐसी सस्था में परिवर्तित किया जाय जो सामूहिक रूप से सौदा करने का एक स्थायी साधन हो। ऐसा करने के लिए लड़ाकू भावना के स्थान पर रचनात्मक तथा सहयोगी भावना का उत्पन्न होना आवश्यक है।

इस समय भारतीय श्रम-सघ आन्दोलन मे कुछ आधारभूत दोष हैं, जिनका निवारण करना अति आवश्यक है। देश मे एक ही उद्योग में तथा एक ही क्षेत्र में अनेक श्रमिक सघ है, इससे श्रमिकों का पक्ष शिथिल पड़ जाता है, अतएव श्रेष्ठ हो यदि एक क्षेत्र में विभिन्न उद्योगों के प्रतिनिधि के रूप में केवल एक ही संघ रहे। दूसरे, भारत में श्रम-सघों का कार्यक्रम विस्तृत करने की आवश्यकता है। यह काम केवल हड़तालों तक ही सीमित न रहना चाहिए। तीसरे, यहाँ केन्द्रीय सगठन भी अनेक हैं जो अपनी शक्ति को साधारणतया एक दूसरे से लड़ने तथा एक दूसरे की सदस्यता छीनने पर ही व्यय करते है। श्रम सघ उत्थान तथा कल्याण कार्य बहुत कम किया जाता है, अतएव आवश्यकता इस बात की है कि केवल एक शक्तिशाली केन्द्रीय सगठन बनाया जाय अथवा यदि यह सम्भव न हो सके तो इतना अवश्य किया जाय कि कुछ सर्वमान्य सिद्धान्तों पर विद्यमान सभी केन्द्रीय सघ मिल कर कार्य करें।

---

[१६]

भारत में श्रम-कल्याण-कार्य

रूप रेखा—

१. प्रस्तावना—'श्रम-कल्याण कार्य' से आशय सरकार, सेवायोजक, श्रम संगठन अथवा अन्य संस्थाओं द्वारा किये हुये ऐसे ऐच्छिक कार्यों से होता है, जो श्रमिकों के बौद्धिक, शारीरिक, नैतिक एवं आर्थिक विकास के लिये किये गये हों। कल्याण-कार्य का मुख्य उद्देश्य श्रमिकों का सांस्कृतिक एवं सामाजिक स्तर ऊँचा करना होता है। कल्याण कार्य की तीन श्रेणियाँ—(१) वैधानिक, (२) स्वेच्छापूर्ण एवं (३) पारस्परिक। श्रम सम्बन्धी सरकारी नियमों द्वारा की हुई व्यवस्था भी एक प्रकार से कल्याण-कार्य कही जा सकती है। कल्याण कार्य तथा सरकारी नियमों में परस्पर निर्भरता रहती है। श्रम कल्याण-कार्य की भावना एक नवीन स्फूर्ति है, जिसने प्रथम महायुद्ध के बाद से अधिक जोर पकड़ा।

२. कल्याण-कार्यों का महत्त्व—कल्याण कार्यों की व्यवस्था से स्वस्थ, कार्यदक्ष एवं सन्तुष्ट श्रमिक शक्ति प्राप्त होती है, औद्योगिक अशान्ति दूर होती है तथा राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ता है।

३. भारत में श्रम-कल्याण-कार्य की आवश्यकता—अन्य पाश्चात्य देशों की अपेक्षा भारतवासियों का जीवन स्तर नीचा है, अधिकांश व्यक्ति अशिक्षित, अज्ञानी तथा अस्वस्थ हैं। उनकी गृह व्यवस्था भी शोचनीय है। प्रवासी प्रवृत्ति के कारण श्रमिकों में संगठन का अभाव है, अतः कल्याण कार्यों द्वारा कठिनाइयों को बहुत कुछ हल किया जा सकता है।

४. भारतवर्ष में आयोजित श्रम-कल्याण-कार्य—मुख्यतः तीन संस्थाओं ने सक्रिय कार्य किया है—(अ) सरकार, (आ) उद्योगपति तथा (इ) श्रमिक संघ। प्रत्येक का विस्तृत विवेचन।

५. उपसंहार—देश में कल्याण कार्यों का विकास बहुत कम हुआ है। श्रम सन्नियमों को सच्चे अर्थ में कार्यान्वित किया जाय तथा मानवीय दृष्टिकोण उत्पन्न किया जाय।

प्रस्तावना—

'श्रम-कल्याण कार्य' का अर्थ बड़ा लचीला है। देश और समय की परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के अनुसार ही इसके अर्थ तथा विस्तार में परिवर्तन किया जा

सकता है। प्रारम्भ मे कल्याण कार्य स आशय सेवायोजकों द्वारा स्वत दी हुई ऐसी सुविधाओं से था, जिनसे कि श्रमजीवियों की सामाजिक एव मानसिक उन्नति हो। यह सुविधायें श्रमिकों की मजदूरी के अतिरिक्त उनके आराम के लिये होती हैं। वर्तमान समय में, कल्याण कार्य की परिभाषा काफी विस्तृत है। आज इससे हमारा आशय यह है कि कारखानों के भीतर और बाहर दोनों ही दशाओं में श्रमिकों के आराम और सुविधा का उचित प्रबन्ध होना चाहिए। श्रमिक कल्याण-कार्य के क्षेत्र की व्याख्या करते हुए श्रम जाँच समिति ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि श्रम कल्याण कार्यों के अन्तर्गत श्रमिकों के बौद्धिक, शारीरिक नैतिक एव आर्थिक विकास के कार्यों का समावेश होना चाहिए। ये कार्य चाहे नियोक्ता, सरकार या अन्य संस्थाओं द्वारा किये जायें तथा साधारण अनुबन्धात्मक सम्बन्ध अथवा विधान के अन्तर्गत श्रमिकों को जो मिलना चाहिए उसके अलावा किए गए हों। इस प्रकार इस परिभाषा के अन्तर्गत हम आवास व्यवस्था, चिकित्सा एव शिक्षा सुविधाएँ, अच्छा भोजन (कैंटीन के आयोजन सहित), आराम एव मनोरंजन की सुविधायें, सहकारी समितियाँ, धाय घर एव शिशु गृह, शौचालय की व्यवस्था, सवेतन छुट्टियाँ, सामाजिक बीमा, प्रॉविडेंट फन्ड, सेवा निवृत्ति वेतन आदि सुविधाओं का समावेश कर सकते हैं।

कल्याण कार्यों का प्रधान उद्देश्य श्रमिक को वेतन व काम के घण्टों की सुविधाओं के अतिरिक्त उसे अन्य सांस्कृतिक व सामाजिक लाभ पहुँचाना होता है। वास्तव में एक सन्तुष्ट, जागरूक कर्त्तव्यपरायण व आत्म गौरवपूर्ण श्रमिक ही राष्ट्र की आर्थिक प्रगति मे सहायता कर सकता है। रायल श्रम कमीशन ने श्रमिकों के लिए किए गए कल्याण कार्यों को 'विवेकपूर्ण लागत' कहा है, जिसका प्रतिफल श्रमिकों की बढ़ी हुई कार्यक्षमता के रूप में मिलता है। श्रम कल्याण कार्यों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है —(१) वैधानिक, (२) स्वेच्छापूर्ण एव (३) पारस्परिक। वैधानिक कल्याण कार्यों से तात्पर्य उन सभी कामों से है जो श्रमिकों के हित के लिए सरकार की ओर से विभिन्न कानूनों के रूप में किए जाते हैं। द्वितीय श्रेणी के कार्यों मे उद्योगपतियों द्वारा किए हुए प्रयत्न तथा तीसरी श्रेणी में श्रमिक संघों द्वारा किए हुए कार्य सम्मिलित किए जा सकते हैं। वैधानिक कल्याण कार्य स्वेच्छापूर्ण कल्याण कार्य मे केवल भावना का अन्तर है, यद्यपि दोनों का उद्देश्य समान है, अर्थात् श्रमिकों के कल्याण में वृद्धि करना। इन दोनों प्रकार के कार्य क्षेत्रों तथा परिणामों मे भारी अन्तर होता है। राज्य द्वारा जो व्यवस्था की जाती है वह साधारणतया कारखाने के भीतर स्वास्थ्य तथा सुरक्षा से सम्बन्धित होती है, परन्तु स्वेच्छापूर्ण कल्याण कार्य का उद्देश्य श्रमिकों के सामान्य कल्याण में सम्पन्नता लाना होता है। ऐच्छिक कल्याण कार्य की परिभाषा के अन्तर्गत कारखाने के भीतर तथा बाहर दोनों प्रकार की सुविधायें सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त सरकारी नियम लगभग सभी कारखानों पर लागू होते हैं और समान रूप से प्रत्येक कारखाने के स्वामी को उनका पालन करना पड़ता है। स्वेच्छापूर्ण कल्याण कार्य की दशा में नियोक्ता अपनी इच्छानुसार (कम अथवा अधिक)

सुविधायें दे सकता है. उस पर किसी का अकुश अथवा दवाव नहीं होता। वास्तविकता यह है कि कल्याण-कार्य की कोई भी योजना, जो दवाव डाल कर कराई जाय, कभी भी सफल नहीं हो सकती।

इतना अन्तर होते हुए भी सरकारी कानूनों तथा कल्याण कार्य में पारस्परिक निर्भरता है। सरकारी नियमों द्वारा निरन्तर उन बातों की व्यवस्था की जा रही है जिन्हें पहिले नियोक्ता के कार्यक्षेत्र में सम्मिलित किया जाता था। इसी प्रकार ऐसे अनेक कार्य, जिन्हें कुछ देशों में नियोक्ता की इच्छा पर छोड़ दिया जाता है, दूसरे देशों मे सरकारी नियमों द्वारा अनिवार्य बनाए जा रहे हैं। वास्तव में राजकीय नियम नियोक्ता को सहायता देते हैं, क्योंकि इन नियमों द्वारा न्यूनतम दशायें समान्य और सर्वव्यापी बना दी जाती हैं। परिणाम यह होता है कि प्रगतिशील सेवायोजक इनसे आगे और भी अधिक सुधार करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार राजकीय नियम कल्याण कार्य की उन्नति करते हैं। कुछ सीमा तक राजकीय नियम भी ऐच्छिक कल्याण कार्यों पर निर्भर करते हैं। विवेकी तथा साहसी सेवायोजक जिन सुविधाओं की व्यवस्था कर देते हैं, वे क्रमशः श्रमिकों के जीवन और स्वास्थ्य का आवश्यक अंग समझे जाने लगते हैं और उन्हीं को प्राप्त करने के उद्देश्य से राजकीय नियम बनाए जाते हैं, जिससे कि सभी सेवायोजक उन सुविधाओं को प्रदान करें। इस प्रकार व्यक्तिगत नियोक्ताओं के ऐच्छिक कार्यों का औद्योगिक अधिनियम पर गहरा प्रभाव पड़ता है तथा वे ही क्रमशः आराम के सामान्य स्तर को ऊँचा उठा देते हैं।

'कल्याण कार्य' की भावना एक नवीन स्फूर्ति है, जिसने प्रथम महायुद्ध के पश्चात् से अधिक जोर पकड़ा। औद्योगिक क्रांति ने समाज को 'सेवायोजक' एवं 'सेवायुक्त' इन दो वर्गों में बांट दिया। कारखाने के मालिक और मजदूर एक दूसरे से बहुत दूर हो गये। सेवायोजक अपने स्वार्थ के सामने किसी की भी नहीं सुनते थे, परिणाम यह हुआ कि मिल मालिकों और मजदूरों के पारस्परिक सम्बन्ध बिगड़ गये। श्रमिक अपनी दशा के प्रति उदासीन थे और सेवायोजकों की नीति अदूरदर्शिता पूर्ण थी। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् उत्पन्न हुई क्रान्तिमयी परिस्थिति ने श्रमिकों की समस्या को नया रूप दिया। प्रत्येक विचारशील व्यक्ति इस बात का अनुभव करने लगा कि श्रमिक वर्ग की दुर्दशा को सुधारना समाज का कर्तव्य है। यही नहीं, समाज के उत्साही व्यक्तियों ने श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए कुछ प्रयत्न भी किये। समस्त जनता की सहानुभूति श्रमिक वर्ग के साथ थी, अतः उद्योगपतियों को भी परिस्थितिवश लाचार हो कर श्रमिकों के भले के लिये कुछ करना पड़ा। इस प्रकार 'कल्याण कार्य' की भावना का जन्म हुआ।

कल्याण कार्यों का महत्त्व—

वर्तमान युग में प्रायः सभी देश यह अनुभव करने लगे हैं कि स्थायी एवं संतुष्ट श्रमिक वर्ग पाने के लिए उन्हें उचित जीवन स्तर सम्बन्धी सुविधायें प्रदान करना नितान्त आवश्यक है। आजकल इस सत्य को सभी लोग बिना विरोध के मानते हैं कि

औद्योगिक कल्याण की व्यवस्था का अर्थ औद्योगिक कुशलता का बढ़ाना होता है। मनोरञ्जक कार्यक्रम, शिक्षा सुविधायें इत्यादि कल्याण कार्य कारखाने के आन्तरिक वातावरण को सुधार देते हैं । इनसे श्रमिक ऐसा अनुभव करने लगता है कि सेवा-योजक और राज्य को उसकी चिन्ता है तथा सौतेली माँ का व्यवहार न करते हुए वे उसके सुख और सन्तोष में वृद्धि करने का प्रयत्न कर रहे हैं । इससे उद्योग रूपी चक्की के दोनों पाट—श्रम तथा पूँजी—एक दूसरे के निकट आते हैं तथा पारस्परिक सहयोग से औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि करते हैं । इस प्रकार कल्याण-कार्य औद्योगिक शान्ति की स्थापना में सहायक होते हैं । इसके अतिरिक्त सुन्दर मकान, सहकारी समितियाँ, कैन्टीन्स, बीमारी तथा प्रसूत लाभ, प्रॉवीडेन्ड फण्ड, पेंशन आदि सुविधायें श्रमिकों में ऐसी भावनायें उत्पन्न कर देते हैं कि उद्योग के साथ उनका भी भाग्य सम्बन्धित है। इसका सुपरिणाम यह होता है श्रमिकों की अनुपस्थिति, उनकी रुचि का अभाव आदि कम हो जाता है और वे फिर अपने घर की ओर नहीं भागते । इस प्रकार श्रमिक वर्ग अधिक स्थायी तथा आर्थिक दृष्टि से अधिक कुशल हो जाता है। तीसरे, कैन्टीन्स की व्यवस्था, जहाँ पर सस्ते दामों में शुद्ध तथा सन्तुलित भोजन मिलता है, श्रमिकों की शारीरिक तथा मानसिक शक्ति को बढ़ाता है, मनोरञ्जन द्वारा उनकी नैतिक बुराइयाँ कम हो जाती हैं, चिकित्सा सहायता, प्रसूत लाभ तथा बच्चों की रक्षा द्वारा श्रमिकों तथा उनके परिवार के अन्य सदस्यों के स्वास्थ्य में सुधार हो जाता है और शिक्षा सुविधाओं के द्वारा श्रमिकों की मानसिक कुशलता तथा आर्थिक उत्पादनशीलता बढ़ जाती है।

भारत में श्रम-कल्याण-कार्य की आवश्यकता—

अन्य पाश्चात्य देशों की अपेक्षा भारतवासियों का जीवन स्तर बहुत नीचा है। अधिकाँश व्यक्ति अशिक्षित, अज्ञानी तथा रूढ़िवादी हैं। स्वास्थ्य सेवाओं का यहाँ भारी अभाव है । लोगों के (विशेषत श्रमिकों के) रहने की उपयुक्त व्यवस्था नहीं है। ऐसी परिस्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि उनके शारीरिक, मानसिक तथा सांस्कृतिक विकास के लिए कुछ किया जाय । देश में इस समय सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य की महानता तथा मानव अधिकारों को समुचित महत्व दिया जाय । हमारी द्वितीय पच वर्षीय योजना का प्रधान उद्देश्य देश का तेज़ी से औद्योगीकरण करना है, जो बिना श्रम एव पूँजी के पारस्परिक सहयोग के सम्भव नहीं है। कल्याण-कार्यों द्वारा श्रमिकों को निकट लाया जा सकता है और उनका विश्वास प्राप्त करके शीघ्रता से अभीष्ट स्थान तक पहुँचा जा सकता है । वह दिन गये जब हमारे उद्योगपति यह समझते थे कि श्रमिक एक मशीन है, जिससे इतना काम लिया जाय जितना सम्भव हो । उसके मानवीय पक्ष तथा शारीरिक एवं मानसिक कल्याण पर बहुत कम ध्यान दिया जाता था, किन्तु वर्तमान विचारधारा के अन्तर्गत श्रमिक के कल्याण में ही सेवायोजक तथा अन्त में समस्त राष्ट्र का कल्याण निहित है । हमारे देश में कल्याण कार्य की विशेष आवश्यकता इस कारण भी है कि भारतीय श्रमिक

चलायमान है । स्थायी रूप से वे कारखानों में काम नहीं करते । फलतः वे अदक्ष भी होते हैं, अतः औद्योगिक श्रम में एक स्थायी वर्ग प्राप्त करने के लिये तथा श्रमिकों को कुशल बनाने के उद्देश्य से कारखाने के भीतर और उसके बाहर की दशाओं को सुधारना बहुत आवश्यक है । कल्याण कार्य इस उद्देश्य की पूर्ति का सफल साधन है। हमारी दृष्टि से श्रमिकों को केवल नगद मजदूरी बढ़ाने ही से कोई विशेष लाभ न होगा, क्योंकि इससे उनकी कार्य-निपुणता पर कोई गम्भीर प्रभाव नहीं पड़ता। सम्भव है कि नगद राशि को वे जुए और नशे में उड़ा दें। इसके विपरीत यदि कल्याण-कार्य के द्वारा उनको लाभ पहुँचाया जायगा तो हमें विश्वास है कि उनकी कार्यक्षमता अवश्य बढ़ेगी। दूसरे, जितनी अधिक श्रम-कल्याण की सुविधायें श्रमिकों को मिलेंगी उतना ही आकर्षक कारखानों के प्रति अधिक होकर कारखाना जीवन की नीरसता कम होगी, अर्थात् श्रमिकों का नैतिक स्तर भी ऊँचा होगा। तीसरे, श्रमिकों में नागरिक-उत्तरदायित्व की भावना जाग्रत होकर वे देश के आदर्श नागरिक बन सकते हैं। इन लाभों से ही प्रेरित होकर टैक्सटाइल लेबर इन्क्वायरी कमेटी ने कहा था :—"कार्यक्षमता का उन्नत स्तर केवल वहीं हो सकता है, जहाँ श्रमिक शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ तथा मानसिक दृष्टि से सन्तुष्ट हों । इसका तात्पर्य यह है कि केवल वही श्रमिक कुशल हो सकते हैं जिनके लिए शिक्षा, आवास, भोजन तथा वस्त्रादि का उचित प्रबन्ध हो।" इसी दृष्टि से हमारे देश में बम्बई विश्वविद्यालय ने श्रम-समस्याओं एवं कल्याण कार्य के अध्ययन तथा शिक्षा के लिए विशेष प्रबन्ध किया । श्री टाटा ने भी बौम्बे स्कूल ऑफ इकोनोमिक्स एवं सोशल साइन्सेज की स्थापना इसी उद्देश्य से ही की है। वास्तविकता यह है कि भारतीय सेवायोजक कल्याण सुविधायें प्रदान करके अनेक श्रम समस्याओं को सुलझा सकता है। कल्याण-कार्य का प्रमुख उद्देश्य यह होता है कि श्रम तथा पूँजी दोनों एक दूसरे को भली प्रकार समझें तथा इसके द्वारा सभी छोटी-छोटी व्यक्तिगत कठिनाइयों को दूर करके सद्भावना का वातावरण स्थापित करें । हमारे देश में ऐसा कर लेना अत्यन्त सरल है, क्योंकि भारतीय श्रमिक सहानुभूतिपूर्ण तथा स्नेह के व्यवहार से शीघ्रतापूर्वक प्रसन्न हो जाता है । श्रमिकों की अशिक्षा तथा अज्ञानता को दूर करके सेवायोजक ज्ञानयुक्त तथा कुशल श्रमिक पा सकते हैं। ऐच्छिक कल्याण कार्य ही लोगों की राष्ट्रीय भावना के अधिक अनुकूल हैं, अतः इसके माध्यम से श्रमिकों में कर्त्तव्यपरायणता की भावना जाग्रत की जा सकी है।

भारतवर्ष में आयोजित श्रम-कल्याण कार्य—

भारतवर्ष में अभी तक जितना भी श्रम-कल्याण कार्य किया गया है उसका श्रेय मुख्यतः तीन संस्थाओं को है—(१) सरकार, (२) उद्योगपति एवं (३) श्रमिक संघ। अब हम इन संस्थाओं द्वारा किये हुए कार्य का विशद विवेचन करेंगे:—

केन्द्रीय सरकार द्वारा आयोजित कल्याण कार्य—

युद्धोपरान्त (१९३९-४५) केन्द्रीय सरकार ने श्रमिकों की ओर ध्यान दिया। इसके पूर्व सन् १९२२ में बम्बई में एक अखिल भारतीय श्रम हितकारी सम्मेलन बुलाने

के अतिरिक्त कोई और महत्वपूर्ण प्रयत्न उसने नहीं किया था, लेकिन अब उसने कुछ ठोस कदम उठाये हैं। सन् १९४२ में एक श्रम हितकारी सलाहकार और उसकी सहायता के अन्य श्रम हितकारी नियुक्त किये। सन् १९४४ में कोयला खानों के श्रमिकों के लिए एक हितकारी कोष खोला, जिसके द्वारा श्रमिकों के मनोरञ्जन, चिकित्सा और शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। सन् १९४६ मे अभ्रक खान श्रमिक हितकारी कोष अधिनियम पास कर दिया गया। साथ ही सरकार ने अन्य कानूनों का निर्माण किया, जिसके आधार पर कारखानों के श्रमिकों के लिए मकानों की व्यवस्था, काम के घण्टे, रोशनदान, मशीनों को ढक कर रखना, चिकित्सा, उपहार गृह और शिशु गृहों की व्यवस्था की गई। देखभाल के लिये निरीक्षक रखे गये। ५०० या इससे अधिक श्रमिक वाले कारखानों में श्रमिक हितकारी अफसर की नियुक्ति अनिवार्य कर दी गई। सरकार अपने कारखानों में श्रम हितकारी कोष स्थापित करने के साथ साथ व्यक्तिगत औद्योगिक कारखानों मे भी कोष स्थापित कराने के प्रयत्न कर रही है। यह कोष श्रमिकों के लिए हितकारी सेवाएँ जुटाने में व्यय किया जाता है। सन् १९५४ में स्थायी श्रम *समिति ने भी श्रम हितकारी कोष की स्थापना पर बल दिया। वह कोष केन्द्रीय सरकार* द्वारा स्थापित करना चाहिए। इसके अन्तर्गत कारखाने, ट्रामवे तथा मोटर बस सेवायें, आन्तरिक स्टीम जलयान, कोयला व अभ्रक की खानों के अतिरिक्त सब खानें, तेल कूप, उद्यान, जन कार्य, सिंचाई तथा विद्युत सम्मिलित किये गए हैं। वाचनालय, रेलवे कर्मचारियों तथा बन्दरगाहों पर काम करने वाले श्रमिकों के लिये भी विभिन्न प्रकार की हितकारी सुविधायें कर दी गई हैं।

पञ्च वर्षीय योजना मे भी इन कार्यों के लिये ६११ लाख रुपया व्यय करने का निश्चय किया गया है। श्रमिकों के लिये घर बनवाने की योजना को भारत सरकार ने एक राष्ट्रीय स्तर पर लिया है। सरकार की योजना १ लाख २४ हज़ार मकान बनवाने की है। इस योजना पर सितम्बर सन् १९५५ तक ८⅔ करोड़ रुपया खर्च हो चुका है। उसने 'सहायता प्राप्त औद्योगिक गृह निर्माण योजना के अन्तर्गत प्रान्तीय सरकारों, सहकारी गृह निर्माण समितियों, उद्योगपतियों एवं गृह निर्माण बोर्डों को आर्थिक सहायता प्रदान की है।

राज्य सरकारों द्वारा किये गये श्रम कल्याण कार्य—

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले सात वर्षों में राज्य सरकारों ने इस दिशा मे बड़ा प्रशंसनीय कार्य किया है। बम्बई राज्य में श्रम हितकारी केन्द्र खोले गये। यहाँ सन् १९५१ ५२ मे ५४ केन्द्र थे। इन केन्द्रों को 'क' 'ख' 'ग' और 'घ' श्रेणियों में बाँटा गया है। बम्बई (१८), शोलापुर (६) और अहमदाबाद (६) में प्रधान केन्द्र रखे गये हैं। इन केन्द्रों में नर्सरी स्कूल, स्त्री शिक्षा विभाग, पुरुषों के लिए मैदानी तथा भीतरी खेलकूद की व्यवस्था, स्नानागार, सचल और अचल पुस्तकालयों की व्यवस्था है। रेडियो एवं वाद्य यन्त्र भी यहाँ रखे जाते हैं। औषधालय भी केन्द्रों में रहता है। इनके अलावा राज्य में श्रम हितकारी कार्यकर्त्ताओं के लिए एक प्रशिक्षण विद्यालय

तथा चार सरकारी औद्योगिक प्रशिक्षण वर्कशाप भी हैं। सन् १९५३-५४ में श्रम हितकारी कोष की स्थापना के लिए यह कानून बना दिया गया है।

सन् १९५१ तक उत्तर-प्रदेश राज्य में ४२ श्रम हितकारी केन्द्र स्थापित हो गये। स्त्रियों में काम करने के लिए एक महिला हितकारी सुपरिन्टेन्डेन्ट की भी नियुक्ति की गई। सन् १९४९ में सरकार ने यू० पी० फैक्टरी हितकारी अधिनियम बनाये। ५०० या इससे अधिक श्रमिक वाले कारखाने में एक हितकारी अफसर और २,५०० से ऊपर वाले कारखानों में एक अतिरिक्त हितकारी अफसर नियुक्त किया जाता है। चीनी मिलों के श्रमिकों के विशेष लाभ के लिये सन् १९५० में 'चीनी तथा मद्यसार उद्योग श्रमिक हितकारी तथा विकास कोष अधिनियम' पास कर दिया गया है। बम्बई की तरह उत्तर-प्रदेश के श्रम हितकारी केन्द्रों को ४ श्रेणियों में बाँटा गया है। सन् १९५३-५४ में कानपुर में श्रमिकों के लिए क्षय रोग का अस्पताल खोला गया है। साथ ही चिकित्सकों का एक सचल दल भी औद्योगिक क्षेत्रों के लिए निर्मित किया गया है। अभी तक गत जुलाई से उत्तर प्रदेश सामाजिक हितकारी राज्य सलाहकार बोर्ड स्थापित किया गया है। श्रमिकों के लिए गृह निर्माण की एक बड़ी योजना के अन्तर्गत हजारों घर बन चुके हैं।

पश्चिमी बङ्गाल में सन् १९४६ में श्रम हितकारी केन्द्रों की संख्या ४१ थी। विभाजन के बाद इस राज्य में केवल २४ केन्द्र रहे। लगभग ७,००० व्यक्ति प्रति दिन इन केन्द्रों पर जाते हैं। कलकत्ता, हावड़ा और अन्य औद्योगिक केन्द्रों में श्रमिकों के लिए घर बनवाने की योजना चालू है। अन्य राज्यों में भी इसी प्रकार कार्य प्रगति पर है। मध्य-प्रांत में नागपुर में एक श्रम हितकारी केन्द्र है। मध्य-भारत में श्रमिकों के लिए इन्दौर व ग्वालियर में दो हितकारी केन्द्र हैं। उज्जैन व रतलाम में भी ऐसे केन्द्र खोल दिए गये हैं। मद्रास में बस कर्मचारियों के लिए बहुत सी सुविधायें दी गई हैं। नीलगिरी में चाय उद्यानों के श्रमिकों के लिए केन्द्र खोला गया है। मैसूर राज्य में बङ्गलोर में दो हितकारी केन्द्र हैं, जहाँ पूर्ण सुसज्जित पुस्तकालय, वाचनालय तथा क्रीड़ा कक्ष हैं, उड़ीसा के काला हाँडी जिले में श्रम हितकारी केन्द्र सन् १९५४ में खोला गया है। राजस्थान सरकार किशनगढ़, जोधपुर तथा गङ्गानगर में श्रम हितकारी केन्द्रों के स्थापन और प्रसार के लिए प्रयत्नशील है। इस प्रकार अब प्रत्येक राज्य में श्रमिकों के हितकारी कार्यों की ओर ध्यान दिया जा रहा है।

उद्योगपतियों द्वारा कल्याण कार्य—

लम्बे अवधि की उदासीनता के बाद उद्योगपतियों ने श्रमिकों के प्रति कुछ विशेष जागरूकता दिखलाई है, लेकिन उनके श्रम हितकारी प्रयत्न अधिकांश में श्रमिकों के हित के प्रति दया भावना पर आधारित हैं। वे ऐसे कार्यों को अपना व्यावसायिक कर्तव्य समझ कर नहीं करते।

सुविधा, सहकारी समितियाँ, बाल एवं प्रौढ़ शिक्षालय, प्रावीडैन्ट फण्ड की योजना आदि सुविधाओं की व्यवस्था भी देश के लगभग सभी मिलों में की गई है। इस दृष्टि से नागपुर के एम्प्रैस मिल, दिल्ली का देहली क्लॉथ एण्ड जनरल मिल्स व बिड़ला कॉटन मिल्स, ग्वालियर का जीवाजी राव कॉटन मिल्स, मद्रास के बकिंघम एण्ड कर्नाटक मिल्स, बंगलौर का बंगलौर वुलियन कॉटन एण्ड सिल्क मिल्स तथा मदुरा मिल्स कम्पनी ने अत्यन्त सराहनीय कार्य किये हैं।

जूट उद्योग में श्रम हितकारी कार्यों के करने वाली एक मात्र संस्था भारतीय जूट मिल संघ है, जिसने हजारी बाग, कनकी नाड़ा, सीरामपुर, टीटागढ़ और भद्रेश्वर में श्रम हितकारी केन्द्रों की स्थापना की है। इन केन्द्रों पर बाहरी भीतरी खेल-कूदों की व्यवस्था की जाती है। संघ की ओर से पाँच प्राथमिक पाठशालायें भी चल रहीं हैं। जूट मिलों ने व्यक्तिगत रूप से भी हितकारी कार्यों में योग दिया है। सभी जूट मिलों में एक चिकित्सालय है। सात मिलों में प्रसूताओं के लिये क्लिनिक हैं। २१ मिलों में शिशु-गृह एवं ४१ जूट मिलों में जलपान-गृह खोले गये हैं। ऊनी मिलों में बड़े कारखानों में सभी उत्तम व्यवस्थायें उपलब्ध हैं और छोटी मिलों में न्यूनतम कानूनी सुविधाओं का प्रबन्ध है।

इंजीनियरिंग उद्योग में १,००० या इससे अधिक श्रमिक वाले सभी कारखानों में चिकित्सालय हैं। जहाँ-जहाँ स्त्री श्रमिक हैं वहाँ शिशु गृह भी बने हैं। जलपान-गृह तो सभी कारखानों में मिलेंगे। १०० से ऊपर श्रमिक वाले कारखानों में प्रावीडेन्ट योजना लागू है। टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी जमशेदपुर विशेष उल्लेखनीय है। इसमें ४०० पलंग वाला अस्पताल, प्रसूता गृह एवं ६ प्रसूति क्लिनिक हैं। कम्पनी की ओर से ३ हाई-स्कूल, १० मिडिल स्कूल और २५ प्राथमिक स्कूल खोले गये हैं। २ बड़े जलपान गृह हैं। विशाल क्रीड़ा स्थल, मुफ्त सिनेमा, सहकारी उपभोक्ता भण्डार व डाकखाने आदि की आदर्श व्यवस्था है। अन्य कारखानों में भी इसी प्रकार व्यवस्था करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

कोयला तथा अभ्रक की खानों में श्रमिक हितकारी कोष कानून द्वारा बनाये जा चुके हैं, जिनके अन्तर्गत अनेक श्रम हितकारी कार्य किये जा रहे हैं। कोलर की सोना खानों में भी श्रम हितकारी कार्य हो रहे हैं। आसाम तथा पश्चिमी बंगाल के अधिकांश बड़े चाय उद्यानों में बड़े-बड़े अस्पताल बने हैं। इनमें अभी जो व्यवस्थाएँ की गई हैं वे अत्यन्त अपर्याप्त हैं। इसी प्रकार की न्यूनाधिक व्यवस्थाएँ अन्य उद्योगों में भी की गई हैं, परन्तु श्रमिकों की आवश्यकताओं को देखते हुये ये प्रयत्न अपर्याप्त हैं।

श्रमिक सङ्घों द्वारा कल्याण-कार्य—

श्रम संघ धन की कमी के कारण अधिक कार्य नहीं कर सके हैं। तथापि कुछ संघों ने सराहनीय कार्य किया है, जिनमें अहमदाबाद टैक्सटायल श्रम संघ, मजदूर

सभी कानपुर एवं मिल मजदूर संघ इन्दौर प्रमुख हैं। इन्होंने पुस्तकालय, चिकित्सालय, शिक्षालयों (प्रौढ़ एवं बाल), क्लबों आदि की व्यवस्था की है।

कल्याण-कार्य के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा की हुई सेवाओं का उल्लेख करना अनावश्यक न होगा। इस संस्था ने भारतीय बालकों के कल्याण कार्य के लिए मार्च सन् १९५४ तक लगभग ६० लाख डालर तक व्यय कर दिया है। भारत सरकार की प्रथम पंच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत कल्याण कार्यों का संयुक्त-राष्ट्र संघ के मातृ तथा बाल कल्याण कार्यों से सम्बन्धित योजना से समन्वय कर दिया गया है। इस योजना के अन्तर्गत आगामी दो वर्षों में स्वास्थ्य निरीक्षकों तथा दाइयों के प्रशिक्षण एवं उन्हें चिकित्सा सम्बन्धी पर्याप्त सज्जा से सुसज्जित करने में बीस लाख डालर व्यय किये जायेंगे। 'संयुक्त राष्ट्र संघीय अन्तर्राष्ट्रीय बाल संकट कोष' (United Nations International Children & Emergency Fund—U. N. I. C. E. F.) भारत में माताओं तथा बच्चों को दूध वितरित करने तथा प्रसूति-गृहों और बाल कल्याणकारी केन्द्रों की स्थापना के उद्देश्य से प्रारम्भ किया गया था। इसमें से ५० लाख डालर मलेरिया नियन्त्रण, दूध वितरण और दुर्भिक्ष निवारण में खर्च किया जा चुका है। इस धन का अधिकांश भाग भारतीय गाँव तथा श्रमिक बस्तियों में व्यय होता है।

उपसंहार—

उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भारत में श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि करने तथा उनके लिए कल्याण-कार्यों की व्यवस्था के बहुत कुछ प्रयत्न किये जा रहे हैं, किन्तु समस्या की गम्भीरता एवं गुरुता को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इस दिशा में अभी तक जो कुछ भी किया गया वह बहुत ही थोड़ा है। सच बात तो यह है कि विभिन्न श्रमिक संनियमों में दी गई कल्याण सुविधाओं का न्यूनतम भी भाग श्रमिकों को अधिकांश में नहीं मिल पाता, अतः सर्व प्रथम तो पूर्व-स्थित संनियमों को ही सच्चे अर्थ में कार्यान्वित करने की आवश्यकता है। दूसरे, श्रमिकों की समस्या को सुलझाने के लिए यह भी नितान्त आवश्यक है कि एक मानवीय दृष्टिकोण उत्पन्न किया जाय। तभी भारतीय श्रमिक विश्व के अन्य देशों के श्रमिकों के समान निपुण व बलिष्ट हो कर देश का आर्थिक निर्माण कर सकेंगे।

---

[१७]

सामाजिक सुरक्षा तथा बीमा

रूपरेखा—

१. *प्रारम्भिक*—सामाजिक सुरक्षा से तात्पर्य यह है कि सरकार अपने समस्त नागरिकों के लिए न्यूनतम् जीवन स्तर स्थापित करे, जिसमें जन्म से लेकर मृत्यु तक किसी मनुष्य के जीवन की सभी प्रमुख आवश्यकतायें सम्मिलित हों। सामाजिक बीमे की अपेक्षा सामाजिक सुरक्षा का क्षेत्र अधिक व्यापक है। सामाजिक बीमा तथा सामाजिक सहायता भी एक दूसरे के पर्यायवाची नहीं हैं। सामाजिक सहायता का सम्पूर्ण अर्थ-प्रबन्ध सरकार द्वारा किया जाता है।

२. *सामाजिक बीमे की विशेषतायें*—इसके अन्तर्गत एक सामूहिक आर्थिक कोष की स्थापना की जाती है, लाभों का चन्दे से कोई घनिष्ट सम्बन्ध नहीं होता, लाभों को निश्चित सीमा के भीतर रखा जाता है एवं सीमित व्यक्तियों को लाभ अधिकार के रूप में प्राप्त होते हैं।

३. *सामाजिक सुरक्षा की प्रगति*—इस विचारधारा का विकास सर्व प्रथम जर्मनी में सन् १८८१ में हुआ, तत्पश्चात् इङ्गलैण्ड, अमेरिका तथा रूस में भी औद्योगिक श्रमिकों के लिए सामाजिक सुरक्षा की योजनायें बनाई गई। बेवरिज योजना सामाजिक सुरक्षा की एक आदर्श योजना है।

४. *सामाजिक सुरक्षा का महत्त्व*—इस योजना में चन्दों के द्वारा श्रमिकों को योजना से सम्बन्धित करके उनको भौतिक तथा नैतिक दोनों ही दृष्टियों से उनका स्वास्थ्य, कुशलता एवं कार्य क्षमता को बनाये रखने के लिये प्रोत्साहित किया जाता है। भारतवासियों की दरिद्रता, उनमें बीमारी की अधिकता, वृत्ति-हीनता आदि के कारण इसकी विशेष आवश्यकता है।

५. *भारत में सामाजिक सुरक्षा का विकास*—भारत में स्वास्थ्य बीमे की आवश्यकता सर्व प्रथम सन् १९२७ में अनुभव की गई। तत्पश्चात् सन् १९३०-३१ में औद्योगिक श्रमिकों के लिए सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था पर श्रम के शाही कमीशन ने जोर दिया। सन् १९४२ के श्रम-सम्मेलन ने बीमारी बीमा योजना बनाने का निर्णय किया। प्रोफेसर अदारकर ने अपनी रिपोर्ट सन् १९४४ में प्रस्तुत की, जिसके आधार पर कर्मचारी राजकीय बीमा अधिनियम बनाया गया। वर्तमान समय में सामाजिक सुरक्षा के लिए निम्न आयोजन हैं:—(१) श्रमिक क्षति-पूर्ति अधिनियम, (२) कोल माइन्स प्रोवीडेन्ट फण्ड एण्ड

बोनस स्कीम, (३) मातृत्व लाभ अधिनियम, (४) प्रॉविडेन्ट फन्ड एक्ट सन् १९५२, (५) श्रमिक राज्य बीमा अधिनियम ।

६. *उपसंहार*—सामाजिक सुरक्षा की सम्पूर्ण योजना के अन्तर्गत स्वास्थ्य, प्रसूति, भृत्ति हीनता का बीमा, अगहीनता, वृद्धावस्था, उत्तराधिकारी, लाभ आदि सभी सम्मिलित होने चाहिये । श्रमिकों की ऐसी चोटों एवं घावों के लिये भी लाभों की व्यवस्था की जाय, जो उस समय लगते हैं, जबकि श्रमिक अपने मालिक के काम पर न लगा हो ।

प्रारम्भिक—

सामाजिक सुरक्षा वर्तमान युग की एक नवीन विचारधारा है । आज कोई भी देश अपनी उन्नति की किसी भी योजना में सामाजिक सुरक्षा का समावेश किए बिना नहीं रह सकता, क्योंकि इसके बिना बेकारी, बीमारी एवं रोग का उन्मूलन सम्भव नहीं है । वैसे तो सामाजिक सुरक्षा का आयोजन मूलतः औद्योगिक श्रमजीवियों के लिए किया जाता है, किन्तु अब सर्व मंगलकारी राज्य (Welfare State) का निर्माण करने के उद्देश्य से सामाजिक सुरक्षा में केवल श्रमजीवियों को ही नहीं, वरन् समाज के सभी वर्गों को सम्मिलित किया जाता है, जिससे सम्पूर्ण समाज को इससे लाभ हो सके ।

साधारण शब्दों में सामाजिक सुरक्षा से आशय ऐसी पक्षतियुक्त योजना से है, जिसके द्वारा आवश्यकता, बीमारी, अज्ञानता, फिजूलखर्ची और बेकारी इन पाँचों दानवों पर विजय मिले । श्री जी० डी० एच० कोल के विचारानुसार सामाजिक सुरक्षा से तात्पर्य यह है कि सरकार जो समाज का प्रतीक एवं प्रतिनिधि है, अपने समस्त नागरिकों के लिए एक न्यूनतम जीवन स्तर स्थापित करने के लिये उत्तरदायी है । यह स्तर इस आधार पर हो कि उसमें जन्म से ले कर मृत्यु तक किसी व्यक्ति के जीवन की सब मुख्य आवश्यकताएँ सम्मिलित हों । सामाजिक सुरक्षा की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि यह श्रमिक, सेवायोजक तथा राज्य की ओर से मिला कर ऐसी व्यवस्था का संगठन करना है, जिसका उद्देश्य यह होता है कि जिन लोगों का बीमा किया जाता है, उनको अनिवार्य आधार पर वृत्तिहीनता, बीमारी अथवा अन्य विशेष परिस्थितियों में विशेष सुविधायें तथा लाभ प्रदान किए जायें । सर विलियम बेवरिज के अनुसार यह एक ऐसी व्यवस्था है, जिसके अनुसार जीवन निर्वाह स्तर तक चन्दों के बदले में लाभ प्रदान किए जाते हैं । ऐसे लाभ अधिकार के रूप में बिना व्यक्ति की क्षमता की जाँच किये दिये जाते हैं ।

इस सम्बन्ध में यह लिखना अनावश्यक न होगा कि सामाजिक सुरक्षा का क्षेत्र सामाजिक बीमे की अपेक्षा अति विस्तृत है । सामाजिक बीमे का लाभ केवल उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त होता है जो चन्दा देते हैं । उदाहरण के लिए हमारे देश में केवल उन औद्योगिक श्रमिकों के लिए ही जो अपने वेतन का एक निश्चित भाग चन्दे के रूप में

देते हैं, सामाजिक बीमे की योजना लागू होती है। इसके विपरीत पूर्ण सामाजिक सुरक्षा के लिए सामाजिक बीमे के साथ साथ सामाजिक सहायता का होना भी आवश्यक है। वास्तव में आवश्यकता भी है 'गर्भ से मरण तक' सुरक्षा की। गर्भ में बच्चे को प्रसूति सम्बन्धी सुविधायें और घर से बाहर आने पर उसके पालन पोषण एवं भोजन की सुविधा होनी चाहिए। इसके बाद शिक्षण की सुविधा फिर रोजगार की इत्यादि। इसमे इस समय की सुरक्षा भी सम्मिलित होती है, जबकि मनुष्य काम पर न लगा हो अथवा वह बेकार या विस्थापित हो।

कुछ व्यक्ति सामाजिक बीमा तथा सामाजिक सहायता को एक दूसरे का पर्यायवाची समझते है, किन्तु वास्तव में दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। सामाजिक सहायता की योजना एक ऐसी योजना है, जिसके अनुसार राज्य द्वारा राजकीय कोष में से वैधानिक अधिकारों के अन्तर्गत निर्धारित शर्तों को पूरा करने वाले श्रमिकों को लाभ प्रदान किये जाते हैं। इस प्रकार सामाजिक सहायता, सामाजिक बीमे का प्रतिस्थापन नहीं करती वरन उसकी सहायक होती है। दूसरे, सामाजिक बीमे की वित्त व्यवस्था राज्य द्वारा केवल एक अंश तक हो की जाती है, परन्तु सामाजिक सहायता पूर्णतः सरकार द्वारा ही प्रदान की जाती है। तीसरे, सामाजिक बीमे का लाभ केवल चन्दा देने वाले व्यक्तियों तक ही सीमित रहती है, जबकि सामाजिक सहायता की व्यवस्था का चन्दे से कोई सम्बन्ध नहीं होता। चौथे, सामाजिक सहायता केवल उसी दशा में प्रदान की जाती है जबकि कुछ निर्धारित शर्तें पूरी हो जायें, परन्तु सामाजिक बीमे के अन्तर्गत किसी प्रकार की क्षमता सम्बन्धी जाँच नहीं की जाती। पाँचवे, सामाजिक बीमे में चन्दे और लाभ के मध्य किसी न किसी प्रकार का आनुपातिक सम्बन्ध प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य होता है, किन्तु सामाजिक सहायता में इसका प्रश्न ही नहीं उठता। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि सामाजिक बीमा सामान्यतः ऐसे श्रमिकों के लिये अधिक उपयुक्त होता है जो भली प्रकार संगठित हों तथा जिनके नियन्त्रण के हेतु समुचित श्रम संनियम हों, किन्तु इसके विपरीत यदि श्रम समुदाय अत्यन्त दरिद्र है, श्रम-जीवी इतने अशिक्षित हैं कि बीमे की जटिलता को नहीं समझ सकते एवं बिखरे हुये होने के कारण बीमे की एक समुचित योजना मे उनको सम्मिलित करना कठिन है, तो ऐसी परिस्थिति में सामाजिक सहायता ही अधिक उपयुक्त होगी।

सामाजिक बीमे की विशेषतायें—

सामाजिक बीमे की सर्व प्रमुख विशेषता यह है कि इसके अन्तर्गत सेवायोजकों, श्रमिकों तथा राज्य के सामूहिक चन्दे से एक कोष की व्यवस्था की जा सकती है। बीमित व्यक्तियों को इसी कोष में से समस्त लाभ दिये जाते हैं, चाहे वह नकद रुपयों के रूप में हो अथवा अन्य वस्तुओं के रूप मे। इस कोष मे श्रम-जीवियों का जो भाग होता है वह केवल नाम मात्र को ही होता है, अर्थात् उनसे लिये जाने वाले चन्दे की राशि बहुत थोड़ी होती है। कोष के अधिकाँश भाग की व्यवस्था सेवायोजकों तथा

सरकार द्वारा की जाती है। सामाजिक बीमे की दूसरी विशेषता यह है कि श्रम-जीवियों द्वारा प्राप्त होने वाले लाभों का उनके चन्दों से कोई घनिष्ट सम्बन्ध नहीं होता। तीसरे, इस योजना के अन्तर्गत लाभों को निश्चित सीमा के भीतर रखा जाता है, जिससे कि लाभ प्राप्त करने वाले के लिये ऐसे काल में, जबकि उसकी आय में पूर्णतः अथवा अंशतः कुछ हानि हो गई है, एक न्यूनतम स्तर को बनाये रखा जा सके। चौथी, विशेषता यह है कि जो भी लाभ श्रमिकों को प्रदान किये जाते हैं उनके सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की योग्यता एवं क्षमता सम्बन्धी जाँच नहीं की जाती। इसका सुपरिणाम यह होता है कि श्रम-जीवी स्वाभिमान का अनुभव करते हैं।

अन्य देशों में सामाजिक सुरक्षा की प्रगति—

सामाजिक सुरक्षा की विचारधारा का विकास सर्व प्रथम जर्मनी में सन् १८८१ में हुआ, जबकि इस विचार चक्र को विलियम प्रथम ने प्रारम्भ किया तथा प्रिंस ब्रोव बिस्मार्क ने प्रोत्साहन दिया। फलस्वरूप सन् १८८३ में बीमारी के बीमे का अधिनियम (Sickness Insurance Act) बना तथा क्रमशः श्रमजीवी क्षति पूर्ति वृद्धावस्था एवं अपङ्ग आरोप का आयोजन करने के लिए सन् १८८४, १८८६ और सन् १६२१ में अधिनियम बनाये गये। इसके उपरान्त इस विचारधारा का विकास अन्य उन्नत एवं औद्योगिक राष्ट्रों (जैसे—इंगलैण्ड, अमेरिका, रूस आदि) में भी हुआ। वहाँ औद्योगिक श्रमिक के लिये सुविधाओं का पर्याप्त आयोजन है, विशेषकर इंगलैण्ड में तो बेवरिज योजना के अन्तर्गत मनुष्य के जन्म से मृत्यु तक उसकी सुरक्षा का भार सरकार ने स्वयं अपने कन्धों पर ले लिया है। बेवरिज योजना सामाजिक सुरक्षा की एक पूर्ण तथा आदर्श योजना है। इससे सम्पूर्ण जनता के लिए प्रसूति सुविधाओं से लेकर शव-संस्कार की सहायता तक का आयोजन किया गया है। यह समाज के प्रत्येक मनुष्य, स्त्री और बच्चे के लिए आमदनी की सुरक्षा के हेतु एक योजना है और जीवन की सभी घटनाओं—जन्म, बचपन, शादी, बुढ़ापा, मृत्यु, बेकारी, दुर्घटना, बीमारी आदि से सम्बन्धित है। इस योजना के अनुसार प्रत्येक मनुष्य देता है और प्रत्येक मनुष्य प्राप्त भी करता है।

सामाजिक सुरक्षा का महत्व—

सामाजिक सुरक्षा की योजना समुचित समाज के लिये बड़ी कल्याणकारी सिद्ध हुई है। इसके कुछ लाभ तो ऐसे हैं जो अन्य किसी भी माध्यम द्वारा प्राप्त नहीं किये जा सकते। इसके अन्तर्गत चन्दों के द्वारा श्रम-जीवियों को योजना में सम्बन्धित करके उन्हें भौतिक तथा नैतिक दोनों ही दृष्टियों से उनके स्वास्थ्य, कार्य कुशलता और कार्यक्षमता को बनाये रखने के लिये प्रोत्साहित किया जाता है। सामाजिक सुरक्षा की योजना का प्रमुख उद्देश्य यह होता है कि कुछ सीमाओं के भीतर वह श्रमिकों की खोई हुई कार्यक्षमता को पुनः क्योंकर प्राप्त करें। इस योजना के अन्तर्गत श्रमिकों को जो भी लाभ प्रदान किये जाते हैं, वे उन्हें अधिकार रूप में दिये जाते हैं, अतः उनका स्वाभिमान बना रहता है, अतः स्पष्ट है कि ऐसी योजना की व्यवस्था करने से देश की

आर्थिक तथा सामाजिक सम्पन्नता एवं शान्ति को दृढ़ रखा जा सकता है। भारत में सामाजिक सुरक्षा की महिमा के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा जाय कम ही होगा। भारतीय श्रमिकों की दशा अत्यन्त शोचनीय है। औद्योगीकरण के सभी खतरों का उन्हें सामना करना पड़ा रहा है, जैसे—बीमारी, बेकारी आदि। हमारे श्रमजीवियों में सगठन की भी बहुत कमी है, वे अशिक्षित, अज्ञानी एवं दरिद्र हैं। अपने पैरों पर खड़ा होना उन्हें नहीं आता। इस दृष्टि से अन्य उद्योगशील देशों की अपेक्षा भारतीय श्रमिकों की दशा अधिक खराब है, अतएव समाजिक सुरक्षा का आयोजन अनिवार्य हो जाता है।

भारत में सामाजिक सुरक्षा का विकास—

भारत में स्वास्थ्य बीमे की आवश्यकता सर्व प्रथम सन् १९२७ में अनुभव की गई, जबकि लगभग २ वर्ष पूर्व सन् १९२५ में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय में औद्योगिक श्रमिकों की सामाजिक सुरक्षा के सम्बन्ध में प्रस्ताव स्वीकृत किया गया था, किन्तु फिर भी कोई वास्तविक कार्यवाही उस समय नहीं की गई। तत्पश्चात् सन् १९३०-३१ में औद्योगिक श्रमिकों के लिए सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था पर रॉयल कमीशन ऑफ लेबर ने जोर दिया एवं स्वास्थ्य बीमे पर एक योजना की रूप रेखा भी तैयार की। दुर्भाग्यवश उस समय वह योजना ताक में रख दी गई। सन् १९४० में अनिवार्य चन्दे द्वारा बीमारी आरोप की योजना बनाने का निश्चय किया गया। तृतीय श्रम मंत्री सम्मेलन ने इस योजना के सम्बन्ध में यह निश्चय किया कि वस्त्र व्यवसाय तथा इन्जीनियरिंग उद्योग के श्रमिकों को बीमारी सम्बन्धी बीमे की सुविधायें दी जायें। इस निर्णय को कार्यान्वित करने के लिए बी० पी० अदारकर की नियुक्ति की गई। प्रोफेसर अदारकर ने अपनी रिपोर्ट सन् १९४४ में प्रस्तुत की, जिसके आधार पर 'कर्मचारी राजकीय बीमा अधिनियम' बनाया गया, जो सचमुच सामाजिक सुरक्षा प्राप्त करने के लिए एक ठोस कदम है।

सामाजिक सुरक्षा के लिए वर्तमान समय में निम्नलिखित आयोजन हैं—

(१) श्रमिक क्षति पूर्ति अधिनियम।
(२) कोल माइन्स प्रॉवीडेन्ट फन्ड एण्ड बोनस स्कीम एक्ट।
(३) मातृत्व लाभ अधिनियम।
(४) प्रॉवीडेन्ट फण्ड एक्ट सन् १९५२।
(५) श्रमिक राज्य बीमा अधिनियम।

श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम सन् १९२३ जम्मू व काश्मीर राज्य को छोड़ कर सारे भारत में लागू होता है। जिन कर्मचारियों का वेतन ४००) मासिक से अधिक है अथवा जो कच्चे हैं, उन पर यह अधिनियम लागू नहीं होता। वास्तव में रेल, कारखाने, खानें, नाविक व समुद्र पर काम करने वाले कुछ अन्य श्रमिकों, डाक व तार, नहर, चाय, रबड़, कहवा तथा सिनकोना के उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों, विद्युत स्टेशनों, गोदामों, वेतन पाने वाले, मोटर ड्राइवरों आदि तथा ऐसे

सभी कारखाने, जहाँ १० या इससे अधिक श्रमिक काम करते हैं तथा शक्ति का भी प्रयोग होता है एवं ऐसे कारखानों में जहाँ शक्ति का प्रयोग तो नहीं होता, किन्तु २० या अधिक श्रमिक काम करते हैं, यह अधिनियम लागू होता है। राज्य सरकारें इसे किसी भी क्षेत्र के श्रमिकों पर, यदि वे इनके काम को खतरनाक समझती हैं, लागू कर सकती हैं। मद्रास एवं उत्तर-प्रदेश सरकारों ने इसे मशीन से चलने वाली गाड़ियों माल लादने तथा उतारने वाले श्रमिकों और विद्युत प्रयोग करने वाले सभी कारखानों पर लागू कर दिया है। जो श्रमिक राज्य बीमा अधिनियम या श्रमिकों के राज्य बीमा कारपोरेशन की ओर से मुआविजा पाने का अधिकारी है वह इस अधिनियम का लाभ नहीं उठा सकेगा।

यदि श्रमिकों को काम करते समय किसी दुर्घटना से कोई चोट लगे तो मालिक द्वारा हर्जाना दिया जायगा। यदि चोट ७ दिन पहले ठीक होने वाली हो या जिसमें श्रमिक का दोष हो और मृत्यु न हो तो मालिक कोई हर्जाना देने के लिए बाध्य नहीं। अधिनियम की सूची नं० ३ में दिया हुआ कोई व्यावसायिक रोग हो जाने पर भी हर्जाना दिलाया जायगा। हर्जाने के मात्रा चोट के प्रकार एवं श्रमिक की मासिक मजदूरी पर निर्भर होती है।

यह अधिनियम बड़े संतोष की वस्तु है। आवश्यकता इस बात की है कि उसे अधिक से अधिक श्रमिकों पर लागू किया जाय और हर्जाने की रकम नियमित रूप से दिलाई जाय। इस अधिनियम के आधार पर श्रमिकों के हर्जाना संनियम कुछ राज्यों में भी पास किये गये हैं।

कोल माइन्स प्राविडेन्ट फण्ड एवं बोनस स्कीम एक्ट सन् १९४८ भारत सरकार द्वारा बनाया गया है और इसका सम्बन्ध कोयले की खानों में काम करने वाले श्रमिकों से है।

भारत में एक बड़ी संख्या में स्त्रियाँ मजदूरी करती हैं। प्रसव काल से पहले और बाद में विश्राम एवं पौष्टिक भोजन न मिलने के कारण उनकी बड़ी संख्या में मृत्यु होती है। बच्चों की संख्या का कारण भी यही है। मातृत्व लाभ की समस्या मानवता एवं सामाजिक पहलू से ही नहीं, अपितु आर्थिक पहलू से भी महत्वपूर्ण है। इतने पर भी भारत में अभी कोई ऐसा अधिनियम अखिल भारतीय स्तर पर नहीं बनाया गया है जो मातृत्व लाभ की सुविधायें प्रदान करता हो। भारत में अभी तक जो प्रयत्न हुये हैं वे व्यक्तिगत राज्यों में ही हुए। सर्व प्रथम बम्बई मातृत्व लाभ अधिनियम पास हुआ। इसके बाद रायल श्रम कमीशन के सुझावों पर अन्य प्रान्तों ने भी, जैसे—मद्रास (सन् १९३४), उत्तर-प्रदेश (सन् १९३८), बङ्गाल (सन् १९३९), पंजाब (सन् १९४३), आसाम (सन् १९४४), बिहार (सन् १९४५) ने भी इन अधिनियमों को बनाया। केन्द्रीय सरकार ने सन् १९४१ में खानों में काम करने वाली स्त्रियों के लिये मातृत्व लाभ अधिनियम बनाया। उड़ीसा, मध्य-भारत, ट्रावनकोर-कोचीन तथा बिहार में भी इसी आशय के अधिनियम प्रगति पर हैं।

मातृत्व लाभ अधिनियमों के अन्तर्गत स्त्रियों को प्रसव के पहले और बाद में लाभ दिया जाने लगा है। लाभ की दर और समय की अवधि भिन्न भिन्न प्रान्तों में अलग अलग है। उदाहरण के लिए, आसाम मे १५० दिन काम करने पर, बिहार और उत्तर-प्रदेश में ६ महीने काम करने पर, बम्बई, बंगाल, पंजाब और मध्य प्रदेश में ६ महीने काम करने पर तथा मद्रास में २४० दिन काम करने पर ही कोई स्त्री लाभ प्राप्त कर सकती है। लाभ की दर भी भिन्न भिन्न है। आसाम के चाय उद्योगों में प्रसव के पहले १) रु० तथा बाद में १।) प्रति सप्ताह है, जिसकी कुल धन राशि १४) से अधिक नहीं होनी चाहिए। बंगाल, मद्रास, बिहार तथा उत्तर प्रदेश में न्यूनतम ॥) प्रति दिन है। पंजाब में १२ आना प्रति दिन या अनुपातिक दैनिक आय रक्खी गई है। रुपये तथा विश्राम के अलावा बोनस और डाक्टरी सहायता के रूप में अन्य लाभ भी स्त्री श्रमिकों को दिये जाते हैं। काम करते समय शिशुओं को रखने के लिये कुशल दाइयों तथा शिशु गृहों की भी व्यवस्था है। उत्तर प्रदेश का अधिनियम स्त्रियों के गर्भपात होने पर ३ सप्ताह सवैतनिक छुट्टी की आज्ञा देता है।

इन अधिनियमों का पालन कराने के लिये निरीक्षकों की नियुक्ति की गई है। मालिकों को प्रति वर्ष इन लाभों की रिपोर्ट सरकार को भेजनी पड़ती है। फिर भी यह कहना पड़ेगा कि इन अधिनियमों मे कुछ दोष है। मालिकों पर ही लाभ देने का उत्तरदायित्व होने से वे लोग इसमें अनियमितता करते हैं। लाभ का रूप रुपये में होने से स्त्रियाँ दूध, औषधि आदि से वंचित रह जाती हैं। गर्भवती होने का समाचार मिलने पर मालिक स्त्री को अलग कर देते हे या कुमारियों को ही नौकरी पर रखते हैं। बहुत सी स्त्रियों के नाम ही रजिस्टर में नहीं लिखते। इन दोषों को दूर करना स्वतन्त्र भारत की चहुँमुखी उन्नति के लिए बहुत आवश्यक है।

प्रॉवीडेन्ट फन्ड एक्ट सन् १९५२—

प्रॉवीडेन्ट फन्ड एक्ट ४ मार्च सन् १९५२ को पास किया गया। यह एक्ट जम्मू व काश्मीर को छोड़कर भारत के उन सभी कारखानों पर लागू होता है, जिनमें ५० या अधिक श्रमिक हों और जहाँ सीमेंट, सिगरेट, विद्युत, मशीन तथा सामान्य इन्जीनियरी के कार्य, लौह व इस्पात, कागज तथा बुनाई उद्योगों का सचालन होता है। सरकारी कारखानों पर तथा नये उद्योगों पर यह अधिनियम लागू नहीं होता। इस अधिनियम का क्षेत्र बढ़ाया जा सकता है।

इसके अन्तर्गत श्रमिक और मालिक दोनो को अनिवार्य चन्दा देना पड़ता है। श्रमिक और मालिक दोनों को मजदूरी का अलग अलग ६¼% देना पडता है। श्रमिक चाहें तो ८⅓% तक अधिक दे सकता है। जाँच के लिए निरीक्षकों की व्यवस्था की गई है।

१ साल नौकरी करने के उपरान्त ही प्रॉवीडेन्ट फन्ड कटना प्रारम्भ होता है। जिन श्रमिकों की आधारभूत मजदूरी ३००) मासिक से अधिक नहीं है उनको ही यह लाभ दिया जा सकता है। अपना और श्रमिक दोनों का चन्दा मालिक ही जमा करता

है। ५ वर्ष की नौकरी के बाद श्रमिक को मालिक द्वारा जमा किये भाग का आधा तथा २० वर्ष बाद पूरा भाग लेने का अधिकार है। यह योजना समिति के ट्रस्टी तथा राज्यों में क्षेत्रीय समितियों द्वारा लागू की जा रही है।

श्रमिकों का राज्य बीमा अधिनियम—

श्रमिकों का राज्य बीमा अधिनियम भारत के सभी राज्यों पर लागू होता है। यह अधिनियम ऐसे स्थायी कारखानों के उन श्रमिकों एवं क्लर्कों पर लागू होता है, जिनकी मासिक आय ४००) तक है और जो फैक्टरी एक्ट के अन्तर्गत आते हैं। इससे लगभग २० लाख औद्योगिक श्रमिकों को लाभ पहुँच रहा है। इसमें राज्य-सरकारों को यह अधिकार है कि वे चाहें तो इसे अपने राज्य में औद्योगिक, व्यापारिक कृषि एवं अन्य संस्थाओं पर भी लागू कर सकती हैं। हाँ, इसके लिए उन्हें पहले केन्द्रीय सरकार की मान्यता लेना अनिवार्य होगा। इस अधिनियम के अनुसार ही दिल्ली में कर्मचारी राज्य बीमा प्रमण्डल (Employee's State Insurance Corporation) की स्थापना सन् १९४८ में की गई।

यह प्रमण्डल एक शासकीय प्रमण्डल है, जिसमें केन्द्रीय एवं राज्य सरकार, नियोक्ता और श्रमिकों के प्रतिनिधि भी होंगे। इसी प्रकार इसमें केन्द्रीय संसद एवं डाक्टरी पेशे के प्रतिनिधि होंगे। प्रमण्डल का शासन प्रबन्ध एक स्थाई समिति (Standing Committee) के हाथ में है। इसमें भी मालिकों और श्रमिकों के बराबर-बराबर प्रतिनिधि हैं। औषधोपचार सम्बन्धी सुविधाओं के मामले में सलाह देने के लिये भी एक डाक्टरी परिषद् (Medical Benifit Council) बनाई गई है। बड़े अधिकारी वर्ग की नियुक्ति, हिसाब एवं उनकी जाँच आदि का अधिकार केन्द्रीय सरकार को प्राप्त है। प्रमण्डल की अर्थ व्यवस्था के हेतु 'कर्मचारी राज्य बीमा फण्ड' खोला गया है, जो मालिकों और श्रमिकों के चन्दे से बनेगा तथा इसमें केन्द्रीय एवं राज्य सरकारें भी सहायता के रूप में कुछ धन राशि देंगी। श्रमिकों एवं मालिकों के चन्दे की दरें उनकी आय के अनुसार निश्चित की गई हैं। इस हेतु श्रमिकों को उनकी आय के अनुसार ८ श्रेणियों में बाँटा गया है।

— सामाजिक बीमा की इस योजना के अन्तर्गत आरोपित व्यक्तियों को पाँच प्रकार की सुविधायें दी जायेंगीः—

(१) *औषधोपचार सम्बन्धी सुविधायें*—इस कार्य के लिये उन स्थानों में, जहाँ भी यह योजना लागू होगी, अथवा प्रमण्डल द्वारा औषधालयों का आयोजन होगा तथा कुछ चलते-फिरते औषधालय रखे जायेंगे, जो आरोपित व्यक्तियों के घर जाकर उनकी स्वास्थ्य सम्बन्धी देख-भाल करेंगे।

(२) *मातृत्व सम्बन्धी लाभ*—ये सुविधायें स्त्री-श्रमिकों को प्रसूत सम्बन्धी बीमारी में दी जायेंगी। ऐसी दशा में स्त्री श्रमिकों को १२ आना प्रति दिन की दर से अथवा औषधोपचार सम्बन्धी सुविधाओं की दर से (जो भी दर ऊँची हो) १२ सप्ताह तक प्रसूति लाभ मिलता रहेगा तथा गर्भावस्था में औषधोपचार सुविधायें दी जायेंगी।

(३) *आरोग्यता लाभ*—कारखाने म काम करते समय होने वाली दुर्घटना की वजह से अथवा उस कारखाने से सम्बन्धित किसी रोग का शिकार हो जाने से यदि कोई श्रमिक काम करने के अयोग्य हो जाता है, तो उसे अंशोप प्रमण्डल द्वारा श्रम जीवी क्षतिपूर्ति संनियम के अनुसार सुविधायें प्रदान की जायेंगी।

(४) *श्रमिकों पर आश्रित व्यक्तियों के लिये लाभ*—यदि किसी कारखाने के आशोपित व्यक्ति की कारखाने में होने वाली किसी दुर्घटना से मृत्यु हो जाती है, तो ऐसी दशा में उसके आश्रितों को (अर्थात् उसकी विधवा एवं बच्चों को) वार्षिक वृत्ति (Annuity) के रूप में कुछ राशि दी जावेगी।

(५) *बीमारी सम्बन्धी लाभ*—इसके अनुसार जिस श्रमिक का बीमा है, उसे डाक्टरी प्रमाण पत्र के आधार पर समय के अनुसार नगद रुपया मिलता है। प्रथम दो दिनों तक कुछ नहीं मिलता और उसके बाद यदि १५ दिन तक रोग चलता रहे, तो आर्थिक सहायता मिलनी प्रारम्भ हो जाती है। ३६५ दिन के निरन्तर काल में अधिक से अधिक ५६ दिन तक यह लाभ मिल सकता है। इस लाभ की दर श्रमिक के दैनिक वेतन का $\frac{1}{2}$ होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह अधिनियम बड़ा विस्तृत है। ३१ दिसम्बर सन् १९५२ को कानपुर तथा दिल्ली में इस योजना से लाभान्वित होने वाले श्रमिकों की संख्या क्रमश १,०१,७२२ और ५३,७२७ थी। कानपुर की जन संख्या के आधार पर श्रमिकों के लिये १३ डिस्पेन्सरियाँ इस प्रकार स्थापित की गई है कि प्रत्येक श्रमिक को कोई न कोई डिस्पेन्सरी पास पड़े। इनके अतिरिक्त कानपुर के निकटवर्ती क्षेत्रों के लिये दो चलते फिरते अस्पताल भी हैं, जहाँ पर कुशल चिकित्सक कार्य करते हैं। ११ जुलाई सन् १९५४ से नागपुर मे भी योजना कार्यान्वित की गई है। इससे नागपुर में लगभग २५,००० श्रमिक लाभान्वित होंगे। ६ अक्टूबर सन् १९५४ को भारत के प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने श्रमिक राज्य बीमा योजना का उद्घाटन बम्बई में किया। इससे ४$\frac{1}{2}$ लाख औद्योगिक श्रमिक लाभ उठायेंगे। इसी प्रकार मध्य भारत में इन्दौर, ग्वालियर तथा रतलाम नगरों मे भी औद्योगिक श्रमिकों के लिये स्वास्थ्य बीमा योजना १४ अक्टूबर सन् १९५४ से लागू की गई है। उत्तर प्रदेश में आगरा, लखनऊ तथा सहारनपुर नगरों में भी राज्य बीमा योजना जनवरी सन् १९५६ से लागू कर दी गई। भारत सरकार इस बात के लिये प्रयत्नशील है कि यह योजना शेष भारत पर भी लागू कर दी जाये। योजना को श्रमिकों के परिवार के अन्य सदस्यों पर भी लागू करने की बात भारत सरकार के विचाराधीन है। वास्तव में यह योजना एशिया भर म अपने प्रकार की प्रथम है और देश में पूर्ण सामाजिक सुरक्षा प्राप्त करने की दिशा में एक शुभ प्रयत्न है। इसके मार्ग में कठिनाइयाँ हैं, लेकिन उनको श्रमिकों व मालिकों के सहयोग से हल किया जा सकता है।

यद्यपि कर्मचारी राजकीय बीमा अधिनियम सन् १९५० से लागू कर दिया गया है, किन्तु उसके कार्यवाहन का क्षेत्र अभी बहुत कुछ सीमित रखा गया है। इसके

अन्तर्गत सभी श्रमिकों को सम्मिलित नहीं किया गया है। योजना के अन्तर्गत प्रति व्यक्ति व्यय भी बहुत कम रखा गया है। यद्यपि यह अधिनियम भारतीय संविधान के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है, किन्तु इससे सामाजिक सुरक्षा की सम्पूर्ण आवश्यकताएँ सन्तुष्ट नहीं होती। आवश्यकता इस बात की है कि समाज के सभी सदस्यों के लिए सुरक्षा की व्यवस्था की जाय। समाज के मुट्ठी भर श्रमिकों को लाभ प्रदान करके हम सर्व मङ्गलकारी राज्य की कल्पना नहीं कर सकते। हमारे अधिनियम में एक यह भी दोष है कि बीमारी की दशा में केवल एक निश्चित अवधि के लिए ही नगद लाभ दिया जाता है, बीमारी के बाद उसे कोई भी लाभ नहीं मिलता। सम्भव है कि निश्चित अवधि के बाद भी श्रमिक की बीमारी बनी रहे। इसके अतिरिक्त बीमारी के काल में खोई हुई शक्ति को प्राप्त करने के लिए वास्तव में बीमारी के बाद ही विशेष सुविधाओं की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त अस्पताली इलाज की सुविधाएँ भी अत्यन्त अपर्याप्त, शोचनीय तथा दोषपूर्ण हैं। राज्यों द्वारा जो अस्पताल चलाये जा रहे हैं, उनमें स्थान तथा उचित सामग्री का बड़ा अभाव है। जनता की आवश्यकतायें समुचित रूप से पूरी नहीं होती। इस सम्बन्ध में विशेष जाँच पड़ताल की आवश्यकता है। अच्छा हो यदि योजना के अन्तर्गत श्रमिकों के लिए अलग अस्पताल खोल दिये जावें।

अन्य अग्रगामी राष्ट्रों की योजनाओं की भाँति यह योजना सर्वाङ्गपूर्ण नहीं है। इसकी परिधि में ऐसे अनेक श्रम हितकारी कार्य सम्मिलित नहीं किये गये, जो जीवन को सुलभ, सुखद एवं सम्पूर्ण बनाने के लिए आज के समुन्नत एवं सभ्य वातावरण में आवश्यक समझे जाते हैं। योजना में प्रारम्भिक शिक्षा तथा जीवन निर्वाह की न्यूनतम आवश्यक पूर्ति के कोई साधन सम्मिलित नहीं। जर्मनी ने १९ वीं शताब्दी के अन्त से ही ६ से १४ वर्ष तक की आयु के मजदूर बालक व बालिकाओं के लिए प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य कर दी थी। बेकारी एवं वृद्धावस्था में सबको बीमा वहाँ की वर्तमान सामाजिक बीमा पद्धति के महत्वपूर्ण अंग हैं। हमारी उक्त योजना में इनके लिए कोई स्थान नहीं रखा गया।

इसकी दूसरी कमी यह है कि यह योजना श्रमिक वर्ग के उत्थान एवं आर्थिक सुधार के सामान्य उद्देश्य को लेकर नहीं चलती। न तो इसमें श्रमिक वर्ग के जीवन स्तर को ऊँचा उठने का कार्यक्रम है और न इनकी मकानों की गम्भीर समस्या को सुलझाने की ही कोई बात।

कृषि मजदूरों की समस्या को जो कि देश की प्रमुख समस्या है, इस योजना में कोई स्थान नहीं मिला। इतने बड़े देश के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने वाले लगभग ६० लाख श्रम जीवियों में से इस योजना के पूर्ण होने पर भी केवल २४ लाख व्यक्ति प्रभावित हो सकेंगे, जबकि ब्रिटेन जैसे छोटे देश में सन् १९२७ में वहाँ के ४ करोड़ श्रमजीवियों में से २ करोड़ बीमा करा चुके थे। इस कानून की प्रगति अति मन्द गति

से हो रही है । तीन वर्ष में केवल ६ लाख श्रम जीवी इसकी परिधि में आ चुके हैं। इस गति से इसे पूर्ण होने में अभी कम से कम दस वर्ष और लग जायेंगे।

उपसंहार—

सामाजिक सुरक्षा की योजना के अन्तर्गत स्वास्थ्य बीमा, प्रसूति बीमा, भृति काल की चोटों और घावों का बीमा, काम करने योग्य न रहने का बीमा, भृतिहीनता, वृद्धावस्था तथा उत्तर-वेतन बीमा तथा उत्तराधिकारी बीमा सम्मिलित होते हैं। कर्मचारी राजकीय बीमा योजना में इनमें से प्रथम चार शाखाओं को ही कार्यान्वित किया गया है और शेष के सम्बन्ध में अभी तक कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाया गया। दिसम्बर सन् १६५३ में श्रम मन्त्री ने बताया था कि सामाजिक सुरक्षा के सम्बन्ध में कर्मचारियों की राजकीय बीमा योजना ने कुछ उन्नति अवश्य की है, किन्तु अभी बहुत कुछ करना बाकी है। हमारा अगला कदम यह होना चाहिए कि ऐसी चोटों और घावों के लिए भी लाभों की व्यवस्था की जाये जो उस समय लगें जबकि श्रमिक अपने सेवायोजक का काम न करता हो। इसी प्रकार भृतिहीनता बीमे की व्यवस्था करना भी नितान्त आवश्यक है। रोजगार के दफ्तरों की स्थापना ने देश में भृति बीमे के लिए उपयुक्त दशाएँ उत्पन्न कर दी हैं, किन्तु भृत्ति बीमा योजना सुसगठित व्यापक तथा विस्तृत होनी चाहिए। भृतिहीनता लाभ के पश्चात् अयोग्यता, उत्तर वेतन तथा उत्तराधिकारी उत्तर वेतनों के बीमे की व्यवस्था की जा सकती है और अन्त में वृद्धावस्था उत्तर वेतनों का भी आयोजन किया जा सकता है।

द्वितीय : पुष्प

व्यापार, प्रशुल्क एवं यातायात
(TRADE, TARIFF & TRANSPORT)

''आज आवश्यकता है राष्ट्र के आर्थिक कलेवर को सुधारने की। सुधार एवं आर्थिक पुनर्निर्माण का कार्य अन्य राष्ट्रों के सहयोग के बिना असम्भव है और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध को निभाने का सर्वश्रेष्ठ मार्ग व्यापार ही है, अतएव व्यापार तथा इसके अन्य सहयोगी विषयों (जैसे—यातायात एवं सन्देशवाहन के साधन, आशुल्किक स्वतन्त्रता आदि) का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक तथा राष्ट्र के हित में है।



[१८]

भारत का विदेशी व्यापार

रूपरेखा—

१. प्रारम्भिक—प्राचीन युग मे हमारा व्यापारिक सम्बन्ध प्रायः प्रत्येक सभ्य
देश से था। मुगल काल में नए व्यापारिक मार्ग खुले। अंग्रेजी शासन काल मे
हमारे विदेशी व्यापार का स्वरूप बदला। हमारा देश कच्चे माल का निर्यात
करने लगा। स्वेज नहर के निर्माण से योरोपीय व्यापार में वृद्धि हुई।

२. प्रथम महायुद्ध तथा उसके उपरान्त—युद्धकाल मे पूर्व व्यापार उन्नति पर
था, किन्तु युद्ध युग में आयात तथा निर्यात दोनों मे कमी हुई। युद्ध के बाद
सन् १९२९ तक निरन्तर प्रगति होती रही। फिर विश्व-व्यापी मन्दी के कारण
मूल्य स्तर गिर गए, व्यापार चौपट हो गया। सन् १९३२ में स्थिति कुछ
सुधरी। सन् १९३५ में पुनः मन्दी आई। फिर सन् १९३९ से दूसरी लड़ाई
की तैयारी शुरू हो गई।

३. द्वितीय महायुद्ध युग का व्यापार—युद्ध आरम्भ होते ही विदेशी व्यापार की
स्थिति बदल गई। विदेशी व्यापार का भारी विस्तार हुआ। आयात एवं
निर्यात पर राजकीय नियन्त्रण था। व्यापार का सन्तुलन अनुकूल रहा।
फलतः हमारे स्टर्लिङ्ग पावना जमा कर लिया।

४. युद्धोत्तर काल का व्यापार—निर्यात की स्थिति में विशेष परिवर्तन न हुआ।
आयातों मे विशेष वृद्धि हुई। सन् १९४७ के बाद आयात की कड़ी नीति
अपनाई गई। भारत सरकार की आयात एवं निर्यात नीति। रुपये के अवमूल्यन
से निर्यात व्यापार में वृद्धि हुई। सन् १९५१ से अवमूल्यन तथा अन्य सरकारी
उपायों के लाभ समाप्त होने लगे। व्यापार का सन्तुलन प्रतिकूल होने लगा।

५. विदेशी व्यापार की वर्तमान स्थिति—सन् १९५५-५६ में भारत ने ६७१
करोड़ रुपया का माल आयात किया। यह वृद्धि सभी प्रकार की मशीनों के
अधिक आयात के कारण हुई। कुल निर्यात का मूल्य २६१ करोड़ रुपया है।
अब हम विविध प्रकार की वस्तुओं का निर्यात करने लगे हैं। डालर क्षेत्र के
साथ भारत का व्यापार सन्तुलन १२ करोड़ रु० से अनुकूल रहा, किन्तु
सुलभ मुद्रा क्षेत्र मे व्यापार सन्तुलन १४ करोड़ रु० से प्रतिकूल रहा। भारत
द्वारा आयातित प्रमुख वस्तुयें। निर्यातित प्रमुख वस्तुयें व्यापार की दिशा।

६ निष्कर्ष—वर्तमान आवश्यकता है विदेशी व्यापार में विस्तार करने की
व्यापारिक समझौते किए जा रहे हैं। भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता है।

प्रारम्भिक—

इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीन काल में हमारा व्यापारिक सम्बन्ध प्रायः प्रत्येक सभ्य देश से था। विदेशी व्यापार मुख्यतः मूल्यवान वस्तुओं (जैसे, महीन कपड़ा, मूल्यवान धातु, हाथी दाँत का सामान, रंग, इत्र, मसाले आदि) में ही होता था। भारत विदेशों को जितने मूल्य का माल भेजता था, उससे कम मूल्य का माल वह मँगाता था और इस प्रकार जो अन्तर रह जाता था वह सोना और चाँदी मँगाकर पूरा किया जाता था।

मुग़ल शासन काल में हमारा व्यापार उन्नति के शिखर पर था। इस काल में व्यापार के नए थल मार्गों का निर्माण हुआ और काबुल, मध्य एशिया तथा ईरान के साथ थल मार्ग द्वारा व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये गये। श्री मोरलेण्ड ने एक स्थान पर लिखा है कि पूर्व में मैक्सिको (अमेरिका) तक और पश्चिम में इङ्गलिस्तान तक भारत का बना माल भारतीय जहाजों में लाद कर भेजा जाता था। बारबोसा लिखता है कि सत्रहवीं सदी के प्रारम्भ में गुजरात के बने हुए कपड़े अफ्रीका और पेगू तक जाते थे। बारथेमा लिखता है कि भारत उन दिनों गुजरात, समस्त ईरान, तातार, टर्की, श्याम, बारबरी, अरब, इथियोपिया तथा अन्य कई देशों को अपने यहाँ के बने हुए रेशमी व सूती कपड़ों को भेजा करता था। उस समय के भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विषय में प्रसिद्ध अंग्रेज इतिहासकार डा० राबर्टसन लिखता है—"हर युग में सोना और चाँदी दूसरे देशों से हिन्दुस्तान भेजी जाती थी। पृथ्वी का ऐसा कोई भाग न था जहाँ के लोग अपने जीवन की आवश्यकताओं या आराम की वस्तुओं के लिए दूसरे देशों पर इतने कम निर्भर हों। हजरत ईसा के जन्म के समय से उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक भारत के साथ अन्य देशों का व्यापार बराबर इसी ढंगों का बना रहा। करेरी ने लिखा है कि 'सारे संसार का सोना चाँदी घूम फिर कर अन्त में भारत में ही पहुँचता है।"

मुग़ल शासन काल के अन्तिम दिनों में भारत तथा अन्य पूर्वी देशों के साथ व्यापार करने का एकाधिकार ईस्ट इण्डिया कम्पनी को प्राप्त हो गया था। ब्रिटिश शक्ति के विकास के साथ-साथ आरम्भ में तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन देने का प्रयत्न किया, जिससे कि उनकी उपज को योरप के देशों में बेच कर, जहाँ इसकी काफी माँग थी, लाभ उठाया जाय, किन्तु धीरे-धीरे जैसे जैसे १८ वीं शताब्दी का अन्त होने लगा, ब्रिटिश शासकों की नीति में परिवर्तन होता गया। अत्याचार करके तथा अनेक कूटनीतियों द्वारा भारतीय उद्योगों को नष्ट किया गया। इन अत्याचारों के विषय में ही सुप्रसिद्ध अंग्रेज तत्ववेत्ता हरबर्ट स्पेन्सर ने लिखा है—"कल्पना कीजिए कि उन लोगों के कारनामे कितने काले रहे होंगे जबकि कम्पनी के डाइरेक्टरों तक ने इस बात को स्वीकार किया कि भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में जो अटूट धन कमाया गया, वह सब इस तरह के घोर अन्यायों और अत्याचारों द्वारा प्राप्त किया गया है कि उनसे बढ़कर अत्याचार और अन्य कभी किसी देश या किसी

युग में सुनने मे भी न आये होंगे।" सन् १८१३ मे तो यह बिलकुल निश्चित ही कर लिया गया था कि भारत के उद्योग धन्धों को नष्ट कर दिया जाय और इंगलैण्ड के व्यापार को बढाने के लिए वहाँ का माल भारतवासियों के सिर बलात् मढ दिया जाय।

सन् १८६६ में स्वेज नहर के निर्माण से भारत के विदेशी व्यापार मे एक नवीन युग का प्रारम्भ हुआ। भारत तथा यूरोप के मध्य का फासला लगभग ५,००० मील कम हो गया, जिसके परिणामस्वरूप माल के आवागमन में कम समय लगने लगा। इस नहर के निर्माण के पूर्व भारत को आने वाले अंग्रेजी जहाजों को केप आफ गुड होप होकर आना पडता था, किन्तु इसके निर्माण के पश्चात् समय तथा फासले की कमी के कारण योरोपिया में निकट सम्बन्ध स्थापित हो गये।

प्रथम महायुद्ध तथा उसके उपरान्त—

प्रथम महायुद्ध के पूर्व जैसा कि वीरा ऐन्स्टी ने लिखा है—"बीसवीं शताब्दी के प्रथम १४ वर्षों मे भारतीय व्यापार मे बड़ी उन्नति हुई, यद्यपि प्रथम महायुद्ध के पूर्व भारत का अधिकांश व्यापार इंगलैण्ड से होता था, किन्तु जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका का महत्व भी बढता जा रहा था।" प्रथम महायुद्ध के काल मे हमारे आयातों तथा निर्यातों दोनों में ही कमी आ गई। इस कमी का कारण युद्धकालीन व्यापारिक प्रतिबन्ध तथा यातायात सम्बन्धी कठिनाइयाँ थीं। शत्रु देशों के साथ व्यापार पूर्णतया बन्द था तथा तटस्थ देशों के साथ व्यापार में भी शिथिलता आ गई। युद्ध-संलग्न देशों की क्रय-शक्ति गिर गई थी। माल को मगाने तथा भेजने के लिए जहाजी सेवाओं की प्राप्ति मे भारी कमी हो गई और भाड़े तथा बीमा के दरों में भारी वृद्धि हो गई।

युद्धोपरान्त काल में भारत के विदेशी व्यापार में अनेक उतार-चढ़ाव आए। पहिले तो व्यापार मे वृद्धि हुई, किन्तु सन् १९२०-२१ से मन्दी आरम्भ हो गई जो सन् १९२२-२३ मे समाप्त हुई और आर्थिक जीवन मे पुन उन्नति दृष्टिगोचर होने लगी। यह प्रगति भी केवल सन् १९२९ तक बनी रही और इसके बाद विश्व-व्यापी आर्थिक मन्दी का झोका आया।

विश्व व्यापी मन्दी एवं उसका परिणाम—

मन्दी के युग में व्यापार की मात्रा घटने लगी। न्यूयार्क मे 'वाल स्ट्रीट क्रैश' नाम से प्रसिद्ध आर्थिक सकट आया। इसके परिणामस्वरूप ससार की सभी वस्तुओं की कीमतें गिर गईं। मन्दी का युग आया। विश्व के प्रायः सभी देशों ने अपनी आर्थिक दशा को सुधारने के लिये विदेशी व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाना शुरू कर दिया। व्यापारिक मन्दी की अवधि में भारतीय व्यापार में शिथिलता आ गई, जिसके प्रधान कारण निम्नलिखित थे—

(१) इस युग मे सोने का वितरण बडा विषम हो गया था। ससार के कुल सोने का ६०% भाग सयुक्त राष्ट्र अमेरिका तथा फ्रान्स के पास था, अत सोने की कमी के कारण अन्य देशों को विवश होकर मुद्रा का सकुचन करना पडा, जिसके परिणामस्वरूप चीजों के दाम गिरने लगे और मन्दी छा गई। (२) मन्दी का एक

अन्य कारण कृषि के साधनों का यन्त्रीकरण किया जाना था। इसके फलस्वरूप कच्चे माल और निर्मित वस्तुओं का उत्पादन बढ़ने लगा। भारत कृषि प्रधान देश था, अतएव यहाँ मन्दी का रूप भयंकर रहा। (३) भारत तथा अफ्रीका में राजनैतिक उथल पुथल के कारण भी वस्तुओं के मूल्य गिर गये। (४) विश्व व्यापी मन्दी के कारण प्राय प्रत्येक देश में राष्ट्रीयता की लहर दौड़ गई और आयात माल पर कर लगाये गए। इससे भी व्यापार में शिथिलता आई। (५) यद्यपि अन्य देश मुद्रा का संकुचन कर रहे थे, किन्तु भारत में रुपये का मूल्य १ शि० ६ पें० ही था। इससे भारत के विदेशी व्यापार को और भी हानि हुई। (६) जापान ने अपने 'येन' का मूल्य घटा दिया था और उसने अपने देश के मूल्य से भी सस्ते मूल्य पर भारत में अपनी चीजें बेचना शुरू किया, परिणाम यह हुआ कि भारत और जापान के बीच व्यापारिक समझौता टूट गया। जापान ने भारत की कपास भी मँगाना बन्द कर दिया। इसने भारत के विदेशी व्यापार को और भी धक्का पहुँचा। (७) खाद्य पदार्थ तथा कच्चे माल का मूल्य निर्मित वस्तुओं के मूल्य की अपेक्षा बहुत कम हो गया और इसका फल यह हुआ कि भारत का निर्यात आयात की अपेक्षा बहुत ही संकुचित हो गया। निर्यात तथा आयात के अन्तर को पूरा करने के लिये भारत को सन् १६३० १६३८ के बीच ३२० करोड़ रुपए के लगभग का सोना निर्यात करना पड़ा। आर्थिक मन्दी के कारण समस्त संसार दु खी था, किन्तु भारत सबसे अधिक दु खी था। इस विश्व मन्दी का प्रभाव सन् १६३२ तक रहा। सन् १६३३ में लन्दन नगर में संसार की आर्थिक तथा धन सम्बन्धी कान्फरेन्स संसार की मुद्राओं को स्थिर करने के लिए हुई, किन्तु अमेरिका के विरोध के कारण यह सफल न हो सकी।

सन् १६३२ के "ओटावा पैक्ट" के फलस्वरूप भी भारत का विदेशी व्यापार बढ़ने लगा। सन् १६३४ में भारत तथा जापान के बीच एक समझौता हो गया, जिसने जापान से हमारे व्यापारिक सम्बन्ध फिर अच्छे हो गये। कच्चे माल के दाम भी बढ़ गये, जिससे भारत का निर्यात और भी उन्नति कर गया। इस युग में औद्योगीकरण की दिशा में भी भारत ने थोड़ी प्रगति की।

द्वितीय महायुद्ध-युग का व्यापार—

३ सितम्बर सन् १६३६ को द्वितीय महायुद्ध घोषित होने के कारण भारतीय विदेशी व्यापार की स्थिति बदल गई। चीजों का मूल्य बढ़ने लगा। विदेशों में भारत के कच्चे माल तथा निर्मित वस्तुओं की माँग भी बढ़ने लगी, परिणामस्वरूप हमारा निर्यात व्यापार बढ़ने लगा। बढ़ती हुई माग के कारण सन् १६३६ ४० में हमने २०४ करोड़ रुपये का माल निर्यात किया, जबकि सन् १६३८ ३९ में यह संख्या केवल १६३ करोड़ रुपये थी। युद्ध काल में माल के मूल्य में वृद्धि की आशङ्का से अधिक मात्रा में माल खरीदकर इकट्ठ' कर लेने की प्रवृत्ति से आयात की मात्रा भी सन् १६३८ ३९ में १५२ करोड़ रुपये के स्थान पर सन् १६३९ ४० में १६५ करोड़ रुपए हो गई। इस वर्ष व्यापाराधिक्य ३८ ६३ करोड़ रुपये था। सन् १६४१ ४२ में आयात तथा निर्यात

दोनों मे वृद्धि हुई। इस वृद्धि का कारण अटलांटिक महासागर मे जर्मनी आक्रमण की रुकावट, युद्ध का पूर्वी देशों में आरम्भ, रूस और जर्मन युद्ध का आरम्भ आदि होना था। इस वर्ष मित्र राष्ट्रों से भी हमारा व्यापार बढ़ा। भारत से अमेरिका, इङ्गलैण्ड आदि देशों को कच्चा माल, भोज्य पदार्थ, युद्ध सामग्री तथा कुछ निर्मित माल का भी निर्यात तेजी से बढ़ने लगा। सन् १९४१-४२ में बर्मा का शत्रु के हाथ में चले जाने से हमारा व्यापार पुनः कम हो गया। आयात एवं निर्यात पर राजकीय नियन्त्रण था। सन् १९४२-४३ में व्यापार के उचित नियन्त्रण के लिए ट्रेड कन्ट्रोलर्स की नियुक्ति हुई थी, जिनकी बिना आज्ञा के किसी भी प्रकार का आयात सम्भव न था।

इस युग की अन्य महत्वपूर्ण बात यह है कि व्यापार का सतुलन सन् १९४३-४४ तक बराबर हमारे पक्ष में ही बढ़ता गया। सन् १९४०-४१ में सतुलन २४ करोड़ और सन् १९४२-४३ मे ८८ करोड़ था। इसी के फलस्वरूप हमने स्टर्लिङ्ग पावना (Sterling Balance) जमा कर लिया।

युद्धोत्तर काल का व्यापार—

युद्ध के बाद भी निर्यात की स्थिति मे विशेष परिवर्तन नहीं आया। यद्यपि युद्ध काल मे कीमतें बहुत ऊपर चली गई थीं और आयात बन्द हो गए थे, किन्तु फिर भी देश के अन्दर उत्पादन मे देश की आवश्यकता के अनुसार वृद्धि न हो सकी। इस कारण जैसे ही अधिक जहाजी सेवायें प्राप्त होने लगीं और शत्रु की कार्यवाहियों का भय दूर होता गया, आयातों मे वृद्धि होने लगी। आरम्भ में सबसे अधिक वृद्धि खनिज तेल में हुई जिसकी खपत सेना में होती थी। युद्ध के उपरान्त हमारे विदेशी व्यापार की उल्लेखनीय विशेषता यह रही कि व्यापार का सन्तुलन देश के प्रतिकूल रहा। इसका प्रमुख कारण यह था कि देश मे खाद्यान्न की भारी कमी थी, अतः बहुत बड़ी मात्रा मे विदेशों से अनाज का आयात करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त उपभोक्ता पदार्थों का भी देश मे टोटा था, अतएव लोग उनके लिये लालायित थे। कारखानों के लिए मशीनें आदि भी विदेशों और विशेषकर संयुक्त राष्ट्र अमेरिका से मंगवानी पड़ती थी।

आयात नीति—

महायुद्ध के समाप्त हो जाने के पश्चात् जुलाई सन् १९४७ तक तो भारत सरकार की आयात नीति उदार रही, किन्तु अगस्त १९४७ में जबकि देश मे जनप्रिय सरकार का शासन हुआ आयात नीति कड़ी कर दी गई, यहाँ तक कि अपने पौंड पावने की राशि को भी हम खर्च नहीं कर सके। डालर क्षेत्र से जो भी कुछ वस्तुओं का आयात था बिल्कुल बन्द कर दिया गया और अधिकतर प्रयत्न यही था कि यू० के० से ही माल मगाया जाय। डालर क्षेत्रों के सम्बन्ध में इतनी कड़ी आयात नीति का एक मात्र उद्देश्य डालर के सकट को हल करना था, किन्तु कुछ परिस्थितियोंवश इस कड़ी नीति का प्रभाव हितकर सिद्ध न हुआ। देश के बटवारे के दुष्परिणाम भारत को दुखी कर ही रहे थे। यातायात कि कठिनाइयों के कारण उत्पादन दिन पर दिन कम होने

लगा। आयात की कड़ी नीति के कारण कच्चा माल सरलता से प्राप्त करना कठिन हो गया। विवश होकर जुलाई सन् १९४९ से भारत ने आयात की उदार नीति पुनः अपनाई जिसके परिणाम अच्छे न हुए, सितम्बर सन् १९४९ में सरकार ने जो आयात नीति अपनाई उसके अनुसार आयात को तीन भागों मे बांट गया :—(१) वे वस्तुएँ जिनके आयात के लिये लाइसेन्स बिल्कुल बन्द होंगे। (२) वे वस्तुयें जिनके आयात के लिये एक निश्चित परिमाण के आधार पर लाइसेन्स दिये जायेंगे तथा (३) वे वस्तुयें जिनके आयात के लिये समय-समय पर आवश्यकतानुसार लाइसेन्स दिया जा सकेगा, डालर क्षेत्र में उपलब्ध न होती हों। जनवरी सन् १९४८ से अनाधिकृत आयात का छुटकारा करने के लिये विदेशों को रुपया भेजने की जो सुविधा रिज़र्व बैंक ने दी थी वह भी वापस ले ली गई। सितम्बर सन् १९४९ में रुपये का अवमूल्यन (Devaluation) हो गया था, जिसके फलस्वरूप हमारे निर्यात में वृद्धि हुई और व्यापार का सन्तुलन भारत के पक्ष में होने लगा, परन्तु २१ फरवरी सन् १९५० को जो नवीन आयात नीति घोषित की गई, वह पहले की अपेक्षा कुछ उदार थी। कच्चा कपास, कच्चा रेशम, रेशम के तार, अलौह धातु, भारी रसायनिक पदार्थ और दवाइयाँ आदि वस्तुओं को स्टर्लिंग क्षेत्र से मँगाने की सुविधा दी गई। इसके अतिरिक्त दुर्लभ मुद्रा प्रदेशों (Hard Currency Areas) से भी कच्चो कपास मगाने की स्वीकृति दे दी गई। तत्पश्चात् दिसम्बर सन् १९५० तक आयात नीति में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन न हुआ। जनवरी जून सन् १९५१ के लिये जो आयात नीति घोषित की गई उसने आयात को विशेष प्रोत्साहन दिया। इसके अनुसार लाइसेन्स ६ माह की अपेक्षा १ वर्ष के लिये दिये जाने लगे। १२ जून सन् १९५२ को भारत सरकार ने जुलाई-दिसम्बर १९५२ के लिये अपनी आयात नीति की घोषणा कर दी। इस नीति का आधार तो जनवरी-जून सन् १९५२ की नीति थी, किन्तु कुछ नये परिवर्तन भी हुये। सबसे बड़ा परिवर्तन तो यह हुआ कि आयात कर्त्ताओं को अब केवल इसी आधार पर लाइसेन्स नहीं दिया जायगा कि वे युद्ध के पूर्व भी उन देशों से आयात करते रहे थे, जिनसे कि युद्ध काल मे व्यापार बन्द हो गया था। इस आयात नीति के अनुसार केवल उन्हीं कारखानों अथवा औद्योगिक संस्थाओं के आयात के लिये लाइसेन्स दिये, जिनमे कम से कम ५० श्रमजीवी काम करते थे। इस नीति के अनुसार अब डालर क्षेत्रों से वस्तुओं का आयात बहुत कम हो गया।

निर्यात नीति—

आरम्भ में भारत सरकार की निर्यात नीति निर्यात को रोकने की थी, किन्तु जबसे व्यापार का सेतुलन अधिक प्रतिकूल होने लगा (विशेषकर सन् १९४८-४९ के अन्त में) भारत सरकार ने अपनी निर्यात नीति में सशोधन किया। इसके परिणामस्वरूप निर्यात को बहुत प्रोत्साहन मिला। जुलाई सन् १९४९ में भारत सरकार ने निर्यात प्रोत्साहक समिति नियुक्त की। इस समिति ने निर्यात को बढाने के लिए अनेक सुझाव दिये, भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया। निर्मित वस्तुओं के निर्यात पर से प्रतिबन्ध हटा

लिया गया। जिन वस्तुओं का निर्यात बन्द था, उसका निर्यात पुनः शुरू हो गया। ओपन जनरल लाइसेन्स के अन्तर्गत वस्तुओं की संख्या बढ़ गई। लाइसेन्स देने की पद्धति भी बड़ी सरल और सीधी बना दी गई। अब कामर्स मिनिस्ट्री से ही निर्यात के लाइसेन्स मिलने लगे। वे कर, जो निर्यात में बाधक थे, हटा दिए गये या कम कर दिए गए। इन प्रयत्नों के अतिरिक्त रुपये के अवमूल्यन एवं कोरिया के युद्ध ने हमारे निर्यात को और भी प्रोत्साहन दिया। गत महायुद्ध के उपरान्त प्रथम बार व्यापार का सन्तुलन भारत के पक्ष में हुआ। आजकल आयात एवं निर्यात के नियन्त्रण के लिए निर्यात परामर्शदाता समिति तथा आयात परामर्शदाता समिति भारत सरकार को उचित सलाह व सहायता देती है।

सन् १९५१ के आरम्भ से ही अवमूल्यन तथा अन्य सरकारी उपायों के लाभ समाप्त होने लगे। भारत सरकार ने भी अपनी निर्यात प्रोत्साहन नीति में परिवर्तन किया और निर्यात के स्थान पर देशी माल का, देशी उद्योगों की माँग पूरी करने के लिए उपयोग करना आरम्भ कर दिया। भारतीय वस्तुओं की विदेशी माँग में भी कमी पड़ने लगी। फरवरी सन् १९५३ तक आयात-निर्यात की कीमतों के अनुपात का सूचक अंक गिर कर ८२ पर पहुँच गया, परन्तु सन् १९५२-५३ में स्थिति में कुछ सुधार हुआ, क्योंकि सरकारी नीति के परिवर्तनों तथा स्टॉकों के जमा हो जाने के कारण खाद्यान्न तथा दूसरी वस्तुओं के आयात में कमी हो गई।

विदेशी व्यापार की वर्तमान स्थिति—

सन् १९५५-५६ में भारत के वैदेशिक व्यापार का कुल मूल्य १,२७६ करोड़ रु० रहा। सन् १९५४-५५ में उनका मूल्य १,२५० करोड़ रु० और सन् १९५३-५४ में उससे पिछले वर्ष की अपेक्षा वैदेशिक व्यापार में २६ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई।

नीचे की सारिणी में भारत द्वारा गत तीन वर्षों में किया गया कुल आयात और भारत से हुआ निर्यात एवं पुनर्निर्यात दिखाया गया है :—

(मूल्य लाख रु० में)

	१९५३-५४	१९५४-५५	१९५५-५६
कुल आयात	५६,७०१	६५,६४४	६७,८९९
मार्गवर्ती व्यापार	१२	१८	३६
शुद्ध आयात	५६,६७६	६५,६२६	६७,८८३
कुल निर्यात (पुनर्निर्यात सहित)	५३,१०१	५६,३६७	५६,७४३
मार्गवर्ती व्यापार	४	४३	१२
शुद्ध निर्यात तथा पुनर्निर्यात	५३,०९७	५६,३२४	५६,७३१
व्यापार-सन्तुलन	−३५·९२	−६२·७२	−८१·२२

इस सारिणी से प्रकट होता है कि सन् १९५५-५६ में व्यापार सन्तुलन की प्रतिकूलता उससे पिछले वर्ष तथा सन् १९५३-५४ की अपेक्षा बढ़ी है। व्यापार सन्तुलन की

प्रतिकूलता बढ़ने का मुख्य कारण आयात में वृद्धि होना है। उपर्युक्त सारिणी से प्रकट है कि सन् १९५४-५५ में आयात माल का मूल्य उससे पिछले वर्ष की अपेक्षा कम था। सन् १९५५ ५६ में आयात में वृद्धि हुई और वह सन् १९५३-५४ से भी आगे निकल गया। सन् १९५४-५५ में सन् १९५३-५४ की अपेक्षा निर्यात माल के मूल्य में पर्याप्त वृद्धि हुई थी, किन्तु सन् १९५५-५६ में निर्यात मूल्य में हुई वृद्धि नगण्य थी। इसका परिणाम यह हुआ कि व्यापार-सन्तुलन की प्रतिकूलता बढ़ती गई और वह सन् १९५३-५४ में व्यापार-सन्तुलन जितना प्रतिकूल था, उससे दुगुना प्रतिकूल हो गया। पिछले कुछ वर्षों के आयात की एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण मद—गल्ला, दालें तथा आटे के आयात में पर्याप्त कमी हो जाने पर भी आयात में वृद्धि होने का मुख्य कारण था सभी प्रकार की मशीनों का अधिक परिमाण में आयात होना। भारत के आयात-व्यापार में दूसरा परिवर्तन था, धातुओं के आयात में वृद्धि होना। दूसरी पंच-वर्षीय योजना में देश का तेजी से औद्योगीकरण करने का जो निश्चय किया गया है, उसका प्रभाव उस वर्ष में आयात व्यापार के स्वरूप पर पड़ने लगा है।

भारत द्वारा आयातित प्रमुख वस्तुएँ—

नीचे की सारणी में भारत द्वारा गत ३ वर्षों में आयातित प्रमुख वस्तुओं का मूल्य दिया गया है :—

(मूल्य लाख रु० में)

	१९५३-५४	१९५४ ५५	१९५५-५६
गल्ला, दाल तथा आटा	९,३७३	४,८३७	१,७९८
सभी प्रकार की मशीनें (मशीनों के पुर्ज़े सहित)	८,५००	८,७०२	१२,०२१
कपास और रद्दी रुई	५,२७५	५,८४६	५,७९५
खनिज तेल	८,४५४	८,२३५	५,४८९
लोहा और इस्पात	२,३६२	३,०६०	६,९८८
अन्य धातुएँ	१,४५३	२,६१५	२,५५५
रासायनिक पदार्थ, भेषज तथा यन्त्र	२,५१७	३,२१६	३,७२०
कच्चा जूट	१,४३२	१,३००	१,९३२
वैद्युतिक सामान तथा यन्त्र	१,३०४	१,१४६	१,५५२
अखबारी कागज	५२६	६३१	६६६
अन्य कागज, गत्ता तथा स्टेशनरी	७४८	७४१	९६७
रंगने तथा चमड़ा कमाने के पदार्थ	१,७००	१,७८४	१,५६४
नकली रेशम का धागा	१,२०४	१,२६६	१,५४४
सूत तथा उससे बनी चीजें	३१३	२२२	४३६
योग (जिसमें अन्य आयात भी सम्मिलित हैं)	५६,७०१	६५,६४४	६७,८९९

आयात में वृद्धि होने का कारण कुछ सीमा तक अधिक उदार लाइसेन्स नीति है, जो जुलाई-दिसम्बर सन् १६५५ तथा जनवरी-जून सन् १६५६ की अवधियों में अपनाई गयी। कच्चे माल तथा पूँजीगत माल की बढ़ी हुई माँग के कारण आयात-नियन्त्रण को अधिकतम उदार बनाना सम्भव नहीं—जिससे सामान्य उपभोक्ताओं का लाभ होता, इसलिए इन अवधियों में सभी वर्ग की वस्तुओं के आयात पर बहुत सी पाबन्दियाँ लगा रखी गयीं। लाइसेन्स प्रणाली को उदार बनाते समय उद्योगों के विकास की आवश्यकताओं को प्रमुख रूप से ध्यान रखा जाता है और वास्तविक प्रयोक्ताओं की सूची में एक के बाद एक वस्तु का नाम सम्मिलित किया जाता है। इसके साथ ही उन वस्तुओं की संख्या में वृद्धि करना सम्भव हुआ है, जिनका आयात नए आयातक कर सकते हैं। वास्तव में जुलाई दिसम्बर सन् १६५५ की अवधि में १६ करोड़ रु० की वस्तुएँ आयात करने के लिए नवागन्तुक आयातकों को लाइसेन्स दिए गए, जबकि इससे पिछली छमाही मे १२ करोड़ रु० के ही लाइसेन्स दिए गए थे, लेकिन सामान्यतः इस आयात नीति के अन्तर्गत उन वस्तुओं का आयात रोका जाता है, जो देश में बनती हैं और मशीनी उपकरणों तथा औद्योगिक कच्चे मालों के आयातों के लिए अधिक से अधिक वैदेशिक मुद्रा रखी जाती है। हाँ, कुछ गैर औद्योगिक वस्तुओं का अधिक आयात करने देना भी आवश्यक समझा गया है, जिससे उपभोक्ताओं की बढ़ी हुई सम्भावित माँग पूरी की जा सके।

हमारे कुल निर्यात का मूल्य सन् १६५५-५६ में बढ़ कर ५६,०८२ लाख रु० हो गया, जबकि यह सन् १६५४-५५ में ५८,८५७ लाख रु० और सन् १६५३-५४ में ५२,६१६ लाख रु० था। इस प्रकार हमारे निर्यात व्यापार का मूल्य थोड़ा सा ही बढ़ा है। हमारे निर्यातित माल के भावों में थोड़ी सी गिरावट आई है, इसलिए हमारे निर्यात के परिमाण में थोड़ी सी वृद्धि हुई है। इस वर्ष में भारत के निर्यात व्यापार की सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि यद्यपि प्रमुख परम्परागत वस्तुओं, उदाहरणार्थ सूती माल, जूट का माल तथा चाय के निर्यात मूल्य में पर्याप्त कमी हो गयी है, तथापि कुल निर्यातित माल का मूल्य गत वर्ष की अपेक्षा कुछ अधिक ही रहा। इससे प्रतीत होता है कि भारत के निर्यात व्यापार के स्वरूप में पर्याप्त मात्रा में विविधता आ गई है। यह विविधता लाने के लिए भारत सरकार एक अरसे से प्रयत्न कर रही थी। वास्तव ■ निर्यात नियन्त्रण की नीति का स्थान धीरे धीरे निर्यात-सम्वर्द्धन की नीति लेती जा रही है और इस उद्देश्य के लिए अनेक कदम उठाये गये हैं।

भारत से निर्यातित प्रमुख वस्तुएं—

भारत से निर्यातित कुछ प्रमुख वस्तुओं का निर्यात मूल्य नीचे की सारिणी में दिया जाता है:— (मूल्य लाख रु० में)

	१६५३-५४	१६५४-५५	१६५५-५६
सुतली और जूट की बनी वस्तुएं	११,३६२	१२,३६०	११,८२५
चाय....	१०,२१७	१४,७७५	१०,६१४

कपड़े के थान	६,२६४	६,२३१	५,६६३
वनस्पति तेल तथा अनउडन-			
शील तेल	१,०८६	२,००२	३,४३५
कच्ची रुई और रद्दी रुई	१,६२८	२,०२४	३,६३८
काली मिर्च	१,२८७	६६६	४७१
खनिज मैंगनीज	२,४२७	१,२६२	१,०७२
कमायी हुई खालें तथा चमड़ा	२,२४८	२,०१७	२,२६८
काजू की गिरी....	१,०११	१,०७०	१,२६२
तम्बाखू	१,२१०	१,२११	१,१८२
अभ्रक	८००	६०२	८३७
रासायनिक पदार्थ, औषधें तथा			
भेषज	४६०	४८८	४६८
कुल निर्यात जिसमें अन्य वस्तुएं			
भी सम्मिलित हैं	५२,६१६	५८,८४७	५६,०८५

वैदेशिक व्यापार की दशा सन् १९५५-५६ में भारत को माल भेजने वाले तथा भारत का माल खरीदने वाले देशों में ब्रिटेन सर्वाधिक महत्वपूर्ण देश रहा। ब्रिटेन से होने वाले आयात में सन् १९५५-५६ में पर्याप्त वृद्धि हुई, किन्तु वहाँ को हुए निर्यात में कुछ कमी ही हुई है। हालांकि सन् १९५५-५६ में सन् १९५३-५४ की अपेक्षा भारत से हुए निर्यात का मूल्य अधिक ही रहा। आयात और निर्यात दोनों की दृष्टि से संयुक्त राज्य अमेरिका दूसरा महत्वपूर्ण देश है। ब्रिटेन की ही भांति अमेरिका से किये गये आयात का मूल्य कम हुआ है, जबकि वहाँ लगे हुये निर्यात का मूल्य घटा है। सन् १९५५-५६ में अमेरिका को हुए निर्यात का मूल्य सन् १९५३-५४ की अपेक्षा बहुत कम था। व्यापार की सामान्य स्थिति के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि बर्मा से होने वाले आयात के मूल्य में एक दम कमी हुई है। सन् १९५४-५५ में बर्मा से २७ करोड रु० का माल आयात किया गया था और सन् १९५५-५६ में घट कर वह ६.५ करोड रु० का ही रह गया। इस कमी का मुख्य कारण बर्मी चावल का आयात कम होना है। पिछले वर्ष विशेष भारत-बर्मा-चावल-करार के कारण आयात की सर्वाधिक महत्वपूर्ण वस्तु चावल ही थी। पश्चिमी जर्मनी से होने वाले आयात में भी पर्याप्त वृद्धि हो गई है। आलोच्य वर्ष में ६० करोड रु० का माल प० जर्मनी से आया, जितना गत ३ वर्षों में कभी नहीं आया था। आयात के लिए तो प० जर्मनी वास्तव में तीसरा महत्वपूर्ण देश था। इसी प्रकार जापान से होने वाले आयात में भी अच्छी वृद्धि हुई है, लेकिन कनाडा, बहरीन द्वीप समूह, आस्ट्रेलिया, सिंगापुर तथा इटली से हुए आयात के मूल्य में कमी हुई है। भारतीय निर्यात की दृष्टि से जापान एक महत्वपूर्ण देश है, क्योंकि उसने कुल मिलाकर ३० करोड रु० की भारतीय वस्तुएं खरीदीं। इससे पहिले वर्ष में उसने कुल १६ करोड रु० का भारतीय माल खरीदा था।

अन्य देशों को हुए हमारे निर्यात का स्तर लगभग पिछले वर्ष जैसा ही रहा, हालांकि कुछ देशों से हुए व्यापार के मूल्य में थोड़ी बहुत घटा बढ़ी हुई है। बर्मा, कनाडा, सूडान तथा आयरलैंड वे प्रमुख देश हैं, जिनको भारतीय निर्यात कम हुआ और लंका सिंगापुर, इटली, हालैंड, मिस्र और सऊदी अरब को हमारा निर्यात कुछ बढ़ा है।

समग्र व्यापार-संतुलन—

भारत का समग्र व्यापार सतुलन (मार्गवर्ती व्यापार के सहित) सन् १९५५-५६ में ८,१५६ लाख रु० से प्रतिकूल रहा, जबकि सन् १९५४-५५ में ७,६६७ लाख रु० से प्रतिकूल था। डालर तथा सुलभ मुद्रा क्षेत्रों में भारत का समग्र व्यापार नीचे दिया गया है:—

(मूल्य लाख रु० में)

	१९५४-५५			१९५५-५६		
	डालर क्षेत्र	सुलभ मुद्रा क्षेत्र	योग	डालर क्षेत्र	सुलभ मुद्रा क्षेत्र	योग
आयात	१०,०५४	५५,५३०	६५,६८४	९,७६०	५८,११६	६७,८७६
निर्यात तथा पुनर्निर्यात	११,४६१	४७,२२६	५८,६८७	१०,९८८	४८,७५५	५९,७४३
व्यापार-सन्तुलन	१,४०७	−७,६६४	−६,९९७	१,२२८	−९,३८४	−८,१५६

उक्त सारणी से प्रकट है कि डालर क्षेत्र के साथ व्यापार-संतुलन भारत के अनुकूल है और सुलभ मुद्रा क्षेत्र के साथ प्रतिकूल। पिछले वर्ष की तुलना में दोनों क्षेत्रों के सम्बन्ध में हमारी स्थिति खराब ही हुई है।

निष्कर्ष—

हमारी वर्तमान आवश्यकता देश के विदेशी व्यापार का विस्तार करना ही है। देश के औद्योगीकरण के लिये हमें मशीनों तथा आवश्यक कच्चे मालों के बाहर से मंगाने की भारी आवश्यकता है। मूल्य में स्थायित्व रखने के लिए तथा द्वितीय पंच-वर्षीय योजना की सफलता के हेतु हमें काफी मात्रा में उपभोग्य पदार्थ भी मगाने पड़ेंगे। इन आयातों का मूल्य चुकाने तथा अपने निर्मित मालों एवं अन्य उपजों के लिए मण्डियाँ स्थापित करने के लिए निर्यातों की भी आवश्यकता है। युद्धोपरान्त काल में हमारे व्यापारांविशेष का काफी घाटा रहा है, अतएव निर्यात में वृद्धि करके हमें यह क्षति पूरी करना है। विदेशी व्यापार का भविष्य उज्ज्वल है। हमारी व्यापारिक नीति की नई विशेषता यह है कि हमने अपने सीमित विदेशी विनिमय के साधनों का अच्छा से अच्छा उपयोग करने का प्रयत्न किया है और गत वर्षों में व्यापारिक समझौते करके अपने व्यापार के आधार को सुधारने का प्रयत्न किया है।

[१६]

भारत सरकार की प्रशुल्क-नीति

रूपरेखा—

१. *प्रारम्भिक*—किसी भी देश के व्यापार का वहाँ की प्रशुल्क नीति से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। व्यापार का विकास उद्योग-धन्धों की उन्नति पर निर्भर करता है और औद्योगिक उन्नति तभी सम्भव है जबकि प्रशुल्क नीति अनुकूल हो एवं उद्योगों को संरक्षण प्राप्त हो।

२. *भारत में प्राशुल्किक स्वतन्त्रता का विकास*—१९ वीं शताब्दी के मध्य से प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ तक अबाध व्यापार का युग रहा। इस युग में किसी भी प्रकार के आयात तथा निर्यात कर नहीं लगाये जाते थे। सन् १९१६ में औद्योगिक आयोग की नियुक्ति। प्रथम युग सन् १९१९ के वैधानिक सुधारों से आरम्भ हुआ। सन् १९२१ में प्राशुल्क स्वतन्त्रता का प्रस्ताव पास किया गया, *अगले वर्ष एक प्रशुल्क आयोग नियुक्त किया गया, जिसने विवेचनात्मक उद्योग* संरक्षण का सुझाव दिया।

३. *विवेचनात्मक संरक्षण की नीति–एक दृष्टि*—प्रशुल्क आयोग ने एक त्रिमुखी गुर बनाया—अर्थात् उसी प्रार्थी-उद्योग को संरक्षण दिया जाय : (अ) जिसके लिए समस्त प्राकृतिक सुविधायें हों, (ब) जो संरक्षण के बिना न रह सके, तथा (स) जो कुछ समय बाद अपने पैरों पर खड़ा हो सके।

४. *विवेचनात्मक संरक्षण कार्य रूप में*—सन् १९२३ तथा सन् १९३९ के बीच लोह और स्पात, सूती कपड़ा, कागज और चीनी उद्योग को रक्षण मिला। *भारी रासायनिक, तेल, कोयला, सीमेण्ट तथा काँच उद्योग को संरक्षण नहीं* दिया गया। रक्षित उद्योगों ने अरक्षित उद्योगों की अपेक्षा मन्दी का अधिक साहस से सामना किया तथा डटे रहे।

५. *विवेचनात्मक संरक्षण की नीति की आलोचना*—यह नीति राष्ट्रीय हित में *न थी। संरक्षण की शर्तें अत्यन्त कड़ी थीं। संरक्षण प्राप्त करने में भी बड़ी देर* लगती थी।

६. *द्वितीय महायुद्ध के बाद की स्थिति*—युद्धकाल में संरक्षण की आवश्यकता न थी। सन् १९४५ में एक मध्यकालीन प्रशुल्क समिति नियुक्ति की गई जिसने ४२ उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया। *सन् १९४७ से प्रशुल्क बोर्ड का पुन-* संङ्गठन किया गया।

७. *भारत की भावी प्रशुल्क नीति*—सन् १९५० में एक नये प्रशुल्क बोर्ड की नियुक्ति हुई, जिसने एक स्थायी प्रशुल्क बोर्ड के निर्माण का सुझाव दिया, योजनाकरण तथा औद्योगिक विकास के दृष्टिकोण से प्रशुल्क का एक नया विचार उत्पन्न हो गया। प्रशुल्क बोर्ड ने रक्षण के बहुत से नए सिद्धान्तों के सुझाव दिये हैं तथा उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा करने के नए-नए उपाय बताए हैं। प्रशुल्क बोर्ड के कार्य। प्रशुल्क बोर्ड की सिफारिशें।

८. *उपसंहार*—प्रशुल्क नीति के इतिहास के एकमात्र अवलोकन से यह स्पष्ट है कि इनका उद्देश्य भारत को लाभ पहुँचना न था, किन्तु अब राष्ट्रीय सरकार की व्यवस्था में हमारा नियोजित विकास शुरू हो गया है। द्विपक्षीय व्यापारिक समझौतों का अधिक महत्व है।

प्रारम्भिक—

किसी भी देश के व्यापार का वहाँ की प्रशुल्क-नीति से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है और सच तो यह है कि व्यापार की उन्नति अप्रत्यक्ष रूप से प्रशुल्क नीति पर ही निर्भर करती है। व्यापार का विकास देश के उद्योग धन्धों पर अवलम्बित है और ये उद्योग धन्धे उसी दशा में पनपते हैं, जबकि प्रशुल्क नीति अनुकूल हो और उद्योगों को उससे संरक्षण मिलता हो। किसी देश के औद्योगीकरण को प्रोत्साहित करने में सरकार की प्रशुल्क-नीति का बड़ा हाथ रहता है। यही कारण है कि भारत सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति की घोषणा करते समय प्रशुल्क नीति की ओर भी संकेत किया है, जिसके अनुसार—"सरकार की प्रशुल्क नीति इस प्रकार रहेगी कि अनुचित विदेशी प्रतियोगिता का अन्त होकर देश के उपलब्ध स्रोतों का पूर्ण उपभोग हो सके तथा उपभोक्ताओं पर अनुचित प्रभार भी न रहे।

भारत में प्राशुल्कि स्वतन्त्रता का आरम्भ—

१६ वीं शताब्दी के मध्य से प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ तक भारत सरकार की प्रशुल्क नीति व्यापार में हस्तक्षेप न करने की थी, अर्थात् व्यापार व उद्योगों पर कोई प्रतिबन्ध न था। यह वास्तव में अबाध व्यापार का युग था। उन दिनों भारत कदम व कदम ब्रिटिश नीति का अनुसरण करता था और यह ब्रिटिश नीति ऐसी थी कि उससे अंग्रेजों का ही स्वार्थ सिद्ध होता था। सन् १८१३ में ब्रिटिश पार्लियामेन्ट में श्री टायर्न के निम्न भाषण से उस समय भारत के प्रति ब्रिटिश नीति का आभास मिलता है—' हमारी आर्थिक नीति का यह सामान्य सिद्धान्त हो कि इङ्गलैंड का बना हुआ माल भारत में बेचा जाय, किन्तु उसके बदले में एक भी भारतीय वस्तु न ली जाय।" इस प्रकार भारत में मुक्त व्यापार नीति का ही पूरी तरह अनुकरण किया गया जो सन् १८८२ से सन् १८६४ तक रही। इस अवधि में किसी भी प्रकार के आयात तथा निर्यात कर नहीं लगाये जाते थे। भारतवर्ष से इङ्गलैंड को कच्चा माल भेजा जाता था और वहाँ से निर्मित माल आयात किया जाता था। इस नीति को लार्ड

डलहौजी की यातायात नीति से और भी बढ़ावा मिला, जिसमें विदेशी आयात माल के रेल-यातायात दर अधिक सस्ते थे। इस कारण इस अवधि में भारतीय उद्योग-धन्धे अधिक न पनप सके। सन् १९१४-१८ के प्रथम महायुद्ध में सरकार को अपनी आयात-निर्यात नीति पर अधिक नियंत्रण रखने की आवश्यकता प्रतीत हुई। दूसरे, इन दिनों स्वदेशी आन्दोलन भी ज़ोर पकड़ रहा था, जिसमें ब्रिटिश नीति की कड़ी आलोचना हो रही थी। इसके अतिरिक्त युद्ध काल में औद्योगिक दृष्टि से भारत के पिछड़ा होने के कारण जो अनुभव शासकों को हुये उनसे विवश होकर भी यह आवश्यक समझा गया कि औद्योगिक नीति में कुछ परिवर्तन किया जाय, अतः युद्ध स्थिति से घबड़ा कर ब्रिटिश सरकार ने कुछ भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन देने का निश्चय कर लिया। सन् १९१६ में एक औद्योगिक कमीशन नियुक्त हुआ, जिसने अपनी रिपोर्ट में कहा कि "भविष्य में देश के औद्योगिक विकास में सरकार को सक्रिय भाग लेना चाहिये, जिससे भारत मनुष्य एवं सामग्री की दृष्टि से आत्म निर्भर हो सके।' कमीशन ने यह भी सिफारिश की कि "औद्योगिक उत्तरदायित्व लेने के लिये सरकार अपने पास वैज्ञानिक एव तांत्रिक विशेषज्ञों की पर्याप्त नियुक्ति करे, जो उद्योगों को सलाह दे सकें।" परन्तु दुर्भाग्य से कमीशन की सिफारिशों को ताक में रख दिया गया।

अगस्त सन् १९१७ में मॉन्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों की घोषणा हुई, जिसके अनुसार भारतियों को 'स्व निर्णय' का अधिकार मिला। भारत की आर्थिक स्वतन्त्रता की दिशा में यह पहला कदम था। इन स्व-निर्णय के अधिकार के सम्बन्ध में ज्वाइन्ट सिलेक्ट कमेटी का यह मत था कि "भारत एवं इङ्गलैंड की सरकार के सम्बन्धों को अन्य किसी बात से इतना खतरा नहीं है जितना कि इस विश्वास से कि भारत की प्रशुल्क नीति का सचालन ग्रेट ब्रिटेन के व्यापारिक हितों के लिये व्हाइट हाल से होता है और आज भी यही विश्वास है, इसमें सदेह नहीं। इस समस्या का समुचित हल तभी संभव है जब भारत सरकार को ब्रिटिश साम्राज्य का अविच्छिन्न भाग होने के नाते भारत की आवश्यकता के अनुसार प्रशुल्क व्यवस्था करने की स्वतन्त्रता दी जाय, जिसका विश्वास एक प्रतिज्ञा-प्राप्ति से दिया जा सकता है।" इन प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप सन् १९२१ मे ब्रिटिश पार्लियामेन्ट ने 'प्राशुल्किक स्वतन्त्रता का प्रस्ताव' पास किया। इस प्रस्ताव के अनुसार भारत मन्त्री को प्रशुल्क सम्बन्धी उन मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं रहा, जिन्हें भारत सरकार ने स्वयं अपनी विधान सभा की सम्मति से तय कर लिया हो, किन्तु ऐसी स्वतन्त्रता से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ, क्योंकि प्रायः सभी प्राशुल्किक विषयों पर भारत सरकार पहले मन्त्री से पूछ लेती थी और तत्पश्चात् ही विधान सभा के सम्मुख रखती थी, अतः भारत की प्रशुल्क सम्बन्धी नीति की पूर्ण जाँच करने तथा साम्राज्य प्रथमता के प्रस्ताव पर विचार करके सिफारिश देने के लिये एक प्रशुल्क मन्डल नियुक्त किया गया। इस

मण्डल ने विवेचनात्मक संरक्षण (Discriminating Protection) के पक्ष में सुझाव दिया ।

विवेचनात्मक-संरक्षण की नीति—एक दृष्टि—

इस नीति के अनुसार उन उद्योगों को ही संरक्षण मिल सकेगा, जो उसके योग्य होंगे । योग्यता विषयक निम्नलिखित तीन शर्तों का पूरा करना अनिवार्य किया गया:-

त्रिसूत्री सिद्धांत—

(१) संरक्षण के इच्छुक उद्योग को प्राकृतिक सुविधायें, जैसे—कच्चे माल की सुलभता, सस्ती शक्ति का होना, पर्याप्त मात्रा में श्रमिकों का मिलना, विस्तृत आन्तरिक बाजार आदि—होना चाहिये । जिस उद्योग को ये सुविधायें प्राप्त नहीं हैं वह तो देश के लिये भार-रूप हैं, अतः उसे संरक्षण नहीं दिया जा सकता ।

(२) उद्योग ऐसी स्थिति में हो कि संरक्षण के बिना उसकी उन्नति बिलकुल नहीं हो सकती ।

(३) उस उद्योग को ही संरक्षण मिल सकता है, जो कुछ समय पश्चात् स्वयं अपने पैरों पर खड़ा होने की शक्ति रखता हो ।

अन्य सिफारिशें—

उक्त आवश्यक शर्तों के अतिरिक्त कुछ अन्य शर्तें भी रक्खी गईं, अर्थात् उस उद्योग को ही शीघ्र संरक्षण मिलेगा—

(अ) जो अधिकता के साथ बड़ी मात्रा में कम व्यय पर उत्पादन कर सके ।

(आ) जो कुछ समय में ही देश की समस्त आवश्यकताओं को पूरा करने योग्य हो सके ।

(इ) जो राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से अनिवार्य हो, जैसे—आधारभूत उद्योग ।

(ई) जिस विदेशी उद्योग की राशि पातन कार्यवाहियाँ (Dumping Activities) का सामना करना पड़ता हो ।

(उ) जिसने कि अपनी मुद्रा का मूल्य घटा दिया है ।

(ऊ) जिसे उन देशों की वस्तुओं से प्रतियोगिता करनी पड़ती हो, जहाँ की सरकारों ने उद्योग को विशेष आर्थिक सहायता दे रक्खी है ।

साम्राज्य प्रथमता के सम्बन्ध में कमीशन ने 'शर्त युक्त साम्राज्य प्रथमता' की सिफारिश की । इस नीति के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन को तो प्रशुल्क-करों के सम्बन्ध में कुछ छूट दी जाय, परन्तु ऐसी छूट की आशा भारत ग्रेट ब्रिटेन से न करे । जहाँ तक साम्राज्य के अन्य देशों का सम्बन्ध था, ये सुविधायें परस्पर आधार पर हैं, अर्थात् यदि भारत को अन्य देशों से सुविधायें मिलें तो भारत भी उनको सुविधायें दे अन्यथा नहीं ।

विभिन्न उद्योगों की प्रगति

(सन् १९२२-२३—से १९३९-४०)

	स्टील (इनगाटस)	कॉटन (पीसगुड्स)	शक्कर गन्ना	दियासलाई	कागज
	१००० टन	मिलियनगज	१००० टन	ग्रॉस (लाख)	१००० टन
१९२२ २३	१३१	१,७२९	२४	८	२४
१९३९ ४०	१,०७०	४,०१३	१,२४२	२२०	७०

विवेचनात्मक संरक्षण कार्य रूप में—

कमीशन की सिफारिशों के अनुसार फरवरी सन् १९२३ से भारत सरकार ने संरक्षण की रीति अपनाई। जुलाई सन् १९२३ में भारत में प्रथम प्रशुल्क बोर्ड की स्थापना हुई। इस बोर्ड ने सबसे पहले इस्पात उद्योग की जाँच की। इसी प्रकार सूती वस्त्र उद्योग, कागज, वॉल, दियासलाई, शक्कर, स्थूल रसायन आदि अन्य उद्योग धन्धों की भी जाँच की गई। जाँच से पता लगा कि ये उद्योग उक्त सभी शर्तों को पूरा करते थे, अत इन्हें संरक्षण प्रदान करने की सिफारिशें की गई। कोयला, सीमेण्ट, काँच और तेल उद्योगों की भी जाँच प्रशुल्क बोर्ड ने की, परन्तु इसको संरक्षण नहीं दिया गया। इस प्रकार सन् १९२३ से सन् १९३९ तक प्रशुल्क बोर्ड ने कुल ५१ उद्योगों की जाँच की। इन विविध जाचों के परिणामस्वरूप ३९ विद्यमान उद्योगों को संरक्षण दिया गया, परन्तु १० प्रार्थियों को संरक्षण नहीं दिया गया तथा ६ प्रार्थियों को संरक्षण देने से इन्कार कर दिया। विवेचनात्मक संरक्षण की नीति से विभिन्न उद्योगों को जो लाभ हुए उनसे अनुमान गत पृष्ठ की तालिका से भली प्रकार लगाया जा सकता है।

मन्दी के युग में इन रक्षित उद्योगों के अरक्षित उद्योगों की अपेक्षा मन्दी का अधिक सुन्दरता से सामना किया और डटे रहे। अन्य उद्योग मन्दी का सामना न कर सके और समाप्त हो गये। जिन उद्योगों को संरक्षण मिला उनसे सम्बन्धित अनेक सहायक उद्योग भी उन्नति कर गये। इससे अनेक लोगों को काम मिला तथा बेकारी की समस्या हल हुई।

विवेचनात्मक संरक्षण की नीति की आलोचना—

यद्यपि संरक्षण की विवेचनात्मक नीति से कुछ उद्योगों को विशेष लाभ हुआ, तथापि उसे व्यापार एवं उद्योग के हित में नहीं कह सकते, क्योंकि प्रथम तो संरक्षण की शर्तें बहुत कडी हैं, विशेषत पहली दो शर्तें। यह विचार बडा हास्यास्पद है कि जब उद्योग को प्राकृतिक सुविधायें प्राप्त हों तब ही उसे संरक्षण दिया जाय। यदि प्राकृतिक सुविधायें उद्योग को सुलभ हों तो फिर उसे संरक्षण की आवश्यकता ही क्यों होने लगी। इसी प्रकार दूसरी शर्त भी बेटगी है, क्योंकि जब कोई उद्योग अन्य किसी मार्ग से उन्नति नहीं कर सकता तभी तो वह संरक्षण के लिये इच्छुक होता है।

उद्योग का आन्तरिक बाजार न होने की दशा में संरक्षण से वंचित रखना भी अन्याय है। वास्तव में ऐसे ही उद्योग संरक्षण के प्रथम अधिकारी हैं, क्योंकि वे इसके बल पर उन्नति करके बाजार बना सकते हैं। इस प्रकार उद्योगों का महत्त्व देश हित की दृष्टि से कभी भी नहीं आंका गया। जैसा कि मैग्नेशियम क्लोराइड उद्योग अथवा रासायनिक उद्योग के सम्बन्ध में अपनाई गई अविवेक पूर्ण नीति से स्पष्ट है। मैग्नेशियम क्लोराइड उद्योग की जाँच सन् १६२४ में की गई, किन्तु उसे इस आधार पर संरक्षण नहीं दिया गया कि वह अन्तत संरक्षण के अभाव मे नहीं टिक सकता। इसके विपरीत जब सन् १६२८ में इस उद्योग ने संरक्षण की पुन माँग की, तो प्रशुल्क बोर्ड ने यह मत दिया कि उद्योग को संरक्षण की आवश्यकता ही नहीं है। किसी भी देश में उद्योग को संरक्षण प्रदान करने मे इस प्रकार की शर्तें नहीं लगी हैं। यथार्थ में सन् १६४६ के आर्थिक आयोग को यह कहना पड़ा है कि सन् १६२२ के आर्थिक आयोग ने संरक्षण की नीति को आर्थिक विकास के एक सामान्य साधन के रूप में नहीं देखा था। उसने इसे केवल ऐसा सहारा समझा, जिसके द्वारा कुछ उद्योगों को जब वे संरक्षण के लिये प्रार्थना करें तब विदेशी प्रतियोगिता सहने की शक्ति दी जा सके। इसी का परिणाम एक दिशायी विकास है आधार उद्योगों का विकास सम्भव न हो सका। यह भी सम्भव है कि कुछ थोड़े से उद्योगों को, उसी समय यह प्रयत्न किये बिना कि उनमे मिलते जुलते और उनके सहायक उद्योगों को भी सुविधा प्रदान की जाय, संरक्षण देने से समाज का सामूहिक भार बढ़ जाता ।

इसी प्रकार कमीशन ने यह भी सुझाव दिया था कि प्रार्थी उद्योग के सम्बन्ध में जाँच करने के लिये एक प्रशुल्क बोर्ड नियुक्त किया जाय, किन्तु सरकार ने किसी स्थायी प्रशुल्क बोर्ड की नियुक्ति नहीं की। प्रत्येक उद्योग की जाँच के लिये अलग अलग अस्थायी प्रशुल्क बोर्ड कायम किये गये और उनके सदस्यों में बार-बार परिवर्तन किये गये। परिणामस्वरूप प्रशुल्क बोर्ड कोई भी ऐसी दीर्घकालीन नीति न अपना सका, जिसका स्थायी रूप से अनुसरण किया जा सके। बोर्ड को कुछ कड़े नियमों के ढाँचे के भीतर काम करना पड़ता था और उसे कार्य में बहुत कम स्वतन्त्रता थी। नये उद्योगों के लिये तो सिद्धान्त को कार्य रूप देना विशेषत कठिन हो गया। इस प्रकार विवेचनात्मक संरक्षण की इस नीति के उद्योगों को निरुत्साहित सहायता से जो अरुचि तथा अवहेलना पूर्वक उद्योगों को दी जाती थी, उनके भाग्य पर छोड़ने के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार से उनकी रक्षा नहीं की। साधारणत प्रशुल्क अधिकारियों और सरकार की विलम्बकारी कार्य प्रणाली से जो संरक्षण मिलता था वह भी बेकार साबित होता था। अत विवेचनात्मक संरक्षण की नीति को पूर्ण रूप से बदल डालना चाहिये और उसके बदले में एक साधारण, सीधी और सुन्दर नीति अपनानी चाहिये।

द्वितीय महायुद्ध के बाद की स्थिति—

अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए युद्ध काल में संरक्षण का कोई प्रश्न

नहीं उठा, क्योंकि विदेशों से माल कम आता था, अतएव प्रतिस्पर्धा की कोई बात नहीं थी। हाँ जो उद्योग रक्षित थे उनके लिए संरक्षण जारी रहा। युद्ध के पश्चात् देश के सम्मुख अपने आर्थिक नव-निर्माण का प्रश्न आया। युद्ध युग जन्म लेने वाले उद्योगों की पूर्ण जाँच के लिए नवम्बर सन् १९४५ में २ वर्ष के लिए प्रशुल्क बोर्ड की स्थापना हुई।

अन्तरिम प्रशुल्क बोर्ड सन् १९४५—

सन् १९४५ में नियुक्त हुए अन्तरिम प्रशुल्क बोर्ड ने कुछ उद्योगों को संरक्षण देने की स्थिति पर विचार किया। जो उद्योग राजकीय संरक्षण चाहता था उसे निम्नलिखित शर्तों का पालन करना पड़ता थाः—

(१) कि वह दृढ़ व्यापारिक आधार पर संचालित होता है।

(२) (क) कि उद्योग द्वारा नैसर्गिक व आर्थिक सुविधायें प्राप्त करने तथा उसके वास्तविक व संभावित व्यय को ध्यान में रखते हुए उद्योग उचित समय के अन्तर भली प्रकार विकसित हो जायगा और फिर उसे राजकीय संरक्षण या सहायता की आवश्यकता नहीं होगी।

(ख) कि वह एक ऐसा उद्योग है जिसे संरक्षण या सहायता प्रदान करना राष्ट्र के हित में है और इस संरक्षण अथवा सहायता का सम्भावित व्यय जनता के ऊपर अधिक नहीं पड़ेगा।

इस दो वर्ष के जीवन काल में अन्तरिम प्रशुल्क बोर्ड के पास संरक्षण प्रदान करने के लिए ४६ मामले आये, जिनमे से ४२ को संरक्षण दिया गया। इनमें ३८ उद्योग युद्ध कालीन तथा ४ उद्योग (सूती वस्त्र उद्योग, इस्पात, कागज तथा चीनी पूर्व स्थित थे) वास्तव मे इसका प्रमुख कार्य उद्योगों की स्थिति जाँच करके उनके लिए संरक्षण सिफारिश करना था, किन्तु पर्याप्त सुविधाओं के अभाव में अन्तरिम प्रशुल्क बोर्ड अपने कर्तव्य का भली भाँति पालन न कर सका।

सन् १९४७ में प्रशुल्क बोर्ड का पुनर्सङ्गठन किया गया। इसके सभापति श्री जी० एल० मेहता थे और डाक्टर एच० एल० डे तथा डाक्टर बी० वी० नारायन स्वामी इसके सदस्य थे। अन्य कार्यों के अतिरिक्त इस प्रशुल्क बोर्ड के दो विशेष कार्य थेः—प्रथम, सरकार को उन बातों की सूचना देना कि जिनके कारण भारत निर्मित वस्तुओं का उत्पादन व्यय विदेशों से आयात की हुई वस्तुओं की अपेक्षा अधिक होता है और दूसरे न्यूनतम व्यय पर देश के अन्दर उत्पादन बढ़ाने के लिए सुझाव देना। बाद में सन् १९४८ में इस बोर्ड को निम्नलिखित कार्य भी सौंप दिए गयेः—

(१) देश में निर्मित वस्तुओं के उत्पादन व्यय की जाँच करना तथा वस्तुओं के थोक और खेरीज मूल्य निश्चित करना।

(२) राशिपातन के विरुद्ध भारतीय उद्योगों के संरक्षण के लिए सरकार को सुझाव देना।

(३) विभिन्न वस्तुओं पर प्रशुल्क, विशिष्ट कर, अथवा विदेशों को दी हुए सुविधाओं के प्रभाव का अध्ययन करना ।

(४) संयुक्तीकरण, प्रन्यास तथा एकाधिकृत संस्थाओं के विषय में सरकार को सूचित करना और उनके दोषों को दूर करने के लिए सुझाव भी देना ।

(५) संरक्षित उद्योगों के ऊपर सदैव निगाह रखना और आवश्यकतानुसार उनके लिए समय-समय पर संरक्षण तथा प्रशुल्क नीति में परिवर्तन करना ।

उपभोक्ताओं के हित को ध्यान में रखते हुए इस प्रशुल्क बोर्ड ने अनेक पुराने व नए उद्योगों की जाँच की और उसकी सिफारिशों के परिणामस्वरूप ३५ युद्धकालिक उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया गया। निम्नलिखित ६ पुराने उद्योगों से संरक्षण हटा लिया गया—सूती कपास का उद्योग, लोहे व इस्पात का उद्योग, कागज, मैगनेशियम क्लोराइड, सिल्वर थ्रेड तथा वायर एवं शक्कर-उद्योग। शक्कर उद्योग को पुनः १ वर्ष के लिए संरक्षण दिया गया, जो अप्रैल सन् १९५० में वापिस ले लिया गया।

भारत की भावी प्रशुल्क नीति—

सन् १९४९-५० में एक नये प्रशुल्क बोर्ड की नियुक्ति हुई, जिसने भारत के रक्षात्मक संरक्षण की जाँच की और उसका गम्भीर अध्ययन किया। भारत में यह कमीशन श्री० वी० कृष्णामाचारी की अध्यक्षता में स्थापित किया था। इस बोर्ड के मुख्य कर्त्तव्य यह थे :—

(१) सभी सम्बन्धित हितों की सलाह से सन् १९२२ के प्रशुल्क बोर्ड की नियुक्ति से लेकर अब तक भारत सरकार द्वारा उद्योगों को संरक्षण देने की नीति की जाँच करना।

(२) निम्न सिफारिशें करना:—

(क) संरक्षण व सहायता देने के सम्बन्ध में सरकार की भावी नीति क्या होनी चाहिए और संरक्षित व सहायता प्राप्त उद्योगों के साथ कैसा व्यवहार हो व उनके कर्त्तव्यों का निर्धारण किस प्रकार करना चाहिये।

(ख) इस नीति को कार्यान्वित करने के लिए मशीनरी का निर्माण।

(ग) इस नीति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखने वाली कोई अन्य बात।

(३) इन विषयों पर विचार करने में कमीशन को समस्या के अल्पकालीन व दीर्घकालीन पक्षों पर विचार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी तथा देश की आवश्यकता को देखते हुए यह सलाह देना कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रशुल्क व व्यापार के सामान्य सिद्धान्तों या अन्तर्राष्ट्रीय प्रशुल्क व व्यापार संगठन के चार्टर के अनुसार कार्य करना कहाँ तक वांछनीय होगा।

बोर्ड ने अपनी रिपोर्ट में पहले अपना कार्य-क्षेत्र तथा आधारभूत उद्देश्यों का वर्णन करते हुए यह बतलाया कि हमें निम्न उद्देश्यों की प्राप्ति करनी है :—(१) बेकारी अथवा अर्ध-बेकारी से बचना और उत्पादन व माँग को बढ़ाना। (२) प्राकृतिक साधनों का पूर्ण उपयोग करना, (३) उत्पादन शक्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि तथा श्रमिकों की अवस्था में सुधार करना। (४) कृषि तथा पशु विज्ञान का आधुनिक आधार पर विकास करना तथा खाद्य पदार्थों एवं उद्योगों के लिए पर्याप्त कच्चा माल उत्पन्न करना। (५) सहकारी अथवा व्यक्तिगत आधार पर कुटीर-उद्योगों व लघु-उद्योगों के लिए विशेष प्रबन्ध करना। (६) वृहद्स्तरीय औद्योगीकरण की गति बढ़ाना और इसके लिए मिश्रित अर्थ व्यवस्था की नीति अपनाना। (७) सभी प्रकार के लोगों के नैसर्गिक गुणों का उपयोग करने के लिए एक बहुमुखी अर्थ व्यवस्था लागू करना।

इसके बाद अपनी रिपोर्ट में भारत की प्राचीन अर्थ-व्यवस्था की झांकी देते हुए प्रशुल्क कमीशन ने एक स्थायी प्रशुल्क बोर्ड की स्थापना के लिए सिफारिश की। हर्ष का विषय है कि इस स्थायी प्रशुल्क बोर्ड की नियुक्ति भी हो गई है। यह बोर्ड एक वैधानिक संस्था है इसमें पाँच सदस्य हैं, जिनमें से एक चेयरमैन है। विशेष मामलों के लिए बोर्ड अन्य सलाहकार भी नियुक्त कर सकता है। इस बोर्ड के अधिकार पिछले बोर्डों की अपेक्षा अधिक व्यापक हैं।

प्रशुल्क बोर्ड के प्रधान कार्य निम्नांकित हैं :—

(१) भारत के किसी भी उद्योग को संरक्षण प्रदान करना।

(२) सरक्षणात्मक-करों में परिवर्तन करना।

(३) विदेशों से पदार्थों के सस्ते मूल्यों पर आयात को रोकने के लिये उचित कार्यवाही करना।

(४) यदि कोई उद्योग सरक्षण से अनुचित लाभ उठा रहा हो, जैसे—वह अनावश्यक ही अधिक मूल्य वसूल करता है अथवा इस प्रकार व्यवहार कर रहा हो कि जिससे वस्तुओं के मूल्य बढ़ जायें अथवा किसी अन्य प्रकार जन-हित के प्रतिकूल कार्य कर रहा हो, तो बोर्ड उसके विरुद्ध उचित कार्यवाही कर सकेगा।

(५) मूल्य-प्रणाली, रहन-सहन के व्यय तथा राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था के अन्य भागों पर संरक्षण के प्रभाव की जांच करना।

(६) व्यापारिक समझौतों के अन्तर्गत प्रशुल्क सुविधाओं का उद्योगों के विकास पर पड़ने वाले प्रभाव की जाँच करना।

(७) कर्त्तव्य पालन के मार्ग में आने वाली अड़चनों को दूर करने के उपायों पर विचार करना।

किसी भी उद्योग के संरक्षण का विचार करते समय आयोग को निम्न बातों की ओर ध्यान देना चाहिये :—(१) भारत एवं प्रतियोगी देशों में उस वस्तु का

उत्पादन व्यय। (२) प्रतियोगी वस्तुओं का आयात मूल्य। (३) प्रतिनिधिक उचित बिक्री मूल्य। (४) माग, स्थानीय उत्पादन तथा आयात का स्तर। (५) कुटीर, लघु तथा अन्य उद्योगों पर किसी उद्योग के संरक्षण का प्रभाव।

प्रशुल्क बोर्ड की सिफारिशें—

भविष्य में संरक्षण के लिये सन् १९४९-५० के प्रशुल्क कमीशन ने कुछ सिद्धान्त बनाये हैं। सन् १९२२ की पुरानी नीति को लगभग पूर्णत. त्याग दिया गया है। ये सिद्धान्त भारत के नये संविधान के अनुसार बनाये गये हैं, जिसमें आदेश दिया गया है कि "देश में कृषि हीनतर अथवा कृषि का अभाव नहीं होना चाहिये। प्राकृतिक साधनों का पूर्ण उपयोग होना चाहिये, उत्पादकता निरन्तर बढ़ती रहनी चाहिये, कृषि, घरेलू उद्योग तथा सहकारी आधार पर छोटे पैमाने के उद्योगों के विकास के लिए विशेष उपाय करने चाहिये और बड़े पैमाने का औद्योगिक विकास इस प्रकार होना चाहिये, जिसमें उद्योगों का विकेन्द्रीयकरण हो।" इन सिद्धान्तों के अनुसार प्रशुल्क बोर्ड ने निम्नलिखित सिफारिशें की हैं —

(१) राष्ट्रीय हित में प्रतिरक्षा तथा अन्य प्रमुख उद्योगों को संरक्षण अवश्य मिलना चाहिये।

(२) आधार उद्योगों को भी संरक्षण दिया जाय।

(३) अन्य उद्योगों के संरक्षण में इस बात का ध्यान रखा जावे कि उनके लिये प्राकृतिक साधनों की सुविधायें कितनी तथा कैसी हैं, उत्पादन का व्यय कितना होगा तथा कितनी अवधि के पश्चात् वे संरक्षण के बिना भी अपने पैरों पर खड़े होने योग्य बन सकते हैं।

(४) उन उद्योगों को, जो किसी रक्षित उद्योग की वस्तुओं का प्रयोग करते हैं, क्षतिपूरक संरक्षण दिया जा सकता है।

(५) राष्ट्र हित में कृषि उद्योगों को भी संरक्षण अवश्य प्रदान करना चाहिये।

(६) रक्षित उद्योग प्रशुल्क बोर्ड को इस बात का विश्वास दिलाये कि वह संरक्षण से कोई अनुचित लाभ न उठायेगा।

प्रशुल्क बोर्ड ने यह भी सिफारिश की थी कि एक पृथक विकास कोष हो, जिसमें प्रशुल्क करों का एक निश्चित भाग प्रति वर्ष डालना चाहिये और इस कोष से उद्योगों को निम्नलिखित परिस्थितियों में उचित आर्थिक सहायता दी जावे —(अ) जबकि देश के अन्दर का उत्पादन देश की माँग के केवल कुछ अंश को ही पूरा करता हो। (आ) जबकि उद्योग की वस्तुयें प्रमुख कच्चे माल की हों और (इ) जबकि उद्योग की अनेक विशिष्ट श्रेणी हों, जोकि एक दूसरे से अलग नहीं की जा सकतीं और केवल उन्हीं के संरक्षण की आवश्यकता हो।

उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा के लिए बोर्ड ने यह भी अनिवार्य कर दिया है कि रक्षित उद्योग के उत्पादन की मात्रा तथा उसकी वस्तुओं की किस्म की पूर्ण जाँच

होनी चाहिए। रक्षित उद्योग कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकते, जोकि समाज के हित में बाधक हो।

सन् १६५३-५४ में प्रशुल्क बोर्ड ने २८ जाँच कार्य किये, जिनमें २२ अनुदान या संरक्षण सम्बन्धी तथा ६ मूल्य निर्धारण सम्बन्धी थे। उद्योग संरक्षण के जिन नये मामलों पर बोर्ड ने इस वर्ष विचार किया वे रंग उद्योग, कास्टिक सोडा और ब्लीचिंग पाउडर, टिटैनियम डाइ-आक्साइड और मोटरों में काम आने वाली लीफ स्प्रिंग उद्योग आदि के सम्बन्ध में थे। मूल्य निर्धारण के मामलों में इस्पात, टीन की चादरें और सीमेंट के मामले भी थे।

उद्योग संरक्षण और मूल्य निर्धारण के जिन मामलों के बारे में सन् १६५३-५४ में रिपोर्ट उपस्थित की गई थी उनके सम्बन्ध में बोर्ड की सिफारिशों को सरकार ने सामान्यतः स्वीकार कर लिया। जाँच के फलस्वरूप बोर्ड को पता लगा था कि जिन उद्योगों को पहले से संरक्षण मिला हुआ था उनका उत्पादन तो अवश्य बढ़ा, परन्तु उत्पादन व्यय में और कमी करने की अभी आवश्यकता है। मण्डियों में विदेशी प्रतियोगिता बढ़ जाने से यह आवश्यक हो गया है कि उद्योग अपने उत्पादन की उत्तमता को बढ़ावें और उत्पादन व्यय कम करें, तभी उनकी स्थिति सुदृढ़ बन सकती है। कुछ रक्षित उद्योग ऐसे पाये गये, जिनमें पूरी क्षमता का उपयोग नहीं हो रहा था। कुछ लोगों ने सस्ती वस्तुओं के आयात का तर्क उपस्थित कर उद्योगों को अधिक संरक्षण प्रदान करने पर जोर दिया। देश के अन्दर भी भारतीय कारखानों को विदेशियों के कारखानों से प्रतियोगिता का भय प्रगट किया गया।

बोर्ड ने यह बताया कि संरक्षण का प्रश्न विदेशी प्रतियोगिता से सम्बन्धित है। देश के अन्दर होने वाली विदेशी प्रतियोगिता के बारे में तो प्रधान-मन्त्री अपने ६ अप्रैल सन् १६४६ के उस वक्तव्य से स्थिति स्पष्ट कर चुके हैं, जो उन्होंने भारत में विदेशी पूँजी के विनियोग के सम्बन्ध में दिया था।

किस उद्योग को कितना संरक्षण दिया जाय, इस बारे में बोर्ड के निर्णय का आधार साधारणतः सन् १६५१ के प्रशुल्क बोर्ड अधिनियम में स्वीकृत सिद्धान्त ही रहे हैं। बोर्ड ने पेंसिल, फाउन्टेनपैन, स्याही और बटन (प्लास्टिक के बटनों को छोड़कर) उद्योग की संरक्षण समाप्त करने की सिफारिश की। पीतल के बने बिजली के होल्डरों और सुरक्षित फलों के उद्योग के बारे में भी बोर्ड के सुझाव मान लिये गये हैं। संरक्षण जारी रखने की बात तो मान ली गई, परन्तु वर्तमान शुल्क घटाना स्वीकार नहीं किया गया।

उपसंहार—

प्रशुल्क नीति के इस संक्षिप्त इतिहास से स्पष्ट है कि ब्रिटिश सरकार ने भारत के हितों की लेशमात्र भी चिन्ता नहीं की। वे करते भी क्यों लगे? जो भी संरक्षण भारतीय उद्योगों को प्रदान किया गया, वह राजनैतिक परिस्थितियों से विवश होकर ही उन्होंने किया। उन्होंने अपने स्वार्थों को सदैव आगे रखा। साम्राज्य प्रथमता की

नीति भी अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए ही उन्होंने बनाई और इससे उन्हीं को विशेष लाभ हुए, किन्तु अब सरकार हमारी है। वर्तमान जनप्रिय सरकार ने राष्ट्र के हित में अब एक स्थायी प्रशुल्क बोर्ड नियुक्त कर दिया है और उसके अब तक के कार्यों से यह प्रगट होता है कि भारत की प्रशुल्क नीति देश-हित में बरती जायगी, अतः अब हमारे उद्योग दिन दूनी व रात चौगुनी उन्नति कर सकेंगे। भारत ने अब अन्य देशों से समझौते करने शुरू कर दिये हैं। इस प्रकार उन्नति की ओर हमारा कदम बढ़ गया है। हमें पूर्ण आशा है कि सफलता के अभीष्ट स्थान पर भी हम शीघ्र ही पहुँच सकेंगे।

---

[२०]

भारत मे वायु यातायात

रूप रेखा—

१ *प्रारम्भिक*—यातायात के समस्त साधनों में शीघ्र गति वाला साधन वायुयान ही है। वायु यातायात का विकास विश्व की एक नवीन घटना है, यद्यपि भारत तथा यूनान की प्राचीन कथाओं में उडान का वर्णन मिलता है। गुब्बारों की सहायता से उडान तथा आधुनिक वायुयान का आविष्कार। भारत में वायु यातायात का विकास वास्तव में विदेशी दबाव, साहस तथा उपक्रमों का परिणाम है।

२. *द्वितीय महायुद्ध से पूर्व भारत में यातायात*—भारत में वायु उडान सर्व प्रथम सन् १६११ में आरम्भ हुई। वास्तविक प्रगति सन् १६१४ की लडाई के बाद हुई। सन् १६१६ मे भारत सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्मति स्वीकार की। सन् १६२६ मे हवाई बोर्ड का निर्माण किया गया, जिससे विकास के हेतु अनेक सुझाव दिए। सन् १६२७ में नागरिक वायु यातायात विभाग की स्थापना की गई। सन् १६३२ में भारत के सभी प्रमुख नगरों में वायु याता यात प्रारम्भ हो गया।

३ *द्वितीय महायुद्ध मे वायु यातायात का विकास*—युद्धकाल मे वायु यातायात को बडा प्रोत्साहन मिला। सन् १६४३ तक १७ नई सेवायें स्थापित की गईं, उडान क्लब खोले गये तथा शिक्षण सुविधाएँ प्रदान की गईं। हिन्दुस्तान एयर क्राफ्ट फैक्टरी की स्थापना हुई। युद्धोपरान्त काल के लिए एक योजना बनाई गई। नीति समिति के सुझाव। १६ २ करोड रुपये की वायु अड्डा निर्माण योजना घोषित की गई तथा एक अनुसन्धानशाला की भी व्यवस्था की गई।

४. *युद्धोपरान्त काल में प्रगति*—युद्ध के बाद स्थिति सन्तोषजनक रही। सन् १६४७ के विभाजन ने वायु यातायात के विकास को और भी प्रोत्साहन दिया। बाहरी वायु मार्गों के निर्माण की एक नई योजना बनाई गई। प्रमुख तथा सहायक मार्गों का निर्माण, हवाई अड्डों तथा हवाई सम्वादवाहन सेवाओं का विस्तार। वर्तमान स्थिति।

५ *वायु यातायात का राष्ट्रीयकरण*—वायु यातायात जाँच समिति सन् १६५० की सिफारिशें। १ अगस्त सन् १६५३ को वायु यातायात का राष्ट्रीयकरण।

ट्री कॉरपोरेशनों की स्थापना, राष्ट्रीयकरण के पश्चात् उन्नति। पंच वर्षीय योजना में वायु यातायात का विकास।

६ निष्कर्ष—भविष्य उज्ज्वल है, खोज की भारी आवश्यकता है।

प्रारम्भिक—

यातायात के साधनों में सबसे अधिक शीघ्र गति वाला साधन वायुयान ही है, जिसकी औसत गति १६०—२०० मील प्रति घण्टा होती है। वायु यातायात की महिमा इस विज्ञापन से स्पष्ट है—"कलकत्ते में प्रातः चाय लीजिए और उसी दिन भोजन दोपहर को श्री नगर में कीजिए। वह दिन दूर नहीं जब "पेरिस में प्रातः नाश्ता करके उसी दिन बम्बई में भोजन करना सम्भव हो जाएगा।"

वायु यातायात का इतिहास विश्व की एक नवीन घटना है। इसके द्वारा सचमुच में यातायात के इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ होता है। प्राचीन काल में मनुष्यों की यह कामना थी कि वे पक्षियों की भाँति वायु में उड़ें। यूनान की पुरानी कहानियों में ऐसा वृत्तान्त पाया जाता है, जिसके अनुसार मोम के पंख लगाकर जेल से उड़ जाने का प्रयत्न किया गया था। रामचरित मानस में भी पुष्पक विमान का उल्लेख है। ऐसा कहा जाता है कि भगवान रामचन्द्र पुष्पक विमान के द्वारा ही लङ्का से अयोध्या पहुँचे थे। महाभारत के युद्ध में शत्रुओं की सेना पर मोले बरसाने का काम इन वायुयानों द्वारा ही किया गया था। कुछ भी हो, इन घटनाओं से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि आरम्भ से ही मनुष्य के हृदय में उड़ने की लालसा रही है। इस दिशा में सर्वप्रथम महत्वपूर्ण कार्य उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में किया गया। प्रारम्भ में गुब्बारों की सहायता से उड़ने का प्रयत्न किया गया और कुछ ऐसी गैसों का पता लगाया गया, जो वायु से भी हल्की थीं। यह भी अनुभव किया गया कि यदि गुब्बारों में हाइड्रोजन गैस भर दी जावे तो कुछ बोझ लेकर भी वायु में उड़ सकते हैं। गुब्बारों के साथ उड़ने के भी अनेक प्रयत्न किये गये। निरन्तर उद्योग के उपरान्त कुछ ऐसी मशीनरी का आविष्कार किया गया, जो उड़ सकती थीं। मोन्ट गोलफायर (Mont Golfier) महोदय ने हाइड्रोजन गैस के स्थान पर हीलियम गैस का उपयोग किया, जो वायु से भी हल्की होती है। फ्रांस में लैंगले (Langlay) ने और अमेरिका में राइट (Wright) ने स्वतन्त्र प्रयोग किये और अन्त में ऐसी मशीनों का आविष्कार किया, जो बिना गुब्बारों के भी वायु में उड़ सकती थीं। वायुयान बनाने के लिये एल्यूमीनियम धातु का प्रयोग किया गया है, जो सबसे हल्की होती है।

भारतवर्ष में वायु यातायात को आरम्भ हुये अभी अधिक समय नहीं हुआ है। योरोपीय देशों ने इस दिशा में बड़ी शीघ्र उन्नति की, किन्तु भारत सरकार इस सम्बन्ध में साधारणतः उदासीन ही रही। सच बात तो यह है कि ब्रिटिश सरकार को भारत में इस व्ययपूर्ण यातायात के विकास में विशेष रुचि न थी। भारत में

विशेषत शिल्पकारी शिक्षण का अभाव था और वायुयान वाहकों की भी कमी थी, जिसके कारण वायु यातायात के विकास में शिथिलता रही।

सौभाग्य से भारत की भौगोलिक स्थिति वायु यातायात का विकास के लिए अत्यन्त अनुकूल है। यही कारण है कि ब्रिटिश सरकार के उदासीन होते हुए भी वायु यातायात का विकास हो ही गया। भारतवर्ष, योरोप, आस्ट्रेलिया तथा सुदूरपूर्व के देशों में स्थित है, अतएव इंगलैंड तथा योरोप के व्यवसाइयों ने भारतवर्ष में हवाई अड्डों का निर्माण करने का जोर दिया। इसी काल में एशिया महाद्वीप में जापान का प्रभुत्व बढ़ा और चीन की हार के बाद अन्य देशों को भी घबराहट होने लगी। इस प्रकार राजनैतिक परिस्थितियों से विवश होकर वायु यातायात का विकास तथा अड्डों का निर्माण आवश्यक हो गया। हमारे देश में वायु यातायात की जो भी उन्नति हुई वह वास्तव में विदेशी दबाव, साहस तथा उपक्रमों का परिणाम थी।

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व भारत में वायु यातायात—

भारतवर्ष में हवाई उड़ान सर्व प्रथम सन् १९११ में प्रारम्भ हुई। बम्बई के गवर्नर सर जार्ज लायड ने बम्बई और करांची के मध्य परीक्षण की दृष्टि से हवाई उड़ान की व्यवस्था की। कुछ अन्य स्थानों में भी परीक्षण की ही दृष्टि से वायु यातायात की व्यवस्था की गई, किन्तु वायु यातायात की वास्तविक प्रगति सन् १९१४ की बड़ी लड़ाई के पश्चात् हुई, जबकि भारत सरकार ने कुछ लैंडिंग ग्राउन्डस की व्यवस्था की थी। सन् १९१९ में ३० अन्य राज्यों की भाँति भारत सरकार ने वायु यातायात नियन्त्रण की अन्तर्राष्ट्रीय सम्मति स्वीकार कर ली। इसके अनुसार भारत सरकार को अन्य देशों के वायुयानों को कुछ सुविधाएँ देनी पड़ीं तथा यातायात और अनुज्ञापन के सम्बन्ध में अन्य देशों का अनुकरण करना पड़ा।

सन् १९२६ में हवाई बोर्डों का निर्माण किया गया, जिसने मई सन् १९२६ में भारत सरकार के सम्मुख एक मैमोरैन्डम प्रस्तुत किया, जिसमें नागरिक वायु यातायात के इतिहास के साथ-साथ भविष्य के लिए उसके इतिहास की योजना भी रक्खी गई थी। वायु यातायात के विकास के लिए इस बोर्ड ने निम्नलिखित सुझाव दिये :—

(१) हवाई जहाजों के उतरने के मैदान तथा उनसे सम्बन्धित सभी सामान भारत में सरकार की सम्पत्ति होना चाहिए और बेतार सेवाओं तथा मौसमी रिपोर्टों की व्यवस्था भी सरकार को ही करनी चाहिए।

(२) भविष्य में भारत से गुजरने वाली किसी भी विदेशी वायु लाइन के निर्माण में भारत सरकार की स्वीकृत अनिवार्य होनी चाहिए और ऐसे उपक्रमों में भारत सरकार की साझेदारी भी होनी चाहिए।

(३) जहाँ तक आन्तरिक सेवाओं का सम्बन्ध है, भारत सरकार को प्रारम्भ में इन्हें आर्थिक सहायता देनी चाहिए।

(४) भारत में एक स्थायी नागरिक वायु यातायात विभाग खोलना चाहिए।

बोर्ड की सिफारिशों के अनुसार सन् १९२७ में नागरिक वायु यातायात विभाग की स्थापना की गई और उसके बाद बड़ी तेजी से हवाई अड्डों का निर्माण हुआ तथा फ्लाइंग क्लबों की स्थापना हुई। सन् १९२९ में इम्पीरियल ऐयरवेज के द्वारा भारत तथा लन्दन के बीच नियमित रूप से वायु यातायात का श्री गणेश हुआ और सन् १९३२ में भारत में ही प्रमुख स्थानों के बीच वायु यातायात आरम्भ हो गया। सन् १९३२ में भारतीय पूँजीपतियों ने भी वायु यातायात उद्योग में भाग लिया। उनके द्वारा आरम्भ की हुई। मुख्य कम्पनी टाटा ऐयरलाइन्स है। दूसरी मुख्य कम्पनी इन्डियन नैशनल लिमिटेड है, जो देहली में सन् १९३३ में आरम्भ हुई। सन् १९३९ में ऐयर सर्विसेज ऑफ इन्डिया लिमिटेड शुरू हुई।

द्वितीय महायुद्ध में वायु यातायात का विकास—

द्वितीय महायुद्ध के काल में वायु यातायात को बड़ा प्रोत्साहन मिला। युद्ध का तात्कालिक प्रभाव तो यह हुआ कि देश की विदेशी वायु सेवाओं में भारी कमी की गई। ऐयर मेल सेवाओं में भी कमी हुई। आन्तरिक वायु-सेवाओं का उपयोग नागरिक जन-संख्या के लिये घटा दिया गया और निरन्तर यही प्रयत्न किया गया कि वायु सेवाओं का युद्ध के हेतु उपयोग किया जाय। युद्ध के ही दृष्टिकोण से वायु मार्गों में भी कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। अनेक नई सेवायें भी आरम्भ की गईं और सन् १९४३ के अन्त तक १७ नई सेवायें स्थापित की गईं। इसी समय भारत का सम्पर्क डरबन, काहिरा तथा चुन्किग से स्थापित किया गया। इस युग में व्यक्तिगत उपक्रम भी पीछे न रहा। रायल इन्डियन ऐयरफोर्स ने निर्माण तथा विकास की अनेक योजनायें पूर्ण कीं। सन् १९४० में दस फ्लाइंग क्लब स्थापित किये गये, जिनका उद्देश्य उड़ान की शिक्षा देना था। उच्चतम शिक्षा के हेतु वायुयान चालकों को इङ्गलैंड भेजा गया। इसी काल में (Meteorological Department) का भी पुनर्गठन किया गया। इस विभाग ने वायु यातायात को अधिकतम सुविधायें देने का पूर्ण प्रयत्न किया।

युद्ध युग में वायु सेना का भी अच्छा निर्माण किया गया। स्कूलों तथा कॉलिजों में उपयुक्त योग्यता वाले छात्रों को ऐयरफोर्स में भरती होने के लिये प्रोत्साहित किया गया। जन साधारण में रुचि उत्पन्न करने के लिए नागरिकों के लिए उड़ानों का प्रबन्ध किया गया। अमेरिकन वायु सेना ने देश में उच्च कोटि के सैनिक हवाई अड्डे बनाये। अमेरिका के साथ एक 'लैन्ड लीज' समझौता भी किया गया, जिसके आधार पर आवश्यक मशीनरी के आयात का प्रबन्ध किया गया। सन् १९४२ में लार्ड लिनलिथगो ने कहा था कि भारतीय वायु सेना तेजी के साथ एक शक्तिशाली अस्त्र के रूप में विस्तृत हो रही है।

युद्ध युग की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इस काल में हमारे देश में हवाई जहाजों के बनाने का काम भी शुरू किया गया। इस दिशा में पथ निर्देशन का श्रेय श्री बालचन्द्र हीराचन्द्र को है, जिन्होंने सन् १९४० में मैसूर राज्य के सहयोग से

बंगलौर में हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट कम्पनी स्थापित की। यह कम्पनी एक अमेरिकन विशेषज्ञ की सरलता में चार करोड रुपये की स्वीकृत पूँजी से आरम्भ की गई। शुरू में तो इस कम्पनी का काम पुरजों का इकट्ठा करना तथा वायुयान को जोडना था, किन्तु इसका उद्देश्य वायुयान निर्माण करना भी था। सन् १९४१ में भारत सरकार भी इस कम्पनी में एक साझेदार बन गई। हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट कम्पनी का सबसे पहला हवाई जहाज जुलाई सन् १९४१ मे बनाया गया। दूसरा इसके ठीक एक महीने बाद। सन् १९४२ तक कम्पनी ने अपना कार्यक्षेत्र काफी बढ़ा लिया, किन्तु इस समय भारत सरकार ने कम्पनी को पूर्णतः अपने अधिकार में लेना निश्चित किया। राष्ट्रीयकरण का प्रधान कारण यह बताया गया कि इसके द्वारा अर्थ सम्बन्धी जोखिम तथा शासन की जटिलता कम हो जायगी। इसके अतिरिक्त भेदों को भी गुप्त रखा जा सकेगा। परिणामस्वरूप अप्रैल सन् १९४२ में वालचन्द्र हरीचन्द्र के हितों को खरीद लिया गया। मैसूर सरकार ने अपने आर्थिक हित तो बनाये रखे, किन्तु प्रबन्ध में भाग न लेने का आश्वासन दिया। सन् १९४५ में भारत सरकार ने इस फैक्टरी को उद्योग तथा पूर्ति विभाग के अन्तर्गत पुनर्संगठित किया। ऐसी योजना है कि यह फैक्टरी वायु सेना के लिये शिक्षक वायुयानों का निर्माण करे।

युद्धोपरान्त योजना—

द्वितीय महायुद्ध के बाद भारत सरकार ने नागरिक वायु यातायात के विकास के लिए एक योजना बनाई। सर मुहम्मद की अध्यक्षता मे एक नीति समिति का निर्माण किया गया। इस समिति को तीन बातों पर ध्यान देना था—(१) भारत सरकार के लिए एक युद्धोपरान्त नागरिक वायु यातायात योजना, (२) हवाई अड्डों तथा हवाई मार्गों का निर्माण, (३) हवाई अड्डों तथा हवाई मार्गों का संगठन।

इस समिति ने भारत में नागरिक वायु यातायात के इतिहास की जाँच की और अन्त में नये हवाई अड्डे तथा नये हवाई मार्गों के सम्बन्ध में बहुत से नये नियमों का सुझाव दिया तथा आन्तरिक सेवाओं के विकास की सिफारिश की। विदेशी सेवाओं के सम्बन्ध मे इस समिति का यह विचार था कि भारत को अन्तर्राष्ट्रीय सेवाओं के स्थापन और संचालन मे अन्य देशों के साथ मिल कर काम करना चाहिए। समिति के मतानुसार वायु सेवायें व्यक्तिगत कम्पनी द्वारा ही चलाना उचित समझा गया, किन्तु उन पर राजकीय नियन्त्रण आवश्यक बताया गया। यह भी सिफारिश की गई कि आरम्भ में राज्य की सहायता आवश्यक है। समिति ने १२·५ करोड रुपये की हवाई अड्डे तथा हवाई मार्गों के निर्माण की एक अखिल भारतीय योजना बनाई। यह सिफारिश की गई कि हवाई जहाजों के उतरने के लिए काफी विस्तृत मैदान होने चाहिए और रेडियो, हवाई अड्डों तथा मौसम के सम्बन्ध में अधिक सूचनायें प्राप्त होनी चाहिए। नागरिक वायु यातायात द्वारा तैयार की गई योजना मे अनुसन्धान की भी व्यवस्था की गई। अप्रैल सन् १९४६ में एक छोटी सी किन्तु स्वतन्त्र अनुसन्धान-शाला दिल्ली में सफदरजंग हवाई अड्डे के पास खोली गई।

युद्धोपरान्त काल में प्रगति—

युद्ध के पश्चात् भारतवर्ष को अनेक उच्च कोटि के हवाई अड्डे प्राप्त हुए, जो देश में चहुँ ओर फैले हुए थे। एक बडी संख्या में विभिन्न प्रकार के वायुयान भी मिले। फ्लाइंग क्लब तथा शिक्षण संस्थायें भी बहुत स्थापित हो गई थीं, वायु सेना ने भी अच्छी प्रगति कर ली थी। सन् १९४७ के बँटवारे ने वायु यातायात के विकास की ओर भी प्रोत्साहन दिया। विभाजन के बाद साम्प्रदायिक झगड़ों के काल में सहस्त्रों की संख्या में शरणार्थियों को आपत्ति से बचा कर वायुयान भारत ले आये। काश्मीर के युद्ध में तथा आसाम में बाढ और भूकम्प के समय में वायु यातायात ने अनुपम सेवा प्रदान की। वर्तमान युग में हमारी राष्ट्रीय सरकार ने वायु सेना तथा वायु यातायात दोनों की ही वृद्धि करने का प्रयत्न किया है। सन् १९४९ में एक नई योजना बनाई गई, जिसका उद्देश्य वायु यातायात के विकास को भी और अधिक शीघ्रगामी करना था। भारत सरकार ने नागरिक वायु यातायात के विकास के लिये एक नई योजना का निर्माण किया, जिसमें वायु सेवाओं को तीन भागों में बाँटने का प्रस्ताव रखा गया (अ) अन्तर्राष्ट्रीय लाइनें, (आ) मुख्य लाइनें, (इ) सहायक लाइनें। अन्तर्राष्ट्रीय समिति के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सेवायें भारत का विदेशों से सम्बन्ध स्थापित करेंगी और भारत उनमें सम्मिलित रहेगा। विदेशी सेवायें स्थापित करने में प्रथम पग सन् १९४७ में उठाया गया, जबकि भारत ब्रिटेन वायु सेवा का उद्घाटन किया गया। Air India International नाम की एक नई कम्पनी खोली गई, जिसके ४९% शेयर भारत सरकार के पास थे। मई सन् १९४९ में भारत ऐयरवेज लिमिटेड ने कलकत्ता हाँकांग सेवा का उद्घाटन किया। युद्धोत्तर योजना के अनुसार १०,५०० मील लम्बी मुख्य वायु सेवायें आरम्भ की गई। ३० जनवरी सन् १९४९ से रात की डाक सेवायें कुछ मार्गों पर चालू की गई। तत्पश्चात् प्रत्येक प्रकार की डाक को यथा सम्भव वायु सेवाओं द्वारा ले जाने का प्रयत्न किया गया।

सहायक लाइनों के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया था कि उनको पूर्णत निजी उपक्रम पर छोड दिया जाय। नागरिक वायु यातायात योजना में हवाई अड्डों के निर्माण की व्यवस्था की गई। अगस्त सन् १९४७ की योजना में भारत ने ३ अन्तर्राष्ट्रीय, ७ बडे, १२ मध्यम श्रेणी के और २२ छोटे हवाई अड्डों के निर्माण का प्रस्ताव किया गया था। ७८ हवाई अड्डों के लिये रात्रि उडान की व्यवस्था उपलब्ध करने की योजना थी। योजना में ९६ छोटे बडे नगरों के लिये हवाई अड्डों की व्यवस्था की गई थी।

इस समय हमारे देश में ४३ वायु सम्वादवाहन के स्टेशन हैं, जिनमें ३९ का संचालन नागरिक वायु विभाग द्वारा किया जाता है और शेष ४ का राज्य संघों द्वारा। इनके अलावा 7 Navigational 7 Aids और Air Ground Communication Channels हैं। इन सुविधाओं के विस्तार की भी योजना है। आजकल

सहारनपुर का नागरिक वायु शिक्षण केन्द्र सचालकों तथा कारीगरों को शिक्षा सुविधायें प्रदान करता है। सन् १९४७ के अन्त तक इस केन्द्र मे ७,१२० लोगों ने शिक्षा पाई। सन् १९४८ मे वायुयान चालकों के अभाव को दूर करने के लिये नागरिक वायु यातायात विभाग ने तीन वर्ष में ३०० चालकों को शिक्षण प्रदान करने की योजना बनाई थी, जिसका कुल व्यय एक करोड रुपया था। सितम्बर सन् १९४८ में इलाहाबाद में एक उड़ान स्कूल भी स्थापित कर दिया गया। इसके अतिरिक्त सरकार ने निजी उड़ान क्लबों को भी आर्थिक सहायता प्रदान की। एक भारतीय वायुयान विद्या सभा की स्थापना हो चुकी है, जो वायुयान विद्या में परीक्षा लेने का कार्य करेगी।

सन् १९५३ के प्रारम्भ में भारतवर्ष में ९ वायु यातायात कम्पनियाँ थीं — (१) एयर इण्डिया, बम्बई, (२) इण्डिया नेशनल एयरवेज, नई दिल्ली, (३) एयर सर्विसेज ऑफ (इण्डिया), बम्बई, (४) डैकन एयरवेज, बेगमपैठ, (५) ऐयरवेज इण्डिया, कलकत्ता, (६) भारत एयर वेज, कलकत्ता, (७) एयर इण्डिया इन्टरनेशनल, बम्बई (८) हिमालय एवियेशन, कलकत्ता, (९) कलिंगा एयर लाइन्स, कलकत्ता। इनके अतिरिक्त बी० ओ० ए० सी०, के० एल० एम०, टी० डब्लू० ए० तथा पेन अमेरिकन एयरवेज आदि अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की वायु यातायात की कम्पनियों द्वारा वायु यातायात की व्यवस्था भारत में होकर है।

भारतीय कम्पनियों की अधिकृत पूँजी २१ करोड ४० लाख रुपया थी। हवाई मार्गों की कुल लम्बाई २८,००० मील से अधिक है। रजिस्ट्री शुदा वायुयानों की सख्या ३० जून सन् १९५२ को ६७० थी।

वायु यातायात का राष्ट्रीयकरण—

वायु के विकास के हेतु सन् १९५० में वायु यातायात जाँच समिति नियुक्त की गई, जिसने भारतीय वायु मार्ग कम्पनियों की स्थिति तथा उनकी समस्याओं का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला कि भारतवर्ष में वर्तमान मांग की दृष्टि से वायु यातायात कम्पनियों की सख्या कहीं अधिक है, जिसके फलस्वरूप अनावश्यक और अधिक व्यय होता है, अनुचित पारस्परिक स्पर्धा को प्रोत्साहन मिलता है और कम्पनियों की आमदनी में कमी आती है। इस असन्तोषजनक स्थिति के लिए लाइसेन्सिग बोर्ड भी उत्तरदायी है, जिसने आवश्यकता से अधिक कम्पनी खोलने के लिए आज्ञा दे दी। वायु यातायात जाँच समिति की प्रमुख शिफारिशें इस प्रकार हैं —

(१) भारत की वर्तमान परिस्थितियों से यहाँ केवल चार कम्पनियाँ ही होनी चाहिए—बम्बई, कलकत्ता, हदराबाद और दिल्ली में। ऐसा करने के लिए वर्तमान कम्पनियों को मिला देना चाहिए। समिति ने अपनी रिपोर्ट में डैकन ऐयरवेज और ऐयर सर्विसेज को मिला देने की सिफारिश की।

(२) किराये के विषय में समिति ने यह तो नहीं कहा कि वर्तमान किराये अनुचित हैं, किन्तु यह कहा कि स्थाई सम्पत्ति पर १०% की आय होनी चाहिए और इसी आधार पर किराये भी निश्चित होने चाहिए।

(३) समिति ने यह भी सिफारिश की कि भारत सरकार वायु यातायात कम्पनियों को जो आर्थिक सहायता देती आ रही है, वह कम से कम दिसम्बर सन् १९५२ तक जारी रहे। आर्थिक सहायता पेट्रोल पर लगने वाले आयात कर पर रिबेट के रूप में दी जाती है।

(४) वायु यातायात कम्पनियों के लाभ पर सरकार का पूर्ण नियन्त्रण रहना चाहिए।

(५) समिति ने इस बात पर भी जोर दिया कि कम से कम अगले पाँच वर्ष तक वैयक्तिक व्यवसाय को समाप्त नहीं करना चाहिए और यदि राष्ट्रीयकरण किया जाय तो स्टैट्यूटरी कारपोरेशन के द्वारा ही वायु यातायात का संचालन हो।

वायु यातायात जाँच समिति ने राष्ट्रीयकरण का विरोध करते हुए यह सिफारिश की कि विभिन्न वर्तमान वायुयान कम्पनियों का एकीकरण किया जाय, उड़ान के घन्टे कम किये जायें, स्टाफ की छटनी की जाय, किराये बढ़ाये जायें और प्रमाणीकृत व्यय के आधार पर कुछ कम्पनियों को आर्थिक सहायता प्रदान की जाय, किन्तु वायु यातायात कम्पनियाँ स्वेच्छा से एकीकरण के लिए तैयार न थीं। साथ ही अधिकांश कम्पनियाँ नुकसान पर चल रही थीं और वायु यातायात की दशा बिगड़ती ही जा रही थी, अतएव ऐसी परिस्थिति में समिति की सिफारिशों के विरुद्ध भारत सरकार ने वायु यातायात का राष्ट्रीयकरण करने का निश्चय किया और अपने इस निर्णय के पक्ष में नीचे लिखे लाभ बतलाये:—

(१) वायु यातायात कम्पनियों की आर्थिक स्थिति बहुत बिगड़ गई, अतः राजकीय हस्तक्षेप वांछनीय है।
(२) इनके पास आधुनिक वायुयान लेने के लिए पर्याप्त धन नहीं है, अतः वे विदेशी स्पर्धा में टिक नहीं सकतीं।
(३) खर्चों में बचत करना आवश्यक है, जो राष्ट्रीयकरण होने पर ही सम्भव है।
(४) देश रक्षा की दृष्टि से भी इस सेवा का राष्ट्रीयकरण जरूरी है।
(५) नागरिक वायु यातायात की कार्य प्रणाली में नये-नये परिवर्तन हो रहे हैं, जिनका पूरा लाभ कोई सरकारी संस्था ही उठा सकती है।

राष्ट्रीयकरण की योजना—

सन् १९५३ में वायु यातायात कारपोरेशन अधिनियम पास किया गया, जिसमें निम्नलिखित मुख्य बातों की व्यवस्था की गई:—

(१) वैधानिक और स्वतंत्र दो कारपोरेशन एक आन्तरिक वायु सेवाओं को चलाने के लिए और दूसरे, वायु सेवाओं को चलाने के लिये स्थापित करने की व्यवस्था की गई। प्रत्येक के लिए कम से कम ५ और अधिक से अधिक ९ सदस्य केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत किये जायेंगे। इन कारपोरेशनों को वर्तमान कम्पनियों के लेने का अधिकार और वायु यातायात का अधिकार दिया जायगा। ये कारपोरेशन लाभकारी, सुरक्षित और पर्याप्त मात्रा में वायु सेवायें उपलब्ध करेंगे।

(२) ले ली जाने वाली वायु कम्पनियों के कर्मचारी गणों को कारपोरेशन द्वारा नौकर रख लिया जायगा और इनके साथ अच्छा सम्बन्ध बनाये रखने के लिये प्रत्येक कारपोरेशन में श्रम सम्बन्ध समिति स्थापित की जायगी।

(३) वर्तमान कम्पनियों को उनकी सम्पत्ति की लागत में से आय-कर अधिनियम के अनुसार ह्रास को काटकर हर्जाने की रकम निर्धारित की जायगी। मतभेद की दशा में केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त होने वाले ट्रिब्यूनल का निर्णय मान्य होगा। हर्जाने की रकम १०% नगद और शेष ३½% ब्याज वाले पच वर्षीय बाण्डों में दी जायगी।

(४) वायु यातायात से सम्बन्धित जाँच पड़ताल करने के लिये केन्द्रीय सरकार वायु यातायात काउन्सिल नियुक्त करेगी, जिसमें ११ सदस्य होंगे।

(५) केन्द्रीय सरकार को इन कारपोरेशनों के ऊपर नियन्त्रण रखने का अधिकार होगा। सरकार को अधिकार होगा कि वह कारपोरेशनों के निर्णयों को ठुकरा दे या स्वीकार करले।

उक्त व्यवस्था के अन्तर्गत दो कारपोरेशनों की स्थापना की गई है—

(१) इन्डियन एयरलाइन्स कारपोरेशन, एयर इन्डिया इन्टरनेशनल लि० के अतिरिक्त अन्य सब कम्पनियों को ले लेने के लिये और आन्तरिक वायु सेवायें तथा पड़ोसी देशों, जैसे—बर्मा, लका, पाकिस्तान, अफगानिस्तान आदि के लिये वायु सेवायें चलाने के लिये। (२) एयर इण्डिया इण्टरनेशनल कारपोरेशन—एयर इन्डिया इन्टर नेशनल लि० को लेने के लिए और वाह्य एव अन्तर्राष्ट्रीय सेवाओं को चलाने के लिये।

१४ नवम्बर सन् १९५३ को प्रेस सम्मेलन में बोलते हुए भारत के सम्वाद वाहन के उपमन्त्री ने बम्बई में कहा कि हवाई यातायात द्वारा राष्ट्रीयकरण के पश्चात सतोषजनक प्रगति की गई है। सेवाओं में गुणात्मक उन्नति के साथ साथ यात्रियों की सुविधायें भी बढ़ गई हैं। एयर इन्डिया इन्टरनेशनल यात्रियों की सुविधायें सुपर कान्सीटलेशन जोड़कर और बढ़ा देगी। उन्होंने यह भी बताया कि हवाई जहाजों पर यात्री श्रेणी बहुत सफल रही है। श्रम भी बहुत सतुष्ट है। भारत के विदेशी सम्वाद् वाहनीय साधनों का विकास पच-वर्षीय योजना के अनुसार प्रगति कर रहा है।

योजना की आलोचना—

वैयक्तिक उपक्रम का इतिहास पिछले २० वर्षों में बड़ा सतोषप्रद था। इसने आर सुरक्षित सेवायें प्रदान की और आवश्यकता के समय सरकार को पूरा सहयोग दिया, अतएव इस सेवा का राष्ट्रीयकरण उनके कार्यों का निरादर है। फिर इधर जो कम्पनियों की स्थिति बिगड़ी, उसका भी कारण स्वय सरकार ही थी, क्योंकि उसने जाँच समितियों के निर्देशानुसार नियन्त्रण नहीं रखा। लाइसेन्स देने में लापरवाही रखी गई, जिससे स्पर्धा तीव्र हो गई और कम्पनियों की आर्थिक दशा बिगड़ने लगी, अत कम्पनियों को आर्थिक सहायता देनी चाहिये थी न कि उनका राष्ट्रीयकरण करना। दूसरे, ले ली जाने वाली कम्पनियों का हर्जाना वर्तमान कीमत के आधार पर होना

चाहिये था। साथ, कर्मचारियों के प्रशिक्षण पर किये गये व्यय, नये मार्गों को खोलने के लिये किये गए व्यय आदि का भी हर्जाना देना चाहिए था। इसके विपरीत यह कहा गया कि ऐसा करने से हर्जाने की इतनी अधिक राशि देनी पड़ती कि राष्ट्रीयकरण का उद्देश्य ही प्राप्त न हो पाता। तीसरे, एकीकरण के अन्तर्गत बहुत से कर्मचारियों को नौकरियों से हाथ धोना पड़ेगा। दो कारपोरेशन के स्थान पर एक ही कारपोरेशन स्थापित करने से आन्तरिक और वाह्य सेवाओं में समान नीति का अनुकरण सम्भव होता और प्रबन्ध सम्बन्धी खर्चे में भी काफी बचत हो जाती। इसके उत्तर में सरकार का यह कहना है कि दोनों कारपोरेशनों के अधिकाँश सदस्य एक ही हैं और दोनों कारपोरेशनों के भली प्रकार स्थापित हो जाने पर एकीकरण पर विचार किया जायगा। पाँचवे, कारपोरेशनों की स्वतन्त्रता दिखावटी है और इनका अस्तित्व सरकारी विभाग के समान ही है। कई कार्यों में सरकार की स्वीकृति लेनी पड़ेगी। इस प्रकार दैनिक कार्यों में सरकारी हस्तक्षेप का होना और निर्णयों तक पहुँचने में देरी लगाना सम्भव है।

जो भी हो, राष्ट्रीयकरण तो हो ही गया है। अब देखना यह है कि राष्ट्रीयकरण सस्ती और सुरक्षित सेवायें कहाँ तक उपलब्ध करता है।

निष्कर्ष—

वायु परिवहन का राष्ट्रीयकरण सन् १९५३ में हुआ था। इण्डियन एयर लाइन्स कॉरपोरेशन द्वारा संचालित सेवा देश के सभी भागों को मिलाती है। इनके वायु मार्गों की कुल लम्बाई १२,२०१ मील है। एयर इण्डिया इण्टरनेशनल द्वारा संचालित सेवाओं के विमान १२ देशों को जाते हैं और उनके वायु मार्गों की कुल लम्बाई १६,६७१ मील है। दोनों कॉरपोरेशनों में अतिरिक्त विमान खरीदने और संचालन सुविधाओं में सुधार करने के बड़े कार्यक्रम बनाये गये हैं।

प्रथम योजना की अवधि में वायुयानों के ९ अड्डे बनाये गये और द्वितीय में ८ और बनाये जायेंगे। इसके अतिरिक्त कई अड्डों में दूर संचार का तथा अन्य आवश्यक साज सामान बढ़ाया जायगा। योजना में वैमानिक के प्रशिक्षण के लिये विशेष कार्यक्रम बनाये गये हैं, अतः स्पष्ट है कि भारत में वायु यातायात का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है तथा विकास की भी सम्भावना काफी अधिक है। हाँ, नियोजित तथा शीघ्रतम विकास के लिये अनुसन्धान की विशेष आवश्यकता है।

[२१]

रेल तथा सड़क यातायात का समन्वय

रूपरेखा—

१ *प्रारम्भिक*—आन्तरिक यातायात के तीन मुख्य साधन हैं—रेल, सड़क तथा वायु। वायु यातायात का क्षेत्र अत्यन्त सकुचित है और यह रेल अथवा सड़क का प्रतिस्पर्धी नहीं बन सकता। हाँ, रेल तथा सड़क यातायात के मध्य प्रतिस्पर्धा की समस्या पैदा होती है। दीर्घकालीन दृष्टि से रेल यातायात सस्ता है, किन्तु अल्पकालीन दृष्टि से सड़क यातायात लाभदायक है।

२ *रेल तथा सड़क यातायात की प्रतियोगिता*—प्रतिस्पर्धा का प्रधान कारण रेल तथा सड़क यातायात का अयोजित विकास है। रेल तथा सड़क यातायात की प्रतिस्पर्धा महान अवसाद के परिणामस्वरूप आरम्भ हुई। प्रतिस्पर्धा का दूसरा मुख्य कारण रेलों तथा मोटरों द्वारा चार्ज किया जाने वाला किराए का तरीका है।

३ *प्रतिस्पर्धा के घातक परिणाम*—प्रतिस्पर्धा से राष्ट्र का बड़ा अहित होता है। रेलो को आर्थिक हानि होती है तथा विषम प्रतिस्पर्धा के कारण मोटर यातायात की कार्यक्षमता गिरती है। सन् १९३२ में मिचल किर्कनैस रिपोर्ट के अनुमानानुसार भारतीय रेलों को सड़क यातायात की प्रतियोगिता के कारण ११० लाख रुपए का वार्षिक घाटा हुआ। सन् १९३७ में वेजवुड कमेटी ने वार्षिक घाटे का अनुमान ४५० लाख रुपए लगाया था।

४ *रेलों ने प्रतियोगिता का सामना क्योंकर किया ?*—रेलवे कम्पनियों ने भी प्रतियोगिता का सामना करने के लिए अपनी मोटर सेवायें आरम्भ कीं। कुछ कम्पनियों ने किराये में कमी की। यात्री सुविधाओं का भी विस्तार किया गया।

५ *रेल तथा सड़क यातायात के समन्वय ही एकमात्र उपाय*—वास्तविकता यह है कि प्रतिस्पर्धा का उन्मूलन करने के लिए यातायात के दोनों साधनों में समन्वय अनिवार्य है। दो उपाय—(अ) समस्त यातायात प्रणाली का राष्ट्रीयकरण और (आ) विधान द्वारा क्षेत्रिक विभाजन।

६ *समन्वय की दिशा में प्रयत्न*—समन्वय का प्रयत्न सन् १९३२-३३ से आरम्भ हुआ। मिचेल तथा किर्कनैस समिति की नियुक्ति एवं इसके सुझाव। रेल सड़क सम्मेलन, रेलवे एक्ट में संशोधन। सन् १९३९ में केन्द्रीय यातायात

परामर्शदाता परिषद् की नियुक्ति। सन् १९३६ में वेजवुड कमेटी की नियुक्ति, कमेटी की सिफारिशें। समन्वय के क्षेत्रवर्ती प्रणाली।

७. वर्तमान दशा—अब रेलों तथा सड़कों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा लगभग समाप्त हो चुकी है। पंच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत यातायात के दोनों साधनों का नियोजित विकास होगा।

प्रारम्भिक—

यातायात के विभिन्न साधनों का कार्य-क्षेत्र अलग-अलग होता है, इसलिए जब एक साधन अपने क्षेत्र को लाँघ कर दूसरे साधन के क्षेत्र में प्रवेश करने का प्रयत्न करता है, तभी दोनों साधनों के मध्य प्रतिस्पर्धा पैदा हो जाती है, जिससे परिणामस्वरूप आर्थिक सङ्कट उत्पन्न हो जाता है। किसी भी देश में 'आन्तरिक यातायात के तीन मुख्य साधन होते हैं—रेल, सड़क तथा वायु यातायात। इनमें से वायु-यातायात का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है, क्योंकि यह काफी मँहगा पड़ता है और उससे शिल्प सम्बन्धी भारी समस्यायें उत्पन्न होती हैं। इस कारण यह अधिक विस्तृत नहीं हो सकता। साथ ही अन्य दो प्रकार के यातायात के स्थान पर इसका उपयोग भी नहीं किया जा सकता, अतः स्पष्ट है कि वायु यातायात से प्रतिस्पर्धा की कोई गंभीर समस्या उत्पन्न नहीं होती। अधिक से अधिक यह गौण अथवा सहायक यातायात के रूप में रह सकता है, किन्तु रेल तथा मोटर यातायात के मध्य इस प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता है। इन दोनों यातायात प्रणालियों में से यद्यपि दीर्घकालीन दृष्टिकोण से रेल यातायात अधिक सस्ता बैठता है, किन्तु अल्पकालीन दृष्टिकोण से मोटर यातायात को कुछ विशेष लाभ प्राप्त हैं। विश्व के लगभग सभी देशों में २० वीं शताब्दी में रेल और मोटर यातायात की प्रतियोगिता की नवीन समस्या उठ खड़ी हुई है। अनेक कारणों से सड़क यातायात रेल यातायात से सस्ता पड़ता है। रेल की लाइन बनाने का व्यय, स्टेशन, प्लेटफार्म, डिब्बे, सिगनल, एंजिन, कल पुर्जे आदि का इतना अधिक व्यय पड़ता है कि रेलों की अपेक्षा सड़कों का निर्माण अधिक सस्ता होता है। रेलों को स्वयं ही रेल्वे लाइनों के बिछाने का पूँजी व्यय करना पड़ता है, सड़कों का पूँजी व्यय करदाताओं द्वारा किया जाता है। इसके अतिरिक्त सड़कों में रास्तों की रक्षा और मरम्मत पर बहुत कम खर्च होता है और वह भी यातायात सेवाओं को नहीं करना पड़ता। सड़क यातायात सेवाओं को स्टेशन, सिगनल, लाइन्स मैन आदि का व्यय नहीं करना पड़ता, जबकि रेल्वे कम्पनी उनके बिना काम नहीं चला सकती। एक बस के मालिक को मोटर खरीदने के लिए रुपया चाहिए और उसे चलाने के लिए एक ड्राइवर, क्लीनर तथा एक आपरेटर। इसका परिणाम यह होता है कि मोटर लारी कम किराया लेकर सफलतापूर्वक रेलों की तुलना में प्रतिस्पर्धा कर सकती है। विशेषतः थोड़े फासले के यातायात में। सस्तेपन में रेलें किसी प्रकार भी सड़क यातायात का मुकाबिला नहीं कर सकतीं।

रेल तथा सड़क यातायात की प्रतियोगिता—

भारत में रेल मोटर प्रतिस्पर्धा का श्रीगणेश अभी थोड़े ही समय से हुआ है। यदि इस प्रतिस्पर्धा के कारणों पर विचार किया जाय, तो ज्ञात होता है कि रेलों और सड़कों के अनायोजित निर्माण का ही यह परिणाम है कि दोनों यातायात प्रणालियों के बीच समन्वय न रह सका। रेल अथवा सड़क किसी के भी विषय में कोई आयोजित नीति नहीं अपनाई गई। रेलों का विकास प्रारम्भ में अनियमित रूप से हुआ। उन्होंने व्यापार एवं वाणिज्य के प्राचीन केन्द्रों को तोड़ कर एक असमन्वययुक्त आधार पर नए नगरों और केन्द्रों का निर्माण किया। रेलों ने केवल भारत में विदेशी माल के वितरण केन्द्र स्थापित करने में सफलता पाई। काफी लम्बे समय के उपरान्त उनके द्वारा नए व्यापारिक केन्द्र स्थापित हो सके। इसी प्रकार सड़कों का भी निर्माण अनायोजित हुआ। प्रारम्भ में उनके निर्माण का मुख्य उद्देश्य यह था कि कच्चे माल को देश से खींचा जाय और विदेशी माल का देश में वितरण किया जाय। साधारणतया रेलों की कमी को पूरा करने के लिए तथा उनके सहायक के रूप में सड़कों का निर्माण किया गया। रेलों से प्रतियोगिता करना उनका उद्देश्य न था, किन्तु हुआ ऐसा ही। रेल निर्माण जो स्वयं अनायोजित था, सड़क निर्माण योजना से पृथक हो गया। सन् १९३७ में वेजवुड समिति ने अपनी रिपोर्ट में बताया था कि भारत में ३०% पक्की सड़कें रेल्वे लाइनों के समानान्तर थीं, जबकि ४८% रेल्वे लाइनें ऐसी थीं कि उनमें दस मील की दूरी के भीतर ही समानान्तर सड़कें मौजूद थीं।

प्रतिस्पर्धा का दूसरा मुख्य कारण रेलों और मोटरों द्वारा चार्ज किया जाने वाला किराए का तरीका है। मोटरें अधिक मूल्यवान वस्तुओं के लिए रेलों की अपेक्षा कम भाड़ा लेती हैं और इसलिए अधिक भारी तथा निम्न श्रेणी की ऐसी वस्तुयें, जो कम मूल्यवान होती हैं, रेलों के द्वारा ढोए जाने के लिए छोड़ देती हैं। मोटरें ऐसे सामान को ले जाने के लिए कम भाड़ा लेती हैं, अत रेलों की अपेक्षा इन्हें अधिक व्यापार मिल जाता है। परिणामस्वरूप रेलों को अधिक भारी सामान ढोने में कोई विशेष लाभ नहीं होता। रेल मोटर प्रतिस्पर्धा का यही मुख्य कारण है।

प्रतिस्पर्धा के घातक परिणाम—

रेल मोटर प्रतिस्पर्धा को किसी भी दृष्टि से लाभदायक नहीं कहा जा सकता। वास्तव में तो इससे राष्ट्र का बड़ा अहित ही होता है। मोटर वाले अधिक मूल्यवान माल (जो अधिक भाड़ा दे सकते हैं) ले जाते हैं तथा थोड़ी दूर वाले यात्रियों को भी ले जाते हैं। रेल को भारी और कम मूल्यवान माल तथा लम्बी यात्रा के मुसाफिर (जो अधिक भाड़ा नहीं दे सकते) उन्हें ले जाना पड़ता है। परिणामस्वरूप रेलों को घाटा उठाना पड़ता है। रेलों से प्रतिस्पर्धा के ही कारण मोटर वाले किराया तो अधिक नहीं लेते, किंतु आवश्यकता से अधिक सवारियां भर कर रद्दी मोटरों को चला कर तथा ड्राइवरों से अधिक घण्टे काम लेकर प्रतिस्पर्धा करते हैं। इससे मोटर यात्रियों को

बड़ी असुविधा तथा आपत्ति होती है, अतः स्पष्ट है कि रेल मोटर प्रतिस्पर्धा राष्ट्र के लिये घातक है और इसको दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये।

सन् १९२६-२७ में रेलवे बोर्ड द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट में सर्व प्रथम इस समस्या पर प्रकाश डाला गया। रिपोर्ट ने इस ओर ध्यान दिलाया कि रेलें मोटरों द्वारा की जाने वाली प्रतिस्पर्धा को अनुभव करने लगी हैं। प्रतिस्पर्धा की समस्या पर प्रकाश डालते हुए सन् १९२९-३० के रेलवे बोर्ड की रिपोर्ट ने कहा—"पिछले कुछ वर्षों से रेल मोटर प्रतिस्पर्धा ने भीषण रूप धारण कर लिया है और रेलवे शासन को भी यह अनुभव होने लगा है कि इस समस्या का हल करने के लिये विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के ढंग काम में लाये जाने की आवश्यकता है।' सन् १९३०-३१ के मन्दी के युग में प्रतियोगिता की समस्या ने और भी भयंकर रूप धारण कर लिया। आर्थिक मन्दी के युग में रेलें, माल और सवारी के भाड़े कम न कर सकीं, जिसका कारण यह था कि उनके व्यय और उनकी पूँजी व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हो पाया था। परन्तु इसके विपरीत, सड़क यातायात सेवाओं ने अधिक यातायात आकर्षित करने के लिये भाड़े घटाने आरम्भ किये। कुछ दशाओं में तो अनार्थिक भाड़े भी लिये गये। परिणाम यह हुआ कि बहुत सा रेल यातायात सड़क यातायात सेवाओं को प्राप्त हो गया। रेलों की दशा इतनी बिगड़ गई कि वे अपनी कमाई में से लगाई हुई पूँजी का ब्याज तथा सामान्य आगम को अपनी साधारण देन भी देने में असमर्थ रहीं। यहीं से समस्या का प्रारम्भ हुआ और आज भी दशा वैसी ही है, यद्यपि द्वितीय महायुद्ध में, जबकि यातायात की सुविधाओं की कमी के कारण प्रतियोगिता का प्रश्न ही न उठा, स्थिति कुछ सुधर गई। युद्ध के पश्चात् जैसे-जैसे यातायात सेवायें अपनी सामान्य स्थिति प्राप्त करती गईं यह पुरानी समस्या पुनः जीवित हो उठी। सन् १९३२ में मिचल किर्कनैस रिपोर्ट (Mitchell Kirkness Report) में अनुमान लगाया गया था कि भारतीय रेलों को सड़क यातायात की प्रतियोगिता के कारण १६० लाख रुपये का वार्षिक घाटा था। सन् १९३७ में वेजवुड कमेटी ने वार्षिक घाटे का अनुमान ४५० लाख रुपये का लगाया था। इस समिति के मतानुसार यह घाटा लगातार बढ़ रहा था, क्योंकि सड़कों की लम्बाई बढ़ रही थी, सड़कें सुधर रही थीं और मोटर यातायात सेवाओं में भी सुधार हो रहा था।

रेलों ने प्रतियोगिता का सामना क्यों कर किया—

रेल मोटर प्रतियोगिता के कारण रेलों की आय में जो कमी हुई उसे पूरा करने के लिए उन्होंने अनेक उपाय किए। ईस्ट इण्डिया रेलवे कम्पनी ने तथा एन० डब्ल्यू० रेलवे ने अपनी मोटर सेवायें आरम्भ कीं। जी० आई० पी० रेलवे ने इस प्रतिस्पर्धा का सामना करने के लिए पूना और लोना वला, बदनेरा और नागपुर तथा छोटा नाग-पुर लाइनों पर किराये में विशेष कमी कर दी। अन्य रेलों को भी तीसरे दर्जे के किराये में काफी कमी करनी पड़ी, जिससे कि मोटर द्वारा ले जाने वाले यात्री रेलों की ओर आकर्षित हों। टाइम टेबुल में आवश्यक सुधार, सस्ते वापिसी टिकट तथा मौसमी

टिकिट, बरातों के लिए विशेष भाड़े, यात्रियों को अधिक सुविधायें, रियासती भाड़ों पर विशेष गाड़ियाँ चलाना और शटल गाडियाँ चलाना आदि अनेक उपाय भारतीय रेलों ने अपनाये।

रेल तथा सड़क यातायात में समन्वय ही एकमात्र उपाय—

रेल मोटर प्रतिस्पर्धा को दूर करने के लिए एवं यातायात के आरोग्य विकास के हेतु इन दोनों प्रणालियों में समन्वय की अत्यन्त आवश्यकता है। विश्व के अन्य देशों में भी, जहाँ यह समस्या पैदा हुई, वैज्ञानिक रीतियों द्वारा समन्वय का प्रयत्न किया गया। समन्वय का वास्तविक आशय यातायात सेवाओं का जनसाधारण की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये विचारयुक्त एकीकरण से होता है। इसका प्रधान उद्देश्य अनावश्यक दोहराव को समाप्त करना, भाड़ों की कटौती को रोकना और उनसे सम्बन्धित राष्ट्रीय साधनों, समय और शक्ति के अपव्यय को समाप्त करना होता है। इस प्रतिस्पर्धा को समाप्त करने के दो ही साधन हैं.—

(१) समस्त यातायात प्रणाली का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाये।

(२) वैधानिक प्रतिबन्धों द्वारा विभिन्न यातायात प्रणालियों के क्षेत्र अलग-अलग निश्चित कर दिए जायें, जिससे कि प्रतिस्पर्धा का प्रश्न ही न उठे।

समन्वय की दिशा में प्रयत्न—

इस समस्या का अध्ययन करने के लिए सर्व प्रथम सन् १९३२-३३ में श्री से० जी० मिचेल तथा श्री एल० एच० किर्कनैस दो सरकारी अफसरों की नियुक्ति की ई। मिचेल-किर्कनैस समिति ने रेल-मोटर प्रतिस्पर्धा को दूर करने के लिए निम्न ाव दिए:—

(१) यदि रेलों को होने वाली आर्थिक हानि से बचाना है तो शीघ्र ही मोटरों को नियन्त्रण करने के लिए नियम बनाये जाने चाहिए। प्रति मोटर के लिए २० मील का क्षेत्र नियत किया जाये, जिसमें वे अबाध रूप से अपनी सर्विसें चला सकें। जो सड़कें रेलों के समानान्तर हैं, उन पर जनता की व्यापारिक मोटरें नहीं चलाने दी जायें।

(२) मोटरों पर सरकार द्वारा एक निश्चित कर लग या जाय तथा रेलों की तरह ही उन पर यह नियम लागू किया जाय कि वे अपने समय विभाग तथा दरों की सूची बना कर सरकार से स्वीकृत करायें। जिन क्षेत्रों में रेल मार्ग नहीं बनाये जा सकते, वहाँ मोटरों को सामान लाने तथा ले जाने का एकाधिकार दे दिया जाय।

(३) साधारण शासन सम्बन्धी व्यवस्था के लिए एक केन्द्रीय रेल, सड़क, जल-मार्ग, डाक तथा तार विभाग की स्थापना की जाय।

इस समिति की रिपोर्ट पर विचार करने के लिए सन् १९३३ में शिमला में एक सम्मेलन बुलाया गया। सम्मेलन ने एक ऐसे प्रस्ताव को स्वीकार किया, जिसमें

अनार्थिक प्रतियोगिता को समाप्त करने के लिए सभी प्रकार के यातायात के विकास से
सम्बन्धित अधिकारियों के बीच समन्वय स्थापित करने पर जोर दिया गया था। इस
सम्मेलन ने दो सुझाव दिये—(अ) रेलों द्वारा मोटर सेवाओं के चलाने पर लगाये गये
प्रतिबन्ध हटा दिये जाँय। (आ) केन्द्र तथा प्रान्तों में रेल सड़क समन्वय के हेतु
एक सत्ता का निर्माण किया जाय।

इस सम्मेलन की सिफारिशों के परिणामस्वरूप सितम्बर सन् १६३२ में रेलवे
एक्ट में संशोधन किये गये और रेलों को सड़क यातायात सेवाएँ चलाने का अधिकार
दे दिया गया। सन् १६३२ में एक केन्द्रीय यातायात सलाहकार परिषद् की स्थापना
की गई। इस समिति का मुख्य कार्य प्रान्तों द्वारा मोटर यातायात के विकास सम्बन्ध
में एक ऐसी विचारयुक्त नीति बनाना था, जिससे कि रेलों, सड़कों तथा अन्य प्रकार की
यातायात प्रणालियों का समन्वययुक्त विकास हो। इस परिषद् ने रेल, मोटर समन्वय के
लिये एक रूप रेखा तैयार की, जिसके अनुसार 'क्षेत्रीकरण' को शीघ्रातिशीघ्र कार्यान्वित
करने का आदेश दिया गया तथा मोटर बसों को तीसरे व्यक्तियों की सुरक्षा के लिए
बीमा कराना आवश्यक समझा गया। ड्रायवरों का डाक्टरी मुआयना भी आवश्यक
समझा गया। कुछ समय के पश्चात सड़क विकास समिति की सिफारिशों पर याता-
यात तथा सन्देशवाहन के एक नये विभाग का निर्माण किया गया, जिसका अधिकार
क्षेत्र रेलों, डाक तार विभाग, नागरिक हवाई यातायात, सड़कों, बन्दरगाहों आदि
सभी प्रकार के यातायात तक विस्तृत था। एक ही विभाग के निर्माण द्वारा अधिक
समन्वययुक्त एकात्मीकरण की आशा की गई थी।

सन् १६३६ में वेजवुड कमेटी की नियुक्ति—

किन्तु फिर भी रेल-मोटर प्रतिस्पर्धा घटने के स्थान पर बढ़ती ही गई, जिससे
रेलों की बड़ी हानि हुई। सन् १६३६ में स्थिति की जाँच करने के लिए सरकार ने
वेजवुड कमेटी की नियुक्ति की। इस कमेटी ने अपनी सन् १६३७ की रिपोर्ट में कहा
था कि प्रान्तीय सरकारों द्वारा सड़क यातायात का समुचित नियन्त्रण नहीं हो रहा
था, जिसके कारण असंगठित तथा अकुशल सड़क यातायात का विकास हो गया था।
सर्व प्रथम कमेटी ने इस बात पर जोर दिया कि मोटर यातायात को रोकने के लिए
कोई प्रतिबन्ध न लगाया जाय तथा जनता के हितार्थ दोनों ही साधनों—रेल एवं सड़क
का विकास किया जाय। समिति ने सिफारिश की कि रेलों को सड़क यातायात में
भाग लेना चाहिए। यद्यपि वैधानिक समन्वय-नियन्त्रण की भारी आवश्यकता थी, किन्तु
ऐच्छिक समन्वय को प्रोत्साहित किया जाय, यही समिति का मत था।

कमेटी के विचारानुसार रेलों की व्यवस्था सन्तोषजनक थी, किन्तु सड़कों की
व्यवस्था में सुधार के हेतु कमेटी ने निम्न सुझाव दिए:—

(१) मोटर यातायात पर कठोर नियन्त्रण स्थापित करना चाहिए। निश्चित संख्या
से अधिक सवारियाँ भरकर ले जाने पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिए। मोटर
ड्राइवरों के काम के घण्टे निश्चित होने चाहिये। उनकी स्वास्थ्य सम्बन्धी

जाँच भी समय-समय पर होनी चाहिए। सभी मोटर गाडियों में गति सूचक यन्त्र होने चाहिए और विभिन्न प्रकार की गाडियों की प्रति घण्टा रफ्तार निश्चित की जानी चाहिए।

(२) पूर्ण समन्वय के हेतु कमेटी ने यह भी सिफारिश की कि मोटर गाडियों आदि की जितनी माँग हो, उससे अधिक गाडियाँ न होनी चाहिए अन्यथा राष्ट्र को आर्थिक हानि उठानी पड़ेगी, इसलिए मोटरों को चलाने के लिए लाईसेंस लेना अनिवार्य कर देना चाहिए। विभिन्न मार्गों के लिए कमेटी ने भाड़ा तय करने का भी सुझाव दिया।

(३) सभी प्रान्तों में मोटरों और बसों पर कर समान लगाया जाय और यदि करों में भिन्नता हो, तो उसे शीघ्रातिशीघ्र समाप्त कर दिया जाय।

(४) सड़कों के विकास के लिए कमेटी का सुझाव था कि केन्द्रीय तथा प्रान्तीय दोनों सरकारें इस कार्य में सहयोग दें, जिससे जो क्षेत्र अभी तक यातायात की दृष्टि से पिछड़े हैं, उनकी भी उन्नति हो सके।

(५) कमेटी ने यह भी सिफारिश की कि रेल्वे भी सड़कों पर अपनी मोटरें चलावे। रेल्वे व्यवस्था के सम्बन्ध में यह सुझाव दिया कि जंकशनों पर रेलों के मिलने का समय इस प्रकार रक्खा जाय कि यात्रियों का न्यूनतम समय नष्ट हो। तीसरे दर्जे के यात्रियों के लिए सीटें सुरक्षित कराने, बिजली के पंखे लगाने तथा अच्छी सीटें बनाने के लिए सुधार किया जाना भी आवश्यक समझा गया। प्रदर्शनियों, मेलों आदि के लिए भी रियायती दर से टिकट जारी किए जायँ।

वैजवुड कमेटी की सिफारिशों के अनुसार सन् १९३९ में मोटर यातायात के वेगपूर्ण विकास को रोकने के लिए Motor Vehicles Act पास किया गया। इस अधिनियम ने मोटर यातायात को नियन्त्रित करने के लिए प्रान्त के विभिन्न यातायात क्षेत्रों में क्षेत्राधिकारी नियुक्त किए तथा समस्त प्रान्त के लिए एक यातायात सत्ता की स्थापना की गई। लाइसेंस की प्रथा अनिवार्य कर दी गई। लाइसेंस प्रदान करके ही नियन्त्रण रक्खा जाता है तथा अनार्थिक प्रतियोगिता को समाप्त किया जाता है। इस लाइसेंस में इस बात का भी उल्लेख रहता है कि मोटर में कितनी सवारी तथा माल ले जाया जा सकता है।

समन्वय की क्षेत्रवर्ती प्रणाली—

नागपुर योजना के अनुसार अब भारत सरकार सड़कों के निर्माण में प्रत्यक्ष भाग लेती है। भारत सरकार ने एक रेल-सड़क यातायात समन्वय योजना लागू की है, जिसका उद्देश्य यातायात का एक ही आधार पर नियन्त्रण करना तथा उनका इस प्रकार विकास करना है कि अनियन्त्रित विषय प्रतिस्पर्धा समाप्त हो जाय। सन् १९४८ में Road Transport Corporation Act पास किया गया, जिसके फलस्वरूप प्रान्तीय सरकारों को इस बात का अधिकार दे दिया गया कि वे चाहें तो

अपनी यातायात कम्पनियाँ स्थापित कर सकती हैं अथवा ऐसी कम्पनियाँ स्थापित कर सकती हैं जिसमें प्रान्तीय सरकार, रेलें तथा सड़कों पर बस चलाने वाले साझेदार हों, तभी से उत्तर-प्रदेश, बम्बई तथा दिल्ली की सरकारों ने मोटर यातायात का राष्ट्रीयकरण कर लिया है।

ऐसे मोटर यातायात उपक्रम, जिनमें रेलें भी साझीदार हैं, इस समय बम्बई, मध्य-प्रदेश, पंजाब तथा उड़ीसा राज्यों में चल रहे हैं। बम्बई राज्य सड़क यातायात कारपोरेशन सन् १९४९ में आरम्भ किया गया। इसमें ७५% अंश राज्य सरकार के पास हैं और २५% रेलों के पास

वर्तमान दशा—

वर्तमान काल में रेल तथा मोटर यातायात में तीव्र प्रतिस्पर्धा नहीं है। भारत में सभी प्रकार के यातायात साधनों की कमी है और सभी साधनों के कार्यक्षेत्र लगभग अलग हो गए हैं। साथ ही प्रत्येक के विकास के लिए पर्याप्त क्षेत्र है। किराये के निर्धारण में भी ऐसी नीति अपनाई गई है जिससे प्रतिस्पर्धा न हो सके। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत यातायात के इन दोनों साधनों का नियोजित विकास होगा। २१ नवम्बर सन् १९५६ को भारतीय सड़क तथा यातायात विकास संघ के पदक जयन्ती समारोह में भाषण देते हुए भारत सरकार के रेल और यातायात मन्त्री श्री लालबहादुर जी शास्त्री ने रेल-सड़क यातायात के समन्वय की प्रगति की विवेचना की और इस बात पर जोर दिया कि समन्वय दोनों ही सेवाओं के लिए हितकारी है, सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में उन्होंने सरकारी नीति को स्पष्ट करते हुए कहा कि राजकीय नीति धीरे धीरे राष्ट्रीयकरण करने की है और माल का याता-यात साधारणतया निजी कम्पनियों द्वारा ही किया जायगा। रेल सड़क यातायात समन्वय के हेतु राष्ट्रीयकरण तथा Motor Vehicles Act की प्रतिबन्धक व्यवस्थाओं का बनाए रखना आवश्यक है। अन्त में, यह कहना अनावश्यक न होगा कि भारत सरकार को विभिन्न यातायात सेवाओं के बीच प्राथमिकता का क्रम निश्चित करने के लिए एक उच्चाधिकार नीति समिति का निर्माण करना चाहिए।

---

[२२]

भारतीय रेलों के सामूहीकरण की समस्या

रूपरेखा—

१. *प्रारम्भिक*—यातायात के विभिन्न साधनों में रेलों का सबसे अधिक महत्व है। आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक तीनो क्षेत्रों में रेल यातायात से लाभ पहुँचा है। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में रेल यातायात पर १,१२५ करोड़ रुपया व्यय होगा।

२. *भारतीय रेलों के विकास का संक्षिप्त इतिहास*—भारतीय रेलें ब्रिटिश उपक्रम का परिणाम हैं। सर्व प्रथम सन् १८५१ में रेलवे लाइन बिछाई गई, गारन्टी प्रणाली द्वारा इसे प्रोत्साहित किया गया। सन् १८६६ में सरकार ने स्वयं निर्माण कार्य प्रारम्भ किया। दूसरी गारन्टी प्रणाली के अन्तर्गत विकास, अकवर्थ कमेटी की नियुक्ति तथा इसके सुझावानुसार रेल यातायात का राष्ट्रीकरण। सन् १९५० तक सभी रेलों का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया।

३. *रेलों के सामूहीकरण की आवश्यकता*—हमारे देश में रेलों का विकास बड़ा अनियमित तथा अ-आयोजित ढङ्ग से हुआ है। रेल तथा सड़क यातायात की प्रतियोगिता रही है। रेलवे प्रणाली के विभिन्न अंगों का प्रबन्ध अलग अलग कम्पनियों के हाथ में रहा है। रेलवे शासन की जटिलता दूर करनी है एवं विभाजन के दुष्परिणामों पर विजय पाना है। विभिन्न रेलों के भाड़ों तथा सुविधा स्तर की असमानताओं को दूर करने, साधनों का अपव्यय कम करने आदि का एकमात्र उपाय सामूहीकरण ही है। सामूहीकरण राष्ट्रीयकरण के बाद आवश्यक कदम था।

४. *रेलों का सामूहीकरण*—सन् १९५० में रेलवे बोर्ड ने एक समिति नियुक्त की, जिसने ६ प्रदेशों के निर्माण का सुझाव दिया—(क) पूर्वी रेलवे, (ख) पश्चिमी रेलवे, (ग) उत्तरी रेलवे, (घ) दक्षिणी रेलवे, (ङ) मध्य-वर्ती रेलवे तथा (च) उत्तर-पूर्वी रेलवे। सन् १९५२ तक इन ६ क्षेत्रों में रेलों का वर्गीकरण हो गया।

५. *सामूहीकरण पर एक विवेचनात्मक दृष्टि*—पहिले रेलों के प्रबन्ध तथा संगठन की रीतियों में विभिन्न क्षेत्रों में भारी विभिन्नतायें थीं तथा असमानतायें थीं। सामूहीकरण से यह दोष दूर हुआ तथा भाड़ों में समानता आ गई, शासन की दोवारगी समाप्त हो गई, नियन्त्रण अधिक एकाकीकृत हो गया है,

कार्यक्षमता बढ़ गई तथा बड़े पैमाने के उत्पादन के लाभ मिलने लगे हैं। कुछ हानियाँ भी हैं, जैसे—कर्मचारियों की छटनी तथा ट्रान्सफर आदि, किन्तु दोष अपेक्षाकृत कम हैं।

६. निष्कर्ष—सामूहीकरण हमारे देश के लिए आवश्यक था। इससे कोई महत्वपूर्ण क्षति नहीं हुई है। भविष्य प्रगतिशील तथा उज्ज्वल है।

प्रारम्भिक—

यातायात का विकास प्रत्येक देश के लिए उन्नति का प्रतीक होता है। यातायात के विभिन्न साधनों में रेलों का सबसे अधिक महत्व है। आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक तीन क्षेत्रों में रेल यातायात से लाभ पहुँचा है। देश के कोने-कोने में फैलकर रेलों ने राष्ट्रीय जीवन को एक ऐसे सूत्र में बाँध दिया है कि देश में सभी भाग एक दूसरे से सम्बन्धित तथा एक दूसरे पर निर्भर हो चले हैं। आर्थिक दृष्टि से रेल यातायात सबसे सस्ता पड़ता है, विशेषकर लम्बे फासलों के लिये। रेल यातायात के परिणामस्वरूप कृषकों को मेलों, प्रदर्शिनियों आदि में जाने का सौभाग्य मिला है। उनका बाहरी अनुभव भी बहुत बढ़ गया है, गतिशीलता में वृद्धि हुई है तथा रहन सहन का स्तर भी ऊँचा हो गया है। रेलों ने दुर्भिक्ष की समस्या को भी काफी सीमा तक सुलझा दिया है। वर्तमान दुर्भिक्ष भोजन की कमी के दुर्भिक्ष न रहकर क्रय-शक्ति के कमी के दुर्भिक्ष बन गये हैं। दुर्भिक्ष विरोधी योजनाओं का शासन भी इनके कारण सरल हो गया है। इसी प्रकार वन सम्पत्ति की उपज को बढ़ाने में भी रेलों ने बड़ा योग प्रदान किया है। ये स्वयं वनों की लकड़ी का बड़ी मात्रा में उपयोग करती हैं तथा उसे जङ्गलों से ढोकर उपभोग के केन्द्रों तक पहुँचाती हैं। वास्तविकता तो यह है कि हम रेलों के विकास के बिना देश के औद्योगीकरण की बात सोच ही नहीं सकते। मशीनों का लाना, कच्चा व निर्मित माल ढोना, इमारत व मकान का सामान लाना, प्रति दिन श्रमिकों को लाना व ले जाना आदि सभी कार्य रेलों द्वारा ही कम मूल्य पर तथा कम समय में किये जाते हैं। यही कारण है कि हमारी द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में, जिसका उद्देश्य देश का शीघ्रतम औद्योगीकरण करना है, रेलों के विकास पर १,१२५ करोड़ रुपये के व्यय की व्यवस्था की गई है।

भारतीय अर्थ व्यवस्था में भी रेलों का भारी महत्व है। ऐसा अनुमान है कि केवल रेल उद्योग में लगाई गई कुल पूँजी की मात्रा अन्य सभी संगठित उद्योगों में लगी हुई पूँजी की दूनी है। भारतीय रेल उद्योग में सहस्त्रों श्रमिक कार्य करते हैं। इस उद्योग में लकड़ी, कोयला, लोहा आदि कच्चा माल लाखों मन प्रति वर्ष खप जाता है। राष्ट्रीयकरण होने के कारण इस व्यवसाय से हुआ करोड़ों रुपयों का लाभ राजकीय कोष में जाता है। देश का आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार भी रेलों पर ही अवलम्बित है।

रेल यातायात के परिणामस्वरूप देश की अनेक सामाजिक कुरीतियाँ भी दूर होती जा रही हैं। छुआछूत, ईर्ष्या, जाति-पाँति प्रथा की बुराइयाँ, प्रान्तीयता को

भावनायें आदि कम होती जा रही है। गावों का नगरों से निकट सम्बन्ध स्थापित हो गया है। सरकार का कृषि विभाग, स्वास्थ्य विभाग आदि रेलों द्वारा प्रचार विशेषज्ञों को देश के भिन्न भिन्न स्थानों पर भेज कर नई नई बातों का प्रचार करते हे, जिससे देश में सुख तथा शान्ति की स्थापना होती हे एव धनोत्पत्ति मे भी वृद्धि होती है। भारत जैसे पिछडे हुए देश मे रेलों का और भी अधिक महत्व हे, विशेकर इसलिए कि देश मे भाषा, वेश भूषा तथा रीति रिवाज सम्बन्धी महान विभिन्नतायें हैं। वास्तव मे एक पजाबी तथा एक बगाली मे लगभग किसी प्रकार की समानता नहीं होती हे। यह मुख्यतया रेलों का ही प्रताप है कि वे दोनों अपने अपने हितों में समानता का अनुभव करते हैं और साथ मिलकर आगे बढने का प्रयत्न करते हैं, अत साँस्कृतिक तथा सामाजिक दृष्टिकोणों से रेलों का महत्त्व स्पष्ट है। राजनैतिक दृष्टि से रेलें विशेष उपयोगी है। इन्होंने देश की विभिन्न जातियों को एक सूत्र मे बाँधने का प्रयत्न किया है तथा देश को सगठित भी कर दिया है। रेलों की सहायता से देश में शान्ति तथा सुरक्षा की स्थापना में भी बडी मदद मिलती हे। देश के किसी कोने मे जरा सी भी अशान्ति या उपद्रव होने पर वहाँ पुलिस पहुँच ई जा सकती है। युद्ध युग में भी रेलों ने महत्वपूर्ण सेवायें की हैं। केन्द्र में एक शक्तिशाली तथा सुव्यवस्थित सरकार इन्ही के कारण सम्भव हो सकी है। रेल यातायात से राजकीय आय मे भी वृद्धि होती है, जिससे कि वह जन साधारण की सेवा करने में समर्थ होती है।

भारतीय रेलों के विकास का सक्षिप्त इतिहास—

हमारे देश मे रेल यातायात वास्तव मे ब्रिटिश उपक्रम का परिणाम है। औद्योगिक क्रान्ति के उपरान्त इङ्गलैंड में उद्योगों का विकास बडी तेजी से होने लगा। बडी मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन होने लगा। फलत इङ्गलैंड को अपने उद्योगों के लिए कच्चा माल प्राप्त करने एव तैयार माल को बेचने के लिए विस्तृत मन्डियों की आवश्यकता अनुभव हुई। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए भारत ही एक उपयुक्त देश था, लेकिन इङ्गलैंड को भारत से वास्तविक लाभ उसी दशा में हो सकता था जबकि देश में यातायात की सेवाओं का जाल बिछा दिया जाय, जिससे देश के सभी भागों तक माल पहुँचाना सभव हो सके। इन परिस्थितियों में रेल मार्ग बनाने का विचार उदय हुआ। सर्व प्रथम रेलवे लाइन सन् १८५३ में बनाई गई जो बम्बई और थाना के बीच थी। इसके बाद दो और रेलवे लाइनों का निर्माण किया गया, जिनमें से एक १२० मील लम्बी लाइन कलकत्ता तथा रानीगज के बीच खोली गई तथा दूसरी ३२ मील लम्बी लाइन मद्रास तथा अर्कोनाम के बीच बिछाई गई। फिर जैसे जैसे सफलता मिलती गई, रेलों का जाल निरन्तर बढता गया। सन् १८५० के अन्त तक ८ रेलवे कम्पनियाँ चालू हो गई। रेलों के विकास के लिए ब्रिटिश सरकार ने गारन्टी प्रथा चालू की, जिसके अन्तर्गत उसने निजी कम्पनियों को निशुल्क भूमि दी तथा कम्पनियों द्वारा लगाई हुई पूँजी पर ५% ब्याज की गारन्टी दी, किन्तु निजी कम्पनियों की अकुशलता तथा अत्यन्त महगी होने के कारण सन् १८६८ में गारन्टी

प्रणाली समाप्त कर दी गई। सरकार ने रेलों के निर्माण का कार्य अपने हाथ में ले लिया। अगले १० वर्षों तक यही प्रणाली चलती रही। सन् १८८० में एक दुर्भिक्ष जाँच कमीशन ने सरकार को यह सुझाव दिया कि अकाल के संकट को दूर करने का एकमात्र उपाय रेल यातायात की वृद्धि करना है। रेलों का विकास करने के लिए सरकार के पास धन का अभाव था, अतः विवश होकर सरकार को पुनः व्यक्तिगत उपक्रम आमन्त्रित करना पड़ा। गारन्टी की एक नई प्रणाली अपनाई गई। इस बार सरकार ने निजी कम्पनियों द्वारा लगाई जाने वाली पूँजी पर ३% ब्याज की गारन्टी दी तथा यह निश्चय हुआ कि यदि किसी कम्पनी को उससे अधिक लाभ होता है तो अतिरिक्त लाभ का ½ भाग सरकार ले लेगी। हाँ, रेलें आरम्भ से ही राज्य की सम्पत्ति मानी गईं, जिन्हें २५ वर्ष या बाद में १० वर्ष के किसी समयान्तर पर लागत मूल्य देकर खरीदा जा सकता था। इस नवीन प्रणाली के अन्तर्गत ४,००० मील लम्बी रेलवे लाइनें और बिछीं।

सन् १९०० में राजकीय नीति में पुनः परिवर्तन हुआ और निर्माण कार्य फिर सरकार ने आरम्भ कर दिया। सन् १९१४ तक सरकार ने १८ करोड़ रुपया इस कार्य पर व्यय किया तथा २८,००० मील लम्बी रेलवे लाइन और बिछाई। प्रथम महायुद्ध के समय रेलों की स्थिति बहुत बिगड़ गई। यद्यपि सरकार ने उनके निर्माण में बड़ी तत्परता दिखाई थी, किन्तु रेलवे की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कलपुर्जे, गाड़ियाँ, लाइन इत्यादि बनाने के उद्योग-धन्धे स्थापित न किये थे, अतः युद्ध-काल में इन वस्तुओं के आयात के अभाव में रेलों को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। प्रथम महायुद्ध के बाद भी स्थिति बड़ी असन्तोषजनक रही, अतएव इस स्थिति की जाँच करने के लिये नवम्बर सन् १९२० में भारत सचिव ने सर विलियम अक्वर्थ के सभापतित्व में एक रेलवे जाँच समिति नियुक्त की। इस समिति ने भी सरकारी नीति की बड़ी आलोचना की। रेलों को राजकीय नियन्त्रण में लेने की माँग इतनी थी कि सरकार उसे टाल न सकी। अकवर्थ समिति के सुझावानुसार सन् १९२५ के पश्चात लगभग सभी रेलों को सरकारी प्रबन्ध के अन्तर्गत ले लिया गया। इस प्रकार क्रमशः व्यक्तिगत कम्पनियों का अन्त होता गया और सरकार उनके हितों को खरीदती गई। पाकिस्तान के निर्माण तथा देशी राज्यों के विलीनीकरण के पश्चात सन् १९५० तक सभी रेलें, जिनकी लम्बाई ३३,०८४ मील थी, सरकारी बन गईं।

रेलों के सामूहीकरण की आवश्यकता—

भारतीय रेलों के इतिहास को देखने से यह स्पष्ट पता लगता है कि रेलों का विकास बड़ा अनियमित तथा अआयोजित रूप से हुआ है। इसी कारण सड़क याता-यात के साथ रेलों की एक घनाधिक तथा हानिकारक प्रतियोगिता उत्पन्न हो गई। इस प्रतियोगिता का अन्त करने के लिए गत कुछ वर्षों में अनेक उपाय किए गये हैं। दोनों यातायात सेवाओं के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए दोनों सेवाओं का राष्ट्रीयकरण बड़ा लाभदायक सिद्ध हुआ है। रेलों के राष्ट्रीयकरण के बाद सामूहीकरण

वास्तव में एक आवश्यक तथा अनिवार्य पग था। बहुत समय से भारतीय रेलों की व्यवस्था अलग अलग कम्पनियों के हाथों में रही है, जिसके परिणामस्वरूप शासन, प्रबन्ध तथा सुविधाओं के दृष्टिकोणों से विभिन्न रेलों में भारी भिन्नता थी। यदि रेलवे यातायात पूर्व की भांति निजी कम्पनियों के हाथ में रहता तो सामूहीकरण का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार रेलों के राष्ट्रीयकरण ने ही यथार्थ में उनके सामूहीकरण की आवश्यकता उत्पन्न की है।

स्वतन्त्रता मिल जाने के उपरान्त देशी राज्यों का अन्त हो गया और सन् १९४९ में तो भारतीय राज्यों का आर्थिक एकाकीकरण भी हो गया। देशी राज्यों के विलीनीकरण की परिस्थितियों ने रेलों के सामूहीकरण की समस्या भी उत्पन्न कर दी, क्योंकि ऐसा अनुभव किया गया कि अनेक कठिनाइयों के दूर हो जाने के कारण अब रेलों के सञ्चालन को सुदृढ़ स्तर पर लाना केवल आवश्यक ही न था, किन्तु इससे लाभ की भी आशा अधिक थी।

तीसरे, रेलवे शासन की जटिलता को दूर करने एवं शासन सम्बन्धी व्यय में कमी करने के लिये भी रेलों का सामूहीकरण एक आवश्यक पग था। पहले रेलों की अधिक संख्या होने के कारण उनका शासन काफी अपव्ययी था, क्योंकि बहुत सी दशाओं में तो दोहरा शासन था। इसके अलावा समुचित नियन्त्रण बनाये रखने में भी कठिनाई होती थी, क्योंकि प्रत्येक रेलवे अपने अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र थी। कभी-कभी तो एक ही क्षेत्र की दो रेलों में अनावश्यक प्रतियोगिता होने लगती थी।

चौथे, भारत के बँटवारे के परिणामस्वरूप देश में रेलों का पुराना संगठन कुछ दशाओं में टूट गया था। नार्थ वैस्टर्न रेलवे तथा बङ्गाल की कुछ रेलों का अधिकांश भाग पाकिस्तान में चले जाने के कारण इनका क्षेत्र काफी सीमित रह गया था और संगठन इतना छोटा रह गया था कि आर्थिक आधार पर उसका सञ्चालन सम्भव न था।

पाँचवे, विभिन्न रेलों में माल तथा सवारी के भाड़ों में बड़ी भिन्नता थी। विभिन्न रेलें एक राष्ट्र की रेलों का आभास नहीं देती थीं और ऐसा लगता था मानों वे अलग अलग देशों की रेलें हों, अतएव उनका सामूहीकरण अनिवार्य था।

छठें, विभिन्न साधनों के अपव्यय को रोकने तथा सेवा सञ्चालन व्यय में कमी करने के लिये भी यह आवश्यक था कि रेलों की संख्या में कमी की जाय। नियन्त्रण के हेतु अधिक बड़े तथा वैज्ञानिक संगठनों का निर्माण किया जाय और यथासम्भव शासन की दोबारगी को रोका जाय।

अतएव जून सन् १९५० में उक्त आवश्यकता पर विचार करने के हेतु एक उपसमिति की नियुक्ति की गई। इस कमेटी ने जाँच के उपरांत इस बात की सिफारिश की कि देश की रेलों को प्रादेशिक आधार पर बाँटा जाय। इस कमेटी की सिफारिशें स्वीकार करने के पहले राज्य-सरकारों, श्रमिक संघों, पूंजीपतियों तथा व्यापारिक संस्थाओं और उद्योगपतियों की राय भी जान ली गई। प्रत्येक वर्ग ने कमेटी की

सिफारिशों का समर्थन किया। सामूहीकरण की नीति अपनाने में रेलवे अधिकारियों ने निम्न प्रश्नों पर विचार किया:—

कमेटी की सिफारिशें—

(१) प्रादेशिक आधार पर रेलों का इस प्रकार सामूहीकरण किया जाय कि सभी रेलें एक दूसरे से सम्बद्ध हो जायँ। प्रत्येक रेल के प्रधान कार्यालय के कर्मचारियों को पूरा काम मिल जाय और रेलें कार्यवाहन की नवीनतम तथा आधुनिक से आधुनिक रीतियों को अपनाने में समर्थ हो सकें।

(२) प्रत्येक क्षेत्र इतना बड़ा हो कि इसमें रेलवे के हैडक्वार्टर्स स्थित किये जा सकें, जिनमें उच्च तथा कुशल अधिकारी हों, जिससे कि रेलवे के संचालन और कार्यक्षमता तथा मरम्मत के लिए उपयुक्त कारखाने और अनुसंधान की सुविधायें सरलता से मिल सकें।

(३) वर्तमान शासन पद्धति में नये सामूहीकरण के कारण न्यूनतम परिवर्तन हों, जिससे रेलों की कार्यक्षमता पर हानिकारक प्रभाव न पड़ सके।

(४) क्षेत्र बनाते समय इस बात का ध्यान रक्खा जाय कि प्रत्येक क्षेत्र में आर्थिक समानता हो तथा दूसरा यह है कि ट्रैफिक की वास्तविक दशा क्या है।

रेलों का सामूहीकरण—

भारत सरकार ने उपरोक्त सिफारिशों पर विचार करने के पश्चात् भारतीय रेलों को ६ भागों में विभाजित करने का निश्चय किया, जो निम्न प्रकार हैं:—

(१) पूर्वी रेल्वे—इसमें बंगाल नागपुर रेल्वे और ईस्ट इन्डिया रेल्वे का अधिकांश भाग सम्मिलित किया गया है। इसकी लम्बाई लगभग ५,०१६ मील है।

(२) पश्चिमी रेल्वे—इसमें बम्बई बड़ौदा सेन्ट्रल इन्डिया रेल्वे, सौराष्ट्र, राजस्थान तथा जयपुर रेल्वे एवं जोधपुर रेल्वे का कुछ भाग शामिल किया गया है। इसकी लम्बाई लगभग ५,५५२ मील है।

(३) उत्तरी रेल्वे—इसमें ईस्ट पंजाब रेल्वे, जोधपुर रेल्वे का कुछ भाग, बीकानेर राज्य रेल्वे, ईस्ट इण्डिया रेल्वे के इलाहाबाद, लखनऊ और मुरादाबाद डिवीजन तथा बी० बी० एण्ड० सी० आई० रेल्वे का दिल्ली-रेवारी फजिलक क्षेत्र सम्मिलित किए गए हैं। इसकी लम्बाई ५,२५६ मील है।

(४) दक्षिणी रेल्वे—इसकी लम्बाई लगभग ५,७२५ मील है। इसमें मद्रास और साउथ मरहठा रेल्वे और मैसूर राज्य रेल्वे सम्मिलित हैं।

(५) मध्यवर्ती रेल्वे—इसकी लम्बाई लगभग ५,३१५ मील है। इसमें ग्रेट इन्डियन पेनिंशुला रेल्वे, एन० एस० रेल्वे, सिंधिया रोड्स रेल्वे तथा धौलपुर राज्य रेल्वे शामिल हैं।

(६) उत्तर पूर्वी रेल्वे—इसकी लम्बाई लगभग ६,३२६ मील है। इसमें अवध त्रिहुत रेल्वे, आसाम रेल्वे, ईस्ट इन्डियन रेल्वे का कुछ भाग तथा बी० बी० एण्ड० सी० आई० रेल्वे का फतेहगढ़ क्षेत्र शामिल किया गया है।

सामूहीकरण का यह कार्यक्रम सन् १६५१ई० में प्रारम्भ हुआ और सर्व प्रथम १४ अप्रैल सन् १६५१ को दक्षिणी रेल्वे का उद्‌घाटन किया गया। फिर ६ नवम्बर सन् १६५१ को मध्यवर्ती तथा पश्चिमी रेलों की स्थापना की गई। शेष तीन रेलों की स्थापना १४ अप्रैल सन् १६५२ को हुई।

प्रत्येक क्षेत्र के प्रधान कार्यालयों के स्थापित करने में दो बातों पर ध्यान दिया गया है। एक तो यह प्रयत्न किया गया है कि प्रधान कार्यालय क्षेत्र के एक केन्द्रीय भाग में स्थापित किया जाय। दूसरे, किसी ऐसे स्थान को देखा जाय जहाँ पर प्रधान कार्यालय की सुविधायें पहले से ही उपलब्ध हों अथवा सुविधा से प्राप्त की जा सकें। दक्षिणी रेलवे का प्रधान कार्यालय मद्रास में है, केन्द्रीय रेल्वे का बम्बई में, उत्तरी रेल्वे का दिल्ली में, पूर्वी रेल्वे का कलकत्ते में और उत्तर पूर्वी रेल्वे का गोरखपुर में है।

सामूहीकरण पर एक विवेचनात्मक दृष्टि—

हमारे देश में पहले रेलों के प्रबन्ध तथा सगठन की रीतियों में विभिन्न क्षेत्रों मे भारी विभिन्नतायें तथा असमानतायें थीं, जिनके परिणामस्वरूप कार्यक्षमता में भी बहुत अन्तर रहता था। कार्यक्षमता का सामान्य स्तर भी बहुत गिरा हुआ था। रेलों का सामूहीकरण वास्तव में इस सम्बन्ध मे अनुरूपता लाने का ही एक प्रयत्न था। रेलों के राष्ट्रीकरण ने ही यथार्थ मे उनके सामूहीकरण की आवश्यकता उत्पन्न की। आशा है कि इस सामूहीकरण से राष्ट्रीय हितों की रक्षा होगी तथा निम्नांकित लाभ होंगे—

सामूहीकरण के लाभ—

(१) सामूहीकरण के परिणामस्वरूप प्रत्येक प्रदेश अथवा क्षेत्र में सवारी तथा माल के भाड़ों की दरें समान रहेंगी। सामूहीकरण के बाद देश को यह लाभ हुआ भी है।

(२) शासन सम्बन्धी कार्यों की दोबारगी दूर हो जायेगी, जिसके परिणामस्वरूप शासन सम्बन्धी व्यय में भी कमी होगी और काम अधिक कुशलता तथा शीघ्रता से किया जा सकेगा।

(३) रेल्वे जङ्कशनों तथा प्रमुख यातायात केन्द्रों पर अधिक एकाकीकृत नियन्त्रण रहेगा, जिसके परिणामस्वरूप रेल गाडियों के सचालन में सुविधा रहेगी और असावधानी तथा खतरों का भय कम हो जायेगा।

(४) इसके परिणामस्वरूप रेल्वे उद्योग को सामूहिक रूप में तथा प्रत्येक प्रदेश को अलग-अलग भी बड़े पैमाने के उत्पादन की भाँति बाह्य बचत प्राप्त होगी।

(५) रेलों की कार्यक्षमता भी बढ़ेगी, क्योंकि समान, शक्ति तथा वर्कशाप की सुविधाओं का अधिक गहन उपयोग सम्भव हो सकेगा। रेल-सेवाओं में समय की पाबन्दी बढ़ जायेगी। सुरक्षा के सम्बन्ध में समुचित उपायों को शीघ्रता-पूर्वक लागू किया जा सकेगा, लेखों को अधिक अच्छी रीति से बनाया जा सकेगा और क्षतिपूर्ति सम्बन्धी मांगों पर जल्दी निर्णय दिया जा सकेगा।

(६) रेलवे अनुसन्धान को भी प्रोत्साहन मिलेगा और कर्मचारियों के शिक्षण की व्यवस्था बढ़ाई जा सकेगी।

(७) प्रत्येक प्रदेशीय रेलवे के कार्यवाहन में क्षेत्र विशेष की आवश्यकतानुसार कुछ आवश्यक परिवर्तन किए जा सकेंगे।

सामूहीकरण से हानियाँ—

कुछ लोगों के विचारानुसार सामूहीकरण से देश को कोई लाभ न होगा। सरकार ने जो योजना बनाई, उसका लागू किया जाना वांछनीय न था। प्रत्येक क्षेत्र के अन्तर्गत लगभग ५,५०० मील लम्बे रेल मार्ग का शासन करना न केवल कार्य-क्षमता में कमी लायेगा, किन्तु व्यय में भी अधिक वृद्धि होगी, इसलिये रेलों की वर्तमान आर्थिक अवस्था और व्यवस्था प्रणाली को ध्यान में रखकर यही उपयुक्त ज्ञात होता है कि रेलों का सामूहीकरण खण्ड रूप से ही किया जाये, छोटी-छोटी रेलों को बड़ी रेलों में मिला दिया जाये, किन्तु बड़ी रेलों का प्रबन्ध स्वतन्त्र रूप से ही किया जाये। सामूहीकरण की कुछ प्रधान आलोचनायें इस प्रकार हैं—

(१) सामूहीकरण के परिणामस्वरूप अनेक कर्मचारियों को काम से हटा दिया गया है, क्योंकि इससे रेलवे विभाग में छटनी आवश्यक हो गई है। इसके अति-रिक्त बहुत से कर्मचारियों को एक रेलवे से दूसरे क्षेत्र की रेलवे में ट्रान्सफर किया गया है, जिसके कारण उनके कार्य की दशाओं में परिवर्तन हुआ है और उन्हें अनेक कठि-नाइयों का सामना करना पड़ा। रेलवे केवल उसी दशा में सफलतापूर्वक काम कर सकती है, जब कर्मचारियों में अपने काम के प्रति रुचि और अपने विभाग के प्रति सहयोग की भावना हो, अतः सामूहीकरण इस दृष्टि से लाभदायक सिद्ध न होगा। प्रबन्ध के मामले में स्थानीय स्वतन्त्रता कम हो जाने से भी कार्यक्षमता पर कुप्रभाव पड़ेगा।

(२) कम से कम तीन रेलों, अर्थात् E. I. Ry, B. B. & C.I. Ry तथा Jodbpur Ry को तोड़ा गया है। प्रथम दोनों रेलें बहुत बड़ी थीं और उनके विभाजन ने अनेक जटिल समस्याओं को जन्म दिया है, जैसे—कुशल कर्मचारियों का स्थानान्तरण, लेखों तथा लेन-देन का विभाजन इत्यादि।

(३) इसके अतिरिक्त रेलवे स्टोर, रोलिंग, स्टाक तथा अन्य आवश्यक सामान खरीदने में भी रेलवे को कोई अधिक किफायत न होगी, क्योंकि अभी भी सारा सामान यातायात मन्त्रालय के अन्तर्गत ही खरीदा जाता है।

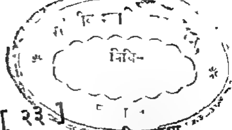
(४) कुंजरू कमेटी ने इस बात पर जोर दिया था कि सामूहीकरण करने से कार्यक्षमता में हानि होगी, अतः जब तक देश की आर्थिक दशा पूर्णतः स्वस्थ न हो जाय एवं रेलों की वर्तमान कार्यपद्धति में उन्नति न हो जाय, तब तक सामूहीकरण की योजना कार्यान्वित न की जाय।

(५) सामूहीकरण से उद्योग तथा व्यापार के क्षेत्र में अनेक असुविधायें उत्पन्न हो गई हैं, विशेष रूप से उन लोगों को जिनके लेन-देन के मामले रेलों से चल रहे थे। अनेक बार तो उन्हें एक पूर्णतया नये संगठन तथा नये अधिकारियों से भुगतना पड़ा है, जो सम्पूर्ण मामले को भलीभांति नहीं समझते थे।

(६) उत्तर-पूर्वी रेलवे का प्रधान कार्यालय गोरखपुर में रक्खा गया है, यद्यपि इसका क्षेत्र पूर्व की ओर ही अधिक फैला हुआ है। इससे मुख्यतः कलकत्ते में काम करने वाले कर्मचारियों को बड़ी असुविधा हो गई है।

निष्कर्ष —

अन्त में यह कहना अनावश्यक न होगा कि सामूहीकरण के लाभों तथा हानियों के सतुलन से यह स्पष्ट पता लगता है कि लाभ हानियों की अपेक्षा बहुत अधिक है। सामूहीकरण का कार्य सचमुच एक जटिल समस्या थी, जिसके फलस्वरूप कुछ कर्मचारियों को असुविधायें होना स्वाभाविक ही था। दूसरे शासन सम्बन्धी दोबारगी दूर हो जाने के कारण कुछ छटनी करना भी स्वाभाविक था। इसी प्रकार किंचित व्यापारियों की असुविधा के कारण सामूहीकरण को अनुचित कहना न्यायोचित न होगा, अतः सामूहीकरण एक अनिवार्य ऐतिहासिक तथ्य था, जिससे राष्ट्रीय हितों की रक्षा ही होती है।



[२३]

भारत में सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण

रूपरेखा—

१. प्रारम्भिक—प्राचीन भारत में सड़कों का विकास। हिन्दू काल, मुगल काल तथा ब्रिटिश युग।

२. सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण—वर्तमान युग में राष्ट्रीयकरण का बड़ा बोलबाला है। राष्ट्रीयकरण के पक्ष में विचार :—(अ) सस्ता यातायात, (आ) सुविधायें तथा दरों में स्थिरता, (इ) यातायात का विकास, (ई) कार्य कुशलता, (उ) सुन्दर व्यवहार। राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में विचार :—(ऊ) प्रतिद्वन्दिता की भावना का अन्त, (ए) सेवाओं से सम्बन्ध, (ऐ) सेवाओं में कमी, (ओ) नवीन आविष्कारों में बाधा (औ) क्षतिपूर्ति की समस्या, (अ) राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता, (अः) नीति में अन्तर, (क) व्यय में अधिकता। सड़क यातायात का पूर्ण राष्ट्रीयकरण न्यायोचित नहीं है।

३. त्रीपक्षीय योजना—सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण की समस्या को हल करने के लिए एक तीन पक्षकारों वाली योजना निकाली, जिसने विभिन्न राज्यों में सड़क यातायात के विकास के हेतु सयुक्त स्कन्ध प्रमण्डल खोलने की सिफारिश की।

४. उत्तर-प्रदेश में सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण—सन् १९४५ में सर्व प्रथम उत्तर-प्रदेश में सड़क यातायात पर नियन्त्रण का विचार किया गया। सन् १९४७ के बाद सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण के हेतु राज्य ६ क्षेत्रों में बाँटा गया। सन् १९५० के अन्त तक राज्य के प्रायः सभी बड़े नगरों में सिटी सरविस शुरू हो गई।

५. अन्य राज्यों में सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण—बम्बई राज्य, पञ्जाब तथा मद्रास राज्य, मध्य-प्रदेश, दिल्ली आदि।

६. निष्कर्ष—

प्रारम्भिक—

इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीन युग में भी भारत में बड़ी-बड़ी सड़कें थीं। मोहन जोदड़ो तथा हड़प्पा में (जो कि ईसा से २ या ३ हजार वर्ष पहिले

भी विद्यमान थे) खूब चौड़ी सड़कों का अनुसन्धान द्वारा पता लगा है। श्री कौटिल्य के अवलोकन से भी प्राचीन भारत की झलक मिलती है, जिसके अनुसार मौर्य काल में शाही सड़कें तथा प्रान्तीय सड़कें २४ फीट चौड़ी थीं। ग्राम शमशान तथा मिलिटरी स्टेशन को जाने वाली सड़कें ७½ फीट चौड़ी थीं और अन्य सड़कें भी लगभग ३ फीट चौड़ी थीं। चन्द्रगुप्त तथा अशोक के युग में तो सड़क यातायात काफी प्रगति पर था। अशोक ने तो अनेक सड़कों का निर्माण कराया तथा यात्रियों की सुविधा के विचार से सड़कों के किनारे धर्मशालायें बनवाईं। सड़कों के दोनों ओर नालियाँ भी होती थीं जिससे कि गन्दा पानी बह जाय। विदेशी यात्रियों के लेखों से ऐसा स्पष्ट है कि अशोक-काल के बाद भी हिन्दू राजाओं ने अनेक सड़कें बनवाईं जो राजधानियों को भारत के सीमान्त नगरों से जोड़ती थीं।

मुगल युग में सड़क यातायात ने कोई विशेष प्रगति नहीं की। नई सड़कें भी कम निर्माण हुईं। सड़कों के निर्माण में मुहम्मद तुगलक, शेरशाह सूरी, अकबर तथा औरङ्गजेब ने विशेष चाव दिखलाया। मुहम्मद तुगलक ने देहली से दौलताबाद तक सड़क बनवाई। शेरशाह सूरी ने आगरा से फ्रन्टीयर तक सड़क का निर्माण कराया और अकबर तथा औरंगजेब ने आगरा से प्रान्तीय राजधानियों को मिला दिया।

ब्रिटिश युग में सड़क यातायात की विशेष प्रगति हुई, किन्तु अधिकांश सड़कों का निर्माण राजनैतिक दृष्टिकोण से किया गया, न कि व्यापारिक अथवा आर्थिक दृष्टिकोण से। सन् १८४८ में लाहौर से पेशावर तक ग्राण्डट्रन्क रोड का निर्माण हुआ और रेल यातायात के विकास के कारण सड़कों का निर्माण थोड़ा ढीला पड़ गया। प्रथम महायुद्ध युग तक भारत में व्यापारिक दृष्टिकोण से पर्याप्त सड़कें नहीं थीं, किन्तु उसके बाद जब मोटर यातायात बढ़ा तो सड़कों का महत्व भी बढ़ने लगा। सन् १९२७ में डाक्टर एम० आर० जयकर के सभापतित्व में "सड़क विकास समिति" की नियुक्ति हुई, जिसकी सिफारिश पर मार्च सन् १९२९ में भारत सरकार ने केन्द्रीय सड़क विकास कोष निर्माण किया। इस कोष से राज्यों के सड़कों के निर्माण के लिये आर्थिक सहायता दी जाती है। सड़क कोष के निर्माण से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। राज्य और प्रान्त की सरकारें अपनी आमदनी में से जो रुपया सड़कों पर खर्च करना चाहती थीं और करती थीं, उसमें उन्हें कमी करनी पड़ी। पहिले कोष का रुपया अन्तर राज्य और अन्तर जिला महत्व की सड़कों पर ही व्यय हो सकता था, किन्तु भारत सरकार ने यह स्वीकार किया कि कोष से प्राप्त धन का २५% सहायक सड़कों पर व्यय किया जाय। रेलों से प्रतिद्विन्दता वाली सड़कों पर भी अपने हिस्से के २५% से अधिक रुपया राज्य की सरकारें व्यय नहीं कर सकती थीं। इन आर्थिक कठिनाइयों से सड़कों का विकास रुक गया। सन् १९०० से सन् १९४५ तक भारत में जितनी मील सड़कें बनीं, उतनी मील सड़कें संयुक्त राज्य अमेरिका ने १½ वर्ष में ही बनाली थीं। इन ४५ वर्षों में केवल ६०,४३५ मील लम्बी सड़क बनी। यदि हम केवल पक्की सड़कों को ही लें तो ३१,९६० मील लम्बी सड़कों का महत्व विशेष रूप से अनुभव किया गया एवं उनके

विकास के लिए प्रथम तथा द्वितीय पञ्च-वर्षीय योजनाओं में पर्याप्त आयोजन किया गया है।

भारत में सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण—

वर्तमान युग में राष्ट्रीयकरण का बड़ा बोलबाला है। वे दिन गये जबकि किसी देश की सरकार का कार्यक्षेत्र केवल उस देश की रक्षा करने तक ही सीमित था। रक्षा के अतिरिक्त अन्य सामाजिक अथवा आर्थिक क्षेत्र में किसी भी रूप से राज्य का हस्तक्षेप जनता को स्वीकार न था। उस युग में प्रचलित धारणा यह थी कि यदि किसी देश का राज्य व्यापार के क्षेत्र में लेश मात्र भी हस्तक्षेप करेगा अथवा स्वयं व्यापार करने की चेष्टा करेगा तो सम्पूर्ण देश बरबाद हो जायगा, किन्तु आज परिस्थिति भिन्न है। अधिकाँश लोग ऐसा अनुभव करने लगे हैं कि जनता की अपेक्षा यदि राज्य की सरकार किसी कार्य को स्वतः अथवा अपने नियन्त्रण में करती है तो परिणाम सुन्दर अथवा हितकारी होगा और इसके विपरीत यदि जन साधारण के हाथों में कोई चीज सौंप दी जावेगी तो क्षति होने की सदैव शंका रहेगी। प्रायः सभी देश ऐसा अनुभव करने लगे हैं कि राज्य के द्वारा जो कार्य सञ्चालित होगा उससे जन साधारण का कल्याण ही होगा। इस बदली हुई परिस्थिति ने वर्तमान प्रगतिशील राज्यों को प्रत्येक क्षेत्र में हस्तक्षेप के लिये बाध्य कर दिया है। आज हम देखते हैं कि राज्य की सरकार का कार्य केवल देश की रक्षा करने तक ही सीमित नहीं है। आर्थिक, सामाजिक, व्यापारिक एवं औद्योगिक सभी क्षेत्रों में राज्य का हस्तक्षेप देखने में आता है। श्री ए० डी० गोरवाला ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि "वे दिन गये जब व्यापार का कार्य किंचित चुने हुए लोग ही करते थे और अब सरकार लेश मात्र भी हस्तक्षेप नहीं कर सकती थी, किन्तु आज यह नीति बिलकुल पलट गई है। व्यापार करने वाली बात तो आगे की है, आज कुछ वस्तुओं का निर्माण भी राज्य सरकार द्वारा किया जाता है।" अतएव इस समस्या पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि यातायात के क्षेत्र में राज्य का क्या हाथ रहे। इस सम्बन्ध में यह कहना अनावश्यक न होगा कि जहाँ तक रेल्वे यातायात का सम्बन्ध है उनका पूर्ण राष्ट्रीयकरण होना उचित है। इसका विशेष कारण यह है कि भारत सरकार को रेल्वे यातायात के सञ्चालन का काफी अनुभव है और व्यवस्था के दृष्टिकोण से भी अभी तक कार्य संतोषजनक रहा है, किन्तु सड़क यातायात के विषय में ऐसी बात कहने में संकोच होता है। सड़क यातायात का पूर्ण राष्ट्रीयकरण जन साधारण के हितों के विरुद्ध होगा, क्योंकि ऐसा करने में अनेक लोगों का व्यापार एवं व्यवसाय का दिवाला निकल जायेगा। १८ मार्च सन् १९४८ को अखिल भारतीय मोटर संघ कांग्रेस में बोलते हुए मध्य-प्रदेश के गवर्नर डाक्टर पट्टाभिसीतारमैया ने इन शब्दों में सड़क यातायात के पूर्ण राष्ट्रीयकरण के प्रस्ताव की कड़ी आलोचना की—

"राष्ट्रीयकरण के लिये भारत की सरकार आज पूर्णतया अनुभवी नहीं कही जा सकती। इस कार्य के लिये अनेक दृष्टिकोण से हम अभी अपरिपक्व हैं। सड़क यातायात में

हस्तक्षेप करने के पहले ऐसे अनेक अत्यन्त आवश्यक कार्य हैं जिन्हें राष्ट्र हित के दृष्टिकोण से भारत सरकार को पहिले सम्पन्न करना है।' स्वर्गीय पटेल एवं हमारे प्रधान मन्त्री पण्डित नेहरू ने भी भारत सरकार की आर्थिक कठिनाइयों को सामने रखते हुए अनेक बार पूर्ण राष्ट्रीयकरण के प्रस्ताव को अस्वीकार किया। केन्द्रीय सरकार के वर्तमान व्यापार सचिव श्री टी० टी० कृष्णमचारी ने मद्रास प्रान्त के मोटर संघ के सम्मुख बोलते हुये चेतावनी दी थी कि मद्रास राज्य की यातायात नीति जन साधारण के हित के विरुद्ध है। सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण की नीति से मोटर यातायात को बड़ा धक्का पहुँचा है और उसके विकास में बहुत बड़ी बाधा आ गई है। प्राइवेट रूप से जो लोग मोटरें चलाते अथवा चलवाते थे उनको बड़ी क्षति उठानी पड़ी। कांग्रेस के एक अन्य सुप्रसिद्ध नेता श्री एम० ये० मसानी ने भी सड़क यातायात के पूर्ण राष्ट्रीयकरण की योजना को अस्वीकार किया। मसानी जी का सुझाव यह है सड़क यातायात पर राज्य सरकार का केवल नियन्त्रण रहना चाहिये और वास्तव में यही उचित भी है।

ऐसे थोड़े ही लोग हैं जो कि सड़क यातायात के पूर्ण राष्ट्रीयकरण के पक्ष में हैं। उनके विचार से पूर्ण राष्ट्रीयकरण इसलिए आवश्यक है—

राष्ट्रीयकरण के पक्ष में विचार—

(१) *सस्ता यातायात*—यदि सड़क यातायात पर राज्य सरकार का पूर्ण स्वामित्व, अधिकार एवं नियन्त्रण हो जाय तो यातायात सस्ता हो जावेगा, क्योंकि राज्य की अपेक्षा अन्य लोगों का ध्येय सेवा भाव नहीं, किन्तु पैसा कमाना होता है। जनता की सुविधा एवं सुख का वे ध्यान नहीं रखते, वे तो सदैव इसी धुन में रहते हैं कि किसी रीति से धन की वृद्धि हो।

(२) *सुविधायें तथा दरों में स्थिरता*—सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण से यह निश्चित है कि जन साधारण को सुविधाओं में वृद्धि होगी। यातायात की दरों में भी स्थिरता रहेगी, क्योंकि अन्य लोगों की भाँति ऐसी दशा में प्रतिद्विन्दता की भावना नहीं रहती।

(३) *सड़क यातायात का विकास*—सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण से यातायात के साधन में विशेष वृद्धि होगी। अन्य लोग तो मोटर इत्यादि केवल उन्हीं स्थानों में चलाने के लिये प्रोत्साहित होते हैं, जहाँ उनको अधिक लाभ की आशा है, किन्तु जहाँ हानि की शंका भी होती है उधर वे कभी मुख भी नहीं करते, जैसे—थोड़ी जन-संख्या के गाँवों में अथवा ऐसे स्थानों में जहाँ आने जाने के लिये पुल आदि की आवश्यकता पड़े। ऐसे स्थलों पर सड़क यातायात की सुविधा केवल राज्य सरकार द्वारा ही सुलभ की जा सकती है।

(४) *कार्य कुशलता*—यह भी सम्भव है कि अन्य लोगों की अपेक्षा यदि राज्य सरकार द्वारा कोई कार्य सचालित होता है तो काम अधिक अच्छा होगा। जन साधारण के कल्याण की अधिक सम्भावना रहती है। राज्य द्वारा सारे कार्य

नियमित ढङ्ग से कुशलता से होते रहते हैं। इसके अतिरिक्त सरकार यह भी ध्यान रखती है कि सड़क पर चलने वाली गाड़ियों की ही नहीं वरन् सड़कों की भी दशा ठीक रहे। सड़कों की समय-समय पर मरम्मत होती रहती है। तथा यथा समय उनका विकास भी होता है। यह विशेष लाभ इसलिये होता है, क्योंकि सड़क पर चलने वाली गाड़ियों तथा सड़क दोनों का स्वामी एक ही होता है, अर्थात् राज्य सरकार।

(५) अच्छा व्यवहार—राष्ट्रीयकरण के अभाव में मोटर गाड़ियाँ इत्यादि के चलवाने वाले अपने नौकरों के साथ न्यायोचित व्यवहार नहीं करते। उनके स्वास्थ्य एवं उनकी कार्यक्षमता पर वे जरा भी ध्यान नहीं देते। वे तो अपने लाभ की ही चिन्ता रखते हैं और इसलिए सेवक श्रमिकों से अधिकाधिक कार्य लेने का प्रयत्न करते हैं। मेले अथवा नुमाइश के समय तो एक दिन में १२ घण्टे से भी ज्यादा काम करवाते हैं, जिससे कि उनके लाभ में वृद्धि हो। सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण से यह प्रथा अवश्य दूर हो जावेगी। श्रमिकों का कार्यकाल निश्चित कर दिया जावेगा तथा उनकी कार्य करने की दशाओं में भी उन्नति होगी।

राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में विचार—

जो लोग राष्ट्रीयकरण की विचारधारा के विरुद्ध हैं, वे राज्य का हस्तक्षेप न करने के लिए निम्नलिखित कारण देते हैं —

(१) प्रतिद्विन्दता की भावना का अन्त—सड़क यातायात के पूर्ण राष्ट्रीयकरण से सबसे बड़ी हानि यह होगी कि जो प्रतिद्विन्दता की भावना रहती है, उसका अन्त हो जावेगा। वैसे तो प्रतिद्वन्दता की भावना भली नहीं कही जा सकती, किन्तु स्वस्थ प्रतिद्विन्दता की भावना से अधिकतर सुधार तथा उन्नति ही होती है। प्रतिद्विन्दता से अनुसन्धान करने तथा विकास के लिए प्रोत्साहन मिलता है, नये नये यान्त्रिक आविष्कार होते हैं और कार्यक्षमता बढ़ती है। राष्ट्रीयकरण होने से ये लाभ असम्भव से हो जाते हैं।

(२) सेवायुक्तों से सम्बन्ध—राष्ट्रीयकरण से दूसरी हानि यह होती है कि यदि राज्य सरकार किसी वस्तु का स्वामित्व एवं नियन्त्रण अपने हाथ में कर ले तो सरकार तथा सेवायुक्तों के पारस्परिक सम्बन्ध अच्छे नहीं रहते। हड़ताल के समय सरकार को कठिन परिस्थिति का सामना करना पड़ता है।

(३) सेवाओं में कमी—पूर्ण राष्ट्रीयकरण इसलिए भी उचित नहीं कहा जा सकता कि उसमें लोकसेवा अधिक नहीं हो सकती। सरकारी मोटर अथवा बस केवल निश्चित स्थानों पर ही रुकती है, किन्तु अन्य प्राइवेट गाड़ियों को इच्छानुसार किसी भी स्थान पर रोका जा सकता है।

(४) नवीन आविष्कारों में बाधा—राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप नवीन आविष्कार प्राय समाप्त ही हो जाते हैं। भारत में सड़क यातायात का उद्योग अभी एक नवजात शिशु के समान है, जिसके विकास की अभी काफी आवश्यकता है। हमारी सरकार अपनी अन्य कठिनाइयों के कारण इतनी क्षमता नहीं रखती कि विकास चरम

सीमा तक शीघ्र पहुँच सके। यह कार्य तो अन्य लोगों के सहयोग द्वारा ही सम्भव है, क्योंकि जब अन्य लोग भी इस उद्योग में भाग लेंगे तो प्रतिद्वन्दिता का अकुर फूट निकलेगा और यदि वह स्वस्थ हुआ तो विकास भी बहुत शीघ्र होगा।

(५) *क्षतिपूर्ति की समस्या*—राष्ट्रीयकरण की एक बहुत बडी कठिनाई यह भी है कि राज्य की सरकार को सडक यातायात उद्योग का स्वामित्व लेने के लिए क्षतिपूर्ति करनी होगी एवं अनेक लोग जो बेरोजगार हो जायेंगे, उन्हें काम देना होगा। क्षतिपूर्ति का धन करोड़ों की सख्या मे होगा, जिससे भारत सरकार की आर्थिक स्थिति और भी सकटपूर्ण हो जावेगी।

(६) *राष्ट्रीयकरण की अनावश्यकता*—कुछ लोगों की यह विचारधारा है कि सडक यातायात के राष्ट्रीयकरण की तो आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि वर्तमान मोटर गाडियों के अधिनियम में ऐसी अनेक धारायें हैं, जिनके द्वारा अन्य लोगो पर भी सचालन एव नियन्त्रण ही हो सकेगा। इस अधिनियम के द्वारा मोटर चलाने वाले अपनी एक सम्मिलित सहकारी सस्था बना सकते हैं। जन सुविधा प्रदान करने के लिए तथा कार्यक्षमता की वृद्धि के हेतु उस अधिनियम में अनेक धारायें हैं। दूसरे शब्दों में, यह कह सकते है कि राष्ट्रीयकरण द्वारा जो लाभ होंगे वे प्रत्यक्ष रूप में इस अधिनियम द्वारा भी सम्भव है।

(७) *केन्द्रीय एव राज्य सरकारों की नीति मे अन्तर*—राष्ट्रीयकरण की दशा में केन्द्रीय एव राज्य सरकारों की नीति में अन्तर होने की शङ्का रहती है और मतभेद की परिस्थिति में रेल तथा सडक यातायात मे सामजस्य होना भी कठिन हो जाता है। केन्द्रीय सरकार को आर्थिक हानि होने का भी भय रहता है, क्योंकि मोटर गाडियों के स्वामियों से फिर आय-कर मिलने की सम्भावना नहीं रहती। इसके अतिरिक्त राज्य की सरकारें यह भी माग कर सकती है कि पेट्रोल, मोटर गाडियों, टायर्स तथा मोटर के भागों पर आयात कर कम से कम हो जाँय और आयात कर के कम होने से केन्द्रीय सरकार को आर्थिक हानि उठानी पड़ेगी।

(८) *व्यय में अधिकता*—राष्ट्रीयकरण करने से सरकार के कन्धों पर आर्थिक भार बहुत अधिक हो जाता है, क्योंकि ऐसा करने के लिए प्रारम्भ में ही बहुत पूँजी लगानी पडती है एव सुन्दर से सुन्दर व्यवस्था के लिये दक्ष, कुशल एव अनुभवी व्यक्तियों की आवश्यकता पडती है। सडक यातायात के राष्ट्रीयकरण का भारत सरकार को अनुभव भी बहुत कम है।

दोनों पक्ष की विचारधाराओं पर गम्भीरता से मनन करके हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सडक यातायात का पूर्ण राष्ट्रीयकरण तो किसी दशा में भी न्यायोचित नहीं है। भारत सरकार को मिश्रित मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। आजकल भारत में अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ मोटर गाडियाँ तो दूर रहीं अच्छी सडकें भी नहीं हैं। ऐसे स्थानों पर भारत सरकार को चाहिये कि अगुआ बनकर सडक यातायात का प्रबन्ध एव उसमें वृद्धि करे।

तीन पक्षकारों वाली योजना—

भारत में सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण की समस्या को हल करने के लिए रेलवे बोर्ड के सुझाव पर केन्द्रीय सरकार ने एक तीन पक्षकारों वाली योजना निकाली। इस योजना की रूप रेखा इस प्रकार है। सड़क यातायात के विकास के लिए विभिन्न राज्यों में बड़े बड़े संयुक्त स्कन्ध प्रमण्डल खोले जायेंगे। इन प्रमण्डलों के अंशभागी तीन वर्ग होंगे—भारतीय रेलें, विभिन्न राज्य सरकारें और निजी रूप से बस चलाने वाले। प्रमण्डल की समस्त अंश पूँजी में से ३० से ३३% तक भारतीय रेलें, १० से २२% तक विभिन्न राज्य सरकारें और शेष अंश पूँजी निजी बस चलाने वाले लोग लेंगे। मोटर गाड़ियों के चलाने वालों की गाड़ियाँ नगद धन के बदले में स्वीकार कर ली जायेंगी। इस प्रकार समस्त राज्यों की मोटर यातायात सेवाओं का स्वामित्व एवं प्रबन्ध ये प्रमण्डल अपने हाथों में ले लेंगे। प्रारम्भ में तो इस योजना का सबने स्वागत किया, किन्तु कुछ समय पश्चात् निजी मोटर गाड़ियाँ चलाने वालों ने इस योजना की आलोचना करना शुरू कर दी। उन्होंने सोचा कि इस प्रकार सगठित प्रमण्डल के सम्बन्ध में उनका हाथ बहुत कम रहेगा और यह भी सम्भव है कि रेलवे तथा राज्य सरकारों के सामने उनकी बिल्कुल सुनवाई न हो। दूसरे, इनके हृदय में यह भी शंका उठ खड़ी हुई कि जब सरकार उनकी गाड़ियों का क्रय करेगी तो उनको उचित मूल्य प्राप्त न होगा।

उत्तर-प्रदेश में सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण—

सन् १९४२ में सर्व प्रथम उ० प्र० की सरकार ने राज्य के सड़क यातायात पर नियन्त्रण का विचार किया और सन् १९४७ में जब भारत के प्राय सभी राज्यों में लोकप्रिय सरकारें बन गईं, तब उत्तर-प्रदेश की राज्य सरकार ने सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण की पूर्व निश्चित योजना को कार्यान्वित करने का विचार किया। यही नहीं, राष्ट्रीयकरण के कार्य के हेतु संयुक्त स्कन्ध प्रमण्डलों के बनाने के लिए १३० लाख रुपये का बजट भी स्वीकार किया। समस्त राज्य ६ भागों में विभाजित किया गया और प्रत्येक भाग के लिये एक संयुक्त स्कन्ध प्रमण्डल का निर्माण हुआ—सात प्रमण्डल मैदानी और दो पहाड़ी भागों के लिये। इन प्रमण्डलों में सरकार का प्रतिनिधित्व ३०%, रेलों का २१% और निजी बस चलाने वालों का ५२% तय हुआ। कुछ व्यवस्था की दृष्टि से अन्य सदस्यों की अपेक्षा सरकार को दुगुना मताधिकार है। पहाड़ी भागों में सरकार का प्रतिनिधित्व ५१% और निजी मोटर चलाने वालों का ४९% तय हुआ, इनमें रेलों को कोई प्रतिनिधित्व नहीं मिला। जिन भागों में प्रमण्डल की मोटरें नहीं चलेंगी, वहाँ मोटरें चलाने के लिये निजी मोटर स्वामियों को और विशेषकर उन लोगों को जो इस योजना के फलस्वरूप काम से अलग हो जायेंगे, प्रोत्साहित किया जायगा।

प्रारम्भ में निजी मोटर स्वामियों ने योजना के सफलीभूत होने में सहयोग नहीं दिया। सहयोग तो दूर रहा, उन्होंने इस योजना की कड़ी आलोचना की और उसमें

भाग लेने से इन्कार कर दिया। सरकार के विरुद्ध उन्होंने न्यायालय में वाद भी प्रस्तुत किए। न्यायालय से यद्यपि उनकी विजय भी हुई, किन्तु फिर भी सरकार ने अपना हठ न छोड़ा। हर एक नौ मार्गों में बस सर्विस प्रारम्भ करने के लिए उत्तर-प्रदेश की सरकार ने दृढ़ निश्चय किया।

उत्तर-प्रदेश के नौ भाग ये हैं—गोरखपुर, कानपुर, लखनऊ, इलाहाबाद, आगरा, बरेली, मेरठ, कमायूं और गढ़वाल। सर्व प्रथम राजकीय बस सर्विस २५ मई सन् १९४७ को आरम्भ हुई। सितम्बर सन् १९४९ तक उत्तर प्रदेश में १९० विभिन्न मार्गों का राष्ट्रीयकरण हुआ एवं १,१६२ बसें, २२६ ट्रकें और ४६ टैक्सियाँ कार्य संलग्न थीं। आज तो परिस्थिति काफी सन्तोषजनक है और इन आँकड़ों में भी काफी वृद्धि हो गई है। यदि ऐसा कहें कि उत्तर प्रदेश अन्य राज्यों के लिए एक आदर्श है, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं। आलोचना की बात केवल यही है कि अधिकांश मोटरें रेलवे लाइन के समानान्तर ही चलती हैं, जिससे कोई विशेष लाभ नहीं हो रहा है। फिर ऐसे अनेक स्थल भी शेष हैं, जहाँ यातायात का कोई साधन नहीं। अब जबकि इस राज्य में सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण हो चुका है, इस समस्या पर विशेष रूप से विचार करना चाहिए और ऐसे भागों में सड़क यातायात की सुविधा प्रदान करनी चाहिए। ग्रामों को तहसील तथा जिला केन्द्रों से मिलाने का प्रयत्न किया जाय। सरकारी बस की मरम्मत एवं उनमें सुधार करने के लिए इस राज्य में कानपुर की केन्द्रीय वर्कशाप अभी सबसे अच्छी कही जा सकती है। यह वर्कशाप उप यातायात कमिश्नर द्वारा सञ्चालित होती है, जिनका मुख्य कार्यालय कानपुर में ही है।

जनता की हर प्रकार की सुविधा के लिए रोडवेज विभाग पूर्ण प्रयत्न करता है। इस विभाग के प्रत्येक कर्मचारी को नम्रता से व्यवहार करने के लिए विशेष आदेश दे दिये गये हैं। इस पर भी जिन लोगों को कुछ शिकायत हो, वे शिकायत की पुस्तक में अपनी सुविधाओं तथा विकास के लिए सुझाव भी दे सकते हैं। पूर्व निश्चित टाइम-टेबिल के अनुसार सरकारी बसें नियत समय पर अपना कार्य करती हैं। बस स्टेशनों पर यात्रियों के लिए आराम करने एवं पानी आदि की पूर्ण सुविधा होती है। पुरुष तथा स्त्रियों के टिकट लेने की अलग-अलग व्यवस्था होती है। अधिकतर स्टेशनों पर सामान ढोने के लिये कुली भी रहते हैं। एक निश्चित संख्या से अधिक लोग बस में सफर नहीं कर सकते। बस में बैठने की व्यवस्था भी बड़े आराम की होती है। औरतों के बैठने के लिये अलग प्रबन्ध रहता है। बस की डिजाइन में सुधार करने के लिए एक जर्मन विशेषज्ञ भी नियत हुआ है। सन् १९५० के अन्त से उत्तर प्रदेश के अन्य नगरों में सिटी बस सर्विसेज भी आरम्भ हो गई हैं। अभी हाल में कुछ पुलमैन की भी बसें प्रारम्भ हुई हैं, जो जनता की काफी सेवा कर रही हैं। ये बसें साधारण भाड़े से दुगना चार्ज करती हैं। देहली से देहरादून तथा मसूरी जाने वाली कुछ बसों में सोने का भी सुप्रबन्ध है। मेला तथा नुमाइश के समय यात्रियों की सुविधा के लिए स्पेशल

दिसँ भी चलने लगती है। ४ आना अतिरिक्त भाडा देकर सीट का रिजर्वेशन भी

सम्भव है।

अन्य राज्यों में सडक यातायात का राष्ट्रीयकरण—

उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त भारत में कुछ अन्य राज्यों में भी सड्क यातायात
का राष्ट्रीयकरण हो चुका है। बम्बई राज्य में सडक यातायात कम्पनी की स्थापना
दिसम्बर सन् १६५१ में हुई थी। इसका उद्देश्य क्रमश राज्य भर के मोटर यातायात को
अपने हाथ में ले लेना है। इसमे भारत सरकार और राज्य सरकार की पूँजी १ २ के
अनुपात में लगाई गई है। यह कम्पनी बम्बई के दस प्रदेशों की सेवा करती है। इससे
जो लाभ होता है, उसका अधिकाश भाग उत्तम सडकें बनाने तथा यात्रियों के सुख और
सुविधा में खर्च किया जाता है।

पूर्वी पजाब और मद्रास में भी सरकार विभागों द्वारा ही मोटर सर्विस का
सचालन होता है। उडीसा राज्य Road Transport Corporation की स्था-
पना हो गई है, जिसने राज्य द्वारा सचालित मोटर यातायात को अपने हाथ में
ले लिया है।

मध्य प्रदेश मे "सी० पी० ट्रान्सपोर्ट सर्विसेज लि० और प्राविन्शियल ट्रान्सपोर्ट
कम्पनी लि०' द्वारा मोटरें चलाई जा रही हैं और इसी प्रकार के तीन अन्य प्रमण्डल
बनाने का भी विचार है। देहली में भी सडक यातायात का राष्ट्रीयकरण हो चुका है।
ग्वालियर एव नॉर्दर्न इन्डिया ट्रान्सपोर्ट कम्पनी को भी सरकार ने ले लिया है। देहली
राज्य में 'देहली ट्रान्सपोर्ट सिस्टम के नाम से एक नई राजकीय खुल गई है, जिसका
सम्पूर्ण नियन्त्रण एव सचालन देहली राज्य के यातायात विभाग द्वारा होता है।
'बी' श्रेणी के राज्यों में ट्रावनकोर, कोचीन, मैसूर, सौराष्ट्र आदि में भी मोटर यातायात
का राष्ट्रीयकरण शुरू हो गया है। मोटर यातायात के राष्ट्रीयकरण का पूँजीपतियों ने
विरोध किया, किन्तु भारत की सरकार ने दृढता से काम लिया है। दिसम्बर सन्
१६५० में भारतीय संसद ने रोड ट्रान्सपोर्ट कारपोरेशन बिल पास कर दिया है, जिसके
फलस्वरूप अब राज्य की सरकारों को सडक यातायात के राष्ट्रीयकरण का अधिकार मिल
गया है और साथ ही साथ राज्य को अपनी बस सर्विसों की स्टैटूटरी कारपोरेशन द्वारा
प्रबन्ध व्यवस्था कराने का अधिकार भी प्राप्त हो गया है। राष्ट्रीयकरण की सफलता के
लिए यह नितान्त आवश्यक है कि जहाँ कार्यक्षमता की कमी हो और अपव्यय हो, वहाँ
बराबर सुधार करने का प्रयत्न किया जावे। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि
मोटर गाड़ियों का प्रमापीकरण हो जाय और पुरानी गाडियों के स्थान पर नई अच्छी
गाडियों की सख्या बढ़ाई जाय। मोटर गाडियों के सुधारने के कारखानों की स्थापना
करने और तान्त्रिक शिक्षा की व्यवस्था करने की ओर भी विशेष ध्यान देना चाहिए।
हमको पण्डित गोविन्द वल्लभ पत के इन शब्दों को न भूलना चाहिए, जो उन्होंने
उत्तर प्रदेश की यातायात सम्बन्धी प्रदर्शनी के उद्घाटन के समय कहे थे—'रोडवेज
जन सेवा करने का एक साधन है, उसका दृष्टिकोण शोषण द्वारा अनुचित लाभ

कमाना नहीं होना चाहिए। जनता की रोडवेज जनता के ही द्वारा सर्व साधारण की सेवा करने का एक साधन है।'

निष्कर्ष—

पच वर्षीय योजना में राज्य द्वारा चलने वाली मोटर सर्विसेज के लिए 'अ श्रेणी के राज्यों के लिए ५ ६ करोड़ रुपया, 'ब' श्रेणी के राज्यों के लिए १ ६ करोड रुपया और 'स' श्रेणी के राज्यों के लिए २० लाख रुपया, इस प्रकार कुल ७ ४ करोड रुपया रखा गया था। द्वितीय योजना के भी सड़कों के विकास पर पर्याप्त बल दिया गया। इससे यह स्पष्ट है कि सड़क यातायात का भविष्य काफी उज्ज्वल है। पच वर्षीय योजना की रूपरेखा में योजना के निर्मातार्ओं ने इस बात पर भी जोर दिया है कि जहाँ भी रोडवेज चलाई जावे, बम्बई राज्य का आदर्श सामने रखा जावे। बम्बई राज्य की ही भाँति व्यवस्था के लिए प्रमन्डल स्थापित करने चाहिए, जिससे कि सारा कार्य कुशलता पूर्वक हो।

चतुर्थ : पुष्प

कृषि एवं सहकारिता

(AGRICULTURE & CO-OPERATION)

"यह एक साधारण कथन है कि प्रकृति ने उदारतापूर्वक भारत को अपने उपहार प्रदान किये हैं, परन्तु भारतीय उससे समुचित लाभ नहीं उठा सके। प्राकृतिक विपुलता और मानव-निर्धनता की यह विषमता कैसी विडम्बना है। इस कथन का यही कारण है जो एक कहावत-सी बन चुकी है कि भारत निर्धनों से बसा हुआ एक समृद्ध देश है।"

[२४]

भारतीय कृषि

रूपरेखा—

१. प्रारम्भिक—भारतीय अर्थ-व्यवस्था में कृषि का महान् महत्व है। हमारी ६७% जन-संख्या कृषि पर निर्भर करती है। राष्ट्रीय आय का लगभग आधा भाग कृषि से प्राप्त होता है। देश के उद्योग-धन्धे भी मुख्यतः कृषि पर अवलम्बित हैं।

२. भारतीय कृषि की विशेषतायें—भारतीय कृषि की कुछ मुख्य विशेषतायें निम्नाङ्कित हैं—(अ) भारतीय कृषि की गिरी हुई अवस्था, (आ) कृषि निज-निर्वाह आधार पर की जा रही है, (इ) कृषि पर जन-संख्या का अधिक भार है, (ई) खाद्य फसलों का अधिक महत्व, (उ) कृषि का ढङ्ग पुराना है, (ऊ) खेतों का छोटे-छोटे टुकड़ों में बटा एवं बिखरा होना, (ए) कृषि-योग्य भूमि का पूरा उपयोग न होना, (ऐ) पैदावारी का पौष्टिक मूल्य कम है।

३. पंच-वर्षीय योजना एवं कृषि उत्पादन में वृद्धि—पंच-वर्षीय योजना से कृषि उत्पादन में आशा से अधिक वृद्धि हुई है।

४. भारतीय कृषि के दोष—मुख्य दोष—(अ) भूमि सम्बन्धी—प्रति एकड़ उत्पादन कम है, भूमि सूखी है तथा अनिश्चित वर्षा के पेशों में सिंचाई की आवश्यकता है, भूमि का कटाव। कृषि अनार्थिक है। (आ) श्रम के दोष—श्रम अशिक्षित, अज्ञानी एवं रूढ़िवादी है। (इ) संगठन के दोष—विक्रय की असुविधायें, वित्तीय कठिनाइयाँ। (ई) पूँजी के दोष—कृषि के साधन अत्यन्त अप्रचलित तथा पुराने हैं। पशु सम्पत्ति दुर्बल है।

५. उपचार—वैज्ञानिक साधनों के प्रयोग तथा अधिक पूँजी के विनियोग द्वारा समस्याओं को हल किया जा सकता है। आर्थिक क्रान्ति की आवश्यकता है।

६. निष्कर्ष—भविष्य उज्ज्वल है। उत्पादन में वृद्धि के लिए गहरी खेती का प्रयोग करना चाहिए।

प्रारम्भिक—

भारतीय अर्थ-व्यवस्था में कृषि का महत्व—

भारतीय अर्थ-व्यवस्था में कृषि का अत्यन्त महत्व है। प्रत्येक तीन व्यक्तियों में से दो खेती में लगे हुए हैं। देश की १५·२ करोड़ काम करने वाली जनता में से १०·१२ करोड़ कृषि के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से अपनी जीविका चला रहे हैं। इस प्रकार

हमारे देश की जन-संख्या का एक बहुत बड़ा भाग अपनी आजीविका के लिए केवल कृषि पर ही निर्भर करता है। हमारे देश की स्थिति विश्व के प्रमुख देशों से बिल्कुल ही भिन्न है। संसार के मुख्य औद्योगिक देश, जैसे—संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, जर्मनी, फ्रांस इत्यादि उद्योगों पर ही निर्भर हैं। हमारी कुल राष्ट्रीय आय का लगभग आधा भाग कृषि तथा उससे सम्बन्धित धन्धों से ही प्राप्त किया जाता है। कृषि द्वारा हमारे देश के असंख्य लोगों को न केवल भोजन ही मिलता है, परन्तु देश के अनेक उद्योगों को कच्चा माल, जैसे—कपास, पटसन, गन्ना, तिलहन, तम्बाखू, चाय इत्यादि भी प्राप्त होता है। आवश्यकता से अधिक उत्पादन तथा निर्माण किये गये माल का विदेशों में निर्यात करके कृषि हमको इस योग्य बनाती है कि हम दूसरे देशों से अपने कारखानों के लिए आवश्यक यन्त्र एवं सामिग्री तथा जनता के लिए आवश्यक उपभोग्य वस्तुएँ भी खरीद सकें। कृषि से ही देश के करोड़ों जानवरों को उनका भोजन मिलता है। हमारे देश के बड़े-बड़े उद्योग, जिनमें लाखों मजदूर श्रम करके अपना तथा अपने कुटुम्ब के लोगों का जीवन निर्वाह करते हैं, कृषि पर ही निर्भर रहते हैं। अनाज तथा कच्चे एवं पक्के माल को एक स्थान से दूसरे स्थान को यातायात करने वाली रेलें, मोटरें एवं अन्य एजेन्सियाँ भी अपनी आय के लिये कृषि-उत्पादन पर ही निर्भर रहती हैं। हमारे देश से निर्यात की जाने वाली अनेक वस्तुओं में तिलहन, चाय, लाख, तम्बाखू, काफी इत्यादि का एक महत्वपूर्ण स्थान है, जो कि कृषि से ही प्राप्त की जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे देश के लोगों की आजीविका, व्यापार, कल कारखाने इत्यादि कृषि पर ही विशेष रूप से निर्भर हैं। कृषि की समृद्धि ही देश की समृद्धि है, क्योंकि भारत का आर्थिक संगठन खेती पर ही आश्रित है। न केवल देश की जनता, किन्तु केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों को भी भिन्न भिन्न दिशाओं से प्राप्त होने वाली आय का अधिकाँश भाग कृषि पर ही निर्भर रहता है। जिस वर्ष किसी बड़े क्षेत्र में किन्हीं कारणों से फसल नष्ट हो जाती है तो देश का आर्थिक ढाँचा हिल उठता है, जिसका प्रभाव न केवल देश के असंख्य व्यक्तियों के जीवन पर, किन्तु केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों के आय व्ययक पर भी पड़ता है। फसलों के नष्ट हो जाने से ग्रामीण जनता की क्रय शक्ति बहुत घट जाती है, फलतः विदेशों से आयात किया गया तथा देश के कारखानों में निर्माण किया गया माल पूरी तरह से खप नहीं पाता और बाजार में मन्दी का डर मूर्तिमान हो उठता है। कभी कभी कुछ कारखाने बन्द भी करने पड़ते हैं, फलतः न केवल उनके स्वामियों को, बल्कि उपभोक्ता, सरकार एवं अपनी आजीविका के लिये उन कारखानों पर निर्भर रहने वाले श्रमिकों को भी आर्थिक कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं। देश में बेकारी बढ़ती है। माल का यातायात कम हो जाने तथा ग्रामीण जनता की तीर्थ यात्रा में कमी हो जाने के कारण रेलों को प्राप्त होने वाली आय में भी काफी कमी हो जाती है। कृषि उत्पादन कम होने के कारण कारखानों में निर्माण होने वाले माल का उत्पादन भी गिर जाता है, फलतः विदेशों को भेजे जाने वाले माल का निर्यात भी कम हो जाता है, आयात पर भी धक्का लगता है। परिणामस्वरूप न केवल व्यापारी वर्ग

किन्तु केन्द्रीय सरकार को आयात एवं निर्यात कर के रूप में प्राप्त होने वाली आय में कमी हो जाती है। बाजार में मन्दी आ जाती है। कृषि से उत्पादन होने वाले माल एवं अनाज की उत्पादन मात्रा में कमी होने तथा सरकार द्वारा कृषकों को दी जाने वाली तकावी के कारण राज्य को मालगुजारी भी पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं होती। उपरोक्त कारणों से केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों के आय-व्ययक में घाटा होने लगता है। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए लार्ड कर्जन ने भारतीय आय-व्ययक को 'वर्षा में जुआ' के नाम से सम्बोधित किया। इस प्रकार जिस वर्ष कृषि के कारण वर्ष बिगड़ जाये, देश के सारे ही क्षेत्र, चाहे वह जनता से सम्बन्धित हों या सरकार से, कमजोर हो जाते हैं, जिसका प्रभाव न केवल देश के आर्थिक वरन् सामाजिक एवं राजनैतिक संगठन पर भी पड़ता है।

भारतीय कृषि की विशेषताएँ—

भारतीय कृषि की कुछ अपनी अनोखी विशेषताएं हैं। प्रथम, कृषि हमारे देश का मुख्य व्यवसाय होते हुए भी, बड़े दुःख की बात है कि उसकी दशा अत्यन्त ही करुणाजनक है। आवश्यकता से अधिक व्यक्तियों के खेती में लगे होते हुए भी देश में पैदा की जाने वाली लगभग समस्त मुख्य फसलों की प्रति एकड़ पैदावार दूसरे देशों की तुलना में सबसे कम है। हमारे देश में विभिन्न अनाजों की पैदावार दूसरे देशों की पैदावार का $\frac{1}{3}$ या $\frac{1}{4}$ भाग है। किन्हीं किन्हीं वर्षों में अतिवृष्टि या अनावृष्टि के कारण पैदावार इतनी भी नहीं रहती। देश में खेती मुख्यतः पुराने तरीकों से ही की जा रही है, अतः इन तरीकों की क्षमता में विकास करने की काफी गुँजाइश है। कृषि में प्रति एकड़ उत्पादन कम होने के कारण हमारी अर्थ-व्यवस्था अत्यन्त ही असन्तोषजनक अवस्था में है।

भारतीय कृषि की दूसरी विशेषता यह है कि वह निज-निर्वाह आधार पर की जा रही है। किसान अपने तथा अपने परिवार के सदस्यों के उपभोग के लिए विशेष-कर खाद्य फसलें उपजाता है। जो कुछ उनके प्रयोग के बाद बचता है, उसमें से आवश्यक भाग बीज आदि के लिये रख कर बाकी का उत्पादन विक्रय के लिये रखता है। यही वह आधिक्य है, जो शहरों एवं कस्बों में बेच दिया जाता है। डेनमार्क, हालैण्ड, तथा संयुक्तराष्ट्र की भाँति किसान अपना समय डेरी उत्पादन में नहीं लगाता और न इसे व्यवसाय का रूप देता है। इसी प्रकार आस्ट्रेलिया अर्जेन्टाइना एवं न्यूजीलैंड के किसानों की भाँति माँस तथा ऊन के उत्पादन पर भी विशेष ध्यान नहीं देता, अतः केवल भूमि पर ही वह निर्भर रहते हुए अन्य व्यवसायों से जो कि खेती से सम्बन्धित हैं, अपनी आमदनी में वृद्धि करने का प्रयत्न नहीं करता।

तीसरे, भूमि के क्षेत्रफल एवं उस पर निर्भर रहने वाली जनता का अध्ययन करने पर पता लगता है कि भूमि पर आवश्यकता से अधिक भार है, फलतः देश का किसान आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त ही कमजोर है। राष्ट्रीय आय का लगभग आधा भाग खेती तथा उससे सम्बन्धित धन्धों से प्राप्त होता है, जबकि देश की $\frac{2}{3}$ भाग जनता इस

धन्धे में लगी हुई है। दूसरी और संसार के अन्य देशों में भूमि पर इतना अधिक भार नहीं है। बंगाल प्रान्त की भूमि से ६४६ व्यक्ति प्रति वर्ग मील निर्वाह होता है, जर्मनी की भूमि से ३११ व्यक्ति और फ्रान्स में १८६ व्यक्ति प्रति वर्ग मील का निर्वाह होता है।

हमारे देश के खेतों में पैदा की जाने वाली फसलों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। उनमें से पहली खाद्य फसलें हैं—जैसे गेहूँ, चावल, जौ, बाजरा, मक्का, रागी, दालें (चना, उड़द, मसूर, मौंठ, मटर, अरहर, चँवला आदि), गन्ना इत्यादि। दूसरे भाग में चाय, कहवा, रुई, जूट, तम्बाकू, रबड़, तिलहन इत्यादि अखाद्य फसलें सम्मिलित की जा सकती हैं। पहले प्रकार की फसलें विशेषतः प्रत्यक्ष उपभोग के लिये और दूसरे प्रकार की फसलें बाज़ार में बेचकर रुपया प्राप्त करने की दृष्टि से पैदा की जाती हैं। सन् १९४८ में कुल १,८२० लाख एकड़ भूमि में खाद्य पदार्थ एवं केवल ३६६ करोड़ एकड़ भूमि में अखाद्य फसलें तथा मसाले बोये गये हैं। अथवा यों कहा जा सकता है कि देश में खेती की जाने वाली भूमि के ⅘ भाग (७८%) में केवल खाद्य पदार्थों की और बाकी ⅕ भाग में अखाद्य पदार्थों की खेती की जाती है।

पाँचवे, भारतीय कृषि में इस विज्ञान के युग में भी खेती पुराने ढंग पर ही की जा रही है। कहीं कहीं भले ही पूँजीवादी या सामूहिक खेती का विकास हुआ हो, किन्तु अधिकतर खेती वैयक्तिक आधार पर और एक पुराने रूढ़िवादी ढङ्ग से की जाती है। आधुनिक यन्त्र, वैज्ञानिक खाद आदि की सहायता से वैज्ञानिक खेती भारत में ी प्रारम्भ हुई कही जा सकती है।

छटवें, भारत में खेतों का छोटे छोटे टुकड़ों में बँटा और उनका बिखरा होना भी एक विशेषता है। देश की आज यह एक बड़ी समस्या है, जिसके कारण खेती लाभदायक नहीं रही और खेतों का कोई आर्थिक महत्व भी नहीं रह गया है।

सातवें, देश में एक यह भी विशेषता है कि खाद्य पदार्थों के उत्पादन में पर्याप्त मात्रा न होने पर भी कृषि योग्य भूमि का उपयोग खेती के लिये नहीं किया जा रहा है। सन् १९५१ में कृषि मन्त्रालय द्वारा प्रकाशित अङ्को से मालूम होता है कि देश की समस्त भूमि का क्षेत्रफल ७८·१ करोड़ एकड़ भूमि है, उसमें से :—

(१) जङ्गलों से ढकी हुई भूमि	१०.६	करोड़	जो सारी भूमि का		१४% है
(२) कृषि के लिये अप्राप्त भूमि	२५·५	,,	,,	,,	३२·७%
(३) कृषि योग्य व्यर्थ भूमि	८·५	,,	,,	,,	११%
(४) ऊपर भूमि	५.४	,,	,,	,,	७%
(५) बोई हुई भूमि	२७.७	,,	,,	,,	३५%
कुल योग	७८.१	,,	,,	,,	लगभग १००%

इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि सन् १९५१ में ८६० लाख एकड़ भूमि कृषि योग्य

थी, जिसका उपयोग नहीं किया गया। यदि इस भूमि का पूर्ण रूप से उपयोग किया जावे तो फसलों के उत्पादन में ३३% वृद्धि की जा सकती है। यह भूमि बोई हुई भूमि के क्षेत्र के ⅓ के बराबर है।

आठवें, भारतीय कृषि की यह भी एक विशेषता है कि उसकी पैदावार का पौष्टिक मूल्य बहुत कम है। सन् १९१० व सन् १९४० के बीच चावल और गेहूँ की पैदावार क्रमशः १·२ और ७·२ प्रतिशत घट गई, किन्तु ज्वार, जौ और मक्का का उत्पादन क्रमशः ३८·७, ४० और ४ प्रतिशत बढ़ गया। ज्वार, बाजरा और जौ में चावल और गेहूँ की अपेक्षा पौष्टिक तत्व कम होते हैं, हमारे देश की ग़रीब जनता का यही मुख्य भोजन है। इन कम पौष्टिक खाद्यान्नों के उत्पादन का एक मुख्य कारण यह भी है कि इन्हें पैदा करने के लिये विशेष सिंचाई की आवश्यकता नहीं रहती, मुख्यतया वर्षा के पानी से ही ये फसलें पक जाती हैं। इसके अतिरिक्त भारतवासियों के लिये संतुलित आहार और कृषि उत्पादन में कोई सामञ्जस्य नहीं बिठाया गया है। दूसरे देशों में डेरी, (गाय, भैंस पालना) शहद की मक्खी पालने, मुर्गियाँ रखने, फल तथा साग सब्जी की खेती इत्यादि कृषि के ही आवश्यक अङ्ग मान लिये गये हैं और उन देशों के किसान इन वस्तुओं का उत्पादन करके न केवल पौष्टिक सम्बन्धी अपनी आवश्यकताओं को पूरी ही करते हैं, किन्तु अतिरिक्त वस्तुओं को बेचकर अपनी आमदनी में भी वृद्धि करते हैं। यदि हम औसत भारतीय के लिये प्रति दिन के भोजन में लगभग ३,००० कैलोरी की भी आवश्यकता समझें तो आजकल प्रति व्यक्ति ६२५ कैलोरी की कमी पड़ती है। पौष्टिक पदार्थों के सेवन से यह कमी दूर की जा सकती है।

पंच-वर्षीय योजना एवं कृषि-उत्पादन में वृद्धि—

हमारे देश में कृषि उत्पादन की कमी को दूर करने के लिये प्रथम पंच-वर्षीय योजना में सक्रिय कदम उठाया गया है। इस योजना द्वारा मार्च सन् १९५६ के अन्त तक ७६·१ लाख टन खाद्यान्न का अतिरिक्त उत्पादन करने का उद्देश्य रखा गया था, किन्तु बड़े हर्ष की बात है कि योजना के प्रथम तीन ही वर्षों में उद्देश्य से भी अधिक खाद्यान्न उत्पादन किया गया।

भारतीय कृषि के दोष—

उपरोक्त विवेचन से हमारे देश की कृषि के पिछड़े होने का साधारण ज्ञान हमें हो जाता है। पिछड़े होने के कारणों में कृषि से ही सम्बन्धित दोषों का होना है। इन दोषों को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है, जो कृषि के उत्पादन के चार साधन हैं, वे हैं भूमि, श्रम, पूँजी एवं संगठन। कृषि के लिए भूमि अत्यन्त ही आवश्यक एवं आधारभूत अंग है। हमारे देश में भूमि से सम्बन्धित अनेक समस्याएँ एवं दोष हैं, जिनका प्रत्यक्ष प्रभाव उत्पादन की जाने वाली फसलों पर पड़ता है। देश की कुल भूमि (७८·१ करोड़ एकड़) का केवल ३९% भाग ही खेती के लिये काम में लाया जा रहा है। हमारे देश का प्रति एकड़ कृषि उत्पादन अन्य देशों की तुलना में न केवल कम ही है, किन्तु निरन्तर गिरता भी जा रहा है। उत्पादन में कमी का मुख्य

कारण भूमि की उत्पादन शक्ति में कमजोरी आना है। इस शक्ति को गिराने में किसान की लापरवाही भी है। भूमि की शक्ति को स्थाई रखने तथा उसमें वृद्धि करने के लिये उचित एवं पर्याप्त मात्रा में खाद देना अत्यन्त ही आवश्यक है। यह खाद प्राकृतिक एवं कृत्रिम दोनों ही प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है। प्राकृतिक साधनों में जानवरों का गोबर मुख्य है। बड़े दुख की बात है कि गोबर का पूर्ण उपयोग खाद के लिये न किया जाकर उसका एक बहुत बड़ा भाग जलाने के लिए कण्डों के रूप में किया जा रहा है। कृषक की अज्ञानता, उसकी आर्थिक कमजोरी एवं अन्य कुछ कारणों से दूसरे प्रकार के खादों, जैसे—हरी पत्तियों का खाद, खली का खाद, हड्डियों का खाद तथा रासायनिक खादों के उपयोग की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है।

तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो हमें ज्ञात होता है कि भारतीय भूमि सूखी है और इसलिए सिंचाई की विशेष आवश्यकता रहती है। सिंचाई के साधनों की कमी के कारण किसानों को वर्षा पर निर्भर रहना पड़ता है। यह वर्षा भी समय एवं मात्रा में अनिश्चित रहती है। कहीं आवश्यकता से अधिक और कहीं आवश्यकता से बहुत ही कम। कभी-कभी समय के पहले और कभी-कभी समय के बाद वर्षा गिरती है। इस स्थिति को देखते हुए वर्षा पर पूर्ण रूप से निर्भर रहना एक बड़ी भारी भूल है। वर्षा का पानी नदियों में बेकार बहता रहता है, जिसका उपयोग खेतों की सिंचाई के लिए किया जा सकता है।

भूमि में दरारें पड़ने, हानिप्रद क्षारों के भूमि की सतह पर प्रगट होने, जमीन में पानी के जमाव तथा भूमि के विलीनीकरण या कटाव के कारण भी हमारी भूमि को काफी क्षति हुई है। भूमि के विलीनीकरण से हमारा अभिप्राय सतह की मिट्टी का पानी अथवा वायु वेग से बह जाना है। वृक्षों को काट देने, भूमि की हरियाली और उगी हुई घास को पशुओं के चरने के लिए मनमाना उपयोग करने से भूमि की शक्ति को रोकने वाली सतह नष्ट हो जाती है। पहाड़ों की ओर से आने वाले पानी का तेज बहाव, मूसलाधार पानी तथा बाढ़ों के कारण भी भूमि कटाव बढ़ जाता है। भूमि-कटाव के कारण बड़े-बड़े क्षेत्र खेती के अयोग्य हो जाते हैं। हमारे देश के कई भागों में और मुख्यत: मध्य-प्रदेश, उत्तर प्रदेश, पंजाब, बङ्गाल, राजस्थान, दिल्ली तथा बम्बई के कुछ भागों में यह दोष प्रति वर्ष बढ़ता जा रहा है। इस दोष के कारण न केवल प्रति वर्ष कृषि योग्य भूमि के क्षेत्र में कमी ही पड़ती है, बल्कि उसकी प्रति एकड़ उत्पादन शक्ति में भी गिरावट आती हैं। आसाम, बङ्गाल, बिहार तथा मध्य-प्रदेश में भूमि पर पानी रुकने से बड़ी हानि हुई है। भूमि की इस अवनति के कारण उत्तर-प्रदेश एवं बंगाल में बड़ी-बड़ी नदियों के किनारे-किनारे बहुत सी भूमि रेगिस्तान में बदल गई है। केवल उत्तर-प्रदेश में ही इन कारणों से ६·८ करोड़ एकड़ भूमि में से १·३ करोड़ भूमि या लगभग २०% भूमि अर्ध रेगिस्तान हो चुकी है। वन लगा कर तथा बाढ़ों को रोक कर मिट्टी की इस अवनति को रोका जा सकता है।

भारत के औसत किसान के पास खेत छोटे और अनार्थिक हैं। इतना ही नहीं,
ये खेत बिखरे हुये भी हैं। किसानों के पास इतनी भूमि नहीं है कि वह उनसे इतना
उत्पादन कर सकें कि जिससे वे अपने परिवार का अच्छी तरह से पालन कर लें।
डा० मैन का कहना है कि छोटे छोटे खेतों में वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग नहीं किया
जा सकता और चूँकि इनके ये छोटे छोटे खेत एक दूसरे से काफी दूरी पर होते हैं,
इसलिये उनमें शारीरिक परिश्रम द्वारा गहन खेती भी असमभव है।

श्रम के दोष— हाथ होने के कारण उसका अत्यन्त

कृषि उत्पादन में किसान का सक्रिय हाथ होने के कारण उसका अत्यन्त
महत्वपूर्ण स्थान है, इसीलिये हल के पीछे काम करने वाले श्रमिक किस प्रकार के हैं
और उसमें कौन कौन सी कमियाँ हैं, इसका अध्ययन करना आवश्यक है। कृषि से
सम्बन्धित व्यक्तियों को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। पहले वर्ग में
बड़े बड़े जमींदार जो स्वयं खेती नहीं करते, दूसरे ऐसे भूमिपति जो स्वयं खेती करते हैं,
तीसरे वे जो स्वयं की भूमि पर्याप्त न होने के कारण दूसरों की भूमि पर 'बँटाईदारी'
के आधार पर खेती करते हैं और चौथे वर्ग में ये लोग आते हैं, जिनकी स्वयं की भूमि
नहीं होती, किन्तु दूसरे के खेतों पर मजदूरी करते हैं। मोटे रूप में श्रम की
समस्याएँ एक ओर तो भूमि जोतने वाले किसान और दूसरी ओर भूमिपति से
सम्बन्ध रखती हैं। खेती का यह साधन 'श्रम' एवं उसकी पूर्ति करने वाले किसान
की स्थिति असन्तोषजनक है, यह निर्विवाद सत्य है। यद्यपि डा० वोयेलकर ने
भारतीय कृषक के चतुर तथा परिश्रमी स्वभाव की बड़ी प्रशंसा की है, किन्तु हम
इस बात से भी इन्कार नहीं कर सकते कि वह विदेशों में अपने सहकर्मियों की ओर
विशेषकर यूरोप एवं अमेरीका के कृषकों की तुलना में शिक्षा, स्वास्थ्य, बुद्धि, साहस
एवं क्षमता में कमजोर ही है। इसका भौतिक एवं मानसिक विकास भी उनसे कम
ही है। इस असन्तोषजनक स्थिति के कारणों में कुछ तो जलवायु एवं सामाजिक
परम्परा से सम्बन्धित हैं और कुछ ऐतिहासिक एवं राजनैतिक हैं। इनमें से अनेक
उसके वातावरण में ही घर कर चुके हैं और वे उसके व्यक्तित्व से ही सम्बन्धित हैं।
इन दोषों को धीरे-धीरे दूर अवश्य ही किया जा सकता है। कृषि से सम्बन्धित इन
व्यक्तियों में भूमिरहित कृषि मजदूरों की स्थिति सबसे अधिक गिरी हुई है। भारतीय
किसान का अपने जीवन के प्रति जितना आर्थिक दृष्टिकोण होना चाहिये, उतना नहीं
है। एक ओर वह जितना परिश्रमी, कम खर्चीला और सीधा-साधा होता है, दूसरी
ओर वह बड़ा रूढ़िवादी, संकुचित विचारधारा वाला, अत्यन्त गरीब तथा निरक्षर
भी होता है। कृषि के लिये वह शिक्षा आवश्यक नहीं समझता। वह पूर्ण अन्ध-
विश्वासी और धार्मिक भावनाओं से पूर्ण है, जिससे उसे नुकसान भी उठाना पड़ रहा
है। हमारे देश के बड़े-बड़े जमींदारों ने, इङ्गलैंड के १८ वीं शताब्दी के प्रगतिशील
जमींदारों की तरह, अपने देश की कृषि में उन्नति करने में कोई प्रयत्न नहीं किया।
उन्होंने पिछले वर्षों में ब्रिटिश सरकार की ही चापलूसी की, जो हमारे देश की उन्नति

में घातक सिद्ध हुई। इन जमींदारों ने हमारे किसानों को चूसा और लूटा तथा शहरों में रहकर अपनी मालगुजारी वसूल करके भोग विलास ■ अपने कर्तव्य की इतिश्री समझी। श्रीमती नोइल्स के शब्दों में—"भारत की स्थिर दशा का बहुत बड़ा कारण १६ वीं शताब्दी की अराजकता के समय जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा का अभाव तथा वर्षा न होने से सूखा पड़ जाना है। १७ वीं और १८ वीं शताब्दी के भारत की आर्थिक व्यवस्था केवल दरिद्र किसानों से रुपया निचोड़ कर और लूट मार द्वारा धन अर्जन करके दरबारों में विलासिता का जीवन व्यतीत करने तक ही सीमित थी। इसके अतिरिक्त हमारे किसान की गरीबी, उसकी आहार व्यवस्था, उसके वातावरण एवं रहने की घर की दशायें तथा मलेरिया, काला ज्वर, हुकवर्म, मोतीझरा जैसे रोगों ने उसे दुर्बल और शक्तिहीन बना दिया है। अपनी रूढ़िवादिता के ही कारण वह बाबा आदम के समय से प्रचलित खेती के औजारों का प्रयोग छोड़कर नये ढगों का उपयोग नहीं करता। वह भाग्यवादी और सन्तोषी प्रकृति का होता है और अपने जीवन स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न नहीं करता। ऐसी स्थिति में कृषि का उत्पादन बढ़ाने के अन्य उपाय भी थोथे पड़ जाते हैं।

संगठन के दोष—

भारतीय कृषि ठीक प्रकार से सगठित नहीं है। प्रथम तो, खेत आर्थिक जोत के नहीं और उन पर स्थायी सुधारों का अभाव है। दूसरे, किसानों को सहायक धन्धों की सुविधा अभी तक प्राप्त नहीं है, जिसमें वे अपने अवकाश का समय उपयोग कर सकें और अपनी आर्थिक स्थिति सुधार लें। तीसरे, मन्डियों में पाये जाने वाले अनेक दोषों कारण उसे अपनी पैदावार का उचित मूल्य नहीं मिल पाता। अपनी पैदावार के का ४० ४१% भी उसे कठिनाई से मिल पाता है। इसका मुख्य कारण हमारे । मैं अनाज के विक्रय के लिए अच्छी व्यवस्था का न होना, आवागमन के साधनों में कमी, ऋण प्राप्त करने की सुविधाओं की अपर्याप्तता, किसानों की उदासीनता, विक्रय प्रणाली के नियमों की अनभिज्ञता, मन्डियों में दोष पूर्ण तौल बाँट, भण्डार गृहों की कमी तथा अनेक प्रकार की जाने वाली कटौतियों का होना है। इन दोषों को दूर करने के लिये यह आवश्यक है कि किसान सहकारी सिद्धान्तों पर अपने आपको सग ठित करें और कृषि उत्पादन का विक्रय सहकारी समितियों की सहायता से करें। कृषि उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र म सहकारिता द्वारा सगठन सम्बन्धी अनेक दोषों को दूर किया जा सकता है।

पूँजी क दोष—

पूँजी से हमारा तात्पर्य न केवल मुद्रा से ही है, किन्तु कृषि में काम आने वाले सारे ही साधनों एव सामिग्रियों से है। हमारे देश में खेती के ये साधन साधारण, पुराने ढग के तथा अपर्याप्त हैं। एक जोड़ी बैल, लोहे की नोंक वाला छोटा हल, लकड़ी की बनी और आवश्यक वस्तुयें, थोड़ा खाद और साधारणत बीज, ये ही भारतीय कृषक की पूँजी हैं। हमारे देश में मिट्टी बड़ी उपजाऊ होते हुए भ कृषि विज्ञान

एवं उपयुक्त साधनों के उपयोग की कमी के कारण कृषि उत्पादन अत्यन्त ही कम होता है। इन पुराने साधनों में स्थायी सुधार तो दूर रहा, अस्थायी सुधारों की भी कमी है। किसान अपने पास पाई जाने वाली काम चलाऊ पूँजी का ही उपयोग करके सन्तुष्ट रहता है। पेशाब और मल की खाद व हड्डी तथा मछली के खादों का प्रयोग किसान की धार्मिकता मे बाधा उत्पन्न करता है। इस प्रकार भारतीय किसान के पास खेती के पर्याप्त साधन नहीं जुट पाते और दरिद्रता उसकी उन्नति मे सदैव बाधा उत्पन्न करती रही है। हमारे देश में पशु धन की कमी नहीं है। देश में गाय एवं भैंसों की संख्या सन् १९५१ में १२.३ करोड़ आँकी गई है, जिनमे से केवल ७ करोड़ दूध देने वाली हैं। हमारे देश में गाय औसतन ४१३ पौंड दूध प्रति वर्ष देती हैं, जो दुनियाँ में सबसे कम है। नीदरलैंड में ८,००० पौंड, आस्ट्रेलिया में ७,०००, स्वीडन में ६,०००, अमेरिका में लगभग ५,००० पौंड प्रति वर्ष। इस प्रकार दूध देने वाले जानवरों की संख्या अधिक होते हुए भी वे आर्थिक नहीं हैं और न उनसे विशेष आमदनी होती है। ये अत्यन्त ही दुर्बल होते हैं, जो अधिक काम नहीं कर सकते। फलतः किसानों को आवश्यकता से अधिक पशुओं का पालन करना पड़ता है, जिनके लिए घास इत्यादि का पूरा पूरा प्रबन्ध करना उनकी शक्ति के बाहर होता है। मरने के बाद पशुओं की खाल, हड्डियाँ तथा उनके बालों का भी उपयोग होता है। दुःख की बात तो यह है कि इन पशुओं का इतना उपयोग होते हुए भी इनकी नस्ल को सुधारने, इनके रोगों को दूर करने तथा इनका पेट भरने के लिये घास इत्यादि का प्रबन्ध नहीं हो पाता और वे केवल खाल की थैलियों के समान बने रहते हैं।

कृषि औजारों के सम्बन्ध मे कृषि कमीशन ने लिखा है कि भारत में कृषि के औजार सब मिला कर स्थानीय परिस्थिति के अनुसार बिल्कुल ठीक हैं। ये औजार सूखे बैलों की योग्यता के अनुकूल कम मूल्य वाले, कम वजन वाले, चाहे जहाँ ले जाने योग्य तथा सुगमता से बन जाने वाले हैं। इनका सबसे बड़ा महत्व है कि वे सुगमता से प्राप्त हो जाते हैं। फिर भी आज के वैज्ञानिक युग में इन औजारों में हमारे देश की आवश्यकता के अनुसार सुधार की बड़ी गुंजाइश है। भारतीय कृषि विभाग ने लोहे के हल, गन्ना पेरने के लोहे के कोल्हू, पानी निकालने के छोटे यन्त्र, मोटर के दो पहियों वाली गाड़ियाँ, कुदाली, बीज बोने की मशीन, ढोरों के लिये कुट्टी काटने की मशीन आदि अनेक यन्त्रों को चला कर समय समय पर कृषि प्रदर्शनी तथा सरकारी फार्मों पर उनका प्रयोग करके जनता को उनका उपयोग करने के लिये प्रोत्साहित किया है, किन्तु जैसा कि ऊपर बताया गया है भारतीय किसान उनकी उपयोगिता को समझते हुए भी अपनी दरिद्रता के कारण खरीद नहीं पाता। यदि ये किसान अपने आपको सहकारिता के सिद्धान्त पर संगठित करलें, तो सहकारी सहायता से इन औजारों को खरीद कर वे अवश्य ही लाभ उठा सकते हैं।

कृषि उत्पादन की मात्रा एवं उनके गुणों में वृद्धि करने में अच्छे चुने हुए एवं उन्नत बीजों का महत्व भी कम नहीं है। यह अनुमान लगाया गया है कि उन्नत बीजों

द्वारा कृषि उत्पादन में १० से २० प्रतिशत वृद्धि की जा सकती है। दुर्भाग्यवश हमारे किसान अपनी पुरानी परिपाटी के ही अनुसार उन्नत बीज के चुनाव की ओर विशेष ध्यान नहीं देते। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि खाने के लिये अनाज की कमी के कारण बीज के लिए रक्खे हुए अच्छे अनाज को बोने के समय के आने के पूर्व ही खाकर समाप्त कर देते हैं। बीज को सँभालकर न रखने के कारण भी खराब हो जाता है। फलत समय आने पर किसान बीज के लिए इधर-उधर दौड़ कर वह जैसा भी मिल पाता है, वैसा लाकर खेतों में डाल देता है। भारतीय कृषि विभाग ने इस ओर अवश्य ध्यान दिया है और किसानों को प्रति वर्ष अच्छे प्रकार के बीज देकर अच्छा काम कर रहा है।

उन्नत बीजों की पूर्ति के साथ ही सभ्य फसलों को हानि पहुँचाने वाले सामान्य तथा संक्रामक रोगों का नियन्त्रण एवं कीड़ों तथा जंगली जानवरों से उनका बचाव करना भी कम आवश्यक नहीं। इन रोगों, कीड़ों तथा जानवरों (जिनमें चूहे, टिड्डी भी सम्मिलित हैं) के कारण प्रति वर्ष कुल उत्पादन का १/१० से लेकर १/२० भाग, जो कि करोड़ों रुपयों का होता है, नष्ट हो जाता है। भारत सरकार के कृषि सचिवालय द्वारा सन् १९४६ में प्रकाशित पर्चों से पता लगता है कि सन् १९३७ में बिहार के शक्कर कारखानों को जो गन्ना दिया गया था, उसका ३७ से ४३% भाग रोगयुक्त था, जबकि सन् १९३९ में यह केवल २० से ३५% ही था, अत हमें पता चलता है कि ऐसे रोगों में प्रति वर्ष वृद्धि होती जा रही है। इन रोगों का एक ही स्थान पर नियन्त्रण करके उन्हें फैलने से रोकना अत्यन्त ही आवश्यक है। इसी प्रकार कीड़ों तथा पशुओं से फसलों को बचाने के लिये भी कठोर प्रयत्नों की आवश्यकता है। इस समस्या का निवारण डी० डी० टी०, बी० एस० सी० इत्यादि रासायनिक दवाइयों का उपयोग करके तथा खेती के तरीकों में परिवर्तन करके, फसलों को अदल बदल कर बोकर, बोने के समय को आगे पीछे करके, गहरा हल लगा कर तथा सिंचाई की मात्रा को कम या अधिक करके भी किया जा सकता है। केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत एक संस्था 'Plant Protection Organisation' इस कार्य को कर रही है।

उपचार—

भारतीय कृषि एवं कृषक से सम्बन्धित अनेक दोषों का वर्णन ऊपर किया है। इन दोषों को दूर करने के लिये हमें किसान की परिस्थितियों का पूर्ण अध्ययन करना अत्यन्त ही आवश्यक है। वैज्ञानिक साधनों के प्रयोग तथा अधिक पूँजी के विनियोजन द्वारा कृषि की मुख्य समस्या यानी 'कम उत्पादन' को हल किया जा सकता है। कृषक की इस समस्या को फसलों को अच्छी तरह बार बार अदल बदलकर भूमि के गुणों के अनुसार फसलों को बोकर, बढ़िया तथा उन्नत बीज तथा अच्छा खाद देकर, अधिक अच्छी खेती करके आवश्यकतानुसार, पर्याप्त एवं नियमित सिंचाई देकर, संक्रामक रोग, कीड़ों, पशुओं, चूहों तथा टिड्डियों से होने वाली हानि को रोक कर प्रति एकड़ उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है। प्रोफेसर नोउल्स के अनुसार—"भारतीय कृषि की प्रगति

में सबसे बड़ी अड़चन यह है कि खेत छोटे-छोटे होते हैं, पूँजी, अच्छे औजारों, खाद और बीज की अत्यधिक कमी और किसानों में वैज्ञानिक शिक्षा का अभाव है। वर्तमान परिस्थितियों म इस दशा को सुधारने का केवल एक उपाय है और वह यह कि देश में गहन खेती को वैज्ञानिक ढङ्ग से अपनाया जाय।"

चाहे जो हो, भारतीय कृषि की समस्याओं को दूर करने के लिये पर्याप्त पूँजी तथा आर्थिक क्रान्ति की आवश्यकता है। इस कार्य को करने में हमारे देश की वर्तमान सरकार पूर्ण रूप से संलग्न है। प्रथम पंच वर्षीय योजना में कृषि से सम्बन्धित सारे ही दोषों को पूर्ण रूप से अध्ययन करके उन्हें दूर करने, कृषि उत्पादन में वृद्धि करने तथा किसानों की स्थिति में परिवर्तन करने के लिये पाँच वर्षों में खेती तथा सामुदायिक विकास, सिंचाई, बहुउद्देशीय सिंचाई तथा विद्युत योजनाओं पर लगभग ७१५ करोड़ रुपया खर्च करने की योजना बनाई है। इन उद्देश्यों में काफी सफलता मिल चुकी है और आशा है कि अगले वर्षों में देश की आर्थिक परिस्थिति में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो जावेगा।

निष्कर्ष—

भारत में जन संख्या को देखते हुये भूमि की बहुत कमी है। देश में जो उपजाऊ और अच्छी भूमि थी, वह सब प्रयोग में आ गई है। खेती के योग्य जो बंजर भूमि पड़ी है, उस पर खेती तब ही हो सकेगी, जब राज्य उसे तुड़वा कर एवं सिंचाई की व्यवस्था करके किसान को दे, किन्तु इतने पर भी भूमि के अभाव की समस्या हल न होगी। भारत को अपनी अपार जन संख्या के भोजन की समुचित व्यवस्था करने के लिये गहरी खेती के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है। इस समय भी जोती जाने वाली भूमि की ८० प्रतिशत भूमि पर खाद्य उत्पन्न करने वाली फसलें पैदा की जा रही हैं। केवल शेष २० प्रतिशत भूमि व्यापारिक फसलों के लिये उपयोग हो रही है। यदि विदेशी बाज़ारों में कच्चा औद्योगिक माल देने वाली भूमि को कुल जोती जाने वाली भूमि में से घटा दिया जावे तो प्रति भारतीय दो तिहाई एकड़ भूमि बच रहती है, अतएव इसे दो तिहाई एकड़ से एक व्यक्ति का भोजन और कपड़ा प्राप्त होता है। संसार में ऐसा कोई भी देश नहीं है, जहाँ विस्तृत खेती से इतनी आशा की जाती हो। किन्तु हम यह रहे हैं, अत हम भारतीय भूखे और नंगे दिखाई पड़ते हैं। इस निर्धनता के दूर करने का उपाय देश में औद्योगीकरण एवं गहरी खेती की व्यवस्था है। गहरी खेती के लाभ की कल्पना हम जापान के दृष्टान्त से कर सकते हैं। जापान अपनी ६६,०००,००० जन संख्या का १०,०००,००० एकड़ भूमि जोत कर भली प्रकार निर्वाह कर लेता है, अर्थात् वहाँ एक आदमी का निर्वाह एक तिहाई एकड़ से मज़े में हो जाता है।

भूमि का छोटे टुकड़ों में विभाजन एवं बिखरा होना

रूप रेखा—

१. *प्रारम्भिक*—उन्नति कृषि के लिए अधिसम्पत्ति की आर्थिक इकाई का होना अति आवश्यक है। इसी पर कृषि का रूप एवं अन्य सामग्री का परिमाण निर्भर करता है। भारत में अधिसम्पत्ति अनार्थिक है।

२. *भारत में भूमि की इकाई*—भारत के विभिन्न राज्यों में भूमि की इकाई अनार्थिक है। कुछ उदाहरण।

३. *भूमि का छोटे छोटे टुकड़ों में बटे एवं बिखरे होने का कारण*—(अ) जन सख्या में वृद्धि, (आ) उत्तराधिकार के कानून, (इ) सम्मिलित परिवार प्रणाली में कमजोरी, (ई) दस्तकारी का पतन, (उ) भू-सम्पत्ति से प्रेम, (ऊ) ब्रिटिश शासन, (ए) अन्य कारण।

४. *भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों में बटे एवं बिखरे होने के परिणाम*—अच्छे परिणाम—उत्तराधिकारियों को कुछ सीमा तक आर्थिक समानता मिली है, जलवायु सम्बन्धी त्रुटियों से सरक्षण मिलता है। बुरे परिणाम—कृषि का उत्पादन व्यय अधिक होता है। प्रति एकड़ उपज कम, आधुनिक यन्त्रों आदि का प्रयोग असम्भव, समय नष्ट होना, मुकदमेबाजी आदि।

५. *आर्थिक अधिसम्पत्ति क्या हो ?*—विभिन्न दृष्टिकोणों का विवेचन।

६. *समस्या का हल*—आर्थिक भू खडों का पुनर्निर्माण। सन्नियम बनाये जाँय। सहकारी कृषि का प्रयोग। चकबन्दी। सहकारी चकबन्दी।

७. *निष्कर्ष*—भारत में चकबन्दी के मार्ग में बाधायें कानून बनाकर एक निर्धारित आर्थिक जोत के परे भूमि का विभाजन रोक दिया जावे।

प्रारम्भिक—

उन्नतिशील खेती के लिए जिन-जिन बातों की आवश्यकता होती हैं. उनमें अधिसम्पत्ति की आर्थिक इकाई का होना भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हमारे देश में अधिसम्पत्ति आर्थिक रूप से लाभप्रद आकार के न होने से कई अन्य समस्यायें, जैसे—ग्राम्य ऋणग्रस्तता, कृषि उत्पादन की दोषपूर्ण बिक्री इत्यादि भी घर कर लेती हैं। वास्तव में सोचा जाय तो हमें पता लगता है कि अधिसम्पत्ति ही इन दोषों को उत्पन्न

करने वाला मूल कारण है। अधिसम्पत्ति के आर्थिक रूप से न होने से भूमि पर स्वामित्व का अधिकार भी सबसे उत्तम प्रयत्नों को प्रोत्साहन नहीं दे सकता। कृषि की अधिसम्पत्ति पर ही उसका रूप एवं अन्य सामिग्री का परिमाण निर्भर करता है। जब अधिसम्पत्ति अनार्थिक होती है तो उससे प्राप्त आय भी थोड़ी होने से किसान को ऊँचे सूद पर ऋण लेने के लिए विवश होना पड़ता है और आय की कमी के कारण लिए गए ऋण का भुगतान भी कठिन हो जाता है। इसके साथ ही साथ ऋणी किसान अपने खेतों पर उत्पादित वस्तुओं को बेचने की स्वतन्त्रता भी खो बैठता है। फलतः जब एक बार कोई किसान ऋणग्रस्त हो जाता है, तो वह प्रायः सदैव ही ऋणी बना रहता है, अतः यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि भारतीय किसानों की दरिद्रता के मूल कारणों में अधिसम्पत्ति का अनार्थिक होना भी है।

जब हम अधिसम्पत्ति के आर्थिक रूप से लाभप्रद होने या न होने की चर्चा करते हैं तो हमारा तात्पर्य किसी किसान की केवल स्वयं की भूमि से नहीं है। अपितु उस सारी भूमि से है जिस पर वह खेती करता हो चाहे वह स्वयं की हो अथवा दूसरे से खेती करने के लिए ली गई हो। इस प्रकार अधिसम्पत्ति का अर्थ अपनी भूमि से नहीं वरन् उस सारी भूमि से है जिस पर किसान खेती करता है। वर्तमान समय में न केवल अधिसम्पत्ति ही लाभप्रद नहीं है, किन्तु इससे भी बड़ा दोष यह है कि प्रत्येक पीढ़ी के बाद लगातार भूमि का विभाजन होने से खेत बिखरते जा रहे हैं, फलतः अधिसम्पत्ति और भी अधिक अनार्थिक होती जाती है।

भूमि के विभाजन से मुख्य अभिप्राय यह है वह एक ही पूर्वज के अनेक उत्तराधिकारियों में विभाजित हो जाती है। इस प्रकार भूमि के स्वामी की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियों में भूमि का विभाजन हो जाता है। इसके अतिरिक्त जब भूमि-पति अपनी भूमि को बेच देता है या उसमें से कुछ भाग दान में दे देता है अथवा जब साहूकार किसान को दिये गये ऋण की अदायगी के बदले में भूमि का कुछ भाग छीन लेता है, तो इन अवस्थाओं में भी भूमि का विभाजन हो जाता है। इन सबका परिणाम यह होता है कि किसान की अधिसम्पत्तियाँ प्रत्येक पीढ़ी के बाद आकार में छोटी होती जाती हैं। खेतों का बिखरा होना इस बात की ओर संकेत करता है कि किसान के पास जितनी भूमि होती है वह सब एक ही चक में न होकर कई टुकड़ों में जहाँ-तहाँ दूर-दूर स्थित होती है और इन टुकड़ों के बीच-बीच में अन्य किसानों के खेत होते हैं। इस प्रकार यदि किसी किसान के पास १० एकड़ भूमि हो तो वह सारी एक ही चक में न होकर दूर-दूर के स्थानों में छोटे छोटे खेतों में बिखरी रहती है।

भारत में भूमि की इकाई—

बंगाल लैण्ड रेवेन्यू कमीशन (सन् १९४०) का यह अनुमान था कि उस प्रान्त के लगभग ४६% किसानों में से प्रत्येक के पास २ एकड़ से भी कम भूमि थी, ३७·६% के पास ४ एकड़ से भी कम और केवल १०% किसान ही ऐसे भाग्यशाली थे कि जिनमें से प्रत्येक के पास १० एकड़ भूमि थी। इसी प्रकार पंजाब (संयुक्त)

तथा बम्बई के क्रमश २८ ३% और ४२% किसानों के पास ५ एकड से भी कम भूमि थी। मि० कालवर्ट ने पञ्जाब के किसानों के खेतों का आकार तथा उनके बँटवारे के सम्बन्ध मे जानकारी देते हुए बताया है कि ४० ४ किसानों के पास १ एकड से ५ एकड तक खेती योग्य भूमि है जो समस्त भूमि का ११% था। लगभग २६ २% मालिकों के पास ५ एकड से लेकर १५ एकड तक भूमि थी, जिसमें समस्त क्षेत्रफल का २६ ६% भाग आता था। लगभग ११ ८ प्रतिशत मालिकों के पास १५ से ५० एकड तक भूमि थी, उसमें समस्त क्षेत्रफल का ३५ ६% भाग था। लगभग ३ ७% मालिकों के पास ५० एकड अथवा उससे अधिक भूमि थी और उसमें समस्त क्षेत्रफल का लगभग २५'७% भूमि आती थी। यदि हम १५ एकड भूमि को एक आर्थिक भूमि मानें तो ८८% मालिकों के पास सन् १६३६ में इससे कम आकार की भूमियाँ थीं। इस समस्या की गम्भीरता स्थान स्थान पर भिन्न भिन्न है। बङ्गाल, आसाम, उत्तर-प्रदेश, बिहार तथा उड़ीसा जैसे घने बसे हुए राज्यों म यह समस्या अत्यन्त ही गम्भीर है। देश में कहीं कहीं ४० वर्ग गज के आकार के खेत भी पाये जाते हैं। विदेशों में प्रति किसान के पास औसत भूमि को देखने से पता लगता है कि उनकी स्थिति हमारे देश से काफी अच्छी है। सयुक्त राज्य अमेरिका के किसान के पास औसत भूमि १४६ एकड, इगलैंड ६२, डैन्मार्क ४२, फ्रास २१ तथा चीन में ५ एकड भूमि है। हमारे देश के विभिन्न भागों का ब्यौरा इस प्रकार है —

	प्रति किसान औसत भूमि (खेती का औसत)
बम्बई	१२ २ एकड
मध्य प्रदेश	८'५ ,,
पूर्वी पञ्जाब	८ १ ,,
मद्रास	४'७ ,,
बङ्गाल	३ १ ,,
आसाम	३'६ ,,
उत्तर प्रदेश	२ ४ ,,
बिहार उडीसा	२ ६ ,,

यह तो हुई किसानों के पास भूमि के आकार की बात। खेतों के टुकडों के आकार की स्थिति और भी अधिक सोचनीय है। डा० मान ने बताया है कि ६० ७० वर्षों में पूना जिले के एक गाँव में किस प्रकार भूमि का औसत आकार ६ १० एकड से २ एकड से भी कम रह गया। डा० मुकर्जी के अनुसार उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलो में खेतों के बहुत छोटे छोटे टुकडे हो गये हैं। गोरखपुर जिले के एक गाँव में औसत भूमि केवल ० २६ एकड ही थी। यू० एन० तिवारी के अनुसार बलिया जिले के तीन गाँवों में १६ ७ टुकडे आकार में १ एकड से भी कम थे और ५५ ६% टुकडे १ से ४ एकड तक के थे। उन्होंने लिखा है कि एक किसान के पास ८ एकड भूमि २४ टुकडों में

बँटी हुई थी । उसकी मृत्यु के बाद वह भूमि उसके दो लड़कों में बाँटी गई, फलत.
सारी भूमि के ४८ टुकड़े किये गये। मुसलमानों में, लड़कियों को सम्पत्ति में भी हिस्सा
मिलता है, अत समस्या और भी खराब हो जाती है। श्री बी० पी० जैन ने सहारनपुर
जिले के गाँव के एक मुस्लिम जमींदार का उदाहरण देते हुए लिखा है कि उसकी ७२
बीघे भूमि ४२ टुकड़ों में बँटी हुई थी । उसकी मृत्यु के बाद वह भूमि उसकी स्त्री,
दो लड़के, एक लड़की तथा साथी के बीच बाँटी गई है, फलत उसके १०८ टुकड़े किये
गये। कृषि कमीशन ने भी एक उदाहरण दिया है कि किस प्रकार एक किसान के खेत
८०० टुकड़ों में बिखरे हुये थे । इन छोटे-छोटे टुकड़ों की सख्या में वृद्धि के साथ ही
साथ यह दोष भी स्वाभाविक है कि ये दूर दूर बिखरे हुए होते हैं।

श्री कीटिंग ने बम्बई प्रान्त के एक गाँव का उदाहरण देते हुए लिखा है कि
ऐसा खेत, जिसका क्षेत्रफल ½ एकड़ से भी कम था, २० से भी अधिक अलग अलग
टुकड़ों में विभाजित किया गया । रत्नागिरी में कहीं कहीं खेतों का आकार ००६२५
एकड़ भी पाया गया है। इसी प्रान्त के पीम्पला सोदागर नामक गाँव में ७२१ खेतों में
कम से कम ४६२ ऐसे खेत थे, जिनका प्रत्येक का क्षेत्रफल १ एकड़ से भी कम था,
२११ खेत ऐसे थे जिनका प्रत्येक का क्षेत्रफल ¼ एकड़ से भी कम है। भूमि के कुछ
टुकड़े तो इतने छोटे पाये जाते हैं कि उन पर आसानी से खेती नहीं की जा सकती,
फलत भूमि बेकार ही पड़ी रह जाती है। यह समस्या केवल हमारे देश की ही
नहीं, किन्तु उन सारे ही देशों की है, जहाँ कृषि मुख्य व्यवसाय है और जहाँ जन सख्या
बहुत ही तेजी से बढ़ रही है । ऐसे देशों में स्वीडन, नार्वे, जर्मनी, हालैंड, आस्ट्रिया,
फ्रान्स, स्विट्जरलैण्ड, रूस, चीन और जापान हैं। विशेषता यह है कि इन देशों में इस
समस्या को बहुत कुछ अशों में हल कर लिया गया है और हमें अभी तक इस ओर
विशेष सफलता नहीं मिली है।

भूमि का छोटे-छोटे टुकड़ों में बट और बिखरे होने के कारण—

(१) जन सख्या में वृद्धि—यह तो निर्विवाद सत्य है कि जैसे जैसे हमारे
देश की जन सख्या में वृद्धि होती जा रही है, त्यों त्यों भूमि का अधिकाधिक खण्डों में
विभाजन बढ़ता जा रहा है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि खेतों का आकार घट
गया । दूसरी ओर उसी अनुपात में रोजगारी के अन्य साधनों में वृद्धि न होने के
कारण भूमि के विभाजन की गति में और भी अधिक तीव्रता आने लगी है, फलत
भूमि पर बोझ बढ़ता जा रहा है।

(२) उत्तराधिकार के कानून—भूमि विभाजन का दूसरा मुख्य कारण हिन्दू
तथा मुस्लिम दोनों कानूनों में उत्तराधिकारियों के बीच भूमि विभाजन के विधान का
होना है। इस विधान के अनुसार प्रत्येक उत्तराधिकारी चाहता है कि उसे अपने पूर्वज
की प्रत्येक प्रकार की भूमि में हिस्सा मिले । इसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक
उत्तराधिकारी के खेत दूर दूर स्थानों पर बिखरे रहते हैं। डा० मुकर्जी लिखते हैं कि "खेतों
के अत्यधिक बिखरे होने का दोष मुख्य उत्तराधिकारियों के बीच उत्तराधिकार विधान

के अनुसार भूमि के विभाजन तथा उनमें समानता की भावना होना है, जिसके अनुसार विभाजन के समय प्रत्येक भागीदार का गाँव में प्रत्येक गुण वाली भूमि में हिस्सा लेने को आग्रह करता है।" अत यह साफ है कि उत्तराधिकार कानून के कारण भूमि का विभाजन बढ़ता जा रहा है और खेतों के बिखरे होने का कारण उत्तराधिकार कानून का गलत ढंग से प्रयोग में लाना है। हमें यह समझ लेना चाहिये कि उत्तराधिकार कानून पिछले हजारों वर्षों से पाया जाता है, किन्तु भूमि की उपर्युक्त समस्या कुछ वर्षों की है, अत केवल इस कानून को ही दोष देना उचित नहीं है। यह तो अनेक कारणों में से एक है।

(३) *सम्मिलित परिवार प्रणाली में कमजोरी*—सम्मिलित परिवार प्रणाली मे कमजोरी आने तथा व्यक्तिवाद की भावना के विकास ने भी इस समस्या को जटिल बनाने मे साथ दिया है। हमारे देश में जब तक यह प्रणाली पूर्ण रूप से चलती रही, भू सम्पत्ति के विभाजन का प्रश्न इस रूप मे नहीं उठा। परिवार के लोगों में परस्पर प्रेम और एक दूसरे के लिए अपार सहानुभूति रहती थी, अस्तु वे उत्तराधिकार के विधान को व्यवहार में न लाते हुए भूमि का विभाजन किये बिना ही उस पर सम्मिलित खेती करते थे, परन्तु पिछले वर्षों के व्यक्तिवाद की भावना के विकास तथा व्यक्तिगत अधिकारों के पश्चिमीय विचारों के प्रभाव ने सम्मिलित परिवार प्रणाली को जर्जर कर दिया, जिसने पारस्परिक प्रेम और सद्भावना के मूल पर कुठाराघात किया, अत परिणाम यह हुआ कि प्राय प्रत्येक भागीदार अपना अपना हिस्सा अलग माँगने को आमादा हो जाता है और यहाँ तक कि वह सपत्ति की वस्तु में, जैसे—प्रत्येक प्रकार की मिट्टी, कुएँ, तालाब, घर, चरागाह, पगडडियों और यहाँ तक कि हर वृक्ष में अपना अपना भाग अलग लेने के लिये जोर देने लगता है। "वृक्ष की डाल पर उत्पन्न होने वाले मधु के विभाजन के लिए भी भाइ भाई आपस म लडते है, यहाँ तक कि वे झाड के फलों अथवा उसकी डालियों के लिये ही नहीं, किन्तु उसकी (झाड) छाया के विभाजन के लिये लडते हुए भी पाये गए हैं।' भारत में कानून का प्रवन्ध करने वाले आग्ल न्यायाधीशों के निजी सम्पत्ति एव व्यक्तिगत अधिकारों पर जोर देने के कारण सम्पत्ति विभाजन को न केवल सुविधा ही मिली अपितु उसको और अधिक बल भी मिला।

(४) *दस्तकारियों का पतन*—हमारे देश की दस्तकारियों के पतन के कारण भी भूमि पर दबाव बढ़ता गया है। देश में बढ़ती हुई जन सख्या के जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक औद्योगिक विकास का कार्य भी उचित मात्रा में नहीं हुआ। देश की प्राचीन दस्तकारी आधुनिक काल के बढ़ते हुए कारखानों में यत्रों से बने सस्ते माल की प्रतियोगिता में न ठहर सकी, अत रोजगार के वैकल्पिक साधनों के न होने पर भूमि पर अधिक बोझ आ पड़ा।

(५) *भू-सम्पत्ति से प्रेम*—भारतियों में भू सम्पत्ति से प्रेम की भावना ने भी इस समस्या को गहन बनाने म सहयोग दिया है। भारतीय किसान अपने अधिकार

में भूमि का होना सम्मान का एक साधन मानता है और वह उसे बेचना नहीं चाहता चाहे वह भाग छोटे से छोटा हो और जिसके कारण उसकी आर्थिक स्थिति चाहे जितनी खराब होती हो। वह अपनी भूमि से ऐसा चिपटा बैठा रहता है कि शहर में जाकर आराम से जीवन-निर्वाह करना पसन्द नहीं करता।

(६) ब्रिटिश राज्य ने हमारे देश में शान्ति स्थापित करके भूमि में अधिकार के मूल्य को अधिक बढ़ाया, जिसका परिणाम यह हुआ कि अन्नदाताओं को भूमि में रुपया लगाने के लिये प्रोत्साहन मिला।

(७) अन्य कारण—किसानों की सामाजिक स्थिति भूधारणाधिकार प्रथा जीवन-स्तर तथा कृषि पूँजी के साधन भी भू-अधिसपत्ति के आकार को निर्धारित करते हैं। गाँव के दस्तकार, पुजारी, नाई, मेहतर, चमार इत्यादि ऐसे होते हैं, जिन्हें मुफ्त में जमीन मिल गई है और जिनके पास भूमि का आकार बहुत ही छोटा होता है और खेती के साधन भी नहीं के बराबर होते हैं, खेती एक सहायक धन्धा मात्र ही होता है।

भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों में बटे और बिखरे होने के परिणाम—

अच्छे परिणाम—

भूमि के विभाजन से उत्तराधिकारियों को कुछ अर्थों तक आर्थिक समानता का अवसर मिलता है और भूमि से चिपके रहने वाले स्वतन्त्र खेतिहर किसान स्वामियों के वर्ग का जन्म होता है। ऐसा होने से आर्थिक एवं सामाजिक स्थिरता में वृद्धि होती है और प्रत्येक किसान को जीवन प्रारम्भ करने के लिए कुछ आधार मिल जाता है। बड़े क्षेत्र वाली भू-अधिसपत्ति की तुलना में छोटे-छोटे क्षेत्र अधिक व्यक्तियों को जीवन-निर्वाह दे सकते हैं और इस तरह जिन देशों में अन्य प्रकार के रोजगार सीमित हैं उनमें आर्थिक असन्तोष को दूर करने में सहायता देते हैं। हमारे देश को यही स्थिति है जहाँ कारखानों तथा ग्राम्य-हस्तकला उद्योगों में काम मिलने में कठिनाई होती है, अतः छोटे क्षेत्र वाली भूसपत्ति बड़ी ही उपयोगी है, क्योंकि उस प्रत्येक एकड़ भूमि के आधार पर कई लोग अपना जीवन निर्वाह कर रहे हैं।

भूमि-विभाजन के कारण उत्तराधिकारियों को भिन्न-भिन्न प्रकार की उर्वरा भूमि के टुकड़े भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में बिखरे हुए मिलते हैं, इनसे जलवायु सम्बन्धी त्रुटियों से इन्हें न्यूनाधिक सरक्षण मिलता है और विभिन्न प्रकार की मिट्टियाँ किसान को विभिन्न प्रकार की फसलें बोने का और उनके हेर-फेर के लिए अवसर प्रदान करती हैं। इन सुविधाओं के होने से किसान आत्म-निर्भर हो जाता है। यह भी देखा गया है कि जहाँ खेत बड़े बड़े होते हैं, वहाँ सामान्यतः भारतीय किसान गहन खेती नहीं करता। उसे तो अपने छोटे छोटे खेत ही अच्छे लगते हैं, जिन पर गहन खेती की अधिक आवश्यकता रहती है, ताकि प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ जाय। इस प्रकार हमें मालूम पड़ता है कि इस प्रथा से लाभ अवश्य होते हैं, किन्तु हमारे देश की जन-संख्या में तीव्र गति से वृद्धि होने के कारण और दूसरी ओर अन्य उद्योग धन्धों में वाँछित एवं आवश्यक विकास न होने से भूमि विभाजन एवं बिखरे खेतों की समस्या इस सीमा

तक पहुँच गई है कि प्राप्त होने वाले लाभ इनसे होने वाली अगनित बुराइयों एवं हानियों की तुलना मे नहीं के बराबर हैं।

बुरे परिणाम—

यह देखा गया है कि खेत जितने छोटे होंगे गहन खेती उतनी अधिक सम्भव होती है, किन्तु उत्पादन खर्च बढ़ता जाता है। और जैसे जैसे भूमि पर निर्वाह करने वालों की जन-संख्या में वृद्धि होती है और खेतों के क्षेत्र छोटे होने लगते हैं, वैसे वैसे प्रति एकड़ उत्पादन भी घटता जाता है फलत इन छोटे छोटे खेतों मे प्राप्त आय इतनी कम होती है कि एक परिवार का अच्छी तरह से जीवन निर्वाह असम्भव हो जाता है। ऐसी अवस्था में मानवी शक्ति और कृषि के साधनों की भी बरबादी होती है, जिससे कृषि की उन्नति में भी बाधा पहुँचती है। जब अधिसम्पत्ति बहुत ही छोटे परिमाण में रह जाती है तो सम्पूर्ण व्यय की तुलना में स्थाई खर्च का अनुपात भी बढ़ जाता है, क्योंकि किसान के पास चाहे अधिसम्पत्ति कम हो, उसे कम से कम आवश्यक सामिग्री, दो बैल इत्यादि तो रखना ही पड़ता है और दूसरी ओर परिवार के जीवन निर्वाह का आवश्यक व्यय भी कम नहीं होता, चाहे खेतों से प्राप्त आय भले ही कम हो जाये। भूमि विभाजन के कारण प्रति एकड़ बाड़ लगाने, खाद तथा बीज देने इत्यादि खर्च भी विस्तृत खेती के खर्च के अनुपात में बढ़ जाते हैं। इस दोष के कारण कृषि सुधार में भी रुकावटें आती हैं। जब किसान के पास अधिसम्पत्ति छोटी होती है, तब वह न तो कृषि के आधुनिक यन्त्रों एवं साधनों का उपयोग कर सकता है और न भूमि के स्थाई सुधारने के लिए प्रयत्न ही, जैसे—कुएँ खुदवाना, जमीन मे पानी न भरे ऐसी व्यवस्था करना, पक्की नालियाँ बनाना, भूमि कटाव को रोकना, मजबूत बाड़ लगाना इत्यादि सफलतापूर्वक कर सकता है। यह भी देखा गया है कि वह अपने खराब से खराब सामान का भी पूर्ण एवं कुशल उपयोग अच्छी तरह से नहीं कर पाता। उदाहरण के लिए, किसी किसी स्थान में तो खेत इतने छोटे पाये जाते हैं कि उन पर आसानी से हल और बैल भी नहीं घुमाये जा सकते, फलत वह भूमि बिना जुती ही रह जाती है। वह बड़ी मात्रा में उत्पादन नहीं कर पाता और न श्रमिकों की संख्या कम करने की ओर ही ध्यान दे सकता है। खेतों की संख्या अधिक और छोटे छोटे होने से बाड़ों के बनाने में तथा एक खेत से दूसरे खेत के जाने के लिए पगडंडियों के निर्माण में भी काफी जमीन घिर जाती है। पंजाब प्रान्त में यह अनुमान लगाया गया है कि खेतों के छोटे होने के कारण ६% भूमि का उपयोग बिल्कुल नहीं हो पाता और १०% भूमि केवल बाड़ों में ही काम में आती है। खेतों के बिखरे होने के कारण किसान को अपने एक खेत से दूसरे खेत पर जाने के लिये काफी समय नष्ट करना पड़ता है। उसे अधिक औजार एवं जानवरों की आवश्यकता पड़ती है और फसलों की देख रेख के लिए भी अधिक चौकीदार रखने पड़ते हैं, किन्तु एक छोटे एवं गरीब किसान के लिये ये सब स्वप्न की बातें हैं। इतना सब होते हुए भी आश्चर्य

की बात यह है कि कृषि का खर्च भी अधिक रहता है। श्री मिश्रा के अनुसार प्रति दो खेत के बीच १०० मीटर की दूरी होने पर खर्च में जो वृद्धि होती है उसमें २३०% भाग केवल मजदूरी एवं हल लगाने, २०-२१% खाद ले जाने, १९-२२% फसलों को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने का खर्च होता है। भू सम्पत्ति के छोटी होने की स्थिति में उस पर लगातार खेती भी नहीं की जा सकती, क्योंकि ऐसे होने पर उसकी उर्वरा शक्ति कम हो जाती है। खेतों के दूर दूर होने पर उनकी सिंचाई करने में कठिनाइयाँ आती हैं, क्योंकि प्रत्येक के लिये कुएँ खुदवाना आर्थिक दृष्टि से लगभग असम्भव ही है। इसके अतिरिक्त पड़ोसी किसानों से खेती की सीमा, मार्ग एवं सिंचाई सम्बन्धी झगड़ों से छुटकारा पाने के लिये समय, शक्ति और धन की बर्बादी करनी पड़ती है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि इस समस्या ने हमारे देश के किसानों के लिये अनेक आर्थिक एवं सामाजिक बुराइयाँ पैदा करदी हैं। इन सब कारणों से किसान की आमदनी अधिक नहीं होने पाती, उसकी सहन-शक्ति दुर्बल हो जाती है, वह गरीब हो जाता है, उसे महाजनों के चंगुल में फँसकर अपनी छोटी भू सम्पत्ति के टुकड़ों से भी हाथ धोना पड़ता है और इस प्रकार भूमि गैर किसानों के पास पहुँच जाती है। हमारे देश में अनाज की कमी की समस्या को दूर करने के लिए भी यह आवश्यक है कि वैज्ञानिक एवं गहन खेती को प्रोत्साहन दिया जाय, जो कि किसानों की उपर्युक्त समस्या के कारण असम्भव मालूम देती है।

आर्थिक अधिसम्पत्ति क्या हो ?—

इन उपर्युक्त बातों पर विचार करने के बाद हमारे मन में स्वाभाविक ही यह प्रश्न उठता है कि फिर किसान के लिये आर्थिक अधिसम्पत्ति की परिभाषा करना सरल नहीं है। अधिसम्पत्ति का आकार भिन्न भिन्न परिस्थितियों में भिन्न भिन्न हो सकता है, किन्तु यह सिद्धाँत तो निश्चय है कि वह आकार ऐसा होना चाहिये कि किसान परिवार के सदस्यों को बराबर काम तथा उचित आय मिलती रहे। डा० कीटिंग के विचारों में आर्थिक इकाई वह है जो किसी किसान एवं उसके कुटुम्ब को पर्याप्त उत्पादन देते हुए आवश्यक लागत खर्च निकालने के बाद उचित रूप से रहने का अवसर प्रदान कर सके। डा० मान के अनुसार कम से कम उतनी भूमि होनी चाहिये जिससे कि एक कुटुम्ब का न्यूनतम स्तर पर जीवन निर्वाह हो सके। इन परिभाषाओं को देखने से यह पता लगता है कि भूमि की आर्थिक इकाई का एक निश्चित आकार निर्धारित करना कठिन है। वास्तव में भूमि की आर्थिक इकाई की मात्रा किसी भी स्थान की कृषि प्रणालियों, भूमि पर उत्पादन की जाने वाली फसलों, भूमि की उपजाऊ शक्ति तथा कृषि संगठन पर निर्भर है। यदि आधुनिक यन्त्रों की सहायता से खेती की जाय तो भूमि का आकार कम से कम २०० एकड़ होना चाहिये। हमारे देश में प्रचलित पुरानी प्रणाली के अनुसार खेती करने के लिये २०-२५ एकड़ भूमि पर्याप्त है। शाक भाजी तथा फलों की खेती के लिये कम आकार की भूमि की आवश्यकता होती है, किन्तु गेहूँ की फसल के लिये बड़े खेतों का होना

आवश्यक है। जब भूमि अच्छी उपजाऊ होती है तब एक छोटे आकार से भी साधारण परिवार का जीवन निर्वाह हो सकता है, किन्तु हल्की भूमि के होने पर बड़े आकार की भूमि चाहिये। इसी प्रकार यदि खेती सहकारिता के आधार पर की जावे तो बड़े क्षेत्र वाली अधिसपत्ति अधिक उत्तम उपज दे सकती है, किन्तु व्यक्तिगत रूप से की जाने वाली खेती के लिये छोटे आकार की भूमि ही उत्तम रहती है। इसके अतिरिक्त परिवार के सदस्यों की सख्या एव उनके साधन भी भूमि के आकार को निर्धारित करने में आवश्यक होते हैं। भूमि के प्रकार, वर्षा, सिंचाई के साधन एव बाजार की सुविधाओं के अनुसार भूमि का आकार भिन्न भिन्न होता है। इस प्रकार भूमि की आर्थिक इकाई का परिमाण प्रत्येक देश में और एक ही देश के भिन्न भिन्न भागों में अलग-अलग हो सकता है। इतना ही नहीं किन्तु एक ही देश के एक ही भाग में भिन्न भिन्न ऋतुओं में फसलों के अनुसार भी भिन्न भिन्न हो सकता है। इ हीं विषमताओं के कारण अर्थशास्त्री इस सम्बन्ध में एक मत नहीं हैं। डॉ० मान के अनुसार दक्षिण भारत में २० एकड़ भूमि एक औसत परिवार के लिये न्यूनतम स्तर देने के लिये पर्याप्त है। श्री कीटिंग के अनुसार एक परिवार के पास आराम से जीवन निर्वाह के लिये ४० ५० एकड़ भूमि का होना आवश्यक है। श्री विजयराघवाचार्य के मतानुसार एक परिवार के पास कम से कम ४ से ६ एकड़ भूमि का होना आवश्यक है। किसान सुधार समिति की सम्मति में आर्थिक अधिसपत्ति जीवन का उचित स्तर रखने योग्य होनी चाहिये। समिति की सम्मति के अनुसार सामाजिक न्याय एव आर्थिक दृष्टि के खेती के आकार की अनुकूलतम सीमा निर्धारित कर देना चाहिये। वह आकार की अनुकूलतम् सीमा निर्धारित कर देना चाहिये। वह आकार ऐसा हो कि साधारण आकार के एक परिवार के सब सदस्यों को पूरा काम मिल जाय और वह उस क्षेत्र की किसान अर्थ व्यवस्था के अङ्गों से सम्बन्ध रखती हो। समिति ने सामाजिक आधार पर छोटी अधिसपत्ति रखने की सिफारिश भी की है और उसे आधारमूलक अधिसपत्ति का नाम दिया है। समिति के विचारों में खेती के आकार की उच्चतर सीमा भी निश्चित होना आवश्यक है। यान्त्रिक पूँजीवादी कृषि से होने वाली सामाजिक बुराइयों का ध्यान में रखते हुए यह भी सुझाव दिया गया है कि खेती का भावी परिमाण आर्थिक खेती के परिमाण से तीन गुने से अधिक न हो, किन्तु इसमें सम्मिलित परिवारों एव परमार्थिक सस्थाओं के लिये छूट दी जा सकती है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए यह विचार किया गया कि उत्तर प्रदेश में किसी किसान के पास ३० एकड़ से अधिक भूमि नहीं होनी चाहिये।

समस्या का हल—

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भूमि का बँटना और खेतों का छोटे-छोटे टुकड़ों में दूर-दूर बिखरे होना हमारी खेती की उन्नति में बड़ी बाधा है। इस बुराई के दूर करने के लिए दो प्रकार के उपचारों का प्रस्ताव किया जा सकता है। उनमें से प्रथम तो यह कि आर्थिक भू-खंडों का निर्माण किया जाय, ताकि हमारे देश में स्थित

छोटे छोटे खेतों से होने वाली बुराई दूर की जा सके, किन्तु जब तक इस बुराई के भविष्य में होने वाले विस्तार को नहीं रोका जाता, तब तक यह समस्या बनी ही रहेगी, अत. इसका दूसरा उपचार यह है कि भविष्य मे यह बुराई न हो, ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये।

प्रथम उपचार—

आर्थिक भू-खण्डों का निर्माण करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रत्येक राज्य या क्षेत्र की स्थानीय स्थिति का पूरी तरह से अध्ययन किया जाय और ऐसा होने के बाद ऐसी व्यवस्था की जाय कि एक निश्चित न्यूनतम क्षेत्र के आकार का भविष्य में विभाजन न हो सके। आर्थिक भू-खण्डों का निर्माण भी कई तरह से किया जा सकता है। पहिला तरीका रूस के द्वारा अपनाई गई प्रणाली का हो सकता है जहाँ समस्त भूमि का सामाजीकरण करके सम्मिलित कृषि के आधार पर खेती की जाती है। दूसरा तरीका ऐसा हो सकता है कि किसी गाँव या क्षेत्र के सारे किसानों की व्यक्तिगत भूमि को एकत्र करके उसमें सहकारिता अथवा सम्मिलित प्रबन्ध के आधार पर खेती की जाय। इस प्रणाली में एक विशेषता यह है कि किसानों की भूमियों पर उनका प्रत्येक का व्यक्तिगत अधिकार बना रहेगा। एक तीसरा तरीका इटली से सीखा जा सकता है जहाँ राज्य द्वारा धन देकर पुरानी बंधकों को खरीद लिया गया है, ताकि राज्य द्वारा आर्थिक भू-खण्डों का निर्माण किया जा सके। हमारे देश में छोटे-छोटे खेतों की संख्या बहुत ही अधिक है, अतः राज्य की ओर से किसानों को देने के लिये काफी धन की आवश्यकता होगी, जो एक कठिन समस्या है। दूसरे, हमारे देश के किसान अपनी-अपनी भू-सम्पत्ति पर अपने व्यक्तिगत अधिकार को बहुत ही अधिक महत्व देते हैं, अतः राज्य को उनकी भू-सम्पत्ति खरीदने में भी काफी विरोध एवं आन्दोलन का सामना करना होगा, अतः इन दोनों कारणों से यह उपाय व्यावहारिक नहीं कहा जा सकता।

द्वितीय उपचार—

इस उपाय के द्वारा यह प्रयत्न किया जा रहा है कि जो भूमियाँ वर्तमान समय में आर्थिक दृष्टि से दृढ़ हैं उनका भविष्य में विभाजन रोका जाय, ताकि वे अनुत्पादक न हो सकें। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये भी कई तरीकों द्वारा काम किया जा सकता है। कुछ लोगों का मत है कि उत्तराधिकार के कानून [illegible] परिवर्तन किया जाय और ऐसा कानून बनाया जाय जिससे केवल सबसे बड़े उत्तराधिकारी को ही भू-सम्पत्ति मिल सके, किन्तु इसमें दो कठिनाइयाँ स्पष्ट दिखाई देती हैं। पहली तो यह कि यदि केवल सबसे बड़े लड़के को भू सम्पत्ति दे दी जाय तो उससे छोटे लड़कों के जीवन निर्वाह की क्या व्यवस्था हो और दूसरी यह कि ऐसा होने पर बिना भूमि वाले लोगों की संख्या आज की तुलना में कई गुनी बढ़ जायगी। इसके अतिरिक्त आर्थिक भावना तथा सामाजिक रूढ़ियाँ भी रोड़े अटकाये बिना नहीं रह सकतीं। इन कठिनाइयों के दूर करने के लिए अन्य उद्योगों में विकास तथा लोगों में प्रचार के द्वारा उनका अज्ञान

दूर करना आवश्यक है। जब कोई भूमि आर्थिक घरा या निर्माण योग्य आकार की हो जाय तो उसे भविष्य के लिए अविभाज्य घोषित कर देना चाहिए। मिस्र ने इस कार्य के लिए पाच कानून पास किए हैं। मिस्टर कीटिंग ने एक सुझाव दिया है कि किसी आर्थिक क्षेत्र के स्वामी को यह अधिकार दिया जाय कि वह उस भूमि को अविभाज्य भूमि के रूप में रजिस्ट्री करा सके। इस आशय से विधेयक, मद्रास, बम्बई तथा हैदराबाद में रक्खे गये, किन्तु केवल हैदराबाद को छोड़कर और कहीं सफलता न मिल सकी। हैदराबाद के काश्तकारी तथा कृषि भूमि अधिनियम सन् १९५० में एक ऐसी व्यवस्था रक्खी है, जिसमें आर्थिक भूमि अविभाज्य के रूप में रजिस्ट्री करने की अनुमति दी जाती है।

तीसरे, भूमि के वर्तमान छोटे छोटे टुकडों को एक में मिला कर भी इस समस्या को सुलझाया जा सकता है। इस प्रकार के प्रयत्नों का पजाब सरकार ने पहले सहकारिता विभाग द्वारा और बाद में कानून की सहायता से श्री गणेश किया, किन्तु विशेष सफलता नही मिली। इस कानून की त्रुटियों को बम्बई के एक अधिनियम Prevention of Fragmentation and Consolidation of Holding Act तथा बाद में पास हुए पजाब तथा पेप्सू के मुतातीस मुतानदीस द्वारा दूर कर दिया गया है।

चौथा उपाय सहकारिता एव सम्मिलित प्रणाली से कृषि करने का है। इस उपाय से विदेशों में भी भूमियों का एकत्रीकरण करना अत्यन्त ही आवश्यक है। हमारे देश की सम्मिलित कृषि वाली सोसाइटियों को यह कार्य विशेष उत्साह से करना चाहिए और इसके लिए देश में बहुत ही लम्बा चौडा कार्यक्षेत्र है। उत्तर प्रदेश की नई सुधारी हुई भूमियों में इस तरीके का सूत्रपात हो चुका है। सम्मिलित कृषि के होने पर सबसे बडा लाभ यह होगा कि श्रम तथा पूँजी की बरबादी कम हो जायगी। सम्मिलित कृषि के लिए सम्पूर्ण भूमि का राष्ट्रीयकरण भी किया जा सकता है, जो वास्तव में एक क्रान्तिकारी कदम है। भूमियों का राष्ट्रीयकरण करने के बाद उन पर वैज्ञानिक ढग से खेती की जा सकती है और उन खेतों पर काम करने वालों को *मजदूरी मिलेगी, किन्तु हमारे देश के वर्तमान सामाजिक सगठन को देखते हुए इस* कदम में सफलता मिलना कठिन है, क्योंकि इसके अपनाते ही भूमियों पर व्यक्तिगत अधिकार एकदम समाप्त हो जायेंगे।

सहकारी कृषि प्रणाली सम्मिलित कृषि तथा भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व के बीच का एक मार्ग है। इस प्रणाली के अपनाये जाने पर भूमि पर व्यक्तिगत *अधिकार भी समाप्त नहीं होगा और भूमि का आकार भी विशाल* हो जावेगा। बड़े बड़े खेतों पर राज्य [अथवा सहकारी समितियों द्वारा दिये जाने वाले वैज्ञानिक यन्त्रों की सहायता से खेती करना भी सरल होगा। खेतों पर काम करने वाले मजदूरों को उनके काम के अनुसार मजदूरी दी जाती है और भूमि पर उनके व्यक्तिगत अधिकार के बदले में खेती से होने वाले लाभ म से भाग मिल

जाता है। वास्तव में हमारे देश की सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक बातों का ध्यान रखते हुये सहकारी कृषि प्रणाली देश की कृषि व्यवस्था के लिये बहुत ही आवश्यक है और इसके द्वारा सफलता भी मिल सकती है। इस प्रणाली की सफलता के लिए लोगों में परस्पर सद्भावना तथा सहकारिता की भावना पैदा करना उनका अज्ञान दूर करना भी आवश्यक है। कांग्रेस सुधार कमेटी ने सन् १९४९ में इसी आशय का एक प्रस्ताव पास किया था, जिसमें यह बताया गया कि किसानों में सहकारी कृषि संस्थायें बनाने सम्बन्धी बड़े पैमाने पर प्रचार किया जाय और राज्य को भी चाहिये अच्छे बीज, खाद, खेती के यन्त्र तथा कम ब्याज पर आवश्यक पूँजी देकर उनकी सहायता करे। यदि यह कार्य किसान अपनी इच्छा से न करें, तो समिति का मत है कि उपयुक्त नियम बनाकर अनिवार्यता के लिये कदम उठाये जाए। समिति का विश्वास है कि कुछ समय बाद निर्देशन, निरीक्षण तथा मार्ग प्रदर्शन से इस कार्य में अवश्य ही सफलता मिलेगी। हमारे देश की बहुमुखी सहकारी कृषि समितियों को भी इस पुनीत कार्य में सहायता करना आवश्यक माना गया है।

भूमियों का एक त्रीकरण (चकबन्दी)—

इन सब उपायों की सफलता के लिए सर्व प्रथम भूमियों का एकत्रीकरण अत्यन्त ही आवश्यक है। चकबन्दी से अभिप्राय यह है कि किसान को उसके बिखरे हुए खेतों के टुकड़ों के बदले में एक स्थान पर ही सारी भूमि दे दी जावे, ताकि उसकी भूमि का आर्थिक आकार हो सके। चकबन्दी की प्रणाली सर्व प्रथम सन् १८८० में सर चार्ल्स इलियट (Sir Charles Cilliot) तथा सर एडवर्ड बक (Sir Adward Buck) द्वारा आरम्भ की गई। इसके बाद कृषि सुधार की दृष्टि से कई व्यक्तियों तथा समितियों द्वारा इसका समर्थन किया। कृषि शाही कमीशन ने तो इस प्रणाली को बिखरे खेतों की समस्या के हल करने का एकमात्र उपाय बताया। चकबन्दी का कार्य तीन प्रकार से किया जा सकता है—(१) भूमि स्वामियों की स्वेच्छा से, (२) सहकारी समितियों द्वारा तथा (३) कानून द्वारा।

प्राइवेट एजेन्सियाँ आपसी समझौते द्वारा भूमि स्वामियों के दूर दूर तथा बिखरे हुए टुकड़ों के एकत्र करने का कार्य कर सकती हैं। अनुभव ने यह बता दिया है कि स्वेच्छा से यह कार्य होने में बड़ी कठिनाइयाँ आती है तथा खर्च भी अधिक होता है। भू धारणाधिकार की विभिन्नताएँ, लगान की अस्थिरता, किसानों की अज्ञानता एवं निरक्षरता की सफलता में रोड़े अटकाती हैं। कीटिंग ने यह बताया है कि फ्रान्स, जर्मनी, स्विट्जरलैंड, डेनमार्क तथा जापान में भी स्वेच्छा से चकबन्दी करने में विशेष सफलता नहीं मिल पाई।

सहकारी चकबन्दी—

गाँव में चकबन्दी समिति स्थापित की जाती है। यह समिति भूमि के नये बँटवारे की योजना तैयार करती है और ऐसा करते समय गाँव में कितने प्रकार की जमीन है इस बात का ध्यान रखती है, कुएँ और सिंचाई के अन्य साधनों में किसानों का

भाग नियत करती है और नवीन बटवारे के अन्तर्गत यदि किसी सदस्य के पास से कोई कुआँ अथवा वृक्ष निकल जाता हो तो उसे उसका मूल्य दिलाती है। जब २/३ सदस्य (वैसे तो प्रायः सबकी ही स्वीकृति देखी जाती है) इस योजना को मान लें, तब उसे प्रत्येक सदस्य पर लागू कर दिया जाता है। उन्हें नये खेत मिल जाते हैं और उन खेतों की रजिस्ट्री करा दी जाती है सहकारिता द्वारा चकबन्दी करने का मुख्यतः पंजाब, उत्तर-प्रदेश, सीमा-प्रान्त, बड़ौदा तथा काश्मीर में हुआ है। यद्यपि कतिपय प्रान्तों में इस प्रकार के प्रयत्नों को सफलता मिली है, परन्तु कुल पर उनकी प्रगति बड़ी धीमी है, इसलिये कानून द्वारा चकबन्दी करने का प्रयास कुछ प्रान्तों में प्रारम्भ हो गया है।

कानून द्वारा चकबन्दी—

सरकारी द्वारा एक चकबन्दी पदाधिकारी नियुक्त किया जाता है। चकबन्दी कानून के अन्तर्गत यह व्यवस्था है कि दो या अधिक गाँवों की भूमि के स्वामी अथवा स्थाई रूप से जोतने वाले (जिनके पास भूमि एक निर्धारित मात्रा में हो) चकबन्दी के लिए उक्त पदाधिकारी को प्रार्थना पत्र प्रस्तुत कर सकते हैं। वह पदाधिकारी चकबन्दी की योजना तैयार करता है। यदि इस योजना को गाँव की २/३ भूमि के रखने वाले कम से कम आधे जोतने वाले व्यक्ति स्वीकार कर लें, तो वह अन्य लोगों पर अनिवार्य रूप से लागू हो जावेगी। यह स्मरणीय है कि चकबन्दी का काम जहाँ तक हो सके सहकारी आधार पर किया जाय। केवल उस दशा में, जबकि थोड़े से लोगों की हठ के कारण योजना असफल होती हो तो कानून का दबाव डालना उचित होगा। सन् १६३८ में सहकारी विभागों के रजिस्ट्रार सम्मेलन में इस आशय का प्रस्ताव भी पास किया गया था।

निष्कर्ष—

भारत में चकबन्दी के मार्ग में निम्न कठिनाइयाँ आई हैं :—

(१) भारतीय किसान फसल की सुरक्षा पर उत्पत्ति की मात्रा से अधिक ध्यान देता है। एक चक पर खेती करने में अधिक उत्पत्ति होने की सम्भावना से वह उतना प्रभावित नहीं होता, जितना कि इस बात से कि भिन्न-भिन्न खेतों में भिन्न-भिन्न फसलें करने से फसल के समूल नष्ट होने का भय नहीं होगा।

(२) जल सम्बन्धी कठिनाई। अनेक चकबन्दी योजनाएँ केवल इस कारण सफल न हो सकीं कि किसान यह समझता था कि उसे मिलने वाली भूमि में पानी की तङ्गी रहेगी।

(३) किसानों की भूमि के प्रति एक पैतृक भावना है। ये उसे पवित्र धरोहर मानते हैं, इस कारण उसे देना पसन्द नहीं करते।

(४) जिन किसानों के पास १—२ बीघा जमीन का टुकड़ा होता है, वे चकबन्दी योजना में अपना कोई लाभ नहीं देखते और इस कारण इस योजना से अलग

रहने पर हठ करते हैं, परन्तु उनको सम्मिलित किये बिना चकबन्दी की योजना सफल नहीं हो सकती।

(५) मौरूसी किसान नई भूमि के बदले में पुरानी भूमि छोड़ देने में अपने अधिकार नष्ट होने के भय में रहते हैं।

(६) गाँव का पटवारी भी चकबन्दी नहीं चाहता, क्योंकि उसे अपनी आय कम हो जाने का भय है।

ये कठिनाइयाँ निस्सन्देह उलझन में डालने वाली हैं, किन्तु हमारा विश्वास है कि यदि किसानों में चकबन्दी के लाभों का प्रचार किया जावे और उन्हें शिक्षित बनाया जावे, तो वे अवश्य चकबन्दी स्वीकार कर लेंगे। चकबन्दी का एक दोष यह है कि एक बार चकबन्दी हो जाने पर भूमि के भविष्य में फिर उत्तराधिकारियों द्वारा छोटे-छोटे खेतों में बँट दिए जाने की सम्भावना रहती है, इसलिये यह आवश्यक है कि कानून बना कर एक निर्धारित आर्थिक जोत के परे भूमि का विभाजन रोक दिया जावे। कतिपय राज्यों में ऐसा हो भी गया है।

---

[२६]

भारत में सिंचाई

रूपरेखा—

१. प्रारम्भक—भारतीय कृषि मान्सून में एक जुआ है, अतः यहाँ खेती की उन्नति के लिये सिंचाई के कृत्रिम साधनों का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है। अखण्ड भारत में केवल २७% भूमि पर ही सिंचाई होती थी। देश के विभाजन के बाद भारतीय संघ में केवल १९% सिंचित क्षेत्र रह गया।

२. सिंचाई की आवश्यकता—(अ) हमारे देश में वर्षा असमान, अनियमित और अपर्याप्त है। (आ) यह वर्षा मौसमी भी है। (इ) चावल, गन्ना इत्यादि फसलों के लिये यथेष्ट एवं नियमित पानी की आवश्यकता है। (ई) गहन खेती के लिये भी सिंचाई की आवश्यकता है।

३. सिंचाई से लाभ—(अ) फसलों की उपज में वृद्धि। (आ) कृषि में स्थिरता। (इ) अकालों से रक्षा। (ई) रेलों की अधिक आय। (उ) राज्य को आर्थिक लाभ।

४. सिंचाई के साधन—(अ) कुएँ (साधारण और ट्यूबवैल)। (आ) तालाब। (इ) नहरें।

५. देश में विभाजन से पूर्व सिंचाई—अंग्रेजों के शासनकाल के पूर्व भी सिंचाई का ध्यान था, किन्तु इन्जीनियरिंग निपुणता और राजनैतिक अशान्ति ने बाधा पहुँचाई। ईस्ट इन्डिया कम्पनी ने अपने शासन काल में पुरानी नहरों की मरम्मत करने तथा कुछ नई नहरों के निर्माण में काफी खर्च किया। इसके बाद व्यक्तिगत कम्पनियों को कार्य सौंपा गया, किन्तु यह असफल रही। सन् १८६६ में सैक्रेटरी आफ स्टेट ने खुले बाजारों से ऋण लेकर लाभदायक कार्यों के निर्माण में लगाने के सिद्धांत को स्वीकार किया। सन् १८८० के अकाल कमीशन के बाद नहरों के कार्य में काफी विकास किया। सन् १९१९ के सुधारों के बाद सिंचाई प्रान्तीय विषय बन गया। सन् १९३१ में केन्द्रीय सिंचाई बोर्ड बनाया गया। सन् १९४५ में सिंचाई योजनाओं को बहुद्देशीय बना दिया गया और एक केन्द्रीय जलमार्ग तथा नौका तरण कमीशन स्थापित किया गया।

६. विभाजन के बाद सिंचाई—अविभाजित देश की अविभाजित जनसंख्या की ८२% जन संख्या भारत में ही रही, किन्तु केवल ६९% चावल तथा ६६%

गेहूँ का उत्पादन क्षेत्र और ६६% सिंचित क्षेत्र भारत में रह गया। इस कमी को पूरा करने के लिये केन्द्रीय तथा प्रान्तीय योजनाओं को हाथ में लिया।

७. *प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में सिंचाई की प्रगति*—इस काल में सिंचाई के अनेक छोटे मोटे कार्य ही नहीं, अपितु अनेक विशाल योजनाओं पर भी बड़ी तेजी से कार्य किया गया। फलस्वरूप सन् १९५५ तक लगभग ६५ लाख एकड़ भूमि में सिंचाई का प्रबन्ध हो गया।

८. *द्वितीय योजना में सिंचाई के लक्ष्य*—यह लक्ष्य रक्खा गया है कि इस योजना के अन्त तक २१० लाख एकड़ भूमि को अधिक सिंचाई होने लगेगी। लगभग १८१ नई योजनायें बनाई गई हैं। नई योजनाओं का खर्च लगभग ३८० करोड़ रुपया आयेगा।

९. *निष्कर्ष*—योजना की सफलता के लिये जन सहयोग की बहुत आवश्यकता है।

प्रारम्भिक—

चाहे किसान के पास अच्छी भूमि, अच्छे बीज, अच्छा खाद तथा खेती के लिए योग्य एवं आवश्यक पशु तथा खेती के औजार हों, किन्तु यदि उचित एवं आवश्यकतानुसार नियमित पानी न हो, तो खेती अनिश्चित ही रहती है, अतः जहाँ वर्षा उचित समय पर एवं आवश्यकतानुसार पर्याप्त मात्रा में नहीं होती वहाँ खेती की उन्नति के लिये सिंचाई के कृत्रिम साधनों का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है। वास्तव में पशुओं के शरीर में जितना महत्व रक्त का होता है, पौधों के लिये उतना ही महत्व पानी का है। हमारे देश में कहने को तो प्रति वर्ष औसतन ४५ इंच वर्षा होती है, किन्तु भिन्न भिन्न स्थानों की भिन्नताओं को देखने से वास्तविकता का पता लगता है। उदाहरणार्थ जहाँ एक ओर उत्तर प्रदेश के पर्वतों के नीचे वाले इलाकों में १०० इंच वर्षा होती है वहाँ दूसरी ओर पश्चिमी राजस्थान में प्रति वर्ष औसतन् केवल १० इंच ही वर्षा होती है। इसी प्रकार पंजाब तथा दक्षिण के कुछ भागों में भी वर्षा की कमी हो रहती है। इन्हीं कारणों से हमारे देश के कई भागों में सिंचाई के कृत्रिम साधनों की आवश्यकता पड़ता है। यदि खेती के प्रत्येक तरीकों के उपयोग से ५ से लेकर १६ प्रतिशत तक फसलों में वृद्धि होती है, तो केवल सिंचाई से ही २० से ४० प्रतिशत तक वृद्धि की जा सकती है। कहा गया है कि 'प्रति एकड़ ३० मन धान, जिसकी कीमत लगभग ३००) हो, सन्तोषपूर्ण माना जा सकता है। दूसरी ओर १५०) के मूल्य का १६ मन आलू भी विशेष असम्भव नहीं है। इसी प्रकार गन्ने से भी काफी लाभ मिलता है, किन्तु इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सिंचाई अत्यन्त ही आवश्यक है।" इस सिंचाई का पानी दो साधनों से मिलता है—प्रत्यक्षत प्रकृति द्वारा वर्षा के पानी के रूप में और अप्रत्यक्षत प्राकृतिक साधनों से 'सिंचाई द्वारा'। प्राकृतिक पानी (वर्षा) की पूर्ति के अपर्याप्त तथा असमान वितरण के परिणामस्वरूप सिंचाई किसी न किसी कृत्रिम साधन पर निर्भर रहने को विवश होना पड़ता है। देश के विभाजन के पूर्व

अखण्ड भारत में ७ करोड २० लाख एकड भूमि पर सिचाई होती थी, यद्यपि खेती २६ करोड ८० लाख एकड भूमि पर की जाती थी । दूसरे शब्दों मे, यह कहा जा सकता है कि केवल २४% खेतों मे ही सिंचाई होती थी । देश के विभाजन के बाद भारतीय-सघ में सिंचाई वाला क्षेत्र १६ प्रतिशत याने २१ करोड १० लाख एकड में से ४ करोड ८० लाख एकड ही रह गया, किन्तु बाद में इस ओर बहुत ही प्रगति हुई है। सन् १६५१ के आँकडों को देखने से ज्ञात होता है कि २७·७४ करोड एकड भूमि में से ४·६६ करोड एकड भूमि पर सिंचाई होती थी। हमारा देश बडा ही भाग्यशाली है कि सारे क्षेत्रों मे (थार रेगिस्तान को छोडकर) कई बडी बडी नदियाँ बहती हैं, किन्तु बडे दुःख की बात है कि वे लाभ के बजाय जीव एवं सपत्ति का नुकसान बाढ के द्वारा अधिक करती हैं । हम नदियों के पानी का केवल ६ प्रतिशत उपयोग तो सिंचाई एव बिजली के लिए कर रहे हैं और बाकी का ६४% पानी व्यर्थ समुद्र में मिल जाता है। हम इन नदियों के पानी से न केवल देश मे खेती योग्य भूमि पर सिंचाई कर सकते हैं, किन्तु ४ से लेकर ८ करोड क्लोवाट बिजली भी तैयार कर सकते है।

सिंचाई की आवश्यकता—

हमारे देश में सिंचाई की आवश्यकता मुख्यत पेप्सू, ट्रावनकोर-कोचीन, पजाब, मद्रास, उत्तर प्रदेश, उडीसा, बिहार इत्यादि में अधिक है । पजाब में वर्षा इतनी पर्याप्त मात्रा मे नहीं होती कि फसलें पूरी तरह से पक सकें। मध्य-प्रदेश, उत्तर-प्रदेश, बिहार एव उडीसा में अकाल से बचने के लिये सिंचाई की आवश्यकता रहती है। भारतीय खेती के लिये सिंचाई की आवश्यकता निम्नलिखित कारणों से होती है—

(१) हमारे देश मे वर्षा मानसून पर निर्भर रहती है, जिसकी मुख्य विशेषता देश में असमान एव अनियमित वितरण तथा कभी-कभी बिलकुल ही सूखा अथवा वर्षा की अपर्याप्तता है। यह मानसून भी मुख्यत वर्ष के कुछ ही महीनों मे (जून से अक्टूबर) चलता है, शेष महीने प्राय सूखे ही रहते हैं, अत फसलों को लगातार वर्ष भर पानी मिलने के लिये सिंचाई की आवश्यकता रहती है।

(२) वर्षा मौसमी होने के साथ ही साथ अधिकाश क्षेत्रों में निश्चित समय पर भी नहीं होती और उसकी मात्रा भी निश्चित नहीं है।

(३) चावल, गन्ना इत्यादि फसलें ऐसी भी होती हैं, जिनके लिये वर्ष भर यथेष्ट एव नियमित पानी की आवश्यकता रहती है। हमारे देश की प्राकृतिक मौसमी वर्षा इस आवश्यकता को पूरी नहीं कर सकती।

(४) देश अधिक घना बसा होने के कारण तथा तीव्र गति से बढती हुई जन सख्या को देखते हुए देश के अन्न उत्पादन को तीव्र गति से बढाना अत्यन्त ही आवश्यक है। यह उसी अवस्था में सम्भव हो सकता है, जबकि हमारे किसान गहन खेती करने लगें तथा जोतने योग्य भूमि को, जो अभी तक नहीं जोती गई है, उसे हल के नीचे लावें। इसके साथ ही साथ वर्ष में दो-दो तो क्या तीन-तीन फसलें लेने के लिये भी सिंचाई की आवश्यकता है।

वास्तव में भारतीय किसान का सर्वस्व एवं उसकी सारी आशाएँ वर्षा पर ही निर्भर हैं, अतः समय को देखते हुए उसका पूर्ण रूप से वर्षा पर निर्भर रहना एक धोखे की चीज हो सकती है। इस अनिश्चितता से रक्षा करने के लिए सिंचाई का सहारा आवश्यक है। देश के विभाजन के बाद तो सिंचाई की आवश्यकता और अधिक बढ़ गई है। पश्चिमी पंजाब के, जहाँ नहरों का एक जाल सा बिछा हुआ था, पाकिस्तान में चले जाने के कारण हमारे देश को काफी क्षति पहुँची है। कपास एवं पटसन की उपज के बढ़ाने के लिये भी सिचाई के साधनों में वृद्धि करना आवश्यक है।

इन्हीं सब कारणों से हमारे देश के योजना कमीशन ने खेती एवं सिंचाई के साधनों को प्राथमिकता दी है।

सिचाई से लाभ—

(१) *फसलों की उपज में वृद्धि*—फसलों के लिए पानी अत्यन्त ही आवश्यक है। यदि फसलों को नियमित समय पर पर्याप्त मात्रा में पानी मिलता रहे तो फसलों की उपज में अच्छी वृद्धि होती है। इस सम्बन्ध में नहरों की अपेक्षा कुओं की सिंचाई अच्छी मानी गई है। कुओं द्वारा सिंचाई करने वालों को दूसरों पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। कृषि उत्पादन में वृद्धि होने से उपभोग्य बाजारों में वस्तुओं की हल-चल बढ़ती है, जिससे देश के यातायात के साधनों, जैसे—रेल इत्यादि की आमदनी बढ़ती है। सिंचाई के उत्पादक कार्य जोकि सरकारी हैं, कृषि के लिये तो सहायक हैं ही, साथ ही साथ राज्य को भी काफी आय कराते हैं। इस तरह सिंचाई जन-कल्याण में वृद्धि करती है। इसके कारण ऐसे स्थानों में, जो निर्जन हैं, आबादी पनपती है और बढ़ती हुई नई आबादी की अनाज समस्या को भी वह हल करती है। हमारे देश में अन्न की वर्तमान कमी को बहुत कुछ सिंचाई के साधनों में वृद्धि करके पूरा किया जा सकता है।

(२) *कृषि में स्थिरता*—जब किसानों को वर्षा के पानी पर निर्भर रहना पड़ता है तो उनका कार्य अनिश्चित ही रहता है। कृषि का धन्धा तो वैसे ही अरक्षित एवं अनिश्चित है, किन्तु वर्षा पर निर्भर रहने से यह और भी अधिक अनिश्चित हो जाता है। यदि किसी वर्ष पानी बिल्कुल नहीं गिरता, कम गिरता है या बेमौके गिरता है तो कृषि उत्पादन में काफी कमी हो जाती है और किसानों को काफी क्षति पहुँचती है, अतः जिन स्थानों पर सिंचाई के कृत्रिम साधनों का प्रबन्ध नहीं है, वहाँ भूमि के टुकड़ों पर नियमित रूप से खेती नहीं की जा सकती, किन्तु जब पानी मिलने का विश्वास हो जाता है तो कृषि एक नियमित कार्य हो जाता है।

(३) *अकालों से रक्षा*—हमारे देश में भूतकाल में वर्षा के न होने से अकाल पड़ते रहे हैं। पानी का पर्याप्त मात्रा में प्रबन्ध होने पर, वर्षा के न होने से चाहे फसलों पर खर्च बढ़ता हो, किन्तु फसलों की उपज बिल्कुल नष्ट नहीं हो जाती। इस तरह सिंचाई द्वारा अकालों से रक्षा होती है।

(४) *रेलों की अधिक आय*—कृषि उत्पादन में वृद्धि होने से जब अधिक अनाज इत्यादि एक स्थान से दूसरे स्थान को रेलों द्वारा भेजा जाता है तो रेलों की

आय में वृद्धि होती है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण पंजाब के नहरी क्षेत्र से मिलता है, जहाँ नहरों में वृद्धि होने से कृषि उत्पादन बढ़ा और रेलों की आय में काफी वृद्धि होने लगी। पंजाब गेहूँ उत्पादन का बड़ा क्षेत्र हो गया, जहाँ से देश के विभिन्न भागों को गेहूँ का निर्यात किया जाने लगा और इस प्रकार जो प्रान्त एक कमी का था, वह रेलों की आय में वृद्धि होने से केन्द्रीय सरकार को अतिरिक्त लाभ देने लगा।

(५) *राज्य को आर्थिक लाभ*—जब किसी प्रान्त के किसानों की आर्थिक स्थिति में सुधार होता है तो उनसे सम्बन्धित अन्य लोगों को भी, जो उनसे व्यवहार करते हैं, आर्थिक लाभ होता है। उद्योगपतियों को भी लाभ होता है और देश में व्यापार तथा अन्य कार्यों में भी सामान्य वृद्धि होती है। लगान, आय कर, स्टाम्प फीस से भी राज्य की आय बढ़ती है, जिससे प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकार को लाभ मिलता है। यह लाभ विशेषकर भारत जैसे कृषि प्रधान देश को मिलता है।

सिंचाई के साधन—

भारत में सिंचाई के मुख्य चार साधन हैं—कुएँ, तालाब, नहरें तथा अन्य साधन। सन् १९५० के आँकड़ों को देखने से यह पता लगता है कि इन साधनों का नीचे लिखे अनुसार उपयोग होता था —

(सिंचित क्षेत्र करोड़ एकड़ों में)

खेती का कुल क्षेत्र	नहरों द्वारा	तालाबों द्वारा	कुओं द्वारा	अन्य साधनों द्वारा	कुल क्षेत्र
२७५	२८	६	१४	७	५५

कुओं द्वारा सिंचाई—

कुएँ भी दो प्रकार के हैं—पहले ऊपरी भाग के साधारण कुएँ और दूसरे नालीदार या ट्यूब वैल। हमारे देश में साधारण कुओं की संख्या लगभग २५ लाख है और उनमें करीब १०० करोड़ रुपयों की पूँजी लगी हुई है। यह अनुमान लगाया जाता है कि देश की कुल भूमि के ५% भाग की कुओं द्वारा सिंचाई की जाती है। भारत में पंजाब, उत्तर प्रदेश, मद्रास तथा बम्बई राज्य कुओं की सिंचाई के लिए विशेष प्रसिद्ध है। वैसे तो सामान्यतः कुएँ किसानों की व्यक्तिगत सम्पत्ति हैं, किन्तु सरकार ने भी सन् १८८३ के भूमि सुधार ऋण अधिनियम के आधीन तकावी ऋण के द्वारा आर्थिक सहायता देकर कुओं की संख्या में वृद्धि की है। इसके साथ ही साथ इस प्रकार सुधारी हुई भूमि पर मालगुजारी की वृद्धि को अस्थायी रूप से स्थगित करके भी सरकार ने किसानों की सहायता की है। हमारे देश के 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के अधीन सन् १९४४–४७ तक करीब ७२,२०० और सन् १९४७–४९ के बीच ५,६०० नये कुएँ बनवाये गये। कुओं द्वारा की जाने वाली सिंचाई का क्षेत्र उनकी बनावट पर निर्भर रहता है। ऐसे कुएँ जो नदी के पास खड्डा करके बनाये जाते हैं, वे १ एकड़ भूमि पर सिंचाई करने के योग्य होते हैं, किन्तु ऐसे कुएँ जो गहरे और पक्के बँधे होते हैं, वे ५ से लेकर १५ एकड़ भूमि की सिंचाई कर सकते हैं, जिनका

खर्च ४०० रुपयों से १,५०० रुपयों तक होता है। इनकी बीच की श्रेणी के कुएँ ४ एकड़ भूमि की सिंचाई करने के योग्य होते हैं। इस प्रकार कुएँ बनाने में यह सुविधा होती है कि किसान अपनी आवश्यकता एवं आर्थिक स्थिति के अनुसार गाँव में उपलब्ध सामग्री से ही कुएँ बना लेता है।

उपर्युक्त सुविधाओं के होते हुए भी हमें मालूम पड़ता है कि सिंचाई के इस साधन की संख्या में विशेष वृद्धि नहीं हुई है। सन् १९०२-३ में कुओं द्वारा १ करोड़ १६ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होती थी, सन् १९५० में इसका क्षेत्र केवल १ करोड़ ४० लाख एकड़ हो गया। 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के अन्तर्गत भी केवल उत्तर-प्रदेश में ही इनकी संख्या मे अच्छी वृद्धि हुई। देश में इनकी संख्या में आशातीत एवं आवश्यक वृद्धि न होने के कारणों में मुख्यतः किसानों की आर्थिक स्थिति का कमजोर होना ही है। साहूकार लोग भी ऊँचे ब्याज पर ऋण देते हैं। भूमि विभाजन एवं बिखरी खेती ने भी इस दिशा में प्रोत्साहन नहीं दिया, क्योंकि आर्थिक धरा (Economic Holding) के न होने से कुओं का खर्च अधिक प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त किसान एवं उसके बैलों को कुएँ से पानी निकालने में जो भारी श्रम पड़ता है, इस कारण भी कई किसान कुओं का लाभ नहीं उठा पाते। यदि सरकार कम ब्याज पर आवश्यक मात्रा में और दिये गये ऋण की अदायगी २० वर्षों में आसानी से करने की सुविधा देते हुये, किसानों को कुएँ बनाने के लिये ऋण दे तो अवश्य ही देश में सिंचाई के इस उपयुक्त एवं कम खर्चीले साधन की संख्या में अच्छी वृद्धि हो सकती है। इसके अतिरिक्त सरकार स्वयं ही कुछ कुएँ बनाकर उचित दामों पर किसानों को सिंचाई करने का लाभ दे सकती है। सहकारिता सिद्धान्त के आधार पर कुओं के निर्माण कार्य को प्रोत्साहन देना भी समयोचित है।

सिंचाई की किसी भी योजना में आधुनिक प्रणाली के नलीदार कुओं का एक बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। इन कुओं से बिजली के पम्पों द्वारा बहुत ही अधिक मात्रा में (१ कुएँ से १ घण्टे में करीब ३३,००० गैलन) वर्ष भर लगातार पानी खींचा जा सकता है। एक कुँए की सहायता से करीब ४००-६०० एकड़ भूमि पर सिंचाई की जा सकती है। इनकी गहराई ६० फीट से २०० फीट तक हो सकती है, जो केवल यंत्रों की सहायता से ही खोदा जा सकता है। सन् १९४८ में भारत सरकार ने सिंचाई के इस साधन की उपयुक्तता के सम्बन्ध में राय लेने के लिए दो अमेरिकन विशेषज्ञों को निमंत्रण दिया था। उन्होंने यह बताया कि हमारे देश में पंजाब, उत्तर-प्रदेश एवं बिहार में इन कुओं के लिए क्षेत्र हैं, फलतः देश में ६,००० कुएँ बनाने की योजना बनाई गई, किन्तु बिजली की कमी के कारण उसकी पूर्ण सफलता न हो सकी। उत्तर-प्रदेश में गङ्गा घाटी ट्यूबवैल योजना ने इस सम्बन्ध में बड़ी उन्नति की है। इस योजना के अन्तर्गत करीब १,७०० कुएँ (जिनमें से १,३०० कुँए सन् १९३५-३७ में तैयार किये गये) हैं, जो करीब ७०,००० एकड़ भूमि पर (औसत वर्षा के दिनों में) सिंचाई कर सकते हैं। इसी प्रकार मद्रास, बम्बई, मध्य-प्रदेश, ट्रावनकोर-कोचीन

इत्यादि में भी योजनाएँ बनाई गई। यह कार्य मद्रास में उद्योग विभाग को, मध्य प्रदेश में जन कार्य विभाग तथा अन्य प्रान्तों में कृषि विभाग को सौंपा गया है। बम्बई तथा ट्रावनकोर कोचीन में कुछ योजनाएँ सहकारी संस्थाओं द्वारा चलाई गई हैं, जिनकी आर्थिक सहायता सरकार ने भी की है, किन्तु हमे यह न भूलना चाहिए कि यह साधन बहुत खर्चीला है, इसलिये केवल गहरी खेती में ही विशेष लाभदायक हो सकता है और वह भी उस अवस्था में जबकि आलू, गन्ना, तम्बाकू, कपास इत्यादि कीमती व्यापारिक फसलों की खेती की जाय। सर विलियम स्टेम्प, भारत सरकार के भूतपूर्व सिंचाई सलाहकार, के अनुसार सिंचाई के इस साधन की योजना के लिए चारों बातों का होना आवश्यक है—(१) भूमि की सतह के नीचे पर्याप्त मात्रा में पानी बहता हो। (२) वर्ष में कम से कम औसतन ३,००० घंटों तक के लिये विस्तृत खेतों के लिए सिंचाई की माँग हो। (३) जमीन की सतह से पानी की गहराई ४० फीट से अधिक न हो। (४) वाञ्छित क्षेत्रों में बिजली का खर्च २ पैसा प्रति यूनिट से अधिक न हो। हमारे देश में बिजली तथा किसानों के पास पूँजी की कमी होने से इन कुओं की संख्या में विशेष वृद्धि नहीं हो सकी है। कृषि कमीशन ने सिफारिश की थी कि तकावी ऋण, टेकनीकल सलाह, कुआ खोदने के यन्त्र तथा उचित मजदूरी पर होशियार कारीगर देकर सरकार कुएँ बनाने में किसानों की सहायता करे। जहाँ किसानों के पास भूमि कम हो और जिनकी व्यक्तिगत योग्यता ऐसी न हो कि वे स्वयं कुएँ बना सकें, वहाँ छोटी छोटी सहकारी समितियाँ बनाकर भी इन कुओं के निर्माण में प्रोत्साहन देना चाहिए। उत्तरी गुजरात में सरकार ने ४०० नालीदार कुएँ बनाने की योजना बनाई है, जिनके निर्माण का ठेका नेशनल व्यूवैल कम्पनी को दिया गया। यह कार्य मार्च ३१ सन् १९५३ तक पूरा होना चाहिए था, किन्तु कारणवश इस अवधि के अन्दर पूरा न हो सका। अब इस अवधि को ३१ मार्च सन् १९५५ तक बढ़ा दिया गया है।

तालाबों द्वारा सिंचाई—

अत प्राचीनकाल से सिंचाई के साधनों में तालाबों का भी बहुत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इनका उपयोग उन क्षेत्रों में विशेष होता है, जहाँ कुओं अथवा नहरों से सिंचाई की सुविधा उपलब्ध नहीं है। दक्षिण भारत में और विशेषकर मद्रास में भूमि पथरीली होने के कारण इनकी अधिकता पाई जाती है। वहाँ नदियों या नालों के वर्षा के पानी को रोक कर संग्रह करके तालाब बनाये जाते हैं। कुओं के ही समान तालाबों के आकार में भी भिन्नताएँ पाई जाती है। मद्रास के चिङ्गलपुट (Chinglepnt) जिले की बड़ी झील से लेकर (जो २ से ४ हजार एकड़ तक भूमि की सिंचाई करती है) गाँवों में पाये जाने वाले छोटे छोटे तलैया तक (जो कि २-४ एकड़ भूमि से अधिक सिंचाई नहीं कर सकते) पाये जाते हैं। इन तालाबों में से कई तो १०० वर्षों से भी अधिक पुराने हैं और कई पुराने होकर पट गए हैं। वैसे तो पंजाब को छोड़कर हमारे देश के सभी भागों में छोटे बड़े तालाब विद्यमान

हैं, किन्तु मद्रास में इनकी अधिकता है। वहाँ करीब ३२,००० तालाब हैं और जिनकी सहायता से लगभग ३० लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होती है। बम्बई, मैसूर तथा हैदराबाद में भी इनकी अधिकता है। राजस्थान, मध्य-भारत, हैदराबाद, मैसूर, विंध्य-प्रदेश के राज्यों ने उनकी सरकारों ने तालाबों के निर्माण में काफी धन व्यय किया है। बम्बई तथा मद्रास के रैयतवारी क्षेत्रों में तथा देश के अन्य भागों में बड़े-बड़े तालाबों पर सरकार का ही अधिकार है। आजकल नये-नये तालाबों के निर्माण में केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारें आर्थिक सहायता देकर इस कार्य में काफी प्रोत्साहन दे रही हैं। बम्बई, त्रावनकोर तथा कोचीन में सहकारी समितियाँ सरकार से ऋण लेकर इस कार्य में हाथ बँटा रही हैं। "सिंचाई की छोटी-छोटी योजनाएँ (Lift Irrigation Schemes) इतनी व्यय साध्य नहीं होतीं और उनका फल भी शीघ्र मिलता है। इनमें से हजारों योजनाएँ (तालाबों सहित) देश भर में पूरी की जा चुकी हैं और अनेक को हाथ में लिया हुआ है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये भारत सरकार व्यय के अलाभकारी भाग में से राज्य सरकारों के साथ आधा खर्च बाँट लेती है।"

नहरों द्वारा सिंचाई—

नहरें वर्तमान समय में हमारे देश में सिंचाई का एक महत्वपूर्ण एवं मुख्य साधन हैं, जो अन्य सब साधनों के द्वारा की जाने वाली सिंचाई से सबसे अधिक क्षेत्र पर सिंचाई करती हैं। नहरों के निर्माण में बहुत अधिक व्यय होता है, अतः उनके विकास का कार्य बहुधा सरकार की नीति एवं आर्थिक सीमा पर ही निर्भर रहा है। जो भी हो, किसानों के लिये सिंचाई का यह साधन कम खर्चीला सिद्ध हुआ है और वे फसलों की पैदावार में अधिक वृद्धि करके लाभ उठाते हैं। सन् १९०१ के सिंचाई कमीशन की सिफारिशों पर भारत सरकार ने अधिक उदार नीति अपना कर नहरों की लम्बाई में विशेष वृद्धि की है।

नहर तीन प्रकार की होती हैं—(१) बारहमासी (Perennial) (२) बाढ़ की नहरें (Inundation), (३) बाँध की नहरें (Storage-work Canals)। बारहमासी नहरों के लिये नदियों के पानी को बाँध द्वारा रोका जाता है और आवश्यकतानुसार नहरों में पानी छोड़ा जाता है। इस तरह पानी के पर्याप्त मात्रा में संग्रह होने के कारण खेतों को वर्ष भर पानी मिलता रहता है। बाढ़ की नहरों के लिये नदी के पानी को बाँध द्वारा नहीं रोका जाता, अतः जब नदियों में पानी की सतह ऊँची रहती है, तभी नहरों में पानी आता है। फलतः इन नहरों का उपयोग बाढ़ के दिनों में ही विशेष रहता है, जबकि नदियों में काफी पानी बहता रहता है। तीसरे प्रकार की नहरों के लिये घाटी के दोनों ओर बाँध बनाकर वर्षा के दिनों में बरसाती पानी को इकट्ठा करके सूखे दिनों में नहरों के द्वारा खेतों पर पानी पहुँचाया जाता है। वास्तव में देखा जाय तो इन नहरों में और तालाबों में कोई विशेष भिन्नता नहीं है। मध्य प्रदेश, मध्य-भारत तथा दक्षिण भारत में, जहाँ सूखे

क्षेत्र हैं और जहाँ नदियों द्वारा सिंचाई करने में कठिनाई होती है, बहुधा इस प्रकार की नहरों की अधिकता है।

यों तो हमारे देश में पुराने काल में भी नहरें थीं, किन्तु अँग्रेजों के शासन काल में इनका महत्व अधिक बढ़ा है। कावेरी पर ग्रान्ड अनीकट (Grand Anicut) १,६०० वर्ष से भी अधिक पुरानी है। फीरोजशाह ने १३ वीं शताब्दी में पश्चिमी जमुना नहर तथा शाहजहाँ ने १७ वीं शताब्दी में पूर्वी जमुना नहर का निर्माण किया। अँग्रेजी शासन-काल में बड़ी बड़ी बारहमासी नहरों का अधिक निर्माण हुआ। उत्तरी भारत में नहरों की प्रधानता है, क्योंकि इस क्षेत्र में भूमि चौरस और मिट्टी नरम है। एक विशेष बात यह है कि इस क्षेत्र में बहने वाली नदियाँ हिमालय से निकलती हैं, जिनमें वर्ष भर पर्याप्त पानी बहता रहता है, इसीलिये पंजाब, सिन्ध तथा उत्तर-प्रदेश की नहरें संसार भर में प्रसिद्ध हैं। मद्रास, मध्य प्रदेश तथा बुन्देलखंड में भी नहरों द्वारा सिंचाई की जाती है।

सिंचाई के इन साधनों का आर्थिक प्रतिफल की दृष्टि से भी वर्गीकरण किया जा सकता है। सन् १९२१ के पूर्व नहरों को निम्नलिखित तीनों वर्गों में रक्खा गया — (१) उत्पादक कार्य (२) कम उत्पादक कार्य तथा (३) छोटे कार्य। उत्पादक कार्य वह थे, जिनमें उनकी पूर्णता के दस वर्ष के अन्दर ही लगाई हुई पूँजी पर ब्याज का खर्च निकलने योग्य शुद्ध आमदनी हो जाती थी। इस प्रकार नहरें उत्तरी भारत तथा मद्रास में अधिक हैं। कम उत्पादक कार्य (Protective works) वे थे, जिनसे प्रत्यक्ष आय नहीं होती, किन्तु जो अकाल के विरुद्ध बीमे का कार्य करती हैं। इनका खर्चा सरकार की सामान्य आमदनी तथा अकाल रक्षा बीमा सहायता (Famine Relief Funds) फंड से किया जाता है, जो सन् १८७७-७८ के अकाल के बाद कायम किया गया। छोटे कार्यों में तालाब, कुएँ इत्यादि सिंचित वर्ग सम्मिलित हैं, जिनका खर्च चालू राजस्व से चलता है।

सन् १९२१ के बाद उपर्युक्त वर्गीकरण को समाप्त करके उत्पादक तथा अनुत्पादक नामक दो ही वर्ग रखे गये। उत्पादक कार्य वे हैं जो द्रव्य लाभ पहुँचाते (Remunerative) हैं और अनुत्पादक कार्य वे हैं जो प्रत्यक्ष रूप से द्रव्य का लाभ नहीं देते, किन्तु देश में अकाल से बचने के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

नहरों के कारण हमारे देश के किसानों को काफी लाभ हुआ है, किन्तु इनमें *तीन दोष हैं—नहरों से काफी पानी बहता है, जिसके कारण जलानुवेधन (Water* Logging) हो जाता है और उसके साथ बलकर उड़ने सेलवण पदार्थ भूमि के ऊपर आ जाते हैं, इससे भूमि की उर्वरा शक्ति निर्बल पड़ जाती है। इस तरह प्रत्येक प्रान्त में अलकाली लोना या रेह के कारण बहुत सा क्षेत्रफल ऊसर भूमि में बदल गया है। उत्तर प्रदेश, पंजाब तथा बम्बई के कुछ भागों में यह समस्या बड़ी विकट हो गई है, जहाँ भूमि अनुत्पादक हो गई है। अब प्रान्तीय सरकारों ने इस ओर विशेष ध्यान दिया है। इस कारण बेकार पड़ी हुई भूमि को खेती के योग्य बनाने के लिये उन्होंने

कमेटियाँ नियुक्त की हैं, जो इस सम्बन्ध में योजनाएँ बना रही हैं। दूसरा दोष यह भी है कि नहरों के कारण काफी पानी व्यर्थ बहता है। यह कहा गया है कि नहरों के प्रारम्भ होने के समय जितना पानी निकलता है प्रायः उसका आधा ही पानी खेतों में पहुँचता है। यदि सिंचाई विभाग समय पर और आवश्यकतानुसार पानी दिया करे अथवा पानी का मीटर लगा दे तो यह दोष बहुत अंशों में दूर हो सकता है। तीसरा दोष यह भी है कि नहरों द्वारा सिंचाई कराने की जो फीस या खर्चा लिया जाता है, वह नियमानुसार निश्चित नहीं है। उसकी दर स्थान स्थान, फसल तथा समय समय पर भिन्न-भिन्न है। आवश्यकता इस बात की है कि किसान से पानी के उपयोग की मात्रा के अनुसार निश्चित दरों से दाम लिये जाँय, जिससे वह पानी का व्यर्थ व्यय नहीं करें। इन दोषों का श्री ब्रजनारायण ने अपनी पुस्तक 'इन्डियन इकोनोमिक लाइफ' में सुन्दर वर्णन किया है।

देश के विभाजन से पूर्व सिंचाई—

भारत में जल की अधिकता होने से सिंचाई के विभिन्न साधनों का उपयोग प्राचीन काल से ही होता चला आ रहा है, किन्तु जहाँ तक नदियों के पानी के उपयोग का प्रश्न है, समुद्र को बह कर जाने वाले पानी में से कुल का केवल ६ प्रतिशत ही सिंचाई के लिये उपयोग किया जा रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि अभी सिंचाई के विकास की काफी सम्भावना है। अंग्रेजों के शासनकाल के पूर्व भी इस ओर ध्यान था, किन्तु "उन दिनों में पूँजी तथा इंजीनियरिंग निपुणता के अभाव, भूधारण की अनिश्चितता, स्थायी सुधार के कार्यों में पूँजी न लगाने की इच्छा, आये दिन होने वाले आक्रमणों तथा आन्तरिक राजनैतिक अशान्ति ने सिंचाई के विकास कार्यों में बाधा पहुँचाई।" ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने शासनकाल में पुरानी नहरों की मरम्मत करने तथा कुछ नई नहरों के निर्माण में काफी धन खर्च किया। सन् १८२१ में पश्चिमी जमुना नहर तथा १८३० में पूर्वी जमना नहर की मरम्मत की गई। सन् १८३६-४५ के बीच कावेरी सिस्टम का पुनः निर्माण किया। सन् १८५५ में ऊपरी गंगा नहर बनाई गई तथा सन् १८५९ में पुरानी हसली नहर की जगह ऊपरी बेरी दोआब नहर का निर्माण किया गया। सन् १८४६ में दक्षिण भारत में गोदावरी नहर जो करीब १० लाख एकड़ भूमि पर आज भी सिंचाई करती है, बनाई गई। कृष्णा डेल्टा के क्षेत्रों की सिंचाई के लिए सन् १८५५ में नहरों का निर्माण पूर्ण किया गया। बेगारी तथा फुलेली नामक नहरें भी उस समय में बनाई गई (जो आजकल पाकिस्तान के अधिकार में हैं)। सन् १८६३ में बम्बई प्रान्त का मुकची तालाब दक्षिण पठार के सूखे क्षेत्रों की सिंचाई के लिए बनाया गया।

इसके बाद व्यक्तिगत कम्पनियों द्वारा बनाई जाने वाली सिंचाई योजना का काल आया। सन् १८५७ तथा सन् १८६३ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डायरेक्टरों ने दो व्यक्तिगत कम्पनियों को सिंचाई तथा नौपरिवहन की एक बड़ी योजना का कार्य सौंपा,

किन्तु इन कम्पनियों के लालच, ज्ञान तथा अनुभव के अभाव (भारतीय परिस्थिति में) के कारण ये असफल रहीं और उन्होंने सरकार के लिए मैदान छोड़ दिया।

व्यक्तिगत कम्पनियों की असफलता के कारण सिंचाई कार्य सम्बन्धी आर्थिक नीति में परिवर्तन करना पड़ा और सन् १८६६ में सेक्रेटरी ऑफ स्टेट ने खुले बाजारों से ऋण लेकर लाभदायक (Remunerative) कार्यों के निर्माण में लगाने के सिद्धान्त को स्वीकार किया। फलतः इस नीति के अनुसार उत्तर-प्रदेश, पंजाब तथा बम्बई में विशाल आकार की पाँच सिंचाई की नहरें बनाई गईं, जिनमें पंजाब की सरहिंद नहर, उत्तर-प्रदेश में गंगा की नीची नहर तथा आगरा नहर, स्वात नहर (नीची) बम्बई की मुथा नहर तथा डेसर्ट नहर इत्यादि भी शामिल थीं। सन् १८८० के अकाल कमीशन के बाद नहरों के कार्य में काफी विकास हुआ। उत्तर-प्रदेश, सिन्ध तथा दक्षिण के कम उत्पादक-कार्यों के अतिरिक्त पंजाब में कई उपनिवेशिक नहरों का निर्माण किया गया। सन् १८७७-७८ अकाल के बाद देश की अकाल से रक्षा करने के लिए अकाल रक्षा बीमा फण्ड कायम किया गया, जिसमे प्रति वर्ष १॥ करोड़ रुपया जमा होता था, किन्तु इसकी आधी रकम रेल तथा नहरों के विकास कार्य में खर्च करनी थी, किन्तु यह पूरी रकम कभी खर्च नहीं की गई। इस योजना के आधीन उत्तर प्रदेश में बेतवा नहर, मद्रास में ऋषिकुल्या योजना, बम्बई तथा दक्षिण में नीर और परियार तथा सिन्ध में जामराव एवं नारा नहर प्रणालियों जैसे महत्वपूर्ण कार्य पूरे किये गये। सन् १९०३ के भीतर सिंचाई कमीशन की सिफारिशों के अनुसार अनेक कई योजनाओं को बनाकर पूर्ण किया, जिनमें पंजाब की तीन नहरें, जो आज पाकिस्तान में हैं (ऊपरी झेलम, ऊपरी चिनाब तथा नीची बारी दोआब) और बिहार की त्रिवेणी नहरें बनाई गई। इनके अतिरिक्त मध्य-प्रदेश, बम्बई तथा दक्षिण में कई कम उत्पादक जलाशयों का निर्माण किया गया। बम्बई में सन् १९०७-८ में भडारडेरा तथा भटगर बाँधों का निर्माण किया गया। सन् १९१४ में ऊपरी स्वात तथा त्रिवेणी नहरें खोली गई। सन् १९०३ के बाद उत्तर प्रदेश में भी बहुत महत्वपूर्ण नहरें बनाई गई।

सन् १९१९ के सुधारों के बाद सिंचाई प्रान्तीय विषय बन गया, जिसका परिणाम अच्छा ही हुआ। प्रान्तीय सरकारों ने सिंचाई सम्बन्धी कार्यों में काफी प्रगति की। उनके लिए एक बन्धन अवश्य रक्खा कि सिंचाई के कार्यों पर अनुमानित व्यय ५० लाख रुपये से अधिक होने की दशा में भारत सरकार की स्वीकृति आवश्यक थी। उन्हें रकम उधार लेने की भी अनुमति थी। फलतः अनेक नई योजनाएँ, जैसे—सिन्ध में सक्खर बाँध, पंजाब में सतलज घाटी योजना, अवध में शारदा नहर, बंगाल में दामोदर नहर, मद्रास में कावेरी, मेन्टूर-बाँध, सोलापुर प्रान्त में निरा राइट बैंक नहर तथा बहावलपुर एवं बीकानेर रियासतों में कई योजनाओं को पूरा किया गया। इन नहरों में सन् १९२८ में चालू की गई शारदा नहर संसार में अकेली सबसे लम्बी नहर है, जिसकी लम्बाई ४,१७७ मील है।

कृषि तथा सिंचाई विभागों में घनिष्ठता लाने तथा सिंचाई सम्बन्धी शिकायतों

की सुनवाई करने के हेतु स्थानीय समितियों के निर्माण के लिए कृषि कमीशन ने प्रस्ताव किया। इसके साथ ही साथ सूचनाओं तथा अनुभव की जानकारी मिलने तथा अनुसन्धान में सहायता करने के लिए सिंचाई के केन्द्रीय ब्यूरो की स्थापना के लिए परामर्श दिया। ये कार्य सन् १९३१ में पूरे कर लिए गये। सन् १९३१ में केन्द्रीय सिंचाई बोर्ड (Central Irrigation Board) बनाया गया।

सन् १९४२ में सिंचाई योजनाओं के उद्देश्य में कुछ परिवर्तन हो गया और यह तय किया गया कि उनका उद्देश्य न केवल सिंचाई का ही रहे, किन्तु वे बहुउद्देशीय रहें। इस प्रकार योजनाओं को बनाने तथा उनमें आपस में सहायता करने के उद्देश्य से अप्रैल सन् १९४५ में केन्द्रीय जलमार्ग, सिंचाई तथा नौकानयन कमीशन (C.W.I. N.C.) की स्थापना की गई। इस कमीशन ने यह निश्चय किया कि जल को एकत्रित करने का उद्देश्य केवल सिंचाई ही नहीं होगा, वरन् उससे बिजली-उत्पादन, नौका-संचालन, मलेरिया नियन्त्रण, बाढ़ नियन्त्रण, भूमि-विदारण प्रतिबन्ध, पानी भरने को रोकने, मछलियाँ पालना तथा मनोरंजन इत्यादि के कार्य भी लेना चाहिए। फलतः इसके बाद जो भी योजनायें बनाई गईं उनमें ऐसे ही उपर्युक्त उद्देश्य रक्खे गये। इस कमीशन का यह भी कार्य था कि वह राज्य सरकारों के साथ योजनाओं के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करके कार्य करें। कमीशन एक टैकनीकल संगठन है, जिसमें एक अध्यक्ष, पूरे समय काम करने वाले तीन सदस्य तथा अन्य टैक्नीकल एवं प्रबन्धकर्त्ता कर्मचारी हैं। कमीशन ने ही दामोदर घाटी योजना, महानदी घाटी योजना, कोसी योजना, भाकरा और नांगल योजनायें, सोनी घाटी योजना, टिस्ता योजना, नर्मदा तथा ताप्ती योजनायें तैयार कीं।

विभाजन के बाद सिंचाई—

देश के विभाजन के बाद सरकार ने अधिक अन्न उत्पादन के लिए सिंचाई के तरीकों एवं साधनों में विकास की अधिक आवश्यकता का अनुभव किया है। विभाजन के कारण पंजाब की गेहूँ की तथा बंगाल की पटसन एवं चावल की उर्वरा भूमि पाकिस्तान की ओर चली गई। अविभाजित देश की ८२% जन-संख्या भारत में ही रही, किन्तु केवल ६९% चावल तथा ६६% गेहूँ का उत्पादन क्षेत्र तथा ६९% सिंचित क्षेत्र भारत में रह गया। इस कमी को तीव्र गति से पूरा करने के लिये केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों ने छोटी-बड़ी अनेक योजनाओं को (एकउद्देश्य तथा बहुउद्देश्य वाली योजनाओं की कुल संख्या १७० है) अपने हाथ में लिया है, जिनके पूर्ण हो जाने पर और भी २½ करोड़ एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी।

सर्व प्रथम मद्रास ने सिंचाई योजनाओं का आशातीत कार्यक्रम प्रारम्भ किया। इन योजनाओं को अल्पकालीन, मध्य आकार तथा बड़ी योजनाओं का नाम देकर क्रमशः ४३० तथा ७८ करोड़ रु० व्यय करके लगभग ३६ लाख (क्रमशः ४, २ तथा ३० लाख) एकड़ भूमि पर सिंचाई करने का कार्यक्रम प्रारम्भ किया। इनमें तुङ्गभद्रा तथा रामपदसागर योजनायें भी सम्मिलित हैं, जो बाद में पंच-वर्षीय योजना में शामिल कर

दी गई। इसके बाद उत्तर-प्रदेश ने भी प्रान्त में सिंचाई के महत्व को ध्यान में रखकर कई योजनाओं को हाथ में लिया। वहाँ बिजली पैदा करने तथा सिंचाई के लिए कई बाँध, बिजलीघर तथा नदियाँ बनाई जायेंगी। नलीदार कुओं को चलाने के लिए भी बिजली की सहायता ली जायगी। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में कई बाँध तैयार करने का कार्य प्रारम्भ कर दिया गया। इनमें पीपरी बाँध और बिजलीघर अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। रिहन्द नदी से आर-पार एक २८० फीट ऊँचा बाँध १६ करोड़ रुपयों की लागत से तैयार किया जा रहा है, जो ४० लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई कर सकेगा। यह योजना बहु उद्देशीय है। इसके अतिरिक्त नायर नदी पर नायर बाँध तथा रामगंगा योजना भी महत्वपूर्ण है। इन दोनों से लगभग १० लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई की जायगी और रामगंगा योजना से बिजली भी पैदा की जावेगी।

पश्चिमी बंगाल में दामोदर घाटी बाँध योजना एक अत्यन्त विशाल योजना है, जो अमेरिका की टी० वी० ए० के आधार पर बनाई गई है। संसद के अधिनियम द्वारा एक दामोदर घाटी कार्पोरेशन बनाकर उसके सुपुर्द काम दे दिया है। इस योजना से बिहार तथा पश्चिमी बंगाल को लाभ होगा। दामोदर नदी में स्थान-स्थान पर पानी की बाढ़ को कम करने का प्रयत्न करते हुए सिंचाई के लिए नहरें तथा बिजली उत्पादन के केन्द्र निर्माण किये जायेंगे। इस योजना को भी पंच-वर्षीय योजना में ले लिया गया है। सर्व प्रथम चार बाँध बनाने की योजना है, जिनमें से दो बाँध करीब-करीब पूरे हो चुके हैं।

इनके अतिरिक्त बिहार में कोसी बहुउद्देशीय योजना, गण्डकघाटी योजना, बम्बई के पास मेरावा नदी तथा माही नदी योजनायें तथा बरदला तालाब योजना, गङ्गापुर बाँध योजना, अशोक ताल योजनायें भी हैं। मध्य-प्रदेश में चार करोड़ रुपयों के लागत की ११ योजनाओं को हाथ मे लिया है। पंजाब की भाकरा-नांगल तथा उड़ीसा की महानदी घाटी योजनाओं पर भी काम चालू है। इस सम्बन्ध में हैदराबाद, मैसूर, सौराष्ट्र, मध्य-भारत, ट्रावनकोर-कोचीन, भोपाल तथा राजस्थान राज्य भी अपने-अपने क्षेत्रों में सिंचाई के कार्यों का विकास करने में पीछे नहीं हैं।

प्रथम पंच-वर्षीय योजना काल में सिंचाई की प्रगति—

पंच-वर्षीय योजना कमीशन ने भारत सरकार की आर्थिक नीति के अनुसार खाद्य उत्पादन में वृद्धि करने के लिये नदी घाटी की योजना को प्राथमिकता दी है। प्रथम पंच-वर्षीय योजना में विशेषकर उन्हीं योजनाओं को हाथ में लिया गया, जो कि पहले से चालू थीं। हाँ, अन्तिम दो वर्षों में नई योजनाओं पर कार्य किया गया और द्वितीय योजना काल में भी उनका कार्य चालू है। योजना निर्माताओं ने सिंचाई और बिजली के लिए ६६३ करोड़ रुपयों की राशि निर्धारित की थी। स्वतन्त्रता से पूर्व समूचे देश के लिए सिंचाई और बिजली पर जितनी रकम खर्च की गई थी यह रकम उससे अधिक है। इस क्षेत्र मे सिंचाई के अनेक छोटे मोटे केवल काम ही नहीं किये गये, जैसे—नये कुएँ खोदना, पुराने कुओं की मरम्मत करना, ट्यूबवेल्स खोदना, कुओं

पर पम्प लगाना, तालाब और नहरें बनाना आदि, बल्कि साथ ही भाखड़ा नांगल, दामोदर घाटी कारपोरेशन, हीरा कुण्ड और तुङ्गभद्रा आदि अनेक लाभ वाली विशाल योजनाओं पर भी तेजी से काम किया गया। हमारे प्रधान-मन्त्री ने ८ जुलाई सन् १९५४ को भाखड़ा नहर चालू कर दी और २ जनवरी सन् १९५५ को राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने गंगुवाल में इस योजना के पहले बिजलीघर का उद्घाटन किया। दामोदर घाटी योजना का बोकारो थर्मल स्टेशन और तिलैया बन बिजली-केन्द्र चालू हो चुके हैं। हीराकुण्ड और तुङ्गभद्रा योजनाओं पर भी संतोषजनक प्रगति हो रही है। चम्बल और कोसी जैसी कुछ नई योजनाएँ भी हाथ में ले ली गई हैं। इन योजनाओं की अब तक की प्रगति के फलस्वरूप मार्च सन् १९५५ तक लगभग ६५ लाख एकड़ भूमि में सिंचाई का प्रबन्ध हो गया है और १८ लाख ३० हजार किलोवाट बिजली तैयार होने लगी है।

द्वितीय योजना में सिंचाई के लक्ष्य—

प्रस्ताव यह है कि दूसरी पंच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत २१० लाख एकड़ भूमि की अतिरिक्त सिंचाई होने लगे। इसमें से १२० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई तो विशाल तथा मध्यम योजनाओं से होगी। विशाल तथा मध्यम श्रेणी की सिंचाई योजनाओं से जिन १२० लाख लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होगी, उसमें से ९० लाख एकड़ की सिंचाई तो उन योजनाओं से होगी, जिन पर इस समय काम हो रहा है और ३० लाख एकड़ भूमि उन योजनाओं से सींची जायेगी, जिन्हें दूसरी पंच-वर्षीय योजना में नये सिरे से शुरू किया जायगा। इन नई योजनाओं से अन्ततः १½ करोड़ एकड़ भूमि तक की सिंचाई हो सकेगी। दूसरी पंच-वर्षीय योजना के प्रथम तीन वर्षों में इन योजनाओं से प्रति वर्ष २० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई अधिक हो सकेगी और अन्तिम २ वर्षों में ३० लाख एकड़ प्रति वर्ष की वृद्धि होगी।

दूसरी योजना में सम्मिलित की गई नई सिंचाई योजनाओं पर लगभग ३८० करोड़ रु० खर्च करना होगा, जिसमें से १७२ करोड़ रुपये दूसरी योजना में खर्च किया जायेगा और शेष तीसरी तथा बाद की योजनाओं में खर्च होगा। दूसरी योजनाओं में प्रमुख तथा मध्यम श्रेणी की सिंचाई योजना के लिए कुल ३८१ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है। ३२ करोड़ रुपये की अतिरिक्त व्यवस्था से वे योजनाएँ शुरू करने के लिए की गई है, जो सिन्धु नहर प्रणाली तथा अन्य योजनाओं से प्राप्त होने वाले भारत के भाग के पानी का प्रयोग करने के लिये शुरू की जायेगी।

दूसरी योजना के कार्यक्रम के अन्तर्गत सिंचाई की नई १९२ योजनाएँ सम्मिलित हैं। इनमें से १८ योजनाओं का खर्च १० तथा ३० करोड़ रुपये के बीच में होगा, ७ योजनाओं का ५ तथा १० करोड़ रुपये के बीच में और शेष योजनाओं पर ५ करोड़ रुपये से कम खर्च आयेगा। इस प्रकार दूसरी योजना में मध्यम वर्ग की सिंचाई योजनाओं पर विशेष रूप से बल दिया गया है।

नलकूप सम्बन्धी इन्जीनियरों में विज्ञान-कला की प्रगति के फलस्वरूप पृथ्वी के नीचे के पानी को काम में लाने की सम्भावनाओं में पर्याप्त वृद्धि हो गई है। सिचाई के लिए भूगर्भ स्थिति पानी प्रयोग करने की सम्भावनाओं का आकलन करने के लिए परीक्षण के तौर पर बहुत गहरे ३५० नलकूप खोदने का कार्यक्रम प्रथम योजना में चालू किया गया था। अभी तक २२ स्थानों पर पानी की यह खोज की गई है। दूसरी योजना में भी यह खोज जारी रहेगी। दूसरी योजना के लिए बनाये गये कार्यक्रम के अनुसार ३५८१ नलकूप बनाये जायेंगे। इन नलकूपों पर लगभग २० करोड़ रु० खर्च होगा। कृषि क्षेत्र के छोटी सिंचाई योजनाओं के अधीन इस धन की व्यवस्था की गई है और आशा है कि इससे ६,१६,००० एकड़ भूमि की सिंचाई होगी।

निष्कर्ष—

हमारे देश के सामने सिंचाई सम्बन्धी योजना का एक बड़ा कार्य है, अतः सफलता के लिए जन-सहयोग बड़ा आवश्यक है। नहरों की खुदाई का कार्य प्रत्येक गाँव के निवासियों को सहकारिता की नीति के अनुसार करना चाहिए न कि वह ठेकेदार को दिया जाय। ऐसा करने से मध्यजन का मुनाफा बच जायेगा और कार्य भी शीघ्र एवं अधिक फलदायक होगा।

---

[२७]

भारत में कृषि मजदूर

रूपरेखा—

१. *प्रारम्भिक*—कृषि मजदूर से आशय ग्रामीण क्षेत्रों में काम करने वाले उन व्यक्तियों से है, जो कि खेती के धन्धे में मजदूरी पर काम करते हैं। हमारी ग्रामीण जनता का एक बहुत बड़ा भाग कृषि मजदूरों का है, किन्तु उनकी सामाजिक और आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय है।

२. *कृषि मजदूरों की संख्या*—सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार गाँव में रहने वाली २९ करोड़ ५० लाख जनता में से २४ करोड़ ९० लाख व्यक्ति कृषि में लगे हुये हैं और इन व्यक्तियों का १८% भाग कृषि करने वाले श्रमिकों का है। कृषि श्रमिकों को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है—खेतों में काम करने वाले, कुँआ आदि खोदने वाले और कुशल श्रमिक। भारत में कृषि श्रमिकों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

३. *मजदूरी दरें एवं उसके चुकाने की विधियाँ*—हमारे कृषि श्रमिकों को मजदूरी केवल नगद रुपयों में ही नहीं वरन् अन्य सुविधाओं के रूप में भी दी जा सकती है। कुछ उदाहरण। न्यूनतम भृत्ति अधिनियम १९४८।

४. *कृषि श्रमिक की कुछ विशेषतायें*—मुख्य विशेषतायें ये हैं—(अ) श्रमिकों में मौसमी बेकारी, (आ) काम के घन्टों में अधिकता, (इ) मकानों की दयनीय दशा, (ई) कृषि श्रमिकों की दासता। केन्द्रीय श्रम सचिवालय द्वारा की गई जाँच सन् सन् १९५०-५१।

५. *कृषि मजदूरों की स्थिति को सुधारने के उपाय*—(अ) कृषि मजदूरों में संगठन की आवश्यकता, (आ) श्रमिकों में सहकारिता की आवश्यकता, (इ) भूमि रहित कृषि श्रमिकों को खेती के लिये भूमि देना, (ई) भूदान यज्ञ, (उ) कृषि मजदूरों की वर्तमान दासता को एक दम दूर किया जाय, (ऊ) मजदूरी में वृद्धि की जाय, (ए) बेकारी को दूर करने के लिये लघु एवं कुटीर धन्धों को प्रोत्साहन दिया जाय तथा कृषि व्यवसाय में भी उन्नति की जाय। (ऐ) भूमि प्रणाली का सहकारी ग्राम्य प्रबन्ध के आधार पर पुनर्संगठन किया जाय। (ओ) सामुदायिक योजना तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा।

६. *निष्कर्ष*—यदि उपरोक्त सुझावों पर कार्य किया जाय, तो आशा है कि हमारे कृषि श्रमिकों की आर्थिक दशा अवश्य सुधरेगी।

प्रारम्भिक—

'कृषि मजदूर' शब्द से हमारा तात्पर्य गाँवों मे काम करने वाले उन व्यक्तियो से है, जोकि खेती के धन्धे में मजदूरी पर काम करते हैं। हमारी ग्राम्य जनता का एक बड़ा भाग इन कृषि मजदूरों का है। जैसा कि श्री बवेसने महोदय ने एक बार कहा था—'गरीब किसान, गरीब राजा, गरीब देश'—यह कथन अन्य देशों के बारे में भले ही सत्य न हो, किन्तु हमारे भारत के बारे में, जहाँ लगभग ६७% लोग खेती मे लगे हुए हों, जो कि गरीब हों और जिनका देश भी गरीब हो, अवश्य ही सत्य है। जहाँ के किसान स्वय ही गरीब हों, वहाँ दूसरे के खेतों पर काम करके अपनी जीविका चलाने वाले भूमिरहित किसानों की क्या स्थिति हो सकती है, इसका अनुमान लगाना सरल नही। इन भूमि-रहित कृषि मजदूरों को दिन में दो बार भर-पेट भोजन नही मिल पाता और न पहिनने के लिये पूरा कपडा ही। सामाजिक सुविधायें क्या होती हैं, इनका उन्हें ज्ञान तक नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि इनकी आर्थिक स्थिति अत्यन्त ही गिरी हुई है। 'सामाजिक अर्थ व्यवस्था' के इस युग में इन मजदूरों के रहने के लिए घर, दवाइयों की मुफ्त सहायता, न्यूनतम मजदूरी इत्यादि का महत्त्व औद्योगिक क्षेत्रों में काम करने वाले मजदूरों से किसी भी तरह से कम नही होना चाहिए, किन्तु बड़े दु ख की बात है कि हमारे देश के स्वतन्त्र होने तक इनकी दशा को सुधारने का प्रयत्न न तो ब्रिटिश सरकार ने ही किया और न अन्य समाज सुधारकों, राजनैतिक कार्यकर्ताओं तथा खोज करने वाले व्यक्तियों ने ही इस ओर ध्यान दिया।

कृषि मजदूरों की संख्या—

सन् १६५१ की जनगणना के अनुसार गाँवो मे रहने वाली २१ करोड ८० लाख जनता में से २४ करोड ६० लाख व्यक्ति केवल खेती मे लगे हुए हैं। खेती मे लगे हुए इन व्यक्तियों का १८% भाग खेती करने वाले मजदूर एव उन पर निर्भर रहने वाले कुटुम्बियों का था। खेती करने वाले मजदूरों को 'किसानो के नौकर' कहा जा सकता है। देश में पाये जाने वाले कृषि मजदूरों का देश की कृषक जनता से अनुपात भिन्न भिन्न क्षेत्रों में एक सा नहीं है। सन् १६५१ की जनगणना के अनुसार त्रावनकोर-कोचीन में उनका अनुपात ३७%, भोपाल ३१% मद्रास २८%, मध्य-प्रदेश २५%, बिहार तथा हैदराबाद २५% और पश्चिम बगल म २१% है। बम्बई, उडीसा, पजाब, मध्य-भारत तथा पेप्सू मे इनका अनुपात १२% से लेकर १५% तक है।

कृषि मजदूरों को विस्तार रूप से दो भागों मे विभाजित किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी के मजदूरों में वे हैं जिन्हें किसानों के खेतों पर लगातार एक माह या इससे अधिक दिनों तक काम मिल जाता है। इसके विपरीत जिन मजदूरों को लगातार एक माह भी काम नही मिल पाता उन्हे हम द्वितीय श्रेणी के मजदूर कह सकते हैं। भारत सरकार द्वारा की गई जाँच से पता लगता है कि कृषि मजदूरों का ८६% भाग मजदूरों की गिनती में आता है। पजाब, बिहार तथा उत्तर-प्रदेश मे मजदूरों का अनुपात

अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक है, जहाँ वह क्रमशः २४%, २२% तथा २०% है, किन्तु पश्चिमी बंगाल में केवल ६% मजदूर ही पाये जाते हैं।

कृषि मजदूरों के भेद—

कृषि मजदूरों को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है:— (१) खेतों पर काम करने वाले, जैसे—हल चलाने वाले, सिंचाई करने वाले, निराई एवं खेत खोदने वाले, फसल काटने वाले इत्यादि। (२) साधारण मजदूर, जैसे—कुँआ खोदने वाले, खेत के आस-पास पत्थर या मिट्टी की बाड़ लगाने वाले, पत्थर खोदने एवं ढोने वाले इत्यादि। (३) निपुण मजदूर, जैसे—सुनार, राज, लुहार, इत्यादि। इनके अतिरिक्त कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं कि जिनके पास अपनी स्वयं की भूमि कम होती है और वे उस भूमि पर पूर्ण रूप से निर्भर नहीं रह सकते, अतः अपने जीवन निर्वाह के लिए दूसरे किसानों के खेतों पर कभी-कभी मिलने वाले छोटे-मोटे काम करने के लिये जाना पड़ता है। भूमि रहित मजदूर ऐसे भी होते हैं जो किसी दूसरे किसान की भूमि को अस्थाई रूप से किराये पर लेकर उस पर स्वयं खेती करते और फसल के कट जाने पर भूमि के स्वामी को फसल का निर्धारित भाग (आधा तिहाई या अन्य भाग) दे देते हैं। ऐसे व्यक्तियों को हम 'बटाईदार' कहते हैं। ऐसे दोनों प्रकार के व्यक्तियों की दशा उपरोक्त तीनों प्रकार के कृषि मजदूरों से विशेष अच्छी नहीं कही जा सकती। जन-संख्या में वृद्धि के साथ-साथ ऐसे भूमि रहित 'बटाईदारों' की संख्या में भी लगातार वृद्धि होने के कारण उनमें आपस में प्रतियोगिता होने लगी है, जिसका लाभ भूमिपति उठाते हैं। ये भूमिपति ऐसे ही व्यक्ति को अपनी भूमि देते हैं जो अधिक किराया और पैदा की जाने वाली फसल में से अधिकाधिक हिस्सा इन्हें देने को तैयार हों। इस प्रतियोगिता के कारण इन भूमि रहित व्यक्तियों की आमदनी अन्य कृषि मजदूरों की आमदनी से भी कम होती है। उपरोक्त बताये गये कृषि मजदूरों में न केवल पुरुष ही सम्मिलित हैं, किन्तु स्त्रियाँ एवं बच्चे भी बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। विशेषकर छोटे वर्गों की स्त्रियाँ अधिक पाई जाती हैं। कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो स्त्रियाँ एवं बच्चे अधिक तेजी से कर सकते हैं, अतः उन्हें मजदूरी भी अच्छी दी जाती है। साधारणतः सबसे अधिक मजदूरी पुरुषों को, उससे कम स्त्रियों को और सबसे कम बच्चों को दी जाने की प्रथा सी पड़ गई है।

कृषि मजदूरों की संख्या में वृद्धि—

पिछले वर्षों में यह देखा गया है कि कृषि मजदूरों की संख्या में प्रति वर्ष बड़ी ही तेजी से वृद्धि होती आ रही है, जो हमारे देश की एक महान बेकारी की समस्या को और भी जटिल बनाने में सहायक हो रही है। देश के उन क्षेत्रों में, जहाँ जन-संख्या की वृद्धि इतनी अधिक हुई है कि जिसका भार भूमि सहन नहीं कर सकती और जहाँ जीवन निर्वाह के अन्य रास्तों में पर्याप्त विकास नहीं हुआ है, कृषि मजदूरों की संख्या भी विशेष पाई जाती है। श्री आर० के० मुकर्जी के अनुसार सन् १९११ और १९२१ के बीच इनकी संख्या में १२.१ प्रतिशत वृद्धि हुई। सन् १९११ और

सन् १९३० के बीच लगभग ११६ लाख, अर्थात् ५३ ७% वृद्धि हुई। यह पाया गया है कि इस देश मे ब्रिटिश राज्य के ठीक तरह से जमने और भिन्न भिन्न भागों का एकत्रीकरण होने के बाद से ही संख्या में वृद्धि होने का अवसर मिला। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन (१९५४) के अनुमान के अनुसार हमारे देश मे काम करने वाली १६ करोड़ जनता में से कृषि मजदूरों की संख्या ६ ८ करोड से कम नहीं है। इस संख्या में वृद्धि के कारणों में जन संख्या में निरन्तर तीव्रता से वृद्धि और उसका भूमि पर भार बढ़ना, ग्राम उद्योगों का विनास तथा आधुनिक उद्योगों का आवश्यक एव ठीक रूप से विकसित न किया जाना, सामूहिक उप क्रम का दुरुपयोग, लगान पाने वाले भूमिपतियों की संख्या में वृद्धि, बड़े बड़े जमींदारों की लापरवाही एवं उनकी अदूरदर्शिता, उत्पादन की प्राचीन कला एव साधन, भूमि बेचने एवं रहन रखने की स्वतन्त्रता, भूमि-कर नीति, भूमि का उपविभाजन एवं खेतों का बिखरे होना तथा भूमि रहित कृषि मजदूरों की कमजोर आर्थिक स्थिति इत्यादि मुख्य हैं।

मजदूरी की दरें एव उसके चुकाने की विधियँ—

कृषि मजदूरों को मजदूरी न केवल रोकड में बल्कि अनाज, कपड़ा तथा अन्य सुविधाओं के रूप में भी चुकाने की प्रथा हमारे देश मे प्रचलित है। इन प्रथाओं के प्रत्येक स्थान में भिन्न भिन्न होने के कारण मजदूरी को नगदी रुपयों में आँकना अत्यन्त ही कठिन है। इन्हें दी जाने वाली अन्य सुविधाओं में खाने के लिये दिन मे एक या दो बार नास्ता या रोटी, पहिनने के लिये कपड़े, पीने या खाने के लिए तम्बाकू रहने के लिए झोंपड़ी तथा सामाजिक कार्यों के समय पेशगी रुपए देना भी शामिल हैं। कहीं कहीं फसल के पक कर घर आने पर एक निर्धारित हिस्स और दूसरे लाभ (जो जन्म, विवाह, मृत्यु इत्यादि अवसरों पर मिलते हैं) प्रत्येक क्षेत्र मे वहाँ की परिपाटी के अनुसार निर्धारित किए जाकर दिये जाते हैं। पुरुषों, स्त्रियों तथा बच्चों को अलग अलग मजदूरी मिलती है। पंजाब के जालन्धर जिले में प्रत्येक पुरुष को २ रु० २ आने प्रति दिन मिलता था। डा० एम० एन० देसाई ने लिखा है कि गुजरात मे बिना सिचाई किए जाने वाले खेतों पर काम करने वाले प्रति मजदूरों को २६) वार्षिक तथा सिंचाई किए जाने वाले खेतों पर काम करने वाले मजदूर को प्रति वर्ष ३१) दिया जाता था। अखिल भारतीय जाँच से पता लगता है कि आजकल पंजाब के स्थायी मजदूरों को ५५०) प्रति वर्ष या ४६) प्रति माह मजदूरी दी जाती है जो देश में सबसे अधिक ऊँची दर है। पश्चिमी बंगाल में केवल २२) प्रति माह प्रति व्यक्ति मजदूरी दी जाती है। कृषि मजदूरों को इतनी कम मजदूरी मिलने के मुख्य कारण निम्न हैं —(१) बच्चों को मजदूरी न करने सम्बन्धी कानून का अभाव। (२) जमींदार, जागीरदार, मालगुजार इत्यादि भूमिपतियों द्वारा ऋण का देना और उनको जीवन भर दबाये रखना। कम मजदूरी का कारण कृषि मजदूरों का ऋण में दबे रहना। (३) कृषि मजदूरों में संगठन का अभाव और उनका अलग अलग गाँवों में बिखरा होना। (४) उनको केवल खेती मौसम में ही मजदूरी मिलना। (५) छोटे वर्गों मे

जन्म होने के कारण सामाजिक दबाव । (६) कृषि मजदूरों में अशिक्षा एवं अज्ञान तथा उनकी मजदूरी की दरों में वृद्धि करने और उनके काम करने की स्थितियों को सुधारने के लिए श्रमिक संघों की कमी ।

देश के भिन्न भिन्न क्षेत्रों में भी मजदूरी की दर एवं विधियों में काफी असमानता पाई जाती है । अनाज या मजदूरी विशेषकर या प्रति दिन या प्रति माह के हिसाब से दी जाती है । जहाँ केवल अनाज ही देना होता है, वहाँ फसल के दिनों का भी ध्यान रक्खा जाता है । ऐसी मजदूरी वर्ष में केवल दो या तीन बार, जब फसल तैयार हो, देने की प्रथा है । अनाज की मात्रा निश्चित करते समय कृषि मजदूर के कुटुम्बियों की संख्या एवं उनकी अनाज की आवश्यकता का भी ध्यान रक्खा जाता है । मजदूरी की दरें काम के विभिन्न प्रकारों, जैसे—खेतों में हल लगाना, सिंचाई करना, फसल काटना, ढोर चराना इत्यादि के अनुसार अलग अलग रहती हैं । कहीं-कहीं दैनिक मजदूरी के साथ ही साथ सुबह का कलेवा तथा दोनों समय का भोजन देने की प्रथा चली आ रही है । राजस्थान के मेवाड़ क्षेत्र में लुहारी, सुनारी तथा चिनाई का काम करने वालों को रोटी के साथ साथ खाने के लिये पाव या आधा पाव घी अथवा तेल भी दिया जाता है । छोटे-छोटे कामों के लिए मजदूरी बहुत कम दी जाती है । अस्थायी मजदूरों को मजदूरी विशेषकर रोकड़ में ही दी जाती है, किन्तु जब ये लोग किसानों से [illegible] रुपया उधार ले लेते हैं तो उसकी अदायगी मजदूरी के रूप में भी पूरी की जाती है ।

बंगाल में फसल काटने वाले मजदूरों को १० बण्डल काटने पर एक बण्डल के हिसाब से मजदूरी चुकाई जाने की प्रथा है । ऐसे मजदूर जो वार्षिक अनुबन्ध पर होते हैं, वे प्रति वर्ष ८-१० मन चावल, दो जोड़ी कपड़े तथा अन्य आवश्यक छोटी-मोटी चीजें पाते हैं । विरभाम नामक जिले में ८) से २४) तक वार्षिक तथा ६ या ८ मन धान मिलता है । कई गाँवों में धान या चावल के अतिरिक्त तम्बाकू, जलपान, नहाने के समय उपयोग के लिये तेल तथा एक समय का भोजन देने की प्रथा चली आती है । जब से फसलों के भाव अधिक ऊँचे होने लगे, तब से मजदूरी रोकड़ में देने की प्रवृत्ति पाई जाती है । राजस्थान में छोटे-छोटे बालकों को ४ आना प्रतिदिन फसल काटने वालों को ६ आना और कुँआ खोदने वालों को १२ आना प्रति दिन दिया जाता है । १० से १५ वर्ष तक के बालकों को जो खेती में स्थायी रूप से मजदूरी करते हैं, लगभग ५) मासिक तथा दोनों समय का भोजन एवं शरीर ढकने योग्य कपड़ा दिया जाता है । भूमि पर भार अधिक बढ़ने के कारण बँटाईदारी प्रथा का भी अधिक प्रचलन है । बँटाईदार भूमिपति के खेतों को खाद देता है, बीज डालता है, सिंचाई करता है और सारे कार्यों को स्वयं ही करता है तथा प्राप्त हुई फसल का १/३ भाग भूमिपति को देता है । यदि भूमिपति ही खाद दे तो (प्रायः ३ वर्ष में एक बार) उसे फसल का १/२ भाग मिलता है । गन्ना एवं कपास जैसी व्यापारिक फसलों में भूमिपति को अन्य फसलों की अपेक्षा कम हिस्सा मिलता है ।

कुछ वर्षों पहले चाय के खेतों पर काम करने वाले मजदूरों को मिलने वाली वास्तविक मजदूरी अन्य कृषि मजदूरों से भी कम थी। आसाम के चाय के खेतों पर काम करने वाले मजदूरों की स्थिति सम्बन्धी जानकारी देने के लिये नियुक्त की गई समिति ने बताया है कि इस प्रान्त के मजदूर परिवारों की आय में सन् १६१४ से १६२२ के बीच केवल १६ २ प्रतिशत वृद्धि हुई, जबकि जीवन निर्वाह की आवश्यक वस्तुओं के मूल्य में ३६% वृद्धि हुई। यह परिस्थिति न केवल द्वितीय महायुद्ध के समय किन्तु इसके बाद भी रही, जोकि और भी गिर गई। केन्द्रीय श्रम सचिवालय ने मद्रास, मैसूर एवं बिहार के कृषि मजदूरों की स्थिति के सम्बन्ध में जो तीन रिपोर्टें प्रकाशित की हैं उनसे पता लगता है कि मज्दूर परिवारों की कुल आय से खर्च तो अधिक होता है। इनकी आय का अधिकांश भाग ऐसी भोजन सामग्री पर खर्च होता है जोकि गुण एवं परिमाण में भी घटिया होती है। फलत न केवल वे ऋणग्रस्त ही रहते हैं, किन्तु उनका स्वास्थ्य भी जैसा होना चाहिये वैसा नहीं होता।

न्यूनतम भृति अधिनियम सन् १६४८—

हमारे देश के कृषि मजदूरों को देश के विभिन्न क्षेत्रों और फसलों के अनुसार इतनी कम मजदूरी दी जाती है कि वह अपनी तथा अपने कुटुम्ब की अत्यन्त महत्वपूर्ण आवश्यकताओं को भी पूरी करने में असमर्थ रहता है। इसी दोष को दूर करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने सन् १६४८ में न्यूनतम पगार अधिनियम पास करके प्रत्येक राज्यीय सरकारों को आदेश दिया कि वे इस अधिनियम के पास होने के तीन वर्ष के अन्दर, अर्थात् सन् १६५१ के अन्त तक (बाद में यह अवधि दो वर्ष और बढ़ाकर ३१ दिसम्बर सन् १६५३ तक कर दी गई) अपने अपने राज्य में कृषि मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी निश्चित करदें। मजदूरी निश्चित करते समय स्थानीय रहन सहन की कीमत एवं सामान्य मजदूरों के सामान्य जीवन स्तर का पूरा पूरा विचार रक्खा जावे। इसी प्रकार किसान सुधार समिति ने भी देश के भिन्न भिन्न क्षेत्रों के लिये मजदूरी की दरें निश्चित करने के लिये पगार बोर्ड कायम करने का सुझाव दिया। इन बोर्डों में भूमिपति तथा मजदूर दोनों के ही प्रतिनिधि होने चाहिये, इस बात पर भी जोर दिया। यह उल्लेखनीय है कि न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने के पहले वर्तमान मजदूरी की दर से सम्बन्धित तथ्यों को एकत्र करना और फिर अधिनियम के लागू हो जाने पर उसके निरीक्षण एवं जाँच की भी पूरी आवश्यकता है। हमारे देश के कृषि मजदूर लाखों गाँवों में फैले हुए और पूर्णतया असंगठित हैं, अत जब तक राज्य की ओर से अधिनियम का पालन कराने के सम्बन्ध में कड़ी जाँच नहीं की जावेगी तब तक अधिनियम बनाने और लागू करने मात्र से ही विशेष लाभ होने की आशा नहीं है। इस कठिनाई को ध्यान में रखते हुये कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि इस अधिनियम को लागू करने के बदले कृषि को एक लाभकर व्यवसाय बनाया जाय और कृषि मजदूरों का संगठन किया जाय, ताकि वे अपने स्वामियों से सामूहिक सौदा कर सकें, जो न केवल उन्हें बल्कि भूमिपतियों तथा साधारण जनता के लिये भी

लाभदायक सिद्ध हो सके। चाहे जो हो हमारे देश में इस अधिनियम का प्रभाव अच्छा ही पड़ा है और देश के ६ राज्यों में, जिनमें पंजाब तथा उत्तर-प्रदेश भी सम्मिलित हैं, विभिन्न क्षेत्रों के भिन्न भिन्न कार्यों के अनुसार न्यूनतम मजदूरी निश्चित करदी गई है। उत्तर प्रदेश के १२ जिलों में ४० एकड से अधिक खेतों पर काम करने वालों के लिये न्यूनतम मजदूरी निर्धारित की जा चुकी है। अन्य राज्यों में भी यह कार्य प्रगति कर रहा है। योजना आयोग ने यह आवश्यक बताया है कि ऐसे क्षेत्र में जहाँ बहुत ही कम मजदूरी दी जाती हो तथा बड़े-बड़े खेतों और गहन विकास के लिये चुने गये क्षेत्रों में न्यूनतम मजदूरी अधिनियम को पूर्ण रूप से प्रयोग में लाया जावे, ताकि कृषि मजदूरों की स्थिति को सुधारा जा सके और इस प्रश्न को प्राथमिकता दी जावे। इस सम्बन्ध में एक सुझाव और दिया गया है कि इस अधिनियम की प्रगति कैसी हो रही है, इस बात की जाँच एवं जानकारी के लिये समय-समय पर अन्तर्प्रान्तीय सभायें की जायें, ताकि उनके सामने आने वाली सामान्य समस्याओं का हल निकाला जा सके और इन कठिनाइयों को दूर करने सम्बन्धी अनुभव का लाभ सारे ही राज्यों को मिल सके तथा अधिनियम पूर्ण रूप से सारे ही देश में जल्दी ही प्रयोग में लाया जा सके।

कृषि श्रमिक की कुछ विशेषतायें—

कृषि मजदूरों में मौसमी बेकारी—

कृषि मजदूरों की आर्थिक स्थिति कमजोर बनाने में उनको वर्ष भर लगातार काम न मिलना भी एक कारण है। केवल खेती के दिनों में, जब मजदूरों की माँग अधिक रहती है, अधिक लोगों को मजदूरी मिल जाती और वह भी लगातार नहीं, किन्तु बीच बीच में छोड़कर। यदि वर्ष भर के बेकारी के दिनों को जोड़ा जाय तो कदाचित् ६० से १८० दिन हो सकते हैं। इन बेकारी के दिनों में या तो उन्हें अपने घर फालतू बैठा रहना पड़ता है या आस-पास के गाँवों में किसी काम की तलाश में भटकना पड़ता है। कुछ लोग काम के लिये निकटवर्ती औद्योगिक नगरों में भी चले जाते हैं। जब गाँवों में काम की कमी हो और मजदूर अधिक होते हैं तो मजदूरी की दर में गिरावट आ जाना भी स्वाभाविक ही है। जिन मजदूरों को काम नहीं मिल पाता या पूरा काम नहीं मिलता, उन्हें अपनी आवश्यकताओं के पूरा करने के लिये साहूकारों से ऋण लेने के लिये बाध्य होना पड़ता है। यह उनकी आर्थिक परिस्थिति को और भी नीचे गिरा देने में सहायक होता है।

काम के घण्टे—

काम के घण्टे भिन्न भिन्न स्थान, ऋतु तथा फसलों के लिये एक से नहीं हैं। वैसे तो कृषि-मजदूरों को वर्ष भर काम नहीं मिलता, किन्तु जब वह खेतों पर काम करता है तो उसके प्रति दिन के काम का समय काफी लम्बा होता है। औद्योगिक मजदूरों की तरह इनके काम के घण्टे निश्चित नहीं किये गये हैं। साधारणतया मजदूर सूर्य उगने पर खेतों पर जाते हैं और केवल दोपहर के समय रोटी खाने और थोड़ा

आराम करने के १--२ घंटे को छोड़कर सन्ध्या होने तक काम करते रहते हैं। देश के सारे ही भागों में लगभग १ या २ घण्टे छुट्टी दे दी जाती है, किन्तु काम का समय मौसम के अनुसार ही बदलता रहता है। कभी-कभी तो कृषि मजदूर को, जबकि उन्हें रात को चौकीदारी करनी पड़ती है, पूरे २४ घण्टे ही काम पर रहना पड़ता है। कृषि मजदूरों के सम्बन्ध में यह एक विशेष बात है कि जिन दिनों खेतों में अधिक काम रहता है उन दिनों काम के घण्टे और भी अधिक बढ़ जाते हैं। इस सम्बन्ध में कृषि सुधार समिति का प्रस्ताव है कि काम के घण्टे मनुष्यों के लिये १२ और स्त्रियों के लिये १० से अधिक न हों। जब काम के घण्टे ८ से अधिक हों, तो मजदूरों को अतिरिक्त मजदूरी दी जानी चाहिये।

कृषि मजदूरों के मकानों की दशा—

क्योंकि कृषि मजदूरों की स्वयं की भूमि नहीं होती, अतः विरले ही ऐसे हैं, जिनके पास कुछ भूमि का टुकड़ा हो जिस पर वे अपना मकान बना सकें, अतः उन्हें या तो भूमिपतियों की या गाँव की संस्थाओं के स्वामित्व की भूमि पर उनकी स्वीकृति ले कर मकान या झोपड़ियाँ बना कर रहना पड़ता है। ये रहने की झोपड़ियाँ बहुत ही छोटी होती हैं। गोरखपुर के हरवा नामक गाँव में श्री माथुर ने देखा कि एक झोपड़ी जो ७ फीट × १२ फीट × ५ फीट की थी, पाँच व्यक्ति एक बकरे के साथ रहते थे। इसी प्रकार शेखपीर नामक गाँव के एक मकान मे, जो कि १४ × १४ × ७ फीट था, दो बैल, मछलियों के शिकार का सामान तथा भोरीया जाति के मजदूर कुटुम्ब के चार व्यक्ति अँधेरे कमरे में रहते थे। इनकी झोपड़ियों का क्षेत्र इतना कम होता है कि पुरुषों को वर्ष में छः माह खुले मे सोना पड़ता है। केवल वर्षा और ठण्ड के दिनों में जबकि खुले में सोना असम्भव हो जाता है, किसी तरह अपने मकान मे ठुसे रहना पड़ता है। डा० आर० के० मुकर्जी ने भी इनके रहने के स्थानों के सम्बन्ध में लिखा है कि ये झोपड़ियाँ केवल ऐसे स्थान में हैं जहाँ कि मजदूर केवल अपनी टाँगे लम्बी करके रात को सो सकता है और अनेक उदाहरण ऐसे हैं जहाँ एक ही झोपड़ी मे अनेक व्यक्तियों के सोने से आपस मे पर्दा न होने के कारण मर्यादा भी समाप्त हो जाती है। ठण्ड के मौसम में एक ही कमरे में स्त्री और पुरुष, युवक एवं वृद्धि और कभी कभी जानवर तथा बकरे साथ-साथ ठुँसे रहते हैं। इन मकानों में शुद्ध हवा तथा प्रकाश आने के लिए खिड़कियों का पता नहीं, दीवालें तथा आंगन शीत के कारण गीले, व्यक्ति बुखार से पीड़ित और बच्चों की तन्दुरुस्ती इतनी खराब रहती है कि मृत्यु का डर कम नहीं रहता है। घर के आस-पास गन्दगी के कारण मच्छरों इत्यादि का जोर भी कम नहीं रहता।

प्रथम योजना आयोग ने सुझाव दिया है कि जिन गाँवों मे कृषि मजदूर किसी दूसरे की भूमि पर अस्थायी अधिकार पाकर मकान बना कर रह रहे हैं तो वह उन्हें स्थायी अधिकार दे दिये जावें। यदि इन लोगों के मकान गाँव की सामान्य भूमि पर बने हुए हों तो ग्राम्य पंचायतों को चाहिए कि वे उन्हें भूमि मुफ्त मे ही सौंप दें। ऐसे स्थान, जो कि किसी भूमिपति के व्यक्तिगत अधिकार में हों, भूमिपतियों को मना कर

(राजी या खुश करके) या आवश्यकता पड़ने पर अधिनियम द्वारा ऐसे भूमि रहित कृषि मजदूरों को सौंप दिये जावें, जो उन स्थानों पर रह रहे हों। आवश्यकतानुसार भूमिपतियों को क्षति पूर्ति देकर या मुफ्त में जमीन लेकर। ग्राम्य पंचायतों को चाहिए कि वे कृषि मजदूरों को मुफ्त में उनके मकानों के लिए स्थान दे। यदि गाँव में भूमि की तङ्गी हो तो गाँव के बाहर स्थान दिया जाय और विशेषकर हरिजनों तथा पिछड़ी जातियों के रहने के लिए भी स्थानों का प्रबन्ध किया जावे।

कृषि मजदूरों में दासता—

हमारे देश के कई भागों में कृषि मजदूरों की स्थिति, उनकी अत्यधिक गरीबी के कारण दासों जैसी हो गई है। इन स्थानों के जमींदार, जागीरदार, मालगुजार, महाजन तथा सुसम्पन्न किसान इन मजदूरों को उनकी आवश्यकता के समय कुछ ऋण देकर उन्हें वंश परम्परा के लिये दास बना लेते हैं। यह प्रथा देश के उन स्थानों में अधिक पाई जाती है, जहाँ निम्न एवं दलित वर्ग के लोगों की अधिकता है। ऐसे क्षेत्रों में बम्बई, मद्रास, मालाबार, कोचीन, मध्य प्रदेश, बरार, मध्य भारत इत्यादि मुख्य हैं। डा० मुकर्जी ने उस श्रेणी के कृषि मजदूरों का वर्णन किया है, जिन्हें कभी नगद मजदूरी नहीं मिलती और जिनकी दशा दासों के समान है। बम्बई प्रान्त में दुबला (Dublas) तथा कुली (Kulis) कहलाने वाले ऐसे लोग हैं, जिनमें से अनेक परिवार कई पीढ़ियों से अपने स्वामियों के यहाँ दासों की तरह अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इन मजदूरों को विवाह के अवसर पर कुछ रुपया बिना ब्याज ऋण दे दिया जाता है और जब तक यह ऋण वापिस नहीं चुकाया जाता तब तक उन्हें साहूकारों के यहाँ दास की तरह सेवा करनी पड़ती है। खाने के लिए भोजन और पहिनने का कपड़ा मालिकों की ओर से ही मिलता है। मद्रास प्रान्त के दक्षिण पश्चिम भाग के इरुहावास (Izhavas), चिरमस (Chermus), पुलेया (Puleyas) तथा होलिया (Holiyas) इत्यादि की स्थिति दासों जैसी है।

केन्द्रीय श्रम सचिवालय द्वारा की गई जाँच सन् १९५०-५१—

केन्द्रीय श्रम सचिवालय के द्वारा कृषि मजदूरों के सम्बन्ध में की गई जाँच तीन भागों में प्रकाशित की गई है। उनके कुटुम्ब सम्बन्धी आर्थिक स्थिति तथा रोजगार इत्यादि के सम्बन्ध में जो जाँच की गई वह नमूने के आधार पर ही की गई है, क्योंकि सारे देश के कृषि मजदूरों की पूरी-पूरी जाँच करना बड़ा ही कठिन और एक लम्बा चौड़ा काम हो जाता है। नमूने की जाँच ८१२ गाँवों में रहने वाले केवल १,०३,२४८ कुटुम्बियों की है। इन गाँवों में ७९·८% परिवार खेती पर निर्भर रहते हैं और ३०·४% कृषि मजदूरों के परिवार हैं। कृषि मजदूरों के परिवारों का आधा भाग, अर्थात् १२·२% ऐसा है जिनके पास स्वयं की कुछ खेती योग्य भूमि है और बाकी के १५·२% परिवार भूमि रहित कृषि मजदूरों के परिवार हैं। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि हमारे देश के गाँवों में रहने वाले परिवारों की संख्या लगभग ५८० लाख है, जिनमें से १७६ लाख परिवार कृषि मजदूरों के हैं।

कृषि मजदूरों की स्थिति को सुधारने के उपाय—

(१) *कृषि मजदूरों में संगठन की आवश्यकता*—इन मजदूरों की आर्थिक स्थिति के कमजोर होने के कारणों में मुख्य उनकी स्वयं की कमजोरी है। ये लोग अलग अलग गाँवों में बिखरे रहते हैं, अतः आपस में संगठन नहीं हो पाता। फलतः अपनी स्थिति को सुधारने के लिये वे अपने स्वामियों से संगठित रूप में कोई सौदा नहीं कर सकते। किसान सुधार समिति ने सुझाव दिया है कि एक सुयोजनाबद्ध कृषि अधिनियम बनाया जाय और खेती के मजदूरों का देश-व्यापी संगठन किया जावे, जिसका उद्देश्य आबादी के इस विशाल भाग को जीवन निर्वाह की वर्तमान अपमाननीय श्रेणी से ऊपर उठाना हो। इन मजदूरों का अब अधिक शोषण विद्रोह पैदा कर के आपस में मारकाट कर सकता है, अतः सहकारिता के सिद्धान्तों के अनुसार संगठन किया जाय, जिसमें वे अपने ही लाभ के लिये सहकारिता की भावना से काम करना सीखें और धनवान किसानों तथा अन्य भूमिपतियों की टक्कर मजबूत संगठनों द्वारा की जाय।

साथ ही साथ हमें यह भी मानना होगा कि कृषि मजदूरों में संगठन उनकी विशाल संख्या, उनके बिखरे होने, उनकी अशिक्षा एवं अज्ञानता तथा उनमें से अधिकांश का दलित वर्ग में होने के कारण इतना सरल नहीं है। जिस प्रकार औद्योगिक मजदूरों को संगठित करने में राजनैतिक कार्यकर्ता लगे हुए हैं, उसी प्रकार गाँव-गाँव में जाकर इनके हितों का ध्यान कराते हुए इन कार्यकर्ताओं को चाहिये कि वे इनमें संगठन बनावें।

(२) *श्रमिक सहकारिता*—योजना आयोग ने सुझाव दिया है कि सिंचाई, सहकारिता, कृषि एवं वन विभाग तथा राज्य के अन्य सरकार एजेंसियों की सहायता से कृषि मजदूरों के लिये सहकारी समितियों का संगठन किया जाय। ऐसा करने से न केवल बेकारी की समस्या हल होगी बल्कि सामाजिक कल्याण सम्बन्धित योजनाएँ भी सफल होंगी।

(३) *भूमि रहित कृषि मजदूरों को खेती के लिये भूमि देना*—योजना आयोग का सुझाव है कि जहाँ भी सम्भव हो वहाँ पुनः सुधारी गई भूमि के खण्डों तथा खेती योग्य बेकार भूमि को भूमि-रहित तथा अनार्थिक भूमि खण्ड वाले कृषि मजदूरों के समुदायों को सहकारिता के आधार पर बसाने के लिये अलग रखे जावें। हो सकता है कि प्रत्येक राज्य में ऐसे भूमि खण्ड सारे ही कृषि मजदूरों के लिये अपर्याप्त हों, किन्तु इस योजना से उनमें विश्वास तथा साहस बढ़ेगा। इस योजना के बनाने के लिये एक बड़ी रकम खर्च करने की व्यवस्था भी योजना में की गई है। सहकारिता के सिद्धान्त पर बनाये गये कृषि मजदूरों के समुदायों को मकान बनाने, बैल तथा खेती के लिये अन्य आवश्यक सामग्री खरीदने तथा छोटे-बड़े सहायक धन्धों को चलाने के लिये (जो वे पसन्द करें और सरकार के अन्तर्गत शिक्षा प्राप्त करने के बाद प्रारम्भ करें) राज्य सरकारें आर्थिक सहायता दें।

(४) भूदान यज्ञ—भूमि रहित कृषि मजदूरों की भूमि सम्बन्धी समस्या को दूर करने के लिये गान्धी जी का रास्ता अपनाने वाले सन्त विनोबा भावे द्वारा प्रारम्भ किये गये भूदान यज्ञ से भी कुछ अंशों में इस समस्या को दूर किया जा सकता है। भूमिपतियों से प्रार्थना करके उनके अधिकार की आवश्यकता से अधिक भूमि को दान में लेकर भूमि रहित कृषि मजदूरों में वितरण करके सामाजिक बुराई को दूर करने का यह एक प्रयत्न है। इन मजदूरों को भूमि के साथ ही साथ खेती करने के अन्य साधन तथा आवश्यक सहायता भी दी जावे, ताकि वे खेती आरम्भ कर सकें। दान में न केवल भूमि ही, किन्तु धन (रुपया), बैल, कुएँ और खेती के लिये अन्य आवश्यक सामग्री भी दान में प्राप्त कर के कृषि मजदूरों को बाँटी जा रही है। यह आन्दोलन हैदराबाद के तेलंगाना जिले में सन् १९५१ से प्रारम्भ किया गया। सन् १९५७ तक ५ करोड़ एकड़ भूमि एकत्रित करने का लक्ष्य बनाया गया है, ताकि प्रत्येक भूमि रहित परिवार को ५ एकड़ भूमि मिल सके। जनता एवं कई राजनैतिक एवं सामाजिक संस्थाओं का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ और प्रत्येक राज्य में भूदान समितियाँ भूमि इकट्ठी करने का कार्य कर रही हैं। केन्द्रीय एवं राजकीय सरकारों ने भी इस आन्दोलन को मान्यता एवं सक्रिय सहयोग दिया है। कुछ प्रान्तों में तो भूदान अधिनियम बनाये भी गये हैं, जिससे भूमि प्राप्त करने एवं भूमि रहित कृषि मजदूरों में उसका वितरण करने में सुविधा हो। मध्य प्रदेश में भूमि के वितरण के लिये एक सरकारी बोर्ड नियुक्त किया गया है। न केवल भूमिपति व्यक्तियों ने ही, किन्तु राज्य सरकारों ने भी सुधारी गई भूमि तथा फालतू पड़ी भूमि का दान दिया है। मध्य भारत सरकार ने २ लाख एकड़ भूमि दान में दी है। बिहार के रामगढ़ के राजा ने अपनी ओर से १,०२,००१ एकड़ भूमि दान में दे दी। यह अनुमान है कि अभी तक लगभग ४० लाख एकड़ भूमि एकत्रित की जा चुकी है और उसका वितरण किया जा रहा है।

भूमि रहित कृषि मजदूरों को तो खेती के लिये भूमि प्राप्त होगी ही, किन्तु इसके साथ ही साथ इस यज्ञ का नैतिक मूल्य भी है। जबरदस्ती एवं हिंसा के स्थान पर यह आन्दोलन अहिंसात्मक एवं स्वेच्छा पर आधारित है। इसमें त्याग की भावना है और इसके द्वारा भारतीय समाज में समानता, सद्भावना एवं सहकारिता की अमूल्य भावना एवं वातावरण उत्पन्न होगा। इसके साथ ही साथ श्रमदान, बुद्धिदान, सम्पत्ति-दान तथा ग्रामदान इत्यादि और भी दान लिये जा रहे हैं। देश में भूमि सुधार के लिए भी इस यज्ञ द्वारा एक अच्छा वातावरण तैयार हो रहा है, किन्तु यह आन्दोलन भूमि रहित कृषि मजदूरों के सारे ही दोषों या कठिनाइयों को हल नहीं कर सकेगा, फिर भी काफी सहायता होगी इसमें कुछ शङ्का नहीं है।

इस आन्दोलन की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए ही योजना आयोग ने भी अपना सुझाव दिया है कि इस आन्दोलन को पूरी तरह से सहयोग दिया जावे, ताकि भूमि रहित कृषि मजदूरों की एक महत्वपूर्ण समस्या का कुछ हल हो सके।

(५) कृषि मजदूरों की वर्तमान दासता को एकदम दूर करना अत्यन्त आव

श्यक है। भारतीय संविधान में दासता एक दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया है। काश्तकारी कानून भी बन गये हैं, जिनमें उनके हितों की रक्षा करने की व्यवस्था की गई है। फलतः यह आशा की जाती है कि धीरे-धीरे लाग और बेकारी की प्रथा बिल्कुल ही समाप्त हो जायगी। इन लोगों की अज्ञानता को दूर करने के लिए इन्हें शिक्षित करना भी आवश्यक है। इन मजदूरों में प्रचलित सामाजिक नियम, उनका पिछड़ापन तथा उनकी आर्थिक परवशता को दूर करने से भी दासता की प्रथा समाप्त की जा सकती है।

(६) कृषि मजदूरों को वर्तमान समय में मिलने वाली बहुत ही कम मजदूरी की दरों को एक उचित सीमा तक बढ़ाना आवश्यक है। प्रत्येक राज्य में पास किये गये न्यूनतम पगार अधिनियम जोरों से लागू किए जावें और निरीक्षकों की सहायता से देखा जाय कि नियमों का बराबर पालन किया जाता है या नहीं।

(७) बेकारी को दूर करने के लिये :—

(अ) देश के उद्योग धन्धों का प्रादेशिक स्वावलम्बन के आधार पर विकास हो, ताकि खेती पर निर्भर रहने वाली बेकार जनता को काम मिल सके।

(आ) खेती के योग्य बंजर भूमि को राज्य के ट्रैक्टरों की सहायता से पुनः खेती के योग्य बनाकर भूमि रहित कृषि मजदूरों को सहकारिता के आधार पर बसाया जाय। प्रथम पंच-वर्षीय योजना में बसाने की ऐसी योजना पर २ करोड़ रुपये खर्च करने की व्यवस्था की गई थी।

(इ) कृषि से सम्बन्ध रखने वाले उद्योगों (दुग्धशालाओं, तेल निकालने के कारखानों इत्यादि) को गाँवों में खोला जाय।

(ई) कृषि मजदूरों को लगातार काम देने के लिये फसलों को अदल बदल करने तथा मिश्रित खेती की प्रणाली को अपनाया जाय ताकि वर्ष में एक से अधिक फसल खड़ी कर सकें।

(उ) कृषि मजदूरों को काम की जानकारी देने के लिये श्रम नियोजन संगठनों (रोज़गार दफ्तर) की स्थापना की जावे।

(ऊ) महिला श्रमिकों को घरेलू कार्यों के लिये सुरक्षित रक्खा जाय तथा उनके उपयुक्त हलका कार्य दिया जावे।

(ए) सिंचाई में विकास, गहरी खेती तथा खेती के तरीकों में सुधार करने से भी मजदूरों को काम मिलेगा। दूसरी ओर भूमिपतियों के खेतों में भी उत्पादन में वृद्धि होने से वे भी अधिक मजदूरी देने के योग्य हो सकेंगे।

(ऐ) राज्य का जन-कार्य विभाग तथा वन विभाग भी अपने कार्यों को ठीक प्रकार से योजना बनाकर कृषि मजदूरों को काम देकर उनकी बेकारी को कुछ अंशों में दूर कर सकता है। जंगल लगाना, सड़कें बनाना, नहरें तथा कुएँ खोदना इत्यादि कार्य ऐसे समय में प्रारम्भ किए जायँ, जबकि कृषि मजदूरों में मौसमी बेकारी फैली रहती है और उन्हें खेतों में काम नहीं मिलता।

(ओ) जैसा कि कई राज्यों में हो रहा है, इन लोगों को साधारण शिक्षा तथा व्यावसायिक एवं औद्योगिक शिक्षा के प्रदान करने के लिए विशेष व्यवस्था एवं सहायता दी जावे।

(८) भूमि-प्रणाली का सहकारी ग्राम्य प्रबन्ध के आधार पर पुनः संगठन किया जावे, जिससे गाँव के अन्य वर्गों के समान कृषि मजदूरों का स्तर भी बढ़े और उनमें अन्य योग्यताएँ भी आ जायें।

(९) *सामुदायिक विकास योजनाएँ तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा*—२ अक्टूबर सन् १९५२ से प्रारम्भ की गई ५५ सामुदायिक विकास योजनाएँ तथा २ अक्टूबर सन् १९५३ से प्रारम्भ की गई राष्ट्रीय विस्तार सेवा के कार्य से भी कृषि मजदूरों की स्थिति सुधारने में सहयोग प्राप्त होगा। प्रथम पंच-वर्षीय योजना में यह बतलाया गया है कि पिछले वर्षों में सरकार की ओर से कृषि-मजदूरों की सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिए कोई संस्थायें नहीं थीं, अतः उपरोक्त योजनायें, जो प्रत्येक जिले एवं गाँव में फैल जावेंगी और जो ग्रामीण जीवन के सब पहलुओं पर ध्यान देती हैं, इन कृषि-मजदूरों का कल्याण करने तथा उनको काम देने में किसी भी तरह पीछे नहीं रहेंगी। प्रथम पंच-वर्षीय योजना काल में देश के १,२०,००० गाँवों में (जिनमें लगभग ७ करोड़ जन संख्या है) लगभग १,२०० विकास खण्डों में कार्य प्रारम्भ हो गया है। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना के समाप्त होने तक यह योजना देश के सारे ही गाँवों में लागू हो जावेगी, जिसका लाभ सारी ग्रामीण जनता को, जिनमें कृषि मजदूर भी सम्मिलित हैं, अपनी सर्वांङ्गीण उन्नति करने में प्राप्त होगा।

निष्कर्ष—

यदि उपरोक्त सुझावों के अनुसार कार्य किया जाय तो निश्चय ही हमारे कृषि मजदूरों की दशा में अवश्य सुधार होगा। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना की अवधि के पूर्ण होने तक ऐसी आशा है कि हमारा कृषि श्रमिक काफी स्वस्थ, कुशल और विकसित

[२८]

भारत में सहकारी आन्दोलन

रूप रेखा—

१ *प्रारम्भिक*—सहकारिता एक ऐसी व्यवस्था है, जिसके अन्तर्गत निर्बल व्यक्ति अथवा वर्ग अपने हितों की रक्षा करने अथवा उन्नति करने के लिए मिल-जुलकर कार्य करते हैं। इसका आधार है—'एक सबके लिये और सब एक के लिये'।

२ *भारत में सहकारिता की आवश्यकता*—भारत एक कृषि प्रधान देश है, ग्रामीण जनता ऋण ग्रस्त है, खेतों की चकबन्दी की आवश्यकता है, हमारे कृषक के पास भूमि के बिखरे हुए और छोटे छोटे टुकड़े हैं, विक्रय सुविधाओं का अभाव है—इन समस्याओं का एक मात्र हल सहकारिता के अवलम्बन में ही है।

३ *भारत में सहकारी आन्दोलन का इतिहास*—आन्दोलन का श्री गणेश करने का श्रेय फ्रेडरिक निकलसन को है, जिसने ग्रामीणों की ऋण ग्रस्तता को दूर करने के लिए अनेक सुझाव दिये। सहकारी समिति अधिनियम सन् १९०४, १९१२ और सन् १९१९ के पश्चात् सहकारिता प्रान्तीय विषय बन गया। सन् १९३० के पूर्व काफी प्रगति हुई। विश्व व्यापी आर्थिक मन्दी ने आन्दोलन की प्रगति को धीमा कर दिया, किन्तु द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त पुन आन्दोलन तीव्रता से बढ़ने लगा। सन् १९४७ में जन प्रिय सरकार की स्थापना से आन्दोलन को विशेष प्रोत्साहन मिला।

४ *भारत में सहकारी आन्दोलन का आलोचनात्मक मूल्यांकन*—इससे कृषकों एवं कारीगरों की दशा में विशेष रूप से सुधार हुआ है। मिल मजदूरों, दलित जातियों तथा हर प्रकार के कर्मचारियों की दशा में काफी सुधार हुआ है।

५ *आन्दोलन के प्रमुख दोष*—कृषि सहकारिता अभी तक केवल ऋण देने तक ही सीमित है। आन्दोलन में राजकीय हस्तक्षेप अधिक है। ग्रामीण क्षेत्रों में आवश्यक योग्यता, अनुभव तथा चरित्र के व्यक्तियों का अभाव है। समिति के पास पूँजी की भी भारी कमी है।

६ *सहकारी आन्दोलन की नवीनीकरण*—समितियों के सगठन, वित्त तथा आन्तरिक प्रबन्ध मे सुधार होना चाहिए। सहकारिता के क्षेत्र का भी विस्तार हो।

इन राज्यों में सहकारिता के विस्तार का विशेष प्रयत्न होना चाहिए, जहाँ उसका विकास पीछे है। भूमि बन्धक बैंकों की स्थापना होनी चाहिये।

७ *पञ्च वर्षीय योजना में सहकारिता*—सहकारी विकास का कार्य मुख्यत. सामुदायिक विकास यजनाओं के अन्तर्गत रखा गया है। बहु-उद्देशीय सहकारी समितियाँ स्थापित की जा रही हैं।

८ *उपसहार*—सहकारिता आन्दोलन का भविष्य काफी उज्ज्वल है। सहकारी कृषि की ओर विशेषप्रयत्नों की आवश्यकता है। तभी कृषकों की आर्थिक दशा उन्नत हो सकती है।

प्रारम्भिक—

सेलिग्मैन के शब्दों में—"सहकारिता का पारिभाषिक अर्थ उत्पादन और वितरण में प्रतिस्पर्धा का परित्याग तथा सभी प्रकार के मध्यस्थों की जरूरत खतम कर देना है।" सर्व श्री एल० एस्प्राइन और सी० ओ० ब्रियेन के अनुसार सहकारिता आर्थिक संगठन का एक विशिष्ट रूप है, जिसमें लोग सुनिश्चित व्यावसायिक नियमों के अनुसार निश्चित व्यावसायिक उद्देश्यों के लिए मिलकर काम करते हैं। सहकारिता शब्द सबके साधनों से एक सामान्य आर्थिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये व्यक्तियों के सगठन का द्योतक है। संक्षेप मे सहकारिता का सिद्धान्त यह है कि कोई शक्तिहीन व्यक्ति दूसरों के योग नैतिक विकास तथा पारस्परिक सहयोग से ऐसे भौतिक लाभ एवं सुख प्राप्त कर ले, जो धनाढ्य या सशक्त लोगों को उपलब्ध हैं और अपने सहज गुणों का पूर्ण रूप विस्तार कर सकें। सहकारिता की योजना के अन्तर्गत निर्बल व्यक्ति अथवा वर्ग अपने हितों की रक्षा करने अथवा उन्नति करने के लिये मिल जुल कर कार्य करते हैं। इस प्रकार यह एक मिला जुला प्रयत्न है, जिसका उद्देश्य पारस्परिक सहायता द्वारा सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना अथवा सामूहिक कठिनाइयों को दूर करना होता है। इसका आधार यह होता है कि प्रत्येक सबके लिए हो और सब प्रत्येक के।

भारत में सहकारिता की आवश्यकता—

भारत में हम लोगों के लिये सहकारिता का एक विशेष संदेश है। हमारे देश की जन संख्या का अधिक भाग छोटे छोटे किसानों और कारीगरों का है। यहाँ औद्योगीकरण का अधिक बोलबाला होते हुये भी कृषि ही अधिकांश लोगों का जीवन आधार है। हमारे रहन सहन का दर्जा बहुत नीचा है। यह भी एक सर्वमान्य सत्य है कि देश में साख सुविधाओं का अभाव है। इस क्षेत्र में महाजन तथा साहूकार बुरी तरह बिचारे कृषकों एवं कारीगरों का शोषण करते है। कृषक की अज्ञानता, अशिक्षा एवं रूढ़िवादिता का पूरा पूरा लाभ उठाया जाता है। उसकी दयनीय दशा के कारण देश के आर्थिक विकास की गति भी अत्यधीमी है। सहकारी प्रयत्न द्वारा इस दिशा में काफी सुधार किया जा सकता है।

भारतीय कृषि की मुख्य समस्यायें निम्न हैं —भूमि का अनाधिक टुकड़ों में विभाजन एवं बिखरा होना, चकबन्दी का अभाव, साख सुविधाओं की कमी, पारस्परिक प्रतिद्वन्द मुकद्दमेबाजी, विक्रय सुविधाओं का अभाव इत्यादि। इन समस्याओं को हल करने के लिये सहकारिता का सिद्धान्त रामबाण का कार्य कर सकता है। इसी प्रकार कृषक को साहूकार के पंजे से छुड़ाने तथा ग्रामीण ऋण के भार को कम करने के लिये सहकारिता का विशेष महत्व है। सहकारी साख समिति कृषक की अनुत्पादक कार्यों के लिये ऋण लेने की प्रवृत्ति को कम कर देती है तथा उस लिये उचित ब्याज की दरों पर ऋण का प्रबन्ध करती है। साथ ही सहकारी विक्रय संगठन द्वारा कृषक अनेक मध्यस्थों, जैसे—महाजन, आढ़तिया आदि के फन्दे से मुक्त हो जाता है और इस प्रकार अनेक प्रकार की कटौतियों एवं धोखेबाजियों से बच जाता है। इसी प्रकार उपभोक्ता सहकारी भण्डारों की स्थापना से ग्रामीण वर्ग की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात तो यह है कि सहकारी समितियों की स्थापना से शिक्षा, ज्ञान, उन्नति और सम्पन्नता के एक नये युग का प्रारम्भ होगा, जिसमें सहकारी आधार पर ग्रामीण तथा कुटीर धन्धों को प्रारम्भ करके ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी को समाप्त कर दिया जायगा।

देश के बड़े बड़े नगरों में भी सहकारिता सिद्धान्तों का पालन करके लाभ उठाया जा सकता है। उदाहरणार्थ, समुचित गृहों की व्यवस्था अथवा मजदूरों तथा ... के लिये समुचित दरों पर बढ़िया किस्म की आवश्यक घरेलू वस्तुओं की उपलब्धि। कुटीर एवं लघु उद्योगों की प्रगति के लिये भी सहकारिता नितान्त आवश्यक है। बहुउद्देशीय सहकारी संस्थायें कुटीर कारीगरों के लिए एक ऐसे गुरु का कार्य कर सकती हैं, जहाँ उनकी समस्त कठिनाइयाँ हल हो सकती हैं। सहकारिता के विकास से रोजगार के अनेक साधन उत्पन्न होंगे, जिससे देश की बेरोजगारी की समस्या काफी सीमा तक हल हो सकती है। ...रे कारखानों में काम करने वाले श्रमजीवी भी ग्रामीण जनता की भांति ही ... ऋण ग्रस्त होते हैं, उनके लिये सहकारिता हितकारी सिद्ध होगी। इसके द्वारा वे केवल कम ब्याज पर ऋण ही प्राप्त न कर लेंगे, वरन् उनके बीच पारस्परिक स...ग की भावना तथा एक दूसरे के प्रति सद्भावना उत्पन्न हो जायेगी। वास्तविकता यह है कि भारत में सहकारी समितियों का भारी विकास करके सम्पूर्ण आर्थिक ... को ही नया रूप दिया जा सकता है।

भारत में सहकारी आन्दोलन का विकास

सर्व प्रथम फ्रेडरिक निकल्सन नामक मद्रासी नागरिक द्वारा ग्रामीणों की ऋण ग्रस्तता को दूर करने तथा उन्हें कम ... पर ऋण देने के लिए सहकारिता का विचार प्रस्तुत किया गया। सन् १८... प्रकाशित अपनी रिपोर्ट में श्री निकल्सन ने सहकारी साख समितियों के प्रवर्तन ...रदार सिफारिश की। उन्होंने कहा कि भारत जैसे देश में किसानों को सदैव उन... आवश्यकतानुसार आर्थिक सहायता देने का एक मात्र संतोषजनक साधन सहकारी समितियाँ ही हो सकती हैं। इस रिपोर्ट

पर कोई कार्यवाही नहीं की गई। सहकारी ऋण समितियों को स्थापित करने के लिए उत्तर प्रदेश में मि० डूपर ने तथा पंजाब और बंगाल में जिला अधिकारियों द्वारा जहाँ तहाँ असंगठित और व्यक्तिगत प्रयत्न किये गये। सन् १९०१ में लार्ड कर्जन ने सर एडवर्ड लॉ की प्रधानता में एक शक्तिशाली समिति की स्थापना की जिसकी सिफारिशों के परिणाम स्वरूप सन् १९०४ का सहकारी ऋण समिति अधिनियम बनाया गया। इस अधिनियम में केवल ऋण समितियों की स्थापना के लिए ही व्यवस्था की गई थी। शहरी ऋण समितियों की अपेक्षा ग्रामीण ऋण समितियों पर विशेष बल दिया गया, क्योंकि वे अपेक्षतः अधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण थीं। प्रत्येक प्रान्त में एक सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार नियुक्त किया गया एवं निरीक्षण तथा अंकेक्षण की भी व्यवस्था की गई। सहकारिता आन्दोलन को प्रोत्साहन देने के लिए कुछ छूटें भी दी गई, जैसे—आय-कर से छूट, मुद्रांक कर से छूट आदि, किन्तु कुछ दिशाओं में यह अधिनियम दोषपूर्ण था :—प्रथम, गैर साखसमितियों की स्थापना के लिए इसमें कोई व्यवस्था न थी। दूसरे, इसका उद्देश्य केवल प्रारम्भिक समितियों की स्थापना करने का था। इसमें निरीक्षण तथा नियन्त्रण के लिए केन्द्रीय समितियों के विकास और संगठन की व्यवस्था नहीं की गई थी। ग्रामीण तथा शहरी समितियों का भेद भी कृत्रिम था, अतएव इन दोषों को दूर करने के लिए सन् १९१२ में नया अधिनियम बनाया गया।

सन् १९१२ के अधिनियम में सभी प्रकार की सहकारी समितियों को स्वीकृति प्रदान की गई। प्राथमिक सहकारी समितियों से विभिन्न तीन प्रकार की केन्द्रीय समितियों को भी स्वीकृति मिली—(१) पारस्परिक नियन्त्रण और लेखा परीक्षण के लिए प्राथमिक समितियों के संघ, (२) केन्द्रीय बैंक और (३) प्रान्तीय बैंक। नये अधिनियम द्वारा ग्रामीण एवं शहरी समितियों के भेद को सीमित और असीमित दायित्व वाली समितियों का रूप देकर अधिक वैज्ञानिक आधार प्रदान किया गया।

सन् १९१४-१८ के प्रथम विश्व युद्ध के बाद आर्थिक मन्दी आने तक आन्दोलन का विस्तार तेजी से हुआ। उत्पन्न की हुई वस्तुओं के विक्रय, पशु बीमा, दूध वितरण, सूत, सिल्क और खाद का क्रय तथा कृषि-यन्त्रों और सामान्य आवश्यक वस्तुओं का फुटकर विक्रय करने वाली नये प्रकार की सहकारी संस्थायें खोली गईं। केन्द्रीय समितियों की संख्या भी तेजी से बढ़ने लगी आन्दोलन में जनता का विश्वास भी दृढ़ होता गया। सन् १९१९ के वैधानिक सुधारों के उपरान्त सहकारिता एक प्रान्तीय विषय बन गया और विभिन्न प्रान्तीय सरकारें इसके सम्बन्ध में अपने-अपने नियम बनाने आरम्भ कर दिये। सन् १९२० और के बीच में समितियों की संख्या २,८०० से बढ़कर ९४,००० हो गई और कार्य पूँजी की मात्रा भी १९ करोड़ से बढ़कर ७४ करोड़ हो गई। यद्यपि सन् २१ पश्चात् में समितियों की संख्या में काफी वृद्धि हुई, किन्तु बाद में, विशेषतः चौथी दशाब्दी के सहकारी आर्थिक संकट के बाद समितियों के विस्तार के बजाय तत्कालीन संस्थाओं की स्थिति सुधारने तथा उनके

पुनर्संगठन की दशा में अधिक प्रयत्न किये गये। सहकारिता के हाल के इतिहास को रिजर्व बैंक की कृषि साख विभाग की स्थापना, अनेक प्रान्तों के ग्राम सुधार आन्दोलन और सन् १९३७ में भारत के आठ राज्यों में कांग्रेस मन्त्रिमन्डलों के बनने आदि महत्वपूर्ण घटनाओं ने काफी प्रभावित किया है।

द्वितीय महायुद्ध के काल में कृषि वस्तुओं के मूल्य स्तर में वृद्धि से सहकारी समितियों की आर्थिक स्थिति में काफी सुधार हुआ। इनकी सख्या, पूँजी तथा उनके कार्य क्षेत्र में तेजी से वृद्धि हुई। सदस्यों ने ऋणों का चुकाना आरम्भ किया, निक्षेप बढ़े और नये ऋणों की माँग कम हो गई। युद्ध-काल में एवं उसके बाद उपभोक्ता सहकारी भण्डारों तथा सहकारी विक्रय समितियों में विशेष रूप से वृद्धि हुई।

सन् १९४७ में भारत-विभाजन के बाद सहकारिता आन्दोलन को अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं ने प्रभावित किया। लाखों व्यक्तियों के पुनर्वास की समस्या का भार सहकारिता आन्दोलन पर पड़ा। युद्ध के अनन्तर सभी देशों में सेना से निकाले गये व्यक्तियों की पुनर्स्थापना का प्रश्न भी सामने था। इस कार्य के लिये भारत के विभिन्न राज्यों में सहकारी समितियों का सगठन किया गया। इन समितियों ने साधारणतः सहकारी उद्योग शालाओं का रूप लिया। अन्य प्रकार की समितियों का भी सगठन हुआ, जिनमें उपनिवेशन समितियाँ मुख्य थीं। खाद्य उत्पत्ति बढ़ाने में भी सहकारिता ने काफी हाथ बटाया। अनेक राज्यों मे बहु उद्देशीय सहकारी समितियों का विकास हुआ। सरैया समिति ने सिफारिश की थी कि १० वर्ष के अन्दर ५०% गाँव और ३०% जन सख्या बहुउद्देशीय समितियों के अन्तर्गत आ जानी चाहिये। सन् १९४८-५० में मद्रास और बम्बई ने क्रमशः ६१% तथा ४३% गावों में बहुउद्देशीय सहकारी समितियाँ सगठित कीं। उत्तर प्रदेश में भी सन् १९४९-५० में २२,७८६ बहु उद्देशीय समितियाँ कार्य कर रही थीं। सन् १९४७-४८ में भारत में ११ प्रान्तीय बैंक थे, जिनकी कुल कार्यशील पूँजी १४ करोड़ रुपया थी। बैंकों की सख्या सन् १९५१ में १६ हो गई थी।

स्वतन्त्रता के पश्चात् सहकारिता आन्दोलन की प्रमुख विशेषता यह रही है कि केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों ने इसकी प्रगति में विशेष रुचि ली। समय समय पर सहकारी समितियों के रजिस्ट्रारों के सम्मेलन होते रहे हैं और कितने ही नये प्रोग्रामों और समन्वय योजनाओं का निर्माण हुआ है। जहाँ कहीं भी नवीन भूमि पर शरणार्थियों को बसाया गया है, सिद्धान्त के रूप में वहाँ सहकारी कृषि प्रणाली को ही अपनाया गया है। राजकीय सहायता द्वारा स्थापित कुटीर उद्योगों में भी ऐसा ही किया गया। कुछ राज्य सरकारों ने उपभोक्ता सहकारी भंडारों द्वारा नियन्त्रित वस्तुओं के वितरण की व्यवस्था आरम्भ की। विगत वर्षों में दो महत्त्वपूर्ण घटनायें हुई हैं—एक तो ग्राम पचायतों की स्थापना और दूसरे सामुदायिक विकास योजनायें। इन दोनों के द्वारा सहकारिता आन्दोलन को काफी प्रोत्साहन मिलने की आशा है। वर्तमान काल में

ग्रामीण क्षेत्रों में बहु उद्देशीय सहकारी योजनाओं की एवं नागरिक क्षेत्रों में उपभोक्ता सहकारी भंडारों की लोक प्रियता बढ़ती जा रही है।

भारत में सहकारी आन्दोलन का आलोचनात्मक मूल्यांकन—

भारत में सहकारी आन्दोलन ने उन समस्त आर्थिक और सामाजिक बुराइयों को, जिनसे भारत आज पीड़ित है, दूर करने में सफलता नहीं पाई। इसके विपरीत वह नितान्त निष्प्रोजन भी नहीं है। सर्व प्रथम, सहकारी संस्थाओं द्वारा सुलभ सस्ते ऋण के कारण किसान और कारीगर वर्ग ने लगभग १ करोड़ रुपये की बचत की है। सहकारिता ने महाजनों की प्रबल स्थिति को नष्ट कर दिया है और उन्हें ब्याज की दर कम करने के लिये विवश कर दिया है। भूमि बन्धक बैंकों की स्थापना से भी हमारे कृषकों की ऋण ग्रस्तता बहुत कुछ कम हो गई है। सामूहिक जीवन का प्राचीन रूप, जो कृषक का शोषण होने से बचाता था, के स्थान पर सहकारिता किसानों की घर से बाहर और भीतर रक्षा करने के लिये सामूहिक जीवन का नया रूप है। सहकारिता की उन्नति के साथ बैंक व्यवहार की आदत धीरे धीरे, परन्तु तत्परता से ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में बढ़ रही है। कृषि, जो भारत का प्रधान उद्योग है, सहकारिता से कई प्रकार लाभान्वित हुई है। ग्रामीण सफाई और ग्रामीण क्षेत्रों में उचित औषधि की सुविधा के सम्बन्ध में सहकारिता ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। मिल मजदूरों, दलित जातियों और हर प्रकार के कर्मचारियों की दशा, सहकारिता के प्रभाव से सुधर रही है। कुटीर उद्योगों, विशेषकर हाथ करघा उद्योगों को सहकारिता का सहयोग प्राप्त है। एम०एल० डार्लिङ्ग ने एक स्थान पर लिखा है कि मुकद्दमेबाजी, फिजूलखर्ची, शराब और जूएबाजी सबके सब दोष सहकारी समाज में कम हो रहे हैं और उनका स्थान उद्योग, आत्म विश्वास, स्पष्ट व्यवहार, मितव्ययिता और पारस्परिक सहयोग आदि ने ले लिया है। इसने नैतिकता के सामान्य स्तर को सुधारा है और ग्रामीण जनता में 'एक सबके लिये और सब एक के लिये' की भावना का विकास किया है।

आन्दोलन के प्रमुख दोष—

किन्तु हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि नैतिक, शैक्षणिक और पूर्णत आर्थिक आदि सभी लाभ बहुत छोटे पैमाने पर प्राप्त हुए हैं। उदाहरणार्थ, कृषि सहकारिता अभी केवल ऋण देने तक ही सीमित है और इस क्षेत्र में, जैसा कि सर एम० विश्वेश्वरैया ने व्यंग पूर्वक कहा है—"जो कुछ भी किया गया है वह सतह खरोंचने के समान है।" जहाँ सामान्य वर्षा होती है सहकारिता वहीं उन्नत हो पाई है। अनिश्चित वर्षा वाले क्षेत्रों में कालातीत ऋण और अदायगी की असफलता साधारण बातें हैं। केन्द्रीय बैंक व्यवहार जाँच समिति ने निर्देश किया है कि कुछ राज्यों में सहकारिता संगठन द्वारा दिया गया ऋण कृषकों के लिये बहुत महंगा है। पदाधिकारी और आन्दोलन के नेता बहुधा सदस्यों के दोषों और दुर्व्यवहारों के प्रति अनुचित शिष्टाचार और नैतिक शक्ति का अभाव दिखाते हैं। अनेक सदस्यों का यह विश्वास है कि सहकारिता आन्दोलन केवल राज्य द्वारा प्रबन्धित है और समिति से जो रुपया उधार लिया जाता है वह

सरकार का है। सहकारिता के उद्देश्यों द्वारा उचित ढङ्ग से न समझे जाने के कारण वे इसके प्रति उदासीन हो जाते हैं, जो आन्दोलन के लिये घातक है। आज भी आन्दोलन की बागडोर का सरकारी हाथों में होना बहुत बड़ा दोष है, क्योंकि सहकारिता का अर्थ अपनी सहायता अपने आप करना है। संक्षेप में, आन्दोलन के मुख्य दोष ये हैं:— (१) सहकारी आन्दोलन साधारणतः बड़े अंश तक साख समस्याओं तक ही सीमित रहा है। (२) साख के क्षेत्र मे भी कार्य बहुत ऊँची कोटि का नहीं है। (३) लेखे समुचित रूप मे नहीं रखे जाते हैं। निरीक्षण कर्मचारी अनुभवहीन तथा अयोग्य होते हैं। (४) विभिन्न प्रकार के दूषित व्यवहार, बेनामी व्यवसायों तथा सौंपे हुये धनों को हड़प लेने के रूप में प्रचलित हैं, जिनके कारण कालातीत शोधन तथा अशोध्य ऋण बरावर बढ़ रहे हैं। (५) ग्रामीण क्षेत्रों में आवश्यक योग्यता, अनुभव तथा चरित्र के व्यक्तियों की बहुत कमी है। (६) क्योंकि आन्दोलन का श्री गणेश सरकार की तरफ से हुआ है, इसलिये इसके प्रति जनता का समुचित उत्साह नहीं उत्पन्न हो सका है। (७) समितियों के पास पूँजी की अत्यधिक कमी है। (८) समितियों का सगठन बहुधा इतना शीघ्र हुआ है कि वह आरोग्य नहीं रह सका। (९) देश के विभिन्न राज्यों मे आन्दोलन के विकास में भारी अन्तर हैं, जिसका यह अर्थ है कि कुछ क्षेत्रों में विकास बहुत अधिक हुआ है और कुछ क्षेत्रों में बहुत ही कम।

सहकारी आन्दोलन का नवीनीकरण—

उपरोक्त दोषों को दूर करने के लिए विभिन्न दिशाओं में सुधार की आवश्यकता है: प्रथम, समितियों के संगठन, वित्त तथा आन्तरिक प्रबन्ध में सुधार होना चाहिये। विभिन्न समितियों के कार्यों के बीच समुचित समन्वय होना नितान्त आवश्यक है। दूसरे, सहकारिता के क्षेत्र का विस्तार होना चाहिये, जिससे कि विभिन्न प्रकार के कार्य उसमें सम्मिलित किये जा सकें। कृषि में सहकारिता के विस्तार के लिए काफी क्षेत्र है। प्रयत्न यह होना चाहिये कि अधिक से अधिक व्यक्ति सहकारी सेवाओं का लाभ उठा सकें। तीसरे, उन राज्यों मे सहकारिता के विस्तार का विशेष प्रयत्न होना चाहिये, जहाँ इसका विकास बहुत पीछे है। हाँ, यह ध्यान रहे कि सहकारिता कहीं भी लोगों पर बरबस न थोपी जाये। लोगों को स्वयं सहकारिता की आवश्यकता का अनुभव होना चाहिये। ग्रामीण जनता ऐसे प्रत्येक कार्य को शंका की दृष्टि से देखती है जो सरकार की ओर से आरम्भ किया जाता है। सरकार को उचित प्रचार द्वारा इस भावना के दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। चौथे, सहकारी विपणन का विकास नीचे से करना चाहिये। इस उद्देश्य के लिए प्रारम्भिक समितियों को उनके सदस्यों द्वारा एकत्रित कृषि उत्पत्ति के संयुक्त विपणन के लिये प्रोत्साहित करना चाहिए। उन्हें बड़ी केन्द्रीय विक्रय समितियों से सम्बन्धित करना चाहिए। पाँचवे, वर्तमान केन्द्रीय और राज्य बैंकों को पुनर्संगठित करना चाहिये। केन्द्रीय बैंकों को अपनी सदस्य समितियों के कार्य में अधिक रुचि लेनी चाहिये। सदस्यों के नैतिक और भौतिक स्तर को ऊँचा करने के लिये केन्द्रीय बैंकों को समितियों के कार्यों का पथ प्रदर्शन, पर्यवेक्षण,

सदस्यों को सहकारी सिद्धान्तों की शिक्षा देने मे सहयोग तथा सामान्यतः सहकारिता की कार्य-प्रणाली के सुधार में सहायता देनी चाहिए। सम्पूर्ण राज्य में आन्दोलन के पथ-प्रदर्शन और सचालन के कार्य में राज्य बैंकों को कहीं अधिक भाग लेना चाहिये। सहकारी बैंकों को उत्तम श्रेणी के व्यापारी बैंकों से घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये और व्यापार के पुनर्संगठन में उनसे राय लेनी चाहिये तथा बैंकिंग व्यवसाय के व्यक्तियों को भी परिषद् में स्थान देना चाहिये। उन्हें अपने अधिकारी वर्ग की समुचित ट्रेनिंग का भी प्रबन्ध करना चाहिये। अन्त में, सहकारी अधिकारियों को बैंकिंग के सिद्धान्त और व्यवहार, ग्रामीण अर्थशास्त्र तथा सहकारिता के नियमों की विशेष ट्रेनिंग का प्रबन्ध करना चाहिये। रजिस्ट्रार की ट्रेनिंग को विशेष महत्व देना चाहिए, क्योंकि वह सम्पूर्ण आन्दोलन का आधार है।

भूमि बन्धक बैंकों की आवश्यकता—

किसानों को ऋणों से स्थायी मुक्ति के लिये दीर्घकालीन ऋण आवश्यक हैं। सहकारी समितियाँ कृषकों का केवल अल्प और मध्य-कालीन आवश्यकताओं की ही पूर्ति करती है, अतः दीर्घकालीन ऋण प्रदान करने के लिए विशेष प्रकार की ऋण संस्था की आवश्यकता है, जिसे हम भूमि बन्धक बैंक कह सकते हैं। इन बैंकों का उद्देश्य केवल महाजनों को हराना ही नहीं है। वरन् राज्य-ऋणों की असन्तोषजनक पद्धति को भी दूर करना है। साथ ही इसका कार्य ब्याज की दर को कम करके उत्पादक सुधारों को किसानों के लिए सरल बनाना है।

पंच-वर्षीय योजना में सहकारिता—

योजना कमीशन का विचार है कि देश में पूँजी के निर्माण मे सहकारी समितियाँ महत्वपूर्ण काम करेंगी। साथ ही यह भी आशा प्रगट की गई है कि कृषि की वित्तीय आवश्यकता को पूरा करने में सहकारी आन्दोलन बहुत लाभदायक होगा। योजना कमीशन के अनुसार योजना काल में 'कृषि साख' शीर्षक पर प्रति वर्ष १३० करोड़ रुपया लगाया जायगा, जिसमे १०० करोड़ रुपया अल्पकालीन ऋणों पर, २५ करोड़ रुपया मध्यकालीन ऋणों पर तथा ५ करोड़ रुपया दीर्घकालीन ऋणों पर लगाया जायगा। सहकारी विकास का कार्य मुख्यतः सामुदायिक विकास योजनाओं के अन्तर्गत रखा गया है। प्रत्येक विकास क्षेत्र में बहु उद्देश्यी सहकारी समितियाँ स्थापित की जा रही हैं और इस प्रकार आन्दोलन में तेजी से वृद्धि हो रही है।

उपसंहार—

भारत में सहकारिता आन्दोलन का भविष्य काफी उज्ज्वल है। केन्द्र एवं राज्यों में जन-प्रिय सरकार की स्थापना से आन्दोलन को विशेष प्रोत्साहन मिला है। गांव पचायतों की स्थापना, शिक्षा के विकास तथा सभी को मतदान अधिकार मिल जाने से आन्दोलन की जड़ें दृढ़ हो गई हैं। आवश्यकता इस बात की है कि डेनमार्क की ही भाँति हम भी सहकारी कृषि की ओर ही प्रयत्न करें। यदि इस दिशा में हमें सफलता मिलती है तो निश्चय ही कृषकों की आर्थिक स्थिति में सुधार होगा।

पंचम : पुष्प

बीमा, बैंकिंग एवं विविध
(INSURANCE, BANKING & MISCELLANEOUS)

"पिछड़ा हुआ देश निरन्तर विशुद्ध राजनैतिक समस्याओं में उलझा रहता है तथा अन्य सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं पर अधिक ध्यान देते हैं, इसलिए पंच-वर्षीय योजनायें बनाने का काम, राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था और राष्ट्र के असंख्य कार्यों में अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण होता जाता है। एक पंच-वर्षीय योजना के प्रारम्भ होने और एक पंच-वर्षीय योजना के समाप्त होने की तिथियाँ राष्ट्र के इतिहास में महत्त्वपूर्ण होती हैं, क्योंकि उनसे प्रगट होता है कि हम क्या प्रमुख कदम उठा रहे हैं, हमने क्या लक्ष्य रखा था, उस तक हम पहुँच सके या नहीं? उसके बाद अगला कदम उठाने की सोची जाती है। इस प्रकार यह बराबर चलने वाला सिलसिला है।"

जीवन बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण

रूपरेखा—

१. *प्रारम्भिक*—२० जनवरी सन् १६५६ को जीवन बीमा आर्डिनेन्स द्वारा भारत में किया जाने वाला सम्पूर्ण जीवन बीमा व्यापार के प्रबन्ध एवं नियन्त्रण में आ गया।

२. *आर्डिनेन्स की मुख्य बातें*—यह आर्डिनेन्स केवल नियन्त्रण व्यापार को लागू होता है, जिसका आशय सम्पूर्ण जीवन बीमा व्यापार से है। कस्टोडियन की नियुक्त होने तक वर्तमान अधिकारी ही पूर्ववत् कार्य करते रहेंगे। इस सम्बन्ध में आर्डिनेन्स ने कुछ प्रतिबन्ध लगाये हैं, जिनका ये अधिकारी पालन करेंगे।

३. *राष्ट्रीयकरण के पक्ष में—आशावादी दृष्टिकोण*—देश की राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों ने सरकार को यह कदम उठाने के लिये विवश किया। निरीक्षण अधिकारी की रिपोर्ट से यह पता लगा कि कुछ बीमा कम्पनियों में गम्भीर अनियमिततायें की गई हैं। यह अनुभव किया गया कि कितना भी कानूनी नियन्त्रण बीमा संसार में प्राइवेट क्षेत्र के एक भाग की अवाञ्छीय क्रियाओं को रोकने में असमर्थ ही रहेगा, अत राष्ट्रीयकरण ही एकमात्र हल है। इसके अतिरिक्त द्वितीय पंच वर्षीय योजना की सफलता के लिये भी जनता की बचत को अधिक गतिशील बनाना आवश्यक था।

४ *राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में—निराशावादी दृष्टिकोण*—राष्ट्रीयकरण का निश्चय सहसा ही किया गया। इसके द्वारा एक राष्ट्रीय सेवा को राज्याधिकृत सेवा में परिणत कर लिया गया है और प्राइवेट क्षेत्र के सराहनीय प्रयत्नों को एकदम ही भुला दिया। सरकारी विभाग से कार्य में शीघ्रता, लचकता और व्यक्तिगत सम्पर्क रखने की आशा नहीं हो सकती। जनता की सेवा के दृष्टिकोण से बीमे के राष्ट्रीयकरण को न्यायसंगत नहीं ठहराया जा सकता।

५ *उज्ज्वल भविष्य*—यह परिवर्तन हमारे अधिक भले के लिए है और यह समाजवादी कल्याण राज्य के निर्माण में सहायता करेगा।

६. *उपसंहार*—राष्ट्रीयकरण के पश्चात् कर्मचारियों एवं एजेन्टों के हितों की रक्षा की जावेगी। स्वेच्छापूर्ण बीमा के साथ-साथ अनिवार्य बीमे का भी आयोजन होना चाहिए। द्वितीय योजना के प्रयत्नों से जीवन बीमा की क्षमता बहुत बढ़ जावेगी।

प्रारम्भिक—

२० जनवरी सन् १९५६ भारत के आर्थिक विकास का एक स्मरणीय दिवस है। इस दिन भारतीय कम्पनियों द्वारा भारत में और विदेशों में भी तथा विदेशी कम्पनियों द्वारा भारत में किया जाने वाला सम्पूर्ण जीवन बीमा-व्यापार सरकार के एक आर्डिनेन्स—"जीवन बीमा (आकस्मिक आयोजन) आर्डिनेन्स सन् १९५६" के परिणामस्वरूप भारत सरकार के प्रबन्ध और नियन्त्रण में आ गया।

आर्डिनेन्स के मुख्य आदेश—

आर्डिनेन्स की प्रस्तावना में उन कारणों पर प्रकाश डाला गया है, जिन्होंने सरकार को यह कदम उठाने के लिये प्रेरित किया। इसमें लिखा है :—क्योंकि यह जनता के हित में है कि जीवन व्यापार का राष्ट्रीयकरण किया जाय और जब तक ऐसा राष्ट्रीयकरण नहीं हो जाता तब तक पालिसी होल्डरों के हितों की रक्षा के लिये पर्याप्त उपाय करना आवश्यक है और क्योंकि पार्लियामेण्ट की बैठक नहीं हो रही है तथा प्रेसीडेन्ट इस बात से सतुष्ट हैं कि परिस्थितियाँ विद्यमान हैं, जिनको देखते हुए तात्कालिक कार्यवाही करना आवश्यक है, अतः संविधान के अन्तर्नियम १२३ वाक्य १ के द्वारा प्रदान किये गए अधिकार के अन्तर्गत निम्न आर्डिनेन्स प्रसारित करते हुये उन्हें प्रसन्नता है। यह आर्डिनेन्स "जीवन बीमा (आकस्मिक आयोजन) आर्डिनेन्स सन् १९५६ कहा जावेगा।"

संक्षेप में उक्त आर्डिनेन्स केवल 'नियन्त्रित व्यापार' में लागू होता है, जिसका अभिप्राय एक शुद्ध जीवन बीमा कार्यालय के अथवा एक मिश्रत कार्यालय के (चाहे वह भारतीय कार्यालय हो या विदेशी, जो कि भारत में कार्य करता है) सम्पूर्ण जीवन बीमा व्यापार से है और इसमें भारतीय बीमकों द्वारा विदेशों में किया जाने वाला ऐसा व्यापार भी शामिल है। समस्त बीमा कम्पनियों के नियन्त्रित व्यापार का प्रबन्ध एक नियत दिन (अर्थात् २० जनवरी सन् १९५६) से केन्द्रीय सरकार के हाथों में आ गया है और कस्टोडियन की नियुक्ति होने तक वे ही व्यक्ति, जोकि इस नियत दिन के तत्काल पहले ऐसे व्यापार का प्रबन्ध करते थे, केन्द्रीय सरकार के लिए एवं उसकी ओर से भी कार्य करते रहेंगे। आर्डिनेन्स की तृतीय धारा वाक्य (३) उन प्रतिबन्धों की प्रकृति पर प्रकाश डालते हुये, जिनके आधीन बीमकों को कार्य करना है, यह आदेश देती है :—

"कोई भी बीमक, केन्द्रीय सरकार द्वारा इस आशय के हेतु निर्देशित व्यक्ति की [जिसे अब से बाद में अधिकारी व्यक्ति (Authorised Person) कहा जायगा] पूर्व सहमति के बिना : (अ) जीवन बीमा पालिसी के सम्बन्ध में, नियत दिन के तत्काल पहले तक जिस सामान्य प्रथा का उसने पालन किया है उसके अतिरिक्त अन्य किसी रीति से ग्रहण या भुगतान नहीं दे सकेगा, (आ) नियन्त्रित व्यापार की सम्पत्तियों में से कर्मचारियों, बीमा एजेन्टों, विशेष अथवा प्रधान एजेन्टों के वेतन अथवा कमीशन के साधारण भुगतानों अथवा दिन प्रति दिन के साधारण भुगतानों के अतिरिक्त अन्य

किसी भी आशय के लिये व्यय नहीं कर सकेगा, (इ) ऐसी सम्पत्तियों की ट्रान्सफर या विक्रय नहीं कर सकेगा और न उन पर कोई चार्ज ही उदय कर सकता है, (ई) ऐसी सम्पत्तियों के किसी धन का विनियोग भी नहीं कर सकेगा, (उ) नियंत्रित व्यापार से पूर्णत या अंशत सम्बन्धित उद्देश्यों के लिये एजेन्सी सेवा के अनुबन्धों में प्रगटत या ध्वनित रूप से प्रविष्ट नहीं हो सकेगा अथवा नियत दिन पर विद्यमान ऐसे किसी अनुबन्ध की शर्तों मे परिवर्तन नहीं कर सकेगा, (ऊ) जीवन बीमे की नई पालिसी इश्यू करने के व्यवहारों में प्रविष्ट नहीं हो सकेगा अथवा इस आर्डिनेन्स के प्रारम्भ पर विद्यमान ऐसे किसी व्यवहार ठहराव की शर्तों में परिवर्तन भी नहीं कर सकेगा।

(४) "अधिकारी व्यक्ति की स्वीकृत या तो बीमक के व्यवहारों की कुछ श्रेणियों के लिये साधारण रूप से अथवा उसके किसी एक व्यवहार के लिये विशेष रूप से दी जा सकती है।'

"तृतीय धारा वाक्य ५ के अनुसार प्रत्येक बीमक के लिये यह आवश्यक है कि वह नियंत्रित व्यापार स सम्बन्धित सम्पत्तियों के अधिकार पत्रों व सब प्रतिभूतियों को किसी अनुसूचित बैंक या स्टेट बैंक में जमा करदे और ऐसी प्रतिभूति या अधिकार पत्रों को अधिकारी व्यक्ति (Authorised Person) की आज्ञा के बिना बैंक से न निकाले। वाक्य ६ का आदेश है कि बीमक को चाहिये कि नियंत्रित व्यापार से सम्बन्धित मिनट बुक, चालू चैक बुक और वह सब रजिस्टर एवं पुस्तकें, जिनमें नियंत्रित व्यापार के धन को विनियोग करने की (इसमें बचक, ऋण एवं पेशगी शामिल हैं) पूर्ण विवरण दिखाया गया हो, अधिकारी व्यक्ति के पास रखदे। यदि ऐसा कोई कागज पत्र किसी अन्य व्यापार से भी सम्बन्ध रखता है तो अधिकारी व्यक्ति इसे लौटाने के लिये बाध्य है। हाँ, वह इस पर पहचान का चिन्ह डाल सकता है या दूसरी नकल ले सकता है।"

"धारा ४ (१) के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि वह किसी बीमक के नियंत्रित व्यापार का प्रबन्ध सम्हालने के लिये कस्टोडियन नियुक्त कर सकती है। इस कस्टोडियन को बीमक हिसाब की समस्त पुस्तकें रजिस्टर एवं अन्य कागजात (जो कि नियंत्रित व्यापार से सबन्ध रखते हैं) सौंप देगा। धारा ३ की उपधारा ३, ५ और ६ मे उल्लेखित प्रतिबन्ध उन बीमकों को लागू नहीं होते जिनके लिये कस्टोडियन नियुक्त किया गया है। हाँ, केन्द्रीय सरकार कस्टोडियन को ऐसे आदेश जारी कर सकती है जो सम्बन्धित परिस्थितियों में वह आवश्यक समझे। कस्टोडियन उन सब अधिकारों का प्रयोग कर सकता है जिन्हें बीमा अधिनियम की धारा ५२ अ के अन्तर्गत नियुक्त बीमा कन्ट्रोलर या प्रशासक प्रयोग कर सकता है।'

धारा ६ एव ७ में उन नियमों का वर्णन है, जिनके आधार पर कम्पनियों को सरकारी नियन्त्रण की अवधि में हर्जाने का भुगतान किया जायगा। किसी बीमक के नियन्त्रण व्यापार का प्रबन्ध केन्द्रीय सरकार को मिलने के बदले हर्जाने की जो रकम चुकाई जावेगी, वह सरकारी नियन्त्रण के प्रत्येक माह के लिए एक ऐसी रकम होगी

जो १ जनवरी सन् १९२६ से पूर्व की तिथियों को नियन्त्रण व्यापार से सम्बन्धित पिछले दो एक्चूरियल वेल्यूएशन (Acturial Valuation) के सम्बन्ध में बीमा अधिनियम की चतुर्थ अनुसूची के दूसरे भाग के अनुसार तैयार किए गए सारांशों (Abstracts) में प्रगटित आधिक्य अशधारियों में वितरित किये गये भाग के वार्षिक औसत का बारहवें भाग के बराबर है।

यदि किसी बीमक के नियन्त्रित व्यापार के सम्बन्ध में ऐसा कोई आधिक्य अशधारियों को नहीं बाँटा गया है (या तो इसलिये कि उसमें अशधारी नहीं हैं अथवा किसी अन्य कारण से) तो हर्जाना सन् १९५० के वर्ष के दौरान में नियन्त्रण व्यापार से सम्बन्धित बीमक की प्रीमियम आय पर प्रत्येक २,०००) या उसके भाग के लिए १) प्रति माह की दर से चुकाया जावेगा।

"७ (१) धारा ६ के अन्तर्गत हर्जाने की जो रकम चुकानी है वह पहले तो ७ ५% के उस आधिक्य में से चुकाई जावेगी, जिसका उल्लेख बीमा अधिनियम की धारा ४९ (१) में किया गया है और यदि इस प्रकार पूरा हर्जाना नहीं चुकाया जा सकता, तो केन्द्रीय सरकार इसके देने का उचित प्रबन्ध करेगी।"

"(२) धारा ६ के अन्तर्गत चुकाया जाने वाला हर्जाना सम्बन्धित व्यक्तियों में केन्द्रीय सरकार द्वारा इस ढङ्ग से बाँटा जावेगा, जिसका निर्देश इस सम्बन्ध में बनाये गये नियम करें।"

यदि बीमक एक कम्पनी है तो केन्द्रीय सरकार सदस्यों की उस इच्छा का जो वे इस आशय के लिए बुलाई गई सामान्य सभा में प्रगट करें, उचित ध्यान रखेगी।

राष्ट्रीयकरण के पक्ष में आशावादी दृष्टिकोण—

यद्यपि राष्ट्रीयकरण के सिद्धान्तों के अनुसार बीमा व्यापार का राष्ट्रीयकरण नहीं होना चाहिए था, तथापि देश की राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों ने सरकार को यह कदम उठाने के लिये विवश कर दिया। सामान्यत राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर तीन दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है। किसी उद्योग का राष्ट्रीयकरण उपयुक्त तब समझा जाता है, जबकि वह एक सुरक्षा उद्योग हो अथवा उसके विकास के लिये पर्याप्त पूँजी आगे नहीं आ रही हो या उसे इस प्रकार प्रबन्धित किया जा रहा है कि जनता के हितों को ठेस पहुँचती है। बीमा किसी भी रूप में एक सुरक्षा उद्योग (Strategic Industry) नहीं है और इस क्षेत्र में पूँजी अथवा साहस का भी कोई अभाव नहीं। हाँ, दुर्भाग्य से भारतीय बीमे के सफल इतिहास पर गलत विकास के कुछ कलंक अवश्य लगे हुए हैं। कुछ समय पहले सरकार ने अपने एक अधिकारी को सभी बीमा कम्पनियों का अचानक निरीक्षण करने का आदेश दिया। इस अधिकारी की रिपोर्ट ने सरकार को बड़े आश्चर्य में डाल दिया, क्योंकि इससे यह प्रगट हुआ कि कुछ कम्पनियों में बड़ी गम्भीर अनियमिततायें की गई हैं। यह कहा गया कि भारत बीमा के प्रबन्धकों द्वारा कोषों के अनुचित प्रयोग के अलावा अन्य दो तीन कम्पनियों में भी ऐसी गम्भीर अनियमितायें पाई गई, जिनका मूल्य ३ करोड रुपया था। इन घटनाओं ने अधि-

कारियों को यह निर्णय करने के लिए प्रेरित किया कि कितना भी कानूनी नियन्त्रण बीमा संसार में प्राइवेट क्षेत्र के एक भाग की अवाञ्छनीय क्रियाओं को रोकने में असमर्थ ही रहेगा अतः केवल यही एक मात्र हल है कि इस क्षेत्र से सम्पूर्ण प्राइवेट उपक्रम को ही निकाल दिया जाय। जितना जल्दी यह हो जायगा उतना ही अच्छा होगा, नहीं तो जनता के धन को अधिक हानि पहुँचेगी।

इस बात का श्री टी० टी० कृष्णामाचारी ने भी २० जनवरी सन् १९५६ को मद्रास में दिये गये अपने एक सार्वजनिक भाषण में समर्थन किया था। दक्षिण भारत चैम्बर ऑफ कॉमर्स के नये भवन का उद्घाटन करते समय प्रतिष्ठित व्यापारियों के एक विशाल समुदाय को सम्बोधित करते हुये, उन्होंने यह प्रगट किया कि सरकार यह अनुभव करती है कि वह ऐसी कोई कानूनी बाड़ नहीं लगा सकती, जिसे कोषों का दुरुपयोग करने वाली कम्पनियाँ पार न कर सकें। आज सरकार समाज को जो महत्व-पूर्ण सुविधा देना चाहती है वह व्यक्ति के लिये उसके भविष्य की सुरक्षा है। इसके लिए सामाजिक कल्याण की योजना में बीमा महत्वपूर्ण क्षेत्र प्रदान करता है। अपना आशय अधिक स्पष्ट करने के लिये श्री कृष्णामाचारी ने कहा—"हमारे पास बीमा का नियन्त्रण करने के लिए कानूनी उपायों की कमी नहीं है, किन्तु हमने यह अन्तिमत अनुभव किया है कि कानूनी नियन्त्रण निष्प्रभाव हो गया है। आपको भी पता है कि हाल में कुछ बड़ी गम्भीर घटनाएँ ऐसी हुई हैं, जिनमें जनता के कोषों का दुरुपयोग किया गया। अन्त में हम इस निष्कर्ष पर दो कारणों से पहुँचे—एक, पालिसी होल्डरों के कोषों का दुरुपयोग और दूसरे, हम कोई ऐसी कानूनी बाड़ खड़ी नहीं कर सकते, जिसे पार न किया जा सकता हो।

जीवन बीमे का राष्ट्रीयकरण इसलिए आवश्यक हो गया था कि द्वितीय पंच-वर्षीय योजना की शीघ्र पूर्ति के लिए जनता की बचत को अधिक गतिशील बनाना है। आज लगभग ५० लाख पॉलिसीज़ चल रही हैं, जिन पर ५५ करोड़ रुपया वार्षिक प्रीमियम चुकाया जाता है। जीवन बीमा की सम्पत्तियाँ लगभग ३८० करोड़ रुपयों की हैं, जिनसे बीमा कम्पनियों को लगभग १२ करोड़ वार्षिक आय होती है। कुल चालू बीमा लगभग १,००० करोड़ रुपया है, जो प्रति व्यक्ति २२) से कुछ ही अधिक है। अभी हाल ही में प्राइवेट कम्पनियों की ओर से यह दावा किया गया था कि चलू व्यापार को ८,००० करोड़ रुपये तक और प्रति व्यक्ति बीमा २०० रुपया तक बढ़ाया जा सकता है। श्री देशमुख इस भविष्य वाणी से मतैक्य रखते हैं। उन्होंने कहा—"भारत के बीमा व्यापार की सम्भावनाओं के सम्बन्ध में कोई भी सन्देह नहीं हो सकता और मैं इन अंकों को केवल यह दिखाने के लिए प्रस्तुत करता हूँ कि बीमा द्वारा हम अपनी बचत कितनी अधिक बढ़ा सकते हैं।"

१९ जनवरी सन् १९५६ को राष्ट्र के लिए रेडियो पर एक विशेष संदेश प्रसा-रित करते हुए श्री देशमुख ने एक ओर सम्पूर्ण बीमा उद्योग के राष्ट्रीयकरण की 'सामान्य माँग' और दूसरी ओर बीमा कम्पनियों के चेयरमैन द्वारा इसके विरुद्ध दिये

गये तर्कों की ओर सकेत किया। उन्होंने कहा कि इस पर विस्तृत बहस के लिए पालियामेन्ट में यथेष्ठ अवसर दिया जायगा। उन्होंने केवल दो तर्कों पर विचार किया, जिनमें से एक तो राज्य सचालित जीवन बीमे की लचक और निपुणता से सम्बन्धित है और दूसरा अन्य देशों में राज्य सचालित बीमा योजनाओं की असफलता से। उन्होंने बताया कि वे पहले तर्क को नहीं समझ पाते और उस पर आलोचना नहीं करेंगे। हाँ, दूसरे तर्क का जहाँ तक सम्बन्ध है, उन्होंने बताया कि अन्य देशों में अनुभव के अध्ययन से यह प्रगट होता है कि जहाँ कहीं भी राज्य ने पूर्ण हृदय से प्रयास किया वहाँ राष्ट्रीयकरण ने प्राइवेट क्षेत्र से तीव्र प्रतिस्पर्धा होते हुए भी अद्वितीय सफलता प्राप्त की और जहाँ कहीं भी असफलता हुई कि वह बेमन से किये गये प्रयासों के कारण ही हुई। उन्होंने आगे कहा—"कोई कारण नहीं कि एक राष्ट्राधिकृत उद्योग निपुणता से सचालित क्यों नहीं किया जा सकता। हमारी यह दृढ़ इच्छा है कि जिन लोगों को राष्ट्राधिकृत उद्योगों के चलाने का भार दिया जावे उन्हें अधिकतम निपुणता की दृष्टि से पर्याप्त स्वतन्त्रता दी जाये। कुछ लोगों ने तो यह कहना अपना पेशा ही बना लिया है कि राज्य उपक्रम अवश्य ही अनिपुण होगा और फिर प्राइवेट उपक्रम की निपुणता बहुत बढ़ा कर बताई जाती है। इस प्रकार बीमे में भी (जो कि इस प्रकार का व्यापार, जिसे कभी असफल नहीं होना चाहिए, यदि उचित प्रकार से सचालित किया जाय) हम यह देखते हैं कि पिछले वर्षों में लगभग २५ जीवन बीमा कम्पनियाँ लिक्वीडेट हो गईं और २५ कम्पनियों ने अपने साधन इस प्रकार बरबाद कर दिये कि उनका व्यापार अन्य कम्पनियों को हस्तातरित करना पड़ा। इस ट्रान्सफर से पॉलिसी होल्डरों को भारी नुकसान पहुँचा। इसके अतिरिक्त कई बीमा कम्पनियों ने कोषों का विनियोग करने में बड़ी अस्वास्थ्यप्रद प्रवृत्ति अपनाई। अभी हाल ही में भारत बीमा कम्पनी का उदाहरण सामने है, जिसमें लगभग २ करोड़ रुपयों का गलत तरीके से प्रयोग किया गया और भी कई घटनायें हुई हैं। एक बीमा कम्पनी को प्रारम्भ करने या चलाने में आवश्यक पूँजी की मात्रा उस धन से बहुत कम है जिस पर कम्पनी अपने जीवन बीमा फण्ड के रूप में नियन्त्रण प्राप्त कर लेती है। एक बार जब ऐसा नियन्त्रण प्राप्त हो जाता है तो इन कोषों का प्रयोग उन सस्थाओं की पूँजी विषयक आवश्यकताओं को पूरा करने में किया गया, जिनमें उसके प्रबन्धकर्ता रुचि रखते थे। इनमें पॉलिसी होल्डरों के हित का बहुत कम ध्यान रखा जाता था।"

इस सम्बन्ध में यह बताना अनावश्यक न होगा कि सरकार ने साधारण बीमे की अपेक्षा जीवन बीमे को ही हाथ में लेने का निश्चय किया, क्योंकि साधारण बीमा तो व्यापार एवं उद्योग के प्राइवेट क्षेत्र का प्रमुख अग है और वर्ष प्रतिवर्ष किया जाता है, इसकी भूलें और त्रुटियाँ व्यक्तिगत रूप से नागरिकों को प्रभावित नहीं करतीं, किन्तु इसके विपरीत जीवन बीमा व्यापार प्रत्यक्षत व्यक्तिगत नागरिक से सम्बन्ध रखता है, क्योंकि उसकी जिन्दगी भर की बचत, जो कि देश के आर्थिक विकास के लिये बहुत आवश्यक है, प्रबन्ध कर्त्ताओं की त्रुटियों से प्रभावित होती है।

राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में निराशावादी दृष्टिकोण—

१६ जनवरी सन् १९५६ को श्री देशमुख द्वारा रेडियो पर की गई राष्ट्रीयकरण सम्बन्धी घोषणा के लिए 'कॉमर्स' लिखता है कि यह राज्य अधिकृत बीमे के जन्म की उल्लासमयी घोषणा न होकर प्राइवेट बीमे की मृत्यु का अन्तिम संस्कार है। यद्यपि बीमे के राष्ट्रीयकरण की चर्चा गत कुछ वर्षों से हो रही थी, तथापि यह आशा की जाती थी कि जनता, पॉलिसी होल्डर एवं उद्योगों को अपना पक्ष प्रस्तुत करने का अवसर दिए बिना कोई साहसिक कदम नहीं उठाया जायगा। सरकार स्वयं ही प्रोजेक्यूटर और जज दोनों बन गई तथा दोषी की ओर से अपील भी सुनने के लिए तैयार नहीं। यह विश्वास करते हुए कि राष्ट्रीयकरण समस्या के केवल दो ही पक्ष हैं—एक ठीक पक्ष और एक गलत पक्ष सरकार ने एकदम ही इस देश के आर्थिक मानचित्र से प्राइवेट जीवन बीमा के सम्पूर्ण क्षेत्र को ही हटाने का निश्चय कर लिया।

भारतीय बीमकों के लिए सरकार के व्यवहार पर निराश होने का पर्याप्त कारण है। बहुत से बीमा व्यक्ति जो देश की सेवा करते हुए उतने ही बूढ़े हो चुके हैं जितने कि अपने व्यवसाय में भारतीय बीमा व्यवसाय के निर्माण की प्रारम्भिक अवस्था में और उसके विकास तथा उन्नति की अवस्था में भी उन्होंने लोगों को राष्ट्रीय भावना की ही प्रेरणा दी है। बीमा एक राष्ट्रीय सेवा थी और राष्ट्रीय भावना के नाम पर ही उन्होंने बीमे का विस्तार किया। अब यह देखकर उन्हें दुःख होता है कि एक राष्ट्रीय सेवा को राष्ट्राधिकृत सेवा में परिवर्तित कर लिया गया है। वित्त मन्त्री के भाषण में कहीं भी भारतीय बीमे की प्रशंसनीय उन्नति का उल्लेख नहीं मिलता, यह अभाव बड़ा खटकता है। न्यू इण्डिया के चेयरमैन श्री ए० डी० श्रॉफ का कहना है कि यह भाषण अन्याय भावना प्रगट करता है, क्योंकि इसमें उन कम्पनियों के प्रबन्धकों के लिए प्रशंसा का एक भी शब्द नहीं है जिन्होंने अपने साहस, उत्तरदायी बुद्धिमत्ता और कोषों के विवेकपूर्ण विनियोग से देश को ऐसी संस्था प्रदान की जिसके लिए कोई भी न्यायप्रिय भारतीय अभिमान कर सकता है। निस्सन्देह यह सब ठीक है, किन्तु पता नहीं कि वर्तमान समस्याओं के श्री श्रॉफ जैसे सर्वज्ञ ज्ञाता कब से सरकारी अधिकारियों से प्राइवेट क्षेत्र के लिए सहानुभूति एवं दयापूर्ण शब्द कहने की आशा करने लगे ! तथ्य तो यह है कि ग्रीक दर्शन के नारसिसस की भाँति सरकार अपनी छाया के साथ ही प्रेम करने लगी है। वास्तव में यह प्राइवेट क्षेत्र से उधार लिए गये पक्षों के सहारे चमकने का एक प्रयास है।"*

फिर, ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले लोगों तक बीमे की सुविधायें विस्तृत करने का सरकार का इरादा यद्यपि प्रशंसनीय है, तथापि सत्य तो यह है कि यदि अभी तक ग्रामीण क्षेत्रों में बीमा नहीं फैला है तो इसका कारण ग्रामीण जन संख्या के अधिकांश भाग की आय का बहुत कम होना है। दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने के पश्चात् बहुत कम उनके पास बचता है। साथ ही ग्रामीण जनों ने अभी बीमे का महत्व

* देखिये 'कॉमर्स'—२८-१-५६।

नहीं समझा है। ये दशायें केवल शिक्षा के द्वारा और ग्रामीण आय में सुधार करके ही बदली जा सकती है। यह स्मरण रखना भी लाभप्रद होगा कि ग्रामीण क्षेत्र एक ऐसा अविकसित प्रदेश है जिसमें बीमा-विमान, जन्म, मृत्यु, आयु एवं बीमारी से सम्बन्धित अपर्याप्त आँकड़ों की सांख्यकीय चट्टान से टकरा कर टूट सकता है।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेख करना अनावश्यक न होगा कि राज्य-अधिकृत बीमे में कुछ खतरे हैं। बीमा व्यवसाय में सफलता के लिये निम्न मुख्य गुणों की आवश्यकता है :—शीघ्रता, लचकता और व्यक्तिगत सम्पर्क। एक राजकीय विभाग से इन गुणों की आशा रखना व्यर्थ है। सच तो यह है कि जब कभी यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है, तो हमारी केन्द्रीय और राज्य-सरकारें दुविधा में पड़ जाती हैं, किन्तु तथ्य यही है कि हर जगह सरकारें अपनी क्रियाओं में धीमे-धीमे बढ़ती हैं। भारत सरकार इसका कोई अपवाद नहीं है। यदि दावों का निपटारा करने में शीघ्रता का अभाव सिद्ध करना है, तो इसकी साक्षी इंजीनियर ठेकेदारों और करदाताओं से प्राप्त की जा सकती है। जो व्यक्ति राज्य-सेवा से रिटायर हो गये हैं, वे भी इस बात को जानते हैं कि उनकी पेंशनों के निपटारे में कितनी दुखदायी देर लगती है। उनमें से अधिकांश तो यह अनुभव करते हैं उन्होंने जितने उत्साह से राज्य की सेवा की है, यदि उसके आधे उत्साह से भी बीमा कम्पनी को अपने प्रीमियम चुकाने होते, तो बीमकों ने उनके दावों को सरकार की अपेक्षा कहीं अधिक शीघ्रता से निपटा दिया होता। जबकि सरकार जीवित मनुष्य के दावों का निपटारा करने में भी देर लगा देती है, तो इस बात की गारन्टी है कि मृत्यु से उदय होने वाले दावों का निपटारा अधिक शीघ्र हो सकेगा।

साम्राज्यवादी व्यवस्था की एक कमी यह है कि उसमें मुवक्किलों की आवश्यकताओं के प्रति जानकारी और सहानुभूति का अभाव होता है। बीमे की माँग अलोचदार नहीं है और बीमे की बिक्री अनेक गुनी बढ़ाने तथा प्रीमियमों के निरन्तर भुगतान के लिये सतत प्रयासों की आवश्यकता है। भारत सरकार के बीमा सुपरिन्टेन्डेन्ट ने इण्डियन इन्श्योरेन्स ईयर बुक सन् १९४९ में यह लिखा है कि "राज्य द्वारा सचालित बीमा विभाग वर्तमान प्रगति से ही सतुष्ट हो जाती है और स्पर्धा के अभाव में वह एक चले चलाये मार्ग पर ही कार्य जारी रखता है।" यही वास्तव में उन राज्यों में, जहाँ कि बीमा विभाग है, हो भी रहा है, अतएव जनता की सेवा के दृष्टिकोण से बीमे के राष्ट्रीयकरण को न्याय सगत नहीं ठहराया जा सकता। शायद ही कभी ऐसी अवस्था आवे जबकि एजेन्सी व्यवस्था को पूर्ण रूप से अलग कर दिया जाय और प्रस्तावक लाइन लगाकर सरकारी कार्यालयों के सामने अपने प्रस्तावों की स्वीकृति का इन्तजार करें।

उज्ज्वल भविष्य की आशा—

जब हम श्री सी० डी० देशमुख के निम्न आश्वासन को पढ़ते हैं तो उक्त निराशामय चित्र धुंधला पड़ जाता है:—"प्राइवेट क्षेत्र के नेताओं को मैं यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि यह सरकार का इरादा नहीं है कि वह उपलब्ध धन-कोषों को

सरकारी क्षेत्र में वर्तमान व्यवस्था की अपेक्षा अधिक मात्रा में लगाये। निस्संदेह मेरा यह प्रयत्न होगा कि आजकल प्राइवेट क्षेत्र में जितना धन विनियोग के लिये उपलब्ध है कम से कम उतना तो भविष्य में भी उपलब्ध होता रहे, अतः यदि कोई परिवर्तन होता है, तो वह इसलिये होगा कि प्राइवेट क्षेत्र का कोई विशेष भाग (अथवा प्राथमिकता की दृष्टि से पूर्वाधिकार) अवमे आगे योजना के अन्तर्गत प्राइवेट क्षेत्र के लिये निर्धारित उद्देश्यों पर निर्भर नहीं रहे। शान्ति स्थिति और विशेष अधिकारों का जो दुरुपयोग विद्यमान परिस्थितियों में हो रहा है वह सबसे बड़ी विवशता है, जिसके वश होकर हमने जीवन बीमा के राष्ट्रीयकरण का निश्चय किया है।" अतः हमें आशा करनी चाहिये कि यह परिवर्तन हम रे अधिक भले के लिये है और यह 'समाजवादी कल्याण राज्य' के निर्माण में सहायता करेगा।"

स्टेटुटरी इन्शोरेन्स कॉरपोरेशन—

यह आशा की जाती है कि जीवन बीमा कम्पनियों की सम्पत्ति और दायित्वों के लेने के लिये एक वैधानिक बीमा निगम (Statutory Insurance Corporation) का निर्माण किया जायगा।

उपसंहार—

राष्ट्रीयकरण के पश्चात यह आशा की जाती है कि एजेण्टों एव फील्ड व कार्यालय कर्मचारियों के हितों की रक्षा की जायेगी तथा उनकी दशा को सुधारा जावेगा। व्यापार की वृद्धि के साथ यह कहा जाता है कि रोजगार के अनेक अवसर भी उदय हो जायेंगे। एक ओर साक्षरता का नीचा प्रतिशत और लोगों की साधारण भाग्य निर्भर प्रकृति और दूसरी ओर बचत को गतिशील बनाकर पूँजी के निर्माण को बढ़ावा देने की आवश्यकता है। यह आवश्यक है कि राष्ट्रीयकरण के पश्चात् भी काफी लम्बे समय तक जीवन बीमा विक्रय करते रहना चाहिए।

स्वेच्छापूर्ण बीमा के साथ-साथ, जो कि बेचा जावेगा, अनिवार्य बीमे का भी सामाजिक कल्याण विषयक उपायों द्वारा (जैसे कि बेरोजगारी पर बीमा, बीमारी के लाभ, बुढ़ापे की पेन्शन, विधवाओं और अनाथों के लिये लाभ तथा प्रसूति-सम्बन्धी लाभ) विकास होगा।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत होने वाले नवीन प्रयत्नों से जीवन बीमा की क्षमता बहुत बढ़ जावेगी। द्वितीय पच-वर्षीय योजना का उद्देश्य १० से १२ मिलियन व्यक्तियों के लिये रोजगार देने और वर्तमान राष्ट्रीय आय (लगभग ६,९०० करोड़ रुपया) में प्रति वर्ष ६०० करोड़ रुपयों की वृद्धि का आयोजन करना है। यदि केवल इतना ही मानें कि नये काम पर लगे व्यक्तियों का १०% और वर्तमान काम पर लगे व्यक्तियों में से केवल २% व्यक्तियों से ही सम्पर्क किया जा सकेगा तो नया जीवन बीमा व्यापार भारत में समस्त बीमा कम्पनियों के विद्यमान व्यापार के बराबर हो जायगा।

[३०]

भारत में मुद्रा का दशमलवीयकरण

रूपरेखा—

१. *प्रारम्भिक*—भारत में सौ तरह के मन प्रचलित हैं, कहीं २८० तोले का मन है और कहीं ८,३२० तोले का। यह विभिन्नता ही नहीं वरन् भारत में नाप और तोल के अनेक पैमाने तथा बाँट चलते हैं। मुद्रा भी रुपयों, आनों तथा पाइयों में है, जिसका हिसाब-किताब लगाना बहुत टेढ़ी खीर है। इन कठिनाइयों के निवारण का एकमात्र मार्ग है नाप-तौल की दशमिक प्रणाली। नई प्रणाली १ अप्रैल सन् १९५७ से लागू होगी।

२. *दशमिक प्रणाली क्या है?*—नई प्रणाली के अन्तर्गत १ रुपये में ६४ पैसे न होकर १०० पैसे होंगे। इन पैसों का नाम 'नया पैसा' रक्खा गया है।

३. *भारत की वर्तमान प्रणाली की त्रुटियाँ*—नाप की वर्तमान इकाइयों का कोई आधार नहीं है। सुधार की दिशा में किए गए प्रयत्न।

४. *नई प्रणाली के लाभ*—दशमिक प्रणाली अत्यन्त सरल तथा उपयोगी है। हिसाब-किताब में बड़ी सुविधा होगी। यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में प्रयोग किए जाने योग्य है। एक उदाहरण।

५. *निष्कर्ष*—दशमिक प्रणाली से देश के व्यापार की प्रगति होगी। शिक्षा का भी शीघ्र प्रसार होगा। प्रणाली चालू करने के लिए यह उपयुक्त अवसर है।

प्रारम्भिक—

यह प्रायः सर्वविदित है कि हमारे देश में एक स्थान के नाप के पैमाने और तोल के बाँट दूसरे स्थान के पैमाने और बाँटों से नहीं मिलते। यही नहीं कि एक स्थान के पैमाने और बाँट दूसरे स्थान से नहीं मिलते, वरन् एक ही क्षेत्र में अलग-अलग वस्तुओं के लिए अलग अलग पैमाने और बाँटों का प्रयोग होता है। यहाँ तक कि एक ही नाम के बाट और पैमाने का परिमाण भी प्रायः भिन्न होता है। नमूने के राष्ट्रीय सर्वेक्षण से जो जानकारी एकत्र हुई है, उसमें बुद्धि को चकराने वाली इस विभिन्नता का कुछ पता चलता है। देश के विभिन्न भागों के १,१०० गाँवों में सामाजिक तथा आर्थिक महत्व के विभिन्न प्रश्नों पर साल में दो या तीन बार यह पड़ताल की गयी। इससे विदित हुआ कि वहाँ १४३ प्रकार के बाटों और नापों का प्रयोग किया जाता है। घनाकार नाप तथा भूमि की नाप की स्थिति तो और भी भीषण बतायी जाती है।

यदि किसी बाँट या नाप का नाम विभिन्न क्षेत्रों में एक ही है तो वास्तव में उसका परिमाण एकसा नहीं होता है। उदाहरण के तौर पर देश भर में १०० प्रकार के मन हैं। यदि कहीं २८० तोले का मन होता है तो कहीं ८,३२० तोले का। स्टैण्डर्ड मन ३,२०० तोले का माना जाता है। इसी प्रकार यद्यपि स्टैण्डर्ड सेर ८० तोले का माना जाता है, तथापि देश में ८ तोले से लेकर १६० तोले तक के सेर चलते हैं।

दैनिक जीवन के सामान्य व्यवहार में कदम-कदम पर नाप और तोल का काम पड़ता है और उसमें इतनी भीषण विभिन्नता होने से बहुत परेशानी और गड़बड़ होती है। एक स्थान के बाँटों और दूसरे स्थान के बाँटों में भिन्नता होने के कारण किसान को अपने राज्य और दूसरे राज्यों में माल का उचित मूल्य न मिलने की आशंका रहती है। देश के हर भाग में अपने यहाँ के बाँटों के हिसाब से ही वस्तु का भाव बताया जाता है। अलग-अलग स्थानों पर बाँट के नाप अलग अलग हैं और उनका परिमाण भी अलग होता है, इसलिए वस्तुओं के जो भाव बताये जाते हैं, उनको सम्बन्धित बाजार में काम करने वाले लोग ही ठीक तरह से समझ पाते हैं और चालाक व्यापारियों के हाथ माल बेचते समय किसान की गाँठ कटे बिना नहीं रहती। यही नहीं उसके माल के खरीदार माल खरीदते समय हलके के स्थान पर भारी बाँट प्रयोग करते हैं। अपना माल का कितना दाम उसे मिलेगा, यह हिसाब लगाना तो उसके लिए कठिन कार्य होता ही है, लगाया हुआ हिसाब समझना भी उसके लिए कठिन होता है। यदि विभिन्न प्रकार के बाँट और नाप के पैमाने देश में चलने दिए गए तो दृढ़ आधार पर बिक्री-व्यवस्था करने, वस्तुओं के वर्गीकरण तथा प्रतिमान लागू करने और देहाती क्षेत्रों को भाव पहुँचाने की व्यवस्था करने का भी कोई लाभ नहीं हो पाएगा। वर्तमान स्थिति से कितनी हानियाँ होती हैं, स्थानाभाव के कारण वे यहाँ नहीं गिनायी जा सकतीं, किन्तु एक बात सुस्पष्ट है कि बाँटों और नापों का प्रतिमानीकरण न होने से जो असुविधा और हानियाँ होती हैं, उनका कुप्रभाव किसान पर ही नहीं वरन् सर्व साधारण पर भी पड़ता है और इस स्थिति से दूसरों को चकमा देकर मुनाफा कमाने वाले कुछ व्यापारियों के अतिरिक्त किसी और को लाभ नहीं पहुँचता। इस सब का एक ही उपाय है नाप के पैमानों और बाँटों की यह स्थानीय तथा प्रदेशीय विविधता समाप्त कर दी जाय और उसके स्थान पर एक ऐसी प्रणाली सारे देश में चलायी जाए, जिसे समझना तथा प्रयोग करना सरल हो।

बहुत समय से इस गड़बड़ को दूर कर देश भर में एक सी नाप तोल जारी करने की बड़ी आवश्यकता अनुभव की जा रही है। सन् १८७१ में भारत सरकार ने मीटर प्रणाली के अनुसार एक से बाँट चलाने के लिए एक अधिनियम बनाया था, परन्तु इसके आगे कुछ नहीं किया गया और यह समस्या जहाँ की तहाँ रही। अब भारत सरकार ने इसे सुलझाने का पक्का निश्चय कर लिया है।

मुद्रा का दशमलवीयकरण करने के सम्बन्ध में भारत सरकार ने अपनी निश्चित नीति घोषित कर दी है और एक विज्ञप्ति द्वारा भारत सरकार ने यह घोषणा की है

कि १ अप्रैल सन् १९५७ से देश में इस नई मुद्रा प्रणाली का चलन आरम्भ होगा। पिछले सौ वर्षों में यह प्रश्न अनेक बार उठा, पर क्यों० भी इन पर गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया गया। सन् १९४६ में एक बार पुनः सिक्कों का दशमलवीयकरण करने का प्रयास किया गया, किन्तु उस समय भी वह योजना विफल रही। तत्कालीन ब्रिटिश सरकार के "रुपया" का विभाजन दशमलव के आधार पर करने की योजना का विरोध करते हुए भारतीय अर्थशास्त्रियों ने कहा था कि भार और दूरी की माप का दशमलवीयकरण किये बिना सिक्के का दशमलवीयकरण करना न केवल हास्यास्पद होगा अपितु अव्यावहारिक भी होगा, इसीलिये अब रुपये के साथ भार तथा दूरी के मापों का भी दशमलवीयकरण करने का निश्चय किया गया है।

दशमिक प्रणाली क्या है ?—

एक रुपये में १६ आने या ६४ पैसे होते हैं। अब रुपये को ६४ की अपेक्षा १०० बराबर भागों में विभाजित किया गया है। दूसरे शब्दों में, अब १ रुपये में ६४ पैसे न होकर १०० पैसे होंगे। सरकार ने नई प्रणाली में इन पैसों का नाम "नया पैसा" (Naya Paisa) रक्खा है। इसी प्रकार वर्तमान अठन्नी, चवन्नी, दुअन्नी के स्थान पर क्रमशः ५०,२५ और १० नए पैसों के सिक्के बनाए जायेंगे। इस प्रकार नई प्रणाली में सिक्के इस तरह होंगे—१०० नया पैसा, ५५ नया पैसा, १० नया पैसा, ५ नया पैसा, २ नया पैसा तथा १ नया पैसा। यह स्मरण रहे कि यद्यपि वर्तमान दुअन्नी, इकन्नी, आध आना तथा १ पैसा का नई मुद्रा प्रणाली में कोई बिलकुल ठीक व बराबर सिक्का नहीं होगा, फिर भी १० नया पैसा, ५ नया पैसा, २ नया पैसा तथा १ नया पैसा क्रमशः इनके बराबर ही माने जायेंगे। यह भी तय कर दिया गया है कि वर्तमान रुपया, अठन्नी तथा चवन्नी के सिक्के इस नई मुद्रा प्रणाली में भी साथ ही साथ चलन में माने जायगे ताकि जनता को यह पता रहे कि प्रत्येक नये सिक्कों की कितनी सख्या एक रुपये के बराबर है, इसलिये यह तय कर दिया गया है कि प्रत्येक नये सिक्के पर यह लिख दिया जायगा कि उसकी कितनी सख्या एक रुपये के बराबर है। यह भी तय कर दिया गया है कि १०० नया पैसा, ५० नया पैसा, २५ नया पैसा के सिक्के तो शुद्ध निकिल के होंगे और १०, ५ तथा २ नया पैसा के सिक्के ताँबा तथा निकिल को मिलाकर (७५% ताँबा तथा २५% निकिल) बनाए जायेंगे और १ नया पैसा ब्रौंज (Bronze) का होगा।

जिन देशों में यह प्रणाली प्रचलित है वहाँ प्रमुख मुद्रा के सौवें भाग को "सेन्ट" (Cent) कहते हैं। सेन्ट लैटिन शब्द सेटम् का अपभ्रश है, जिसका अर्थ शतांश होता है। लका में इसे सेन्ट कहते हैं, जिसका अर्थ होता है "सौवां भाग"। श्याम में इसे सितांग कहते हैं, जो वास्तव में सस्कृत शब्द के शतांश शब्द का अपभ्रंश है। पर भारत सरकार ने रुपये के सौवें भाग का नाम "नया पैसा" रक्खा है। यह स्मरण रहे कि जहाँ तक मुद्रा का सम्बन्ध है, भारत का प्रमुख सिक्का रुपया ही रहेगा

और उसे १०० भागों में विभाजित करके मुद्रा का दशमलवीयकरण किया गया है। इसी प्रकार भार और दूरी नापने की इकाइयों का भी दशमलवीयकरण होगा। तौल में सेर में ८० तोले या मन में ४० सेर होते हैं। एक सेर को १०० भागों में विभाजित कर और १ मन को १०० सेर मान कर भार नापने की इकाई का दशमलवीयकरण हो जायगा। दूरी नापने की इकाई में १०० इंच का गज १०० गज का फर्लांग तथा १० फर्लांग का मील मान कर दशमलवीयकरण किया जायगा।

भारत की वर्तमान प्रणाली की त्रुटियाँ—

माप की सभी वर्तमान इकाइयों का कोई भी आधार नहीं है। एक रुपये में १६ आने या ६४ पैसे और १ आने में १२ पाइयाँ होती हैं। ४० सेर का मन और १६ छटांक या ८० तोले का सेर चलता है। इसी तरह ३६ इंच का गज, १७६० गज का मील माना जाता है। स्पष्ट है कि इन सब पैमानों का कोई आधार नहीं है। अभी बहुत से पैमाने याद रखने पड़ते हैं और मिश्र राशि को उसी श्रेणी की मिश्र राशि में परिवर्तित करने में या उसकी विलोम क्रिया करने में कितनी कठिनाई पड़ती है, यह सब ही जानते हैं। स्कूल में गणित की पढ़ाई में छात्रों तथा अध्यापकों दोनों को ही इस सम्बन्ध में बहुत दिक्कत उठानी पड़ती है।

इन सब कठिनाइयों को दूर करने के लिए फ्रान्स के वैज्ञानिक ने एक उपाय निकाला। उन्होंने उत्तरी ध्रुव से पेरिस होकर भूमध्य रेखा तक की पृथ्वी की लम्बाई को भाग देना आरम्भ किया और अन्त में जब भजनफल दो हाथ के करीब रह गया तो उसे ही लम्बाई की इकाई मान लिया और उसका नाम मीटर रक्खा। फिर १० *मीटर का एक डेकामीटर, १०० का एक हैक्टोमीटर और १,००० मीटर का एक किलो-*मीटर तथा मीटर का दसवां, सौवां और हजारवां भाग डेसीमीटर, सेन्टीमीटर और मिलीमीटर के रूप में छोटी बड़ी लम्बाई नापने की इकाइयां बनाई। इस प्रकार किसी भी इकाई को दूसरी राशि में परिवर्तित करना अत्यन्त सुगम हो गया। केवल दशमलव चिन्ह को दाहिने या बायें हटाने से ही यह क्रिया सम्पन्न हो जाती है और गुणा भाग के झंझटों से छुटकारा मिल जाता है। इसी प्रकार एक घन सेन्टीमीटर पानी से वजन को (एक डिग्री से टग्रेड तापमान पर) १ ग्राम मान लिया गया और इस प्रकार भार नापने की इकाई भी ग्राम, सेन्टीग्राम के रूप में मिली। इसी को हम मीटर प्रणाली कहते हैं। यद्यपि वर्तमान मीटर प्रणाली का प्रचलन फ्रान्स देश से हुआ है, पर दशमलव पद्धति पर आधारित होने के कारण भारत के लिए यह नवीन नहीं है, क्योंकि दशमलव का आविष्कार तो भारत में ही हुआ था।

इस तरह यह स्पष्ट है कि भारत में दशमलव प्रणाली के प्रादुर्भाव से बड़े बड़े गुणा तथा भाग की क्रिया केवल दशमलव बिन्दु को दाहिने बायें हटा कर ही हो जायगी। रुपये आने पाई की पाइयाँ या रुपये बनाना एकदम सरल हो जायगा। यह तो ठीक है कि प्रारम्भ में इसमें कुछ कठिनाई पड़ेगी, पर कुछ ही समय के अनुभव के पश्चात् यह कार्य अत्यन्त सुगम हो जायगा। इस प्रकार हिसाब किताब रखने का

कार्य भी बहुत आसान हो जायगा। दशमलवीयकरण से एक लाभ और भी होगा। इस समय देश भर के माप की १४२ पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार दूरी के भी १८० विभिन्न तरीके प्रचलित हैं। व्यावहारिक रूप से इसमें बड़ी गड़बड़ी होती है और हिसाब किताब का काम अनायास ही जटिल हो उठता है। असली 'मन' तो ४० सेर या ३,२०० तोले का होता है, पर देश के विभिन्न भागों में २८० तोले से लेकर ८,३२० तोले तक के १०० प्रकार के 'मन' पाये जाते हैं। "बीघा" प्राय देश के प्रत्येक राज्य में विभिन्न क्षेत्रफल बतलाता है। नवीन प्रणाली से सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि देश में स्थान स्थान पर जो विभिन्न पद्धतियाँ प्रचलित हैं उनके स्थान पर एक मान प्रचलित हो जायगा। यह स्मरण रहे कि संसार में १४० प्रकार के मुद्रामान हैं, जिनमें से १०२ दशमलव पद्धति पर आधारित हैं। अभी तक जिन देशों ने मैट्रिक सिस्टम अथवा दशमलव प्रणाली नहीं अपनाई है, उनमें ब्रिटेन तथा राष्ट्र मण्डल के कुछ देश प्रमुख हैं।

नई प्रणाली के लाभ—

हमारे देश को नाप तोल की दशमिक प्रणाली लागू किए जाने से बहुत लाभ होगा। इससे नाप और तोल के बाटों में जो विभिन्नता इस समय पायी जाती है वह उसके तमाम दुर्गुणों सहित समाप्त हो जाएगी और व्यापार की वृद्धि, वाणिज्य की सुविधा तथा राष्ट्रीय एकता को दृढ़ करने के लिए आवश्यक और नाप-तोल के बाटों का चिर अपेक्षित प्रतिमानीकरण भी हो जाएगा। यह प्रतिमानीकरण राष्ट्रीय आधार पर ही नहीं अपितु अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर भी होगा, इसलिए यह वैदेशिक व्यापार तथा वाणिज्य में भी देश के लिए उपयोगी होगा। नाप के पैमानों और तोल के बाटों की दशमिक प्रणाली लगभग सारे संसार में लागू है। केवल संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन तथा राष्ट्र मंडलीय देशों में ही दशमिक प्रणाली लागू नहीं है। इन देशों में नाप तोल की ब्रिटिश प्रणाली (जिसे फुट पाउण्ड प्रणाली भी कहते हैं) लागू होते हुए भी दशमिक प्रणाली को कानूनी स्थान प्राप्त है और वास्तव में यह अब अधिकाधिक प्रयोग की जाने लगी है।

तोल के बाटों और नाप के पैमानों के प्रतिमानीकरण से इन लाभों से भी अधिक महत्व की बात यह है कि दशमिक प्रणाली से इनके हिसाब किताब भी बहुत ही सरलता से लगाये जा सकते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से नाप-तोल की यही प्रणाली ऐसी सुगम, सर्वमान्य तथा एकीकृत है जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में प्रयोग किए जाने के योग्य है। इसमें वह अपूर्णता नहीं है जो हमारी स्टैण्डर्ड मन सेर छटांक प्रणाली में या फुट पाउण्ड गैलन की ब्रिटिश प्रणाली में है। दशमिक प्रणाली की सरलता तथा श्रेष्ठता का रहस्य यह है कि यह प्रणाली नाप या तोल के सभी क्षेत्रों में एक सी है और सर्वत्र दशमिक अनुपात से चलती है जो दशमलव प्रणाली में अंक के स्थानीय मूल्य से मिलती-जुलती है।

भारत की यह गणना प्रणाली अब समस्त विश्व ने अपना ली है। जैसा कि

हम जानते हैं, हमारी प्रणाली 'दहाई प्रणाली' है। इकाई, दहाई, सैकड़े और हजार की प्रणाली कितनी सरल है कि एक से शुरू हो कर बाईं ओर का हर अङ्क दायें वाले से दस गुना हो जाता है। इस प्रकार ७७७ का मतलब है ७०० धन ७० धन ७। सन् १५८५ में साइमन स्टीवेपन ने इस प्रणाली को दायीं ओर लिख कर उसी प्रकार दस-दस गुना घटाते जाने का आविष्कार किया। उसी को दशमलव प्रणाली नाम दिया गया। इस प्रणाली से सही बटों की आवश्यकता नहीं रही।

दशमिक (मैट्रिक) प्रणाली भी, नाप तोल में दशमलव रीति का प्रयोग मात्र है। इसमें लम्बाई, क्षेत्र, परिमाण, समता और वजन मीटर को इकाई मान कर नापा तोला जाता है। मीटर, प्लेटिनम और इरीडियम को एक छड़ पर दो रेखाओं के बीच का वह नियत अन्तर है जो पैरिस के निकट सेवरे में अन्तर्राष्ट्रीय मीटर प्रयोग में रखी हुई है। इसी अन्तर को अन्तर्राष्ट्रीय स्टैण्डर्ड मीटर मान लिया गया है। इसके गुणितों में ग्रीक भाषा के 'डेका' (दस गुना) 'हैक्टो' (सौ गुना) और किलो (हजार गुना) और इसके हिस्से में 'डेसी' (दसवाँ हिस्सा), 'सैंटी' (सौ वाँ हिस्सा) और 'मिली' (हजारवाँ हिस्सा) उपसर्ग लगा दिए जाते हैं। 'मीटर', 'लिटर', 'ग्राम' और 'अर' (क्षेत्रफल) इन चार मापों में उक्त छहों उपसर्ग जोड़ लेने से लम्बाई, परिमाण, वजन और क्षेत्र की माप हो सकती है। मीटर के सौवें हिस्से के बराबर लम्बे, चौड़े और ऊँचे तथा शुद्ध जल की मात्रा का वजन एक 'ग्राम' मान लिया गया है। चूंकि ग्राम बहुत थोड़ा वजन है, इसलिए वजन को 'किलोग्राम' में नापा जाता है। एक किलोग्राम शुद्ध जल का परिमाण एक 'लिटर' होता है।

अंग्रेजी और मीटर प्रणाली में से किसमें हिसाब लगाना सरल है, इसका अनुमान निम्न उदाहरण से लग सकता है—

अंग्रेजी ..	१५७ इञ्च	= १३ १/१२ फुट	= ४ १३/३६ गज
मीटर	१५७ सैंटीमीटर	= १५'७ डेसीमीटर	= १'५७ मीटर

अंग्रेजी प्रणाली में इञ्चों को १२ से भाग देकर फुट और फुटों को तीन से भाग देकर गज बनाने पड़ते हैं। पर मीटर प्रणाली में केवल दशमलव को एक स्थान दायीं ओर हटाते जाने से ही काम चल जायगा। घन और वर्ग इञ्च, फुट या गज बनाने में तो और भी दिक्कत उठानी पड़ती है। अंग्रेजी प्रणाली में : (१) परिमाण गैलनों में, (२) समता घन फुटों में और (३) वजन पौण्डों में नापा जाता है और मीटर प्रणाली में :(१) परिमाण 'लिटरों' में (२) समता घन मीटरों में और वजन किलोग्रामों में नापा जाता है, जो स्पष्टतः बहुत सरल है।

लागत या मूल्य का हिसाब लगाना जो आजकल एक अच्छा सिर दर्द समझा जाता है, नाप तोल की मीटर प्रणाली और सिक्कों की दशमलव प्रणाली से कितना सरल हो जायगा, इसका एक और उदाहरण लीजिये—

यदि १ मीट्रिक टन (मान लीजिए चाँदी) का दाम है	८०,००० ०० रु०
तो १ किलोग्राम का	८०,०० रु०
और एक ग्राम का	०८ रु०
	(या आठ नये पैसे)

इसके मुकाबले अंग्रेजी प्रणाली का हिसाब देखिए —

यदि एक लॉग टन का मूल्य	८०,००० रु०		
तो एक पौण्ड का	३५ रु०	११ आ०	५ पा०
और १ औंस का	२ रु०	३ आ०	८ पा०

नाप तोल की दशमिक प्रणाली और दशमलव मुद्रा में भाव निकालते समय केवल दशमलव को इधर उधर करना होता है। यदि प्रति मीट्रिक टन में भाव दिया हो तो प्रति किलोग्राम के भाव निकालने के लिए दशमलव को तीन अङ्क बायें करना होता है और यदि भाव प्रति किलोग्राम दिया हुआ हो तो प्रति मीट्रिक टन का भाव निकालने के लिए दशमलव तीन अङ्क दाहिनी ओर चला जाएगा। ब्रिटिश प्रणाली के अनुसार प्रति टन भाव दिए होने पर यदि प्रति पौण्ड भाव निकालना हो तो टन के भाव की राशि को २२४० से भाग दीजिए। फिर रुपयों के आने और पाइयाँ बना कर भाग देने की क्रिया जारी रखिए। पौण्ड के बाद प्रति औंस भाव निकालने के लिए पौण्ड के आने और पाइयों में आने वाली राशि को फिर १६ से भाग दीजिए। इस प्रकार एक वस्तु का भाव निकालने के लिए योग, बाकी, गुणा तथा भाग सभी करने होते हैं।

सेर में ८० तोले हैं तो गज में १६ गिरह और रुपये में ६४ पैसे। मामूली आदमी तो क्या अच्छे पढ़े लिखे आदमी भी बाजार में सब्जी या मिठाई के पैसों का हिसाब नहीं लगा सकते। जो दुकानदार ने मांग लिया वह चुपके से देकर चले आना पड़ता है, वरना कागज पैंसिल के बिना हिसाब लगाना किसी के काबू की बात नहीं। कल्पना कीजिए कि यदि हर चीज दस सौ या इनके गुणितों में नापी तोली जाने लगे और सिक्कों की दशमलव प्रणाली हो तो हिसाब लगाना कितना सरल हो जाए, अपढ़ आदमी को भी कोई धोखा नहीं दे सकेगा।

हमारे बच्चों को नाप तोल की एक प्रणाली ही नहीं वरन् अनेक प्रणालियाँ, कई तो स्थानीय, फिर भारतीय, फिर ब्रिटिश और फिर दशमिक प्रणाली सीखनी पड़ती है। इससे हमारे बच्चों को रूस, फ्रांस, जर्मनी या चीनी बच्चों की अपेक्षा अधिक परिश्रम करना पड़ता है और अधिक समय में ज्ञान प्राप्त हो पाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि दशमिक प्रणाली से अधिक सुगमता से सीखी जाने वाली कोई और प्रणाली निकालना प्रायः असम्भव ही है। इस प्रणाली के अपनाने से शिक्षा के क्षेत्र में जो कार्य कुशलता बढ़ेगी, वही नाप तोल के प्रतिमानित बाटों के कारण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आ सकेगी।

दशमिक प्रणाली अपनाने की इस तर्कश्रृंखला में भौगोलिकता, जाति या

भाषा का कोई बन्धन नहीं है। चीन, रूस, फ्रांस, अमेरिका, जर्मनी, अफग़ानिस्तान, इण्डोनेशिया या इङ्गलैंड सभी पर यह समान रूप से लागू होती है। यदि अमेरिका और इङ्गलैंड अपनी पुरानी अवैज्ञानिक तथा कठिनाईपूर्ण प्रणाली से चुप हैं तो केवल इसीलिए कि वहाँ नाप तौल की ब्रिटिश प्रणाली की जड गहराई के साथ जमी हुई है, उसे त्यागना उनके लिए अपेक्षाकृत अधिक कठिन है। दशमिक प्रणाली के लाभ इतने अधिक और इतने स्पष्ट हैं कि जिन देशों में इनका चलन नहीं है, उनमें भी इसका सर्वाधिक पक्ष लिया जाता है।

विश्व के बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने भी इस प्रणाली की बहुत प्रशंसा की है और उसको अपनाने का प्रबल समर्थन किया है।

संसद में मुद्रा के दशमलवीयकरण के सम्बन्ध में विधेयक उपस्थित किये जाने के अवसर पर हमारे प्रधानमन्त्री ने कहा था कि दशमलव प्रणाली का आविष्कार भारतवर्ष में ही हुआ था, अतएव इस सम्बन्ध में कोई विशेष परेशानी नहीं होनी चाहिए। इस प्रणाली के विरुद्ध जितने तर्क उपस्थित किये गए हैं उनमें सबसे बड़ा तर्क यह है कि देश में कभी भी दशमलव प्रणाली नहीं चली है और प्रायः ढाई हजार वर्षों से चौका प्रणाली ही प्रचलित है, अतएव चौका प्रणाली के स्थान पर दशमलव प्रणाली पर बने सिक्के आर्थिक क्षेत्र में क्रांति मचा देंगे, परन्तु इस कठिनाई को दूर करने के लिए यह घोषित कर दिया गया है कि दशमलव प्रणाली के साथ ही साथ रुपया-आना-पैसा की वर्तमान व्यवस्था भी तीन वर्ष तक बनी रहेगी, अर्थात् नई प्रणाली के सिक्कों के चालू हो जाने के बाद भी तीन वर्ष तक वर्तमान सिक्के भी साथ ही साथ चालू रहेंगे और यदि तीन वर्ष के बाद भी यदि आवश्यकता हुई तो वर्तमान सिक्कों को चलते रहने दिया जायगा और फिर उन्हें धीरे-धीरे हटाया जायगा, जिससे कि जनता को परिवर्तन काल में कम से कम परेशानी उठानी पड़े। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुद्रा के दशमलवीयकरण का यह बहुत ही उपयुक्त समय है, क्योंकि इस समय हमारे औद्योगिक प्रतिष्ठानों का मूल्यांकन लगभग ९०० करोड़ रुपये है। अगले दो दस वर्षों में यह १,९०० करोड़ रुपये का हो जायगा और इस प्रकार जितना अधिक रुपया उद्योगों पर लगता जायगा, उतनी ही अधिक असुविधा नये मुद्रामान के प्रसार में होगी, अतः उचित यही है कि यह परिवर्तन जितना शीघ्र सम्भव हो, इसे कर लिया जाय।

---

[३१]

भारतीय रुपये का अवमूल्यन

रूप रेखा—

१. *प्रारम्भिक*—अवमूल्यन से आशय मूल्य को कम करने से होता है। यह यह साधन है जिसके द्वारा अवमूल्यित देश की मुद्रा अ-अवमूल्यित देश की मुद्रा के रूप में सस्ती बनाई जाती है।

२. *अवमूल्यन के रूप तथा प्रभाव*—अवमूल्यन किसी देश की प्रमाप मुद्रा के बाह्य अथवा अन्तर्राष्ट्रीय अर्घ्य को कम करने का चतुर प्रयास है। शोषक अवमूल्यन। संरक्षक अवमूल्यन। अवमूल्यन का तुरन्त प्रभाव यह पड़ता है कि अवमूल्यित देश की समस्त वस्तुओं के मूल्य अ-अवमूल्यित देशों की मुद्रा के रूप में गिर जाते हैं।

३. *रुपये का अवमूल्यन*—अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में डालर के अभाव के कारण सर्व-प्रथम १६ सितम्बर सन् १९४९ को ब्रिटेन ने स्टर्लिंग का डालर में ३०.५% से अवमूल्यन किया। भारत, बर्मा, लङ्का, दक्षिणी अफ्रीका, आस्ट्रेलिया तथा कनाडा ने भी अपनी-अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन किया। पाकिस्तान ने अवमूल्यन नहीं किया।

४. *अवमूल्यन की वाँछनीयता*—अवमूल्यन एक रक्षक उपाय था, रुपये के अति-मूल्यन का भय, स्टर्लिंग क्षेत्र की सदस्यता, मूल्य वृद्धि रोकने आदि कारणों से अवमूल्यन किया गया। निर्यात वृद्धि के लिए यह उचित कदम था।

५. *अवमूल्यन के परिणाम*—पाकिस्तान के साथ व्यापार करने में कठिनाइयाँ तथा क्षति। व्यापाराधिक्य की स्थिति में सुधार।

६. *क्या रुपये का पुनः मूल्यन वाँछनीय है?*—अवमूल्यन की हानियों के कारण पुनः मूल्यन का सुझाव दिया जाता है, किन्तु यह उचित न होगा।

प्रारम्भिक—

प्रत्येक देश की अपनी चालू मुद्रा होती है, जिसे 'प्रमाप मुद्रा' कहते हैं, जैसे—भारत में रुपया, अमेरिका में डालर, इंगलैंड में स्टर्लिंग इत्यादि। किसी देश की प्रमाप मुद्रा वहाँ की समस्त वस्तुओं, सेवाओं तथा साखों के अर्घ्य माप दण्ड का कार्य करती है। प्रायः प्रत्येक देश के मुद्रा अधिकारी इस प्रमाप मुद्रा को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा में परिवर्तन करने का वचन देते हैं। इसका

सब से बड़ा लाभ यह होता है कि इस मुद्रा में एक निश्चित सीमा तक अन्तर्राष्ट्रीय बजारों में भी व्यवहार करने के एक सर्वमान्य क्रय-शक्ति उत्पन्न हो जाती है। प्रत्येक देश की प्रमाप मुद्रा की सर्वमान्य क्रय-शक्ति अथवा विनिमय अर्घ्य के दो रूप होते हैं— प्रथम तो, आन्तरिक क्रय-शक्ति और दूसरे, बाहरी क्रय-शक्ति। ये दोनों प्रकार की क्रय-शक्तियाँ प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं के अन्तर एवं बाह्य मूल्य के परस्पर सम्बन्ध के अनुसार कार्य करती हैं। किसी भी देश की किसी भी समय में विदेशी विनिमय दर अथवा मुद्रा प्रमाप अन्तर और बाह्य अर्घ्यों के परस्पर सम्बन्ध का निम्न तीन रूपों में से, कोई भी एक रूप हो सकता है, अर्थात् समानता, बाह्य अवमूल्यन और बाह्य मूल्याधिक्य। किसी भी देश की प्रमाप मुद्रा के अन्तर और बाह्य मूल्यों में परस्पर समानता का सम्बन्ध वह अनुपात है जो एक समुचित अवधि तक न केवल देश के व्यापार और भुगतान सन्तुलन में— देश के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा स्थायी कोष या स्वर्ण में बिना किसी विशेष परिवर्तन के—समानता को स्थिर रखना है, वरन् समुचित लागत और मूल्यों के कलेवर द्वारा देश के अन्दर अधिकतम सम्भव रोजगार दिलाने का आश्वासन देता है और इस प्रकार देश के आर्थिक साधनों के अनुसार राष्ट्रीय लाभांश में वृद्धि और उच्चतम सम्भव रहन-सहन के स्तर सुविधा देता है। अल्प समय के लिये यह सम्भव है कि किसी देश के मुद्रा प्रमाप की अन्तर और बाह्य क्रय-शक्तियों का सम्बन्ध अथवा विदेशी विनिमय दर अपनी औसत स्थिति या समानता से इधर-उधर हट जाये और अन्तर अर्घ्य की तुलना में इसका बाह्य अर्घ्य निरन्तर या उच्चतर हो जाये, अर्थात् बाह्य रूप में मुद्रा प्रमाप का अवमूल्यन या मूल्याधिक्य हो जाये। यदि किसी समय में देश की साधारण मूल्य प्रदर्शक संख्या के अनुसार अन्तर अर्घ्य की तुलना में संसार के अन्य देशों की साधारण मूल्य प्रदर्शक संख्या के अनुसार देश की मुद्रा प्रमाप का बाह्य अर्घ्य कम है या इसका अवमूल्यन हो गया है, तो इसका यह आशय है कि देश की मुद्रा देश के अन्दर विदेशों की अपेक्षा अधिक वस्तुएँ और सेवाएँ क्रय कर सकती है। यदि स्थिति आयात को निरुत्साहित तथा निर्यात को उत्साहित करती है, तो देश के व्यापार और भुगतान सन्तुलन को पक्ष में करने की ओर झुकती है, देश का अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा स्थायी कोष अथवा स्वर्ण वृद्धि की ओर झुकता है, अन्तर मूल्य, भृतियों तथा अन्य उत्पादक लागतों की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ने लगते हैं, उत्पादक साधनों को अधिक प्रयोग में लाने की ओर प्रयास होता है और चारों ओर आर्थिक समृद्धि के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगते हैं। यदि यह रोकी न गई तो स्थिति तब तक चलती रहती है जब तक कि देश के अन्दर मुद्रा की बाहुल्यता और वस्तुओं की कमी के कारण, अन्तर मूल्य इतने ऊँचे हो जाते हैं या देश की मुद्रा प्रमाप का अन्तर अर्घ्य इतना कम हो जाता है कि वह बाह्य अर्घ्य के लगभग बराबर हो जाता है और खोई हुई समानता फिर से वापस आ जाती है।

इसके विपरीत अल्पकाल के लिये यह भी सम्भव है कि किसी देश की अन्तर क्रय शक्ति या विनिमय अर्घ्य की तुलना में उसके मुद्रा प्रमाप की बाह्य क्रय शक्ति या

विनिमय अर्घ्य का मूल्याधिक्य हो जाय। इसके आशय हैं कि देश की मुद्रा देश के अन्दर की अपेक्षा विदेशी वस्तुएँ और सेवायें अधिक क्रय करती हैं। यह स्थिति निर्यात को निरुत्साहित और आयात को उत्साहित करती है। देश का व्यापार और भुगतान सतुलन अपक्ष में होने लगता है, देश का अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा स्थायी कोष अथवा स्वर्ण कम होने लगता है, अन्तर मूल्य, भृतियाँ तथा अन्य उत्पादक लागतों की अपेक्षा, अधिक तेजी से गिरने लगते हैं, श्रमिकों का श्रमपतन होने के साथ-साथ उत्पादन और आर्थिक साधनों का उत्पादक प्रयोग निरुत्साहित होने लगता है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि उपलिखित किसी देश के मुद्रा प्रमाप की अन्तर और बाह्य क्रय शक्तियों का परस्पर सम्बन्ध अथवा विदेशी विनिमय दर की साधारण क्रिया केवल स्वतन्त्र व्यापार की दशाओं ही में सम्भव है।

अवमूल्यन के रूप—

अवमूल्यन वैधानिक रूप से स्वर्ण की मात्रा या स्वर्ण से अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित विदेशी मुद्रा की राशि घटाकर और यहाँ तक कि उसका वह अर्घ्य निश्चित करके जिसमें वह मुद्रा विदेशी विनिमय बाजार में परिवर्त्य है, किसी देश की प्रमाप मुद्रा का बाह्य विनिमय अर्घ्य या बाह्य क्रय शक्ति गिराने का एक चतुर प्रयास है। उदाहरण के लिये रुपये का अर्घ्य ४'१४९१४२२८९७ ग्रेन शुद्ध सोने से घटाकर २'८८०८७४२ ग्रेन शुद्ध सोना, निश्चित करना या रुपये का अर्घ्य डालर के रूप में ३०'२२ सेन्ट से घटाकर २१ सेन्ट प्रति रुपया निश्चित करना, जैसा कि भारत ने २० सितम्बर सन् १९४९ को किया था। इस प्रकार अवमूल्यन किसी देश की प्रमाप मुद्रा के बाह्य अथवा अन्तर्राष्ट्रीय अर्घ्य को कम करने का चतुर प्रयास है। जैसा कि सितम्बर १९४९ में इंगलैंड, भारतवर्ष, आस्ट्रेलिया, मिश्र, स्वीडन, बर्मा, पुर्तगाल और दक्षिणी अफ्रीका इत्यादि ने किया था।

किसी देश के मुद्रा प्रमाप का अवमूल्यन निम्न दो में से किसी भी एक अवस्था में हो सकता है। कभी-कभी किसी राष्ट्रीय संकट, जैसे—युद्ध अथवा कुछ अन्य उत्पादक या अनुत्पादक, अत्यावश्यक विकास योजनायें आ पड़ती हैं, जिन्हें चालू करों में वृद्धि करके नहीं पूरा किया जा सकता। देश की कागजी मुद्रा इतनी अधिक प्रसारित हो हो जाती है कि उस देश के मुद्रा अधिकारियों के लिए यह असम्भव हो जाता है कि वे मुद्रा प्रमाप की पिछली वैधानिक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष समानता को स्थिर रख सकें और मुद्रा प्रमाप के स्वर्ण अर्घ्य के वैधानिक तथा व्यावहारिक अर्घ्यों में अन्तर आ जाता है। इस स्थिति में देश स्वर्ण प्रमाप से हट जाता है। जैसा कि इङ्गलैंड ने प्रथम बार सन् १८२० में और दूसरी बार सन् १९३१ में किया था। यदि देश को यह आशा होती है कि समय व्यतीत होने पर कर वृद्धि और राज्य व्यय में मितव्ययिता करके देश के लिए कागजी मुद्रा का फालतू परिचलन कम कर देना संभव होगा अथवा अधिक निर्यात और स्वपक्ष में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और भुगतान संतुलन द्वारा इसके कागजी मुद्रा स्थायी कोष में अधिक स्वर्ण संचय सम्भव होगा, तब देश एक अल्प

समय के लिए स्वर्ण प्रमाप से हट जाता है और लौट कर फिर अपने मुद्रा प्रमाप की पिछली स्वर्ण समानता पर वापस आ जाता है। जैसा कि इङ्गलैंड ने सन् १६२५ में किया। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि कर वृद्धि, मितव्ययी, राज्य-व्यय और साधारण मुद्रा संकोच नीति को अपना कर पिछली समानता वापस लाने की उक्त क्रिया के साथ ही यदि बढ़ी हुई श्रम क्षमता द्वारा अधिक उत्पादन न हुआ, तो इसका परिणाम औद्योगिक अवनति, बेरोज़गारी, श्रम हड़तालें तथा देश के आर्थिक संगठन की छिन्न भिन्नता में होता है।

इसके विपरीत यदि उस देश के मुद्रा अधिकारी, जो स्वर्ण प्रमाप से हट गया है, यह अनुभव करते हैं कि देश की आर्थिक स्थिति और साधनों को दृष्टि में रखते हुए उनके लिए पिछली स्वर्ण समानता पर वापस आना असम्भव या अनावश्यक है, तो वे अपने मुद्रा प्रमाप का एक नवीन निम्नतर स्वर्ण अर्घ्य नियत कर सकते हैं जो उनके मुद्रा प्रमाप के वाह्य विनिमय अर्घ को समान रख सके। ऊपर से काफी मिलती जुलती परिस्थितियों में ही इङ्गलैंड २१ सितम्बर सन् १६३१ को स्वर्ण प्रमाप से हट गया था और तत्पश्चात् लगभग ४० प्रतिशत निम्नतर स्वर्ण समानता से कार्य करने लगा था। चूँकि इस प्रकार से किसी देश के मुद्रा प्रमाप की वाह्य क्रय शक्ति या विनिमय अर्घ में कमी इस उद्देश्य से की जाती है। इसके वैधानिक विनिमय अर्घ का व्यावहारिक विनिमय अर्घ से सम्बन्ध स्थापित हो जाय या देश की दुर्बल आर्थिक स्थिति को वैधानिक मान्यता दी जा सके या अनावश्यक वाह्य मूल्याधिक्य को कम करके ठीक किया जा सके, इसे किसी देश की मुद्रा प्रमाप का शोधक अवमूल्यन कहते हैं।

कभी कभी एक देश यह देखता है कि उसके मुद्रा प्रमाप का वाह्य विनिमय अर्घ्य या क्रय शक्ति उन अन्य देशों के मुद्रा प्रमापों के रूप में अधिक या ऊँची हो गयी है, जिनसे इस देश के घनिष्ट व्यापारिक सम्बन्ध हैं, इसलिये नहीं कि मुद्रा प्रसार या उत्पादकता अथवा उत्पादन क्षमता में कमी के कारण इसके मुद्रा प्रमाप का आन्तर विनिमय अर्घ गिर गया है, वरन् इस कारण कि उन अन्य देशों ने मौलिक अन्तर्राष्ट्रीय अर्घ माप-दन्डों, अर्थात् स्वर्ण के रूप में अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन कर दिया है और परिणामस्वरूप उस देश के निर्यात निरुत्साहित तथा व्यापार संतुलन विपक्ष में होने लगता है और नवीन तथा बढ़े हुये आयात कर लगाने पर भी मूल्याधिक्य वाह्य अर्घ या स्वपक्ष में विनिमय दरों के देश के उद्योग-धन्धों पर पड़े कुप्रभाव कम नहीं हो पाते और देश को औद्योगिक अवनति, पेशों में कमी और श्रम अशांति जैसी विकट समस्याओं का सामना करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में उस देश को, जिसके मुद्रा प्रमाप का वाह्य रूप मे इतना मूल्याधिक्य हो जाता है, अपनी मुद्रा प्रमाप को अवमूल्यित करने का एक प्रतिकारी कदम, चाहे देश के अधिकार में समुचित या यहाँ तक कि फालतू अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा स्थायी कोष या स्वर्ण हो, निर्भय होकर उठाना पड़ता है। इस प्रकार किसी देश की मुद्रा प्रमाप के अवमूल्यन को संरक्षक अवमूल्यन कहते हैं। संयुक्त राष्ट्र अमरीका ने ऊपर से मिलती जुलती परिस्थितियों तथा साथ ही औद्योगिक

अवनति की आशंका से मार्च सन् १९३३ में संरक्षक अवमूल्यन का आश्रय लिया था। फ्रांस ने भी संसार के और विशेषकर योरोप के अवमूल्यित देशों के प्रति प्रतिस्पर्धा से रक्षा प्राप्त करने के लिये सन् १९३४ में अपनी मुद्रा प्रमाप का अवमूल्यन किया था। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि संरक्षक अवमूल्यन उन देशों के लिये अत्यावश्यक हो जाता है जिनके उद्योग-धन्धे हैं और जो अधिक निर्यात के लिये उत्पादन करते हैं और केवल तभी जब देश की व्यापारिक अर्थ व्यवस्था स्वतन्त्र है, सुबद्ध और नियन्त्रित नहीं।

अतः किसी देश के मुद्रा अवमूल्यन का तुरन्त प्रभाव यह पड़ता है कि अवमूल्यित देश की समस्त वस्तुओं के मूल्य अ-अवमूल्यित देशों की मुद्रा के रूप में गिर जाते हैं और अ-अवमूल्यित देशों की समस्त वस्तुओं के मूल्य अवमूल्यित देश की मुद्रा के रूप में अवमूल्यन की सीमा तक ऊँचे हो जाते हैं। अनियन्त्रित व्यापारिक अर्थ-व्यवस्था में यह अ-अवमूल्यित देश से निर्यात को उत्साहित करता, उनसे आयात को निरुत्साहित और अ-अवमूल्यित देशों के प्रति व्यापार-सन्तुलन को स्वपक्ष में करने की ओर प्रयास करता है। अन्य बातें समान रहने पर अवमूल्यित देश के निर्यात और आयात पर अवमूल्यन का तुरन्त प्रभाव यह पड़ता है कि अवमूल्यन द्वारा निर्धारित सीमा के अनुसार निर्यात वस्तुओं का मूल्य घट जाता है और आयात वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है।

रुपये का अवमूल्यन—

युद्धोत्तर काल में १९ सितम्बर सन् १९४९ को इङ्गलैण्ड ने स्टर्लिङ्ग का मूल्य ४'०३ डालर प्रति पौंड से घटाकर २'८० डालर घोषित कर दिया, अर्थात् ३०½ प्रतिशत अवमूल्यन घोषित कर दिया। २० सितम्बर सन् १९४९ को भारतीय सरकार ने भी उसी का अनुकरण किया और अपने मुद्रा प्रमाण रुपए का डालर के रूप में ३०½ प्रतिशत अवमूल्यन घोषित कर दिया, अर्थात् रुपए का मूल्य ३३२'३३ रुपया प्रति १०० डालर से घटाकर ४७६ रुपया प्रति १०० डालर हो गया अथवा ३०'२० सेन्ट रुपया से घटकर २१ सेन्ट प्रति रुपया हो गया। पाकिस्तान को छोड़कर इङ्गलैण्ड और भारतीय सरकार की भाँति कामनवेल्थ के अन्य सदस्यों तथा दूसरे देशों ने भी, जो स्टर्लिंग क्षेत्र के सदस्य थे, अपने मुद्रा प्रमाणों का डालर के रूप में अवमूल्यन कर दिया, कुछ ने इंगलैंड और भारत के ही प्रतिशत के अनुसार और शेष ने अन्य प्रतिशतों के अनुसार। अवमूल्यन का मूलभूत कारण यह था कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजार में डालर का अभाव हो गया था और डालर की ही कमी के कारण विभिन्न देशों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सुगमता से भाग लेने में कठिनाई होती थी। डालर की कमी के कुछ प्रधान कारण निम्नलिखित थे :—

(१) द्वितीय महायुद्ध में अमेरिका ने मित्र राष्ट्रों को युद्ध सामिग्री प्रदान करके पर्याप्त सहायता पहुँचाई, जिसकी खरीद डालर द्वारा ही सम्भव थी, किन्तु अमेरिका का आयात इन देशों से केवल नाम मात्र को ही था। युद्ध के उपरान्त भी पुनर्निर्माण तथा

अन्य कारणों से विभिन्न देशों में निर्मित वस्तुओं तथा मशीनरी आदि की विशेष मांग थी, जिसकी पूर्ति भी डालर द्वारा ही हो सकती थी, अतएव गेहूँ और डालर की आवश्यकता अनुभव हुई।

(२) युद्ध के पूर्व तथा युद्ध युग में भी अमेरिका अन्य देशों से कच्चे माल का आयात किया करता था, किन्तु युद्ध के पश्चात वह आत्म-निर्भर हो गया, उसने स्वयं कच्चा माल उत्पन्न करना भी शुरू कर दिया। परिणामस्वरूप अन्य देशों से अमेरिका को होने वाले निर्यात की मात्रा बहुत घट गई और इस प्रकार उन्हें डालर मिलना भी बन्द हो गया।

(३) द्वितीय महायुद्ध के कारण प्रायः प्रत्येक देश को क्षति पहुँची और फलस्वरूप औद्योगिक उत्पादन में भी घोर कमी आ गई है, अतः अमेरिका ने जो समर्थ था, स्थिति का लाभ उठाया। अमेरिकन वस्तुओं की माँग बढ़ती गई और अन्य औद्योगिक देशों द्वारा निर्मित वस्तुओं की माँग घटती गई, जिसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में डालर का अभाव बढ़ता गया। इधर डालर का रक्षित कोष भी समाप्त हो गया था।

(४) युद्ध युग में इङ्गलैंड की आय के प्रधान स्रोत (अर्थात् बीमा, भाड़ा, विदेशी विनियोग इत्यादि) भी घट गये, अतः स्टर्लिङ्ग की माँग में कमी आ गई।

(५) इङ्गलैंड में निर्मित वस्तुओं की माँग भी पहिले की अपेक्षा गिर गई थी। ग्रेट ब्रिटेन की स्थिति को समझने के लिए यह जानना भी आवश्यक है कि वह युद्ध से, एक ऋणी देश के रूप में निकला था। भारी मात्रा में स्टर्लिंग ऋण जमा हो गया था, जिसके भुगतान में इङ्गलैंड का नैतिक उत्तरदायित्व था। इस ऋण के चुकाने के लिये इङ्गलैंड के निर्यात का बड़ा भाग व्यय हुआ, जिसके बदले में उसे कुछ भी विदेशी विनिमय प्राप्त न हो सका। ऋण के एक बड़े भाग का भुगतान डालर में भी किया गया। इस प्रकार ब्रिटेन के डालर घाटे की वृद्धि का कारण केवल उसके डालर देशों से आयात ही न थे, वरन् उसके ऋण लेता देशों की डालर की खरीद भी थी।

भारत में भी डालर की कमी—

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् भारत की भी निर्यात क्षमता काफ़ी घट गई थी, जबकि भुखमरी को दूर करने, मुद्रा-स्फीति को रोकने तथा उद्योगों के पुनर्निर्माण एवं विकास के लिए आयात की आवश्यकता बहुत बढ़ गई थी, इसलिए ब्रिटेन की भाँति भारत ने भी डालर की कमी का अनुभव किया। सन् १९४८ में अमेरिका को हमने केवल २५ करोड़ पौंड कीमत का माल भेजा, जबकि उस देश से हमारे आयात की कीमत २७ करोड़ पौंड के लगभग थी। सन् १९४९ के प्रथम तीन महीनों में हमारे निर्यात में कोई वृद्धि नहीं हुई और आयात की मात्रा बढ़ गई।

उक्त स्थिति पर विचार करने के लिए जुलाई सन् १९४९ में लन्दन में राष्ट्रमंडल (Common Wealth) देशों के वित्त मन्त्रियों का एक सम्मेलन बुलाया गया। प्रायः प्रत्येक देश ने अपने डालर की खरीदारी में २५ प्रतिशत की कमी कर लेना

स्वीकार कर लिया, किन्तु इससे स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। इस सम्मेलन के एकदम बाद ही ब्रिटेन, कनाडा तथा संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के प्रतिनिधियों की एक बैठक वाशिंगटन में हुई, जिसमें सन् १९५२ तक डालर के घाटे को दूर करने की एक १० धाराई योजना बनाई गई। इस योजनानुसार अमेरिका ने प्रशुल्क नीति में उदारता बर्तने, देश में मूल्य स्तर को उठाने तथा रबड और टीन जैसी वस्तुओं को संचित करने के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, जिससे कि स्टर्लिंग क्षेत्र के देश उस देश को अधिक माल भेज सकें, किन्तु इस योजना के कार्यान्वित होने के पूर्व ही ब्रिटेन ने अवमूल्यन करना निश्चय कर लिया था और सम्मेलन के तुरन्त बाद ही १८ सितम्बर सन् १९४९ को अवमूल्यन घोषित भी कर दिया गया।

रुपये के अवमूल्यन की वांछनीयता—

५ अक्टूबर सन् १९४९ को भारतीय सरकार के उस समय के अर्थ-मन्त्री डा० जान मथाई ने भारतीय संसद में अवमूल्यन से उत्पन्न परिस्थितियों पर विचार विमर्श करने का प्रस्ताव रखते हुए रुपए के अवमूल्यन के पक्ष में निम्न चार बातों पर विशेष जोर दिया—

(१) चूँकि भारत के अधिकतर निर्यात सुलभ मुद्रा वाले देशों को हैं और इङ्गलैंड ने अवमूल्यन कर दिया है, इसलिए रक्षणीय उपाय के रूप में भारत को भी अवश्य अवमूल्यन करना चाहिए।

(२) चूँकि भारत का मूल्य स्तर ऊँचा है और व्यापार-सन्तुलन भी प्रतिकूल है, अतः रुपये की वाह्य आर्घ्य ऊँची दर से नहीं रक्खी जा सकती।

(३) चूँकि स्टर्लिंग क्षेत्र का उद्देश्य कुछ अशों में निर्यातों की उन्नति और विस्तार द्वारा तथा कुछ अशों में यदि समानता वापिस लाने के लिए आवश्यक हो, तो आयात में कमी द्वारा भी उच्चतम संभव स्तर पर व्यापार सन्तुलन प्राप्त करना है, अतः अवमूल्यन अवश्य करना चाहिए।

(४) चूँकि भारत स्टर्लिङ्ग क्षेत्र का एक सदस्य है, उसका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह जो कुछ भी करे, स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के सभी उद्देश्यों को दृष्टि में रखते हुए करे और क्योंकि स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के नायक देश इङ्गलैंड ने अवमूल्यन किया है, भारत को भी अवश्य अवमूल्यन करना चाहिए।

रुपये के अवमूल्यन के ठीक पश्चात ही उसके द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों का सामना करने के लिए भारत सरकार ने निम्नलिखित रक्षणीय कदम उठाए—

सरकार ने तिलहन, वनस्पति, वनस्पति तेल, चमड़ा, फौलाद, तम्बाकू और सन के कपड़े पर इस उद्देश्य से निर्यात कर लगा दिए कि उनके अन्तर मूल्यों में वृद्धि न हो सके और अवमूल्यन से उनका वाह्य मूल्य गिर जाने के कारण विदेशी विनिमय में कमी का घाटा पूरा हो जाय। सरकार ने कोयले के निर्यात मूल्य को नियमित रखने के लिए उनका व्यापार अपने हाथ में ले लिया। सरकार ने हमारी मिलों को सुविधा देने के लिए ऐसे भी कदम उठाए कि उन्हें कच्ची रुई और कचा सन

उचित मूल्यों पर मिल सके। उसने पाकिस्तान से विभिन्न वस्तुओं के आयात की अबद्ध अनुमति को हटा दिया और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका से आने वाली कुछ आवश्यक औषधियों पर उनकी अनुचित मूल्य वृद्धि और उपलब्धता में कमी रोकने के उद्देश्य से उनके आयात की राशियाँ बढ़ा दीं। इसके अतिरिक्त अर्थ मन्त्री ने निम्नलिखित विस्तृत अष्ट सूत्री कार्यक्रम भी घोषित किया :—

(१) जीवन की आवश्यक वस्तुओं तथा अनाज के विक्रय मूल्य में १०% कमी करना।

(२) राजकीय व्यय में सन् १९४९-५० तथा सन् १९५०-५१ में क्रमानुसार ४० करोड़ और ८० करोड़ की बचत की योजना।

(३) विदेशी व्यापार पर नियन्त्रण तथा विदेशी विनिमय पर न्यूनतम व्यय किया जाना।

(४) शेष आय-कर को मिल-जुल कर तय किया जाय।

(५) ग्रामों में बैंकिंग की सुव्यवस्था की जाय। बचत करने के लिए लोगों को प्रेरित तथा प्रोत्साहित किया जाय, विनिमय योग में प्रोत्साहन दिया जाय।

(६) मूल्य वृद्धि रोकने के लिए शासन सम्बन्धी उपाय तथा साख व्यवस्था को नियन्त्रित करना।

(७) जिन देशों की मुद्राओं के मूल्य में रुपये की अपेक्षा वृद्धि हो गई है, उनसे औद्योगिक कच्चे माल के क्रय करते समय मूल्य में कमी करने के लिये पूर्ण प्रयत्नशील होना।

(८) देश को अधिक मात्रा में विदेशी विनिमय प्राप्त कराने के लिए दुर्लभ मुद्रा क्षेत्र को भेजी जाने वाली वस्तुओं पर निर्यात-कर लगाना तथा अवमूल्यन द्वारा लाभ में विदेशी विक्रेता तथा भारतीय विक्रेता के साथ भारत सरकार को भी कुछ भाग मिल सके।

अवमूल्यन के परिणाम—

रुपये के अवमूल्यन के उपरान्त भारत के विदेशी विनिमय, मूल्य तथा व्यापार की क्या दशा रही, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने अपनी ३० अप्रैल सन् १९५० की रिपोर्ट में इस विषय पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि सन् १९४८ के अक्टूबर, नवम्बर तथा दिसम्बर के महीनों में और सन् १९४९ जनवरी, फरवरी तथा मार्च के महीनों में अमेरिका से प्राप्त सेवाओं तथा अन्य सामिग्री के कारण ६'८ मिलियन डालर के हिसाब से अमेरिका के अनुकूल सन्तुलन प्रति वर्ष रहता था। सन् १९४९ अक्टूबर, नवम्बर तथा दिसम्बर के महीनों में हिसाब प्रति वर्ष ४४ मिलियन डालर रहा। स्टर्लिंग क्षेत्र की रिपोर्ट के अनुसार इंगलैंड के रक्षित कोष तथा सोने में भी सन् १९४९ के अन्त में १६'८८ मिलियन डालर से सन् १९५० के आखीर में २४'२२ मिलियन डालर तक की वृद्धि हो गई। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कोष के अनुसार

अवमूल्यन के परिणामस्वरूप स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों की डालर सम्बन्धी स्थिति में सुधार हो गया।

अवमूल्यन का भारत के विदेशी व्यापार पर अच्छा तथा भारत के अनुकूल प्रभाव पड़ा। अगले वर्षों में व्यापाराधिक्य की प्रतिकूलता कुछ कम हो गई, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है:—

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	निर्यात	आयात	व्यापाराधिक्य
१९४८-४९	४२३·३१	५४२·९२	— ११९·६१
१९४९-५०	४८५·३३	५९४·३२	— १०८·९९
१९५०-५१	५८६·८८	५६५·४६	+ २१·४२
१९५१-५२	७१५·५६	८६२·८४	— १४७·२८
१९५२-५३	५५९·७८	६३२·९५	— ७३·१७

कुछ वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होने के कारण तथा कुछ वस्तुओं की मात्रा में वृद्धि होने के कारण निर्यात में वृद्धि हुई। सूती वस्त्र, चमड़ा, तम्बाकू तथा अभ्रक आदि का निर्यात भी पर्याप्त मात्रा में बढ़ा। सन् १९५०-५१ की रिजर्व बैंक की वित्त सम्बन्धी रिपोर्ट से यह स्पष्ट पता चलता है कि चालू हिसाब में कुल भुगतान का सन्तुलन भारत के पक्ष में ९९.३ करोड़ रुपये था, अतः इस दृष्टि से भी भारत को लाभ हुआ। सन् १९४९ में भारत को २६ करोड़ का घाटा था, किन्तु सन् १९५० में ५९·७ करोड़ रु० की बचत हुई। इसी प्रकार उन स्थानों में जहाँ मुद्रा दुर्लभ थी, सन् १९४९ में ५२ करोड़ के घाटे के स्थान पर सन् १९५० में ३६ करोड़ की बचत हुई। अन्य क्षेत्रों के विषय में भी घाटे की मात्रा ७०·३ करोड़ के स्थान पर केवल २७·१ करोड़ रह गई।

जब भारत और इंगलैण्ड ने सितम्बर सन् १९५० में अपनी मुद्रा प्रमापों का अवमूल्यन किया तो उनको पूर्ण विश्वास था कि स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य देशों की भाँति पाकिस्तान भी अपने रुपये का अवमूल्यन करेगा, किन्तु इस आशा के प्रतिकूल पाकिस्तान ने अवमूल्यन नहीं किया, अतः भारतीय रुपये का मूल्य पाकिस्तानी रुपये के रूप में ३०% घट गया, अर्थात् पाकिस्तान से १००) मूल्य की वस्तुयें क्रय करने के लिए अब भारत को लगभग १४४) देने पड़ते हैं और अपनी १००) की वस्तुयें विक्रय करने के लिए उसे लगभग ६९$\frac{1}{2}$ पाकिस्तानी रुपये प्राप्त होते हैं। पाकिस्तानी निर्णय ने भारत और पाकिस्तान के पारस्परिक व्यापार में बाधा डाल दी। बटवारे के पूर्व भारत उस प्रदेश से, जो अब पश्चिमी पाकिस्तान में है, बड़ी मात्रा में अन्न, चमड़े और खालें, सेंधा नमक, मेवा इत्यादि आयात करता था। इसी प्रकार रुई के माल, शक्कर, कोयला कागज, दवाइयाँ, चमड़ा और जूते, रंग एवं वार्निश, रेल्वे का सामान और फौलाद की आवश्यकताओं के लिए पाकिस्तान भारत पर निर्भर है। अवमूल्यन

के परिणामस्वरूप भारत को पटसन, कपास तथा अन्न के आयात में भारी कठिनाई हुई। पाकिस्तान के दृढ़ निश्चय ने भारत की कठिनाई को और भी बढ़ा दिया।

भारत के वित्त मन्त्री श्री चिन्तामणि देशमुख के मतानुसार हमारी व्यापारा-धिक्य की स्थिति में हाल के वर्षों में जो सुधार हुआ है, उसका एकमात्र कारण अवमूल्यन ही है। सितम्बर सन् १९४९ से जून सन् १९५० तक सुधार १७२ करोड़ रुपये की कीमत का था, किन्तु यह राजकीय मत पूर्णतया सत्य नहीं है। उक्त काल में हमने गत वर्ष की तुलना में ४९९ करोड़ रुपये की कमी कर दी है। निर्यातों के बढ़ने से भी जो सुधार हुआ (७४ करोड़ रुपया) उसका भी अधिकांश भाग स्टर्लिङ्ग क्षेत्र को पहले से अधिक माल भेज कर प्राप्त किया गया था। इस प्रकार डालर प्राप्त में कोई विशेष सुधार न हो सका।

जहाँ तक पूरे स्टर्लिङ्ग क्षेत्र का प्रश्न है अवमूल्यन का उद्देश्य पूरा ही हो गया। इसने काफी मात्रा में डालर कमाया। अवमूल्यन के पश्चात् दो वर्षों में डालर कोष में क्रमशः १६८'८ और २४२'२ करोड़ डालर की वृद्धि हुई। स्वयं भारत का डालर क्षेत्र से व्यापार में घाटा सन् १९४९ में २३ करोड़ रुपये का था, किन्तु सन् १९५० में उसको शुद्ध आधिक्य २९ करोड़ रुपये का था।

किसी दूसरी ओर देश में मुद्रा प्रसार का और अधिक विस्तार हो गया। सन् १९४८ में भारत सरकार ने जो मुद्रा प्रसार विरोधी उपाय किए थे, वे अवमूल्यन के परिणामस्वरूप व्यर्थ हो गये। भारत में मूल्य सूचक अङ्क और ऊपर चढ़ गए हैं। अवमूल्यन का सामान्य प्रभाव यह हुआ है कि वस्तुओं की कमी और भी बढ़ गई है और भारत का व्यापार डालर क्षेत्र से स्टर्लिङ्ग क्षेत्र को परिवर्तित हो गया है। अवमूल्यन ने मूल्य स्तर में बढ़ने की प्रवृत्ति को और भी बलशाली कर दिया है। थोक कीमतों का सूचक अङ्क, जो सितम्बर सन् १९४९ में ३९० था, अक्टूबर में ३९३'१ हो गया। फिर दिसम्बर में यह गिर कर ३८१'३ रह गया, किन्तु यह फिर ऊपर चढ़ने लगा। अप्रैल सन् १९५० में यह ३९१ हो गया और अप्रैल सन् १९५१ में ४५८ तक पहुँच गया। दिसम्बर सन् १९५२ में यह ३४६ था और सन् १९५३ अप्रैल में ३४३।

क्या रुपये का पुनः मूल्यन वांछनीय है—

अवमूल्यन होने के एक वर्ष पश्चात् इंगलैंड में पौंड के पुनः मूल्यन की आवाज उठी। देखा देखी भारत में भी रुपये के पुनः मूल्यन की चर्चा शुरू हो गई। कुछ लोगों का यह विचार था कि पुनः मूल्यन अवश्य होना चाहिए, क्योंकि :—

(१) पुनः मूल्य के द्वारा देश में वस्तुओं का मूल्य सुगमता से कम हो जायगा। इससे कोरिया युद्ध का प्रभाव भी सरलता से दूर किया जा सकता है।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्षेत्रों में व्यापार का आधार भारत के पक्ष में हो जाएगा।

(३) इससे डालर तथा रुपये के मूल्य की असमानता भी दूर की जा सकती है।

किन्तु इस मत के विपरीत दूसरी विचारधारा यह है कि अवमूल्यन वाँछनीय है, क्योंकि—

(१) पुनः मूल्यन का प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर अच्छा नहीं पड़ेगा।

(२) पुनः मूल्यन का प्रभाव सरकार के आय-व्यय बजट पर भी अच्छा न पड़ेगा।

(३) पुनः मूल्यन की अनुकूल परिस्थित, वर्तमान डांवाडोल अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को देखते हुए तत्काल प्रतिकूल हो सकती है।

(४) चौथा महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि पुनः मूल्यन से हमारे आयात में वृद्धि होगी और भुगतान करने के लिए विदेशी विनिमय की पूर्ति करनी चाहिए।

सारांश में यह कह सकते हैं कि यद्यपि रुपये का अवमूल्यन भारत के लिए विशेष हितकारी सिद्ध नहीं हुआ है और जो लाभ मिले भी हैं वे भ्रमात्मक हैं, किन्तु पुनः मूल्यन भी वाँछनीय नहीं कहा जा सकता। पुनः मूल्यन का परिणाम यह होगा कि हमें पुनः देश की अर्थ व्यवस्था में आवश्यक परिवर्तन करने पड़ेंगे, जो सम्भवतः कष्टदायक ही होंगे। इसके अतिरिक्त पाकिस्तान की भाँति हमें भी कुछ समय के लिए घोर व्यापारिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। मनोवैज्ञानिक कारणों से भी अब पुनः मूल्यन करना उचित नहीं कहा जा सकता। कोरिया युद्ध के अन्त के कारण तथा रिजर्व बैंक की साख संकुचन नीति के अन्तर्गत अब स्थिति बदल चुकी है। विश्व में कच्चे माल के मूल्य में नीचे गिरने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई है और परिणामस्वरूप पुनः मूल्यन का प्रश्न असामयिक हो गया है।

———

[३२]
स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया

रूप रेखा—

१. *प्रारम्भिक*—सन् १९५१ में अखिल भारतीय ग्रामीण सर्वे का संचालन करने के लिए नियुक्त निर्देशन समिति ने यह सिफारिश की थी कि देश में बैंकिंग के विकास के लिए राज्य की साझेदारी में एक दृढ़ व्यापारिक बैंक स्थापित किया जाय। इस सम्बन्ध मे १६ अप्रैल सन् १९५५ को स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया बिल पास किया गया।

२. *बैंक की स्थापना*—स्टेट बैंक की स्थापना १ जुलाई सन् १९५५ को हो गई। इम्पीरियल बैंक की सम्पत्ति और दायित्व इसे हस्तान्तरित हो गये हैं। शेयर होल्डरों को हर्जाना दे दिया गया है। बैंक की अधिकृत पूँजी २० करोड़ रुपया और निर्गमित पूँजी ५·६२५ करोड़ रुपया है, जिसे इम्पीरियल बैंक के शेयरों-के स्थान पर रिजर्व बैंक को आमन्त्रित कर दिया गया है। स्टेट बैंक के शेयर होल्डर अपने शेयरों का स्वतन्त्रतापूर्वक हस्तान्तरण कर सकते हैं, लेकिन रिजर्व बैंक नहीं।

३. *स्टेट बैंक के कार्य*—(अ) रिजर्व बैंक के एजेन्ट का कार्य करना, (आ) अन्य कार्य—निर्दिष्ट प्रतिभूतियों पर द्रव्य उधार देना और उनका धन वसूल नकद साख खोलना, प्रतिभूतियां बेचना और करना, प्रतिभूतियों का लेखण, स्वीकरण, क्रय एवं विक्रय, कोषों का बट्टा, विनियोग, धन स्थानान्तर निर्गमित करना और खरीदना, स्वर्ण और चाँदी का खरीदना और बेचना, डिपाजिट लेना और रोकड़ खाते रखना, कीमती वस्तुएँ सुरक्षा के लिए लेना, सरकारी बैंकों के एजेन्ट का कार्य करना, एजेन्सी व्यापार करना, जायदाद का अधिशासक, प्रन्यासी अथवा प्रबन्धकर्त्ता या लिक्वीडेटर का कार्य करना, भारत के बाहर वाले बिल लिखना और खरीदना, चुकने अपने व्यापार के लिए द्रव्य उधार लेना, पेन्शन फण्डों का भुगतान, (इ) अन्य बैंकों का व्यापार हाथ में लेना।

४. *स्टेट बैंक की क्रियाओं पर प्रतिबन्ध*—स्टेट बैंक पर अपने कार्यों के निष्पादन में कुछ प्रतिबन्ध भी लगाये गये हैं।

५. *बैंक का प्रबन्ध एवं संगठन*—स्टेट बैंक का केन्द्रीय कार्यालय दिल्ली में है। बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में स्थानीय कार्यालय हैं। इम्पीरियल बैंक की सब

शाखाएँ और एजेन्सियाँ स्टेट बैंक ने ले ली है। स्टेट बैंक के कार्यों का सचालन सेन्ट्रल बोर्ड के सुपुर्द है।

६. *कोष एवं खाते*—स्टेट बैंक एक विशेष कोष सगठन एवं विकास कोष रखेगा, जिसे विशेष हानियों को पूरा करने में लगाया जायगा। वार्षिक लाभों से एक रिजर्व फण्ड भी बनाया जायेगा। वैधानिक उद्देश्यों के लिए उपयुक्त आयोजन करने के पश्चात् वह शुद्ध लाभ में से लाभांश घोषित कर सकता है।

७. *इम्पीरियल बैंक की विदेशी शाखाएँ*—विदेशी शाखाओं के हस्तान्तरण के सम्बन्ध में कानूनी कठिनाइयाँ अनुभव की जा रही हैं, अतः उ हें ज्यों का त्यों रखा गया है और उनके साथ विशेष अनुबन्ध कर लिए गये हैं।

८. *स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना पर आलोचना*—हर्जाना बड़ा अपर्याप्त बताया गया है। इस बात का डर है कि स्टेट बैंक साख देने के मामलों में प्राइवेट व पब्लिक संस्थाओं में भेद करेगा। शाखाएँ खोलने के चक्कर में सम्भव है कि वह व्यापारिक बैंकिंग के विकास पर अधिक ध्यान न दे सके। व्यापारियों के रहस्य खुलने का भी डर रहेगा। सिद्धान्ततः स्टेट बैंक का निर्माण न्याय सम्मत है। ग्रामीण साख इसके द्वारा सरलता से उपलब्ध की जा सकेगी। इम्पीरियल बैंक की सरकार ने बड़ी सहायता की है, अतः इसका राष्ट्रीयकरण सरकार का नैतिक अधिकार है। सरकार ने आश्वासन दिया है कि नया स्टेट बैंक व्यापारिक बैंकों की इम्पीरियल बैंक की भांति सहायता करेगा। स्टेट बैंक छोटे व अनार्थिक बैंकों को अपने में सविलीन कर सकता है।

९ *उपसंहार*—स्टेट बैंक की स्थापना ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के विकास के लिए एक अत्यन्त आवश्यक कदम है।

प्रारम्भिक—

सन् १९५१ में एक अखिल भारतीय ग्रामीण सर्वे का सचालन करने के लिये रिजर्व बैंक ने एक निर्देशन समिति (Committee of Direction) नियुक्त की। इस समिति की एक महत्वपूर्ण सिफारिश यह थी कि देश मे बैंकिंग के विकास को प्रोत्साहित करने के लिये राज्य की साझेदारी में एक दृढ व्यापारिक बैंक स्थापित किया जाय, जिसकी शाखायें सारे देश में फैली हों। यह बैंक सरकारी बैंक और अन्य बैंकों को धन के स्थानान्तरण की विस्तृत सुविधायें प्रदान करेगा और एक ऐसी नीति अपनायेगा, जो कि एक ओर तो व्यापारिक सिद्धान्तों के अनुकूल हो और दूसरी ओर सरकार द्वारा अपनाई गई राष्ट्रीय नीतियों के विरुद्ध भी न हो। सरकार के इस सिफारिश को स्वीकार कर लेने पर वित्त मन्त्री ने इस दिशा में प्रथम कदम के रूप में २० दिसम्बर सन् १९५४ को पार्लियामेण्ट में इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया का नियन्त्रण अपने हाथ में लेने की घोषणा की। तदनुसार उन्होंने १६ अप्रैल सन् १९५५ को

लोक सभा में स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया बिल प्रस्तुत किया, जिसे अब पार्लियामेण्ट के दोनों सदनों ने पास कर दिया है और प्रेसीडेण्ट की स्वीकृति भी प्राप्त हो गई है।

बैंक की स्थापना—

स्टेट बैंक आफ इण्डिया एक्ट की धारा ६ के अनुसार इम्पीरियल बैंक का व्यापार स्टेट बैंक को हस्तातरित करके स्टेट बैंक स्थापित कर दिया गया है। हस्तातरण कि तिथि (अर्थात् १ जुलाई सन् १९५५) के पहले जो अनुबन्ध एव प्रलेख प्रभावयुक्त थे वे सभी पूर्ण रूप से स्टेट बैंक के पक्ष अथवा विपक्ष में लागू होंगे और उनको उतने ही प्रभाव के साथ प्रवर्तित कराया जा सकता है जितना तब जब कि इम्पीरियल बैंक की बजाय स्टेट बैंक ही उनका पक्षकार होता। धारा ७ के अनुसार इम्पीरियल के समस्त अधिकारी एव कर्मचारी (केवल मैनेजिंग डाइरेक्टर, डिप्टी मैनेजिंग डाइरेक्टर एव अन्य डाइरेक्टरों को छोड़ कर) स्टेट बैंक के अधिकारी एव कर्मचारी हो गये हैं। इनके अधिकार एव कर्त्तव्य तथा सेवा सम्बन्धी शर्तें वही रहेंगी जो कि हस्तातरण की तिथि पर थीं। इम्पीरियल बैंक के शेयर होल्डरों को एक्ट की प्रथम अनुसूची में दिये गये निर्देशों के अनुसार हर्जाना दे दिया गया है।

बैंक की अधिकृत पूँजी २० करोड़ रुपया और निर्गमित पूँजी ५,६२५ करोड़ रुपया है, जिसे इम्पीरियल बैंक के शेयरों के स्थान मे रिजर्व बैंक को आबटित (Allot) कर दिया गया है। हाँ, भारत सरकार को यह अधिकार है कि वह आवश्यकता के अनुसार अधिकृत पूँजी की रकम को बढा दे या घटा दे। इसी प्रकार सेण्ट्रल बोर्ड को भी निर्गमित पूँजी में वृद्धि करने का अधिकार है, किन्तु ऐसी वृद्धि न की जा सकेगी कि किसी भी समय रिजर्व बैंक के पास बैंक की ५५% निर्गमित पूँजी से कम रहे। यही नहीं, निर्गमित पूँजी में १२½ करोड़ रुपये से अधिक वृद्धि केन्द्रीय सरकार की पूर्व सहमति से ही की जा सकती है।

स्टेट बैंक के शेयर होल्डर अपने शेयरों का स्वतन्त्रतापूर्वक हस्तान्तरण कर सकते हैं, किन्तु रिजर्व बैंक अपने शेयर ट्रान्सफर न कर सकेगा, यदि ऐसे ट्रान्सफर के परिणामस्वरूप उसका धारण (Holding) स्टेट बैंक की निर्गमित पूँजी ५५% से कम हो जाय। किसी व्यक्ति को अपने अकेले नाम में या अन्य लोगों के साथ २०० शेयरों से अधिक के लिए शेयर होल्डर के रूप में रजिस्टर्ड नहीं किया जा सकता और न *उसको २०० से अधिक शेयरों पर डिविडेन्ड पाने का अधिकार है। ऐसे अधिक शेयरों के* सम्बन्ध में केवल बेचने के अधिकार छोड़कर, वह शेयर होल्डर के किसी अधिकार का प्रयोग भी नहीं कर सकता। उक्त बन्धन निम्नलिखित संस्थाओं को लागू न होगा—

(१) रिजर्व बैंक,
(२) कॉरपोरेशन,
(३) बीमक,
(४) स्थानीय सत्ता,
(५) सहकारी संस्था,



(६) एक पब्लिक या प्राइवेट धार्मिक या दान पुन्य सम्बन्धी संस्था के प्रन्यासी।

उक्त संस्थायें (केवल रिजर्व बैंक को छोड़कर) अपने वोट सम्बन्धी अधिकारों का प्रयोग केवल १% निर्गमित पूँजी के अंशों के लिये कर सकते हैं। इन्डियन ट्रस्ट एक्ट सन् १८८२, इन्डियन इन्स्योरेन्स एक्ट सन् १९३८ और बैंकिंग कम्पनी एक्ट सन् १९४९ की धाराओं के आधीन स्टेट बैंक के शेयर 'स्वीकृत प्रतिभूतियाँ' (Approved-Securities) घोषित कर दी गई हैं।

स्टेट बैंक के कार्य—

(अ) रिजर्व बैंक के एजेन्ट का कार्य करना—स्टेट बैंक ऑफ इन्डिया उन सब स्थानों में रिजर्व बैंक के एजेन्ट का कार्य करता है जहाँ कि उसकी शाखायें हैं और जहाँ रिजर्व बैंक के बैंकिंग विभाग की कोई शाखा नहीं है, वहाँ वह निम्न के लिए एजेन्ट का कार्य करता है—(१) भारत में किसी भी सरकार के लिए द्रव्य, धातु और प्रतिभूतियाँ चुकाना, पाना, संग्रह करना और एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजना, तथा (२) कोई अन्य व्यापार करना, जो कि रिजर्व बैंक उसे समय-समय पर सौंपे। इसके अतिरिक्त स्टेट बैंक वह व्यापार या कर्त्तव्य भी कर सकता है जो कि रिजर्व बैंक उसे बतावे। इस आशय के लिए स्टेट बैंक और रिजर्व बैंक के मध्य एक ठहराव होगा, जिसमें ऐजेन्सी की शर्तें निश्चित की जावेंगी। यदि किसी बात पर मतैक्य न हो, तो केन्द्रीय सरकार का निर्णय मान्य होगा।

(आ) अन्य कार्य—रिजर्व बैंक के एजेन्ट का कार्य करने के अलावा स्टेट बैंक नीचे लिखे कार्य भी कर सकता है:—

(१) निम्न की प्रतिभूति पर द्रव्य उधार देने और नगद साख खोलना:—

(क) स्टॉक, फन्ड एवं प्रतिभूतियाँ (अचल सम्पत्ति के अतिरिक्त), जिनमें एक प्रन्यासी तत्कालीन किसी सनियम के अन्तर्गत, जोकि भारत में या किसी अन्य देश में (जहाँ कि स्टेट बैंक की शाखा हो) चलन में है, ट्रस्ट धन का विनियोग कर सकता है।

(ख) ऋण पत्र या अन्य प्रतिभूतियाँ जो किसी जिला बोर्ड, म्यूनिस्पल बोर्ड समिति अथवा अन्य स्थानीय सत्ता किसी केन्द्रीय या प्रान्तीय अधिनियम या किसी अन्य देश के तत्कालीन सनियम के अन्तर्गत, जहाँ कि स्टेट बैंक की शाखा है, जारी किये जावें।

(ग) भारत में अथवा ऐसे किसी अन्य देश में जिसे केन्द्रीय सरकार स्वीकार करे, रजिस्टर्ड हुई सीमित दायित्व वाली कम्पनियों के ऋण पत्र।

(घ) भारत में स्थापित कोरपोरेशनों के शेयर एवं डिबेन्चर।

(ङ) स्टेट बैंक के पास ऋण की प्रतिभूति के लिये जमा किये गये या अभिहस्तांकित माल या माल के अधिकार पत्र।

(च) (यदि सेन्ट्रल बोर्ड के विशेष निर्देशों द्वारा अनुमति हो तो) स्टेट

बैंक को ऐसे ऋण, पेशगी या साख के लिये बन्धक रखे गये (Hypothecated) माल।

(छ) प्राप्तकर्त्ताओं (Payees) द्वारा बेचान किये गये स्वीकृत बिल आफ एक्सचेन्ज और प्रामिजरी नोट एवं दो या अधिक व्यक्तियों के अथवा सामान्य साझेदारी में एक दूसरे से असम्बन्धित फर्मों के संयुक्त एवं पृथक प्रामिजरी नोट।

(ज) सीमित दायित्व वाली कम्पनियों के पूर्णदोदत्त शेयर या अचल सम्पत्ति अथवा आनुषंगिक प्रतिभूति के रूप में इसके अधिकार पत्र, जबकि मूल प्रतिभूति वह है जिसका कि वर्णन (क) से (ङ) के अन्तर्गत किया गया है। यदि मूल प्रतिभूति उस प्रकार की है जिसका वर्णन (च) से (छ) तक किया गया है, तो उक्त वस्तुओं पर ऋण, पेशगी अथवा साख सेन्ट्रल बोर्ड के निर्देशों के आधीन ही दी जा सकेगी।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि सेन्ट्रल बोर्ड, यदि वह उपयुक्त समझे, बिना विशेष प्रतिभूति लिये ही किसी विदेशी सरकार को या भारत से बाहर किसी भी सत्ता को ऋण पेशगी एवं साख दे सकती है। हाँ, इसके लिये केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति लेना आवश्यक होगा।

(२) किसी प्रामिज़री नोट, डिबेन्चर, स्टॉक रसीद, बान्ड, एनुइटीज़, स्टाक शेयर, प्रतिभूति अथवा माल को बेचने और विक्रय धन वसूल करना, जो कि ऐसे ऋण, पेशगी या साख के सम्बन्ध में प्रतिभूति की भाँति स्टेट बैंक के पास जमा करा दी गई है या ट्रान्सफर कर दी गई है और ऐसे डिपाजिट या ट्रान्सफर की शर्तों के अनुसार उचित समय के अन्दर उनका शोधन न किया गया हो।

(३) बिल ऑफ एक्सचेन्ज और अन्य विनिमय साध्य प्रतिभूतियों का लेखण स्वीकरण, बट्टा करना, खरीदना और बेचना।

(४) स्टेट बैंक के कोषों का (अ) के (क) से (घ) तक वर्णित प्रतिभूतियों में विनियोग करना और जब आवश्यक हो, तो उनको द्रव्य में परिवर्तित करना।

(५) मांग-ड्राफ्ट, टेलीग्राफिक ट्रान्सफर और अन्य प्रकार के धन स्थानान्तर (जो इसके अपने कार्यालयों, शाखाओं अथवा एजेन्सियों पर देय हों), निर्गमित करना, ड्राफ्ट, टेलीग्राफिक ट्रान्सफर व अन्यधन स्थानान्तर खरीदना और साख पत्र जारी करना।

(६) स्वर्ण और चाँदी का (जो सिक्कों के रूप में हो या सिक्कों के रूप में न हो) खरीदना और बेचना।

(७) डिपाजिट लेना और रोकड़ खाते रखना, ऐसी शर्तों पर, जो कि तय की जायें।

(८) सब प्रकार के बॉन्ड, स्लिप टाइटिल डीड अथवा अन्य कीमती वस्तुयें जमा के लिये या सुरक्षा के हेतु रखने के लिये लेना।

(९) उस सब जायदाद को बेचना और वसूल करना, जोकि अपने दावों की पूर्ति में स्टेट बैंक को प्राप्त हो जाय।

(१०) सहकारी बैंकों (सहकारी संस्था अधिनियम सन् १९१२ के अन्तर्गत रजिस्टर्ड) के एजेन्ट का कार्य करना।

(११) किसी स्टॉक, शेयर, डिबेन्चर एवं अन्य प्रतिभूतियों के निर्गमन का, जिनमें स्टेट बैंक (ई) वाक्य के अन्तर्गत अपने कोषों का विनियोग कर सकता है, अभिगोपन करना।

(१२) ऐजेन्सी व्यापार कमीशन के बदले करना और हानि रक्षा, प्रतिभूति एवं प्रत्याभूति के अनुबन्धों में विशेष प्रतिभूति सहित या इसके बिना ही प्रविष्ट होना।

(१३) किसी भी आशय के लिए अकेले या अन्य व्यक्तियों के साथ जायदाद का अधिशासक (Executor), न्यासी (Trustee) अथवा किसी अन्य रूप में प्रबन्ध करना, अकेले या अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर किसी निपटारे (Settlement) या डिबेन्चर ट्रस्ट डीड के अन्तर्गत न्यासी का कार्य करना अथवा किसी बैंकिंग संस्था के ही लिक्वीडेटर का काम करना या निम्नलिखित प्रकार के व्यवहारों में कमीशन के बदले एजेण्ट का कार्य करना :—

(क) किसी पब्लिक कम्पनी में किसी प्रतिभूति या शेयर को खरीदना, बेचना, हस्तांतरण करना या ग्रहण करना।

(ख) किसी प्रतिभूति या शेयरों के लिए धन प्राप्त करना।

(ग) ऐसे धन को बिल ऑफ एक्सचेंज द्वारा (जो कि भारत में या अन्यत्र देय हो) स्थानान्तरित करना।

(१४) भारत के बाहर भुगने वाले बिल ऑफ एक्सचेन्ज लिखना और साख-पत्र स्वीकार करना।

(१५) भारत के बाहर देय (अधिक से अधिक १५ माह की अवधि के, जबकि बिल मौसमी कृषि कार्यों के अर्थ प्रबन्ध के लिये हों और अन्य दशाओं में ६ माह के) बिलों को खरीदना।

(१६) स्टेट बैंक के व्यापार के लिये द्रव्य उधार लेना और इस प्रकार उधार लिये गये धन के लिये सम्पत्ति बन्धक रख कर या अन्य रूप से प्रतिभूति देना।

(१७) शेयर पूँजी वाली कम्पनी या किसी सहकारी संस्था के पक्ष में, कम्पनी या संस्था का समापन रोकने या समापन की सुविधा के हेतु द्रव्य उधार देना अथवा नगद साख प्रदान करना।

(१८) राज्य सरकार की सहमति से कोर्ट ऑफ वार्ड्स को उनके आधीन जायदाद की प्रतिभूति पर द्रव्य उधार देना।

(१९) रिजर्व बैंक की अनुमति से किसी बैंकिंग संस्था की पूँजी या पूँजी के अंशों को खरीदना, प्राप्त करना, बेचना या रखना और ऐसी बैंकिंग संस्था को स्टेट बैंक की सहायक के रूप (या अन्यथा) निर्माण करना अथवा संचालित करना।

(२०) धारा ८ में उल्लेखित पेंशन फण्डों का समय-समय पर भुगतान करना।

(२१) ऐसा कोई अन्य कार्य करना, जिसके लिए केन्द्रीय सरकार रिजर्व बैंक की राय से और सैन्ट्रल बोर्ड की सिफारिश पर अनुमति दे।

(२२) इस एक्ट या किसी अन्य सन्नियम द्वारा स्टेट बैंक को सौंपे गये कार्यों को करना।

(२३) ऐसे सब कार्य करना जो विभिन्न प्रकार के व्यवहारों को (जिसमें विदेशी विनिमय व्यापार भी शामिल है) करने में सहायक हो या सम्बन्धित हो)।

(६) अन्य बैंकों का व्यापार हाथ में लेना :—

इस अधिनियम की धारा ३५ के अन्तर्गत स्टेट बैंक, केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से, किसी बैंकिंग संस्था के व्यापार को (सम्पत्तियाँ एवं दायित्व सम्मिलित करते हुये) ग्रहण करने के लिए वार्ता में प्रविष्ट हो सकता है। यदि इसकी शर्तों को सेन्ट्रल बोर्ड और सम्बन्धित बैंकिंग संस्था का संचालक बोर्ड स्वीकार करले और रिजर्व बैंक भी अनुमति दे दे, तो उन्हें केन्द्रीय सरकार के सामने प्रस्तुत किया जायगा और यदि केन्द्रीय सरकार स्वीकृति दे दे, तो वे स्टेट बैंक और सम्बन्धित बैंकिंग संस्थाओं व अंशधारियों एवं लेनदारों पर बाधित हो जायेंगी। किसी बैंकिंग संस्था को प्राप्त करने का प्रतिफल या तो नगदी में अथवा स्टेट बैंक की पूँजी में शेयर के आबन्टन द्वारा अथवा अंशतः नगद और अंशतः शेयरों में चुकाया जा सकता है।

स्टेट बैंक की क्रियाओं पर प्रतिबन्ध—

(१) स्टेट बैंक कोई ऋण या अग्रिम (अ) छः महीने से अधिक अवधि के लिये या (आ) स्टेट बैंक के शेयर अथवा स्टॉक की प्रतिभूति पर या (इ) किसी अचल जायदाद की प्रतिभूति पर नहीं देगा।

(२) धारा ३३ के वाक्य (1) के उपवाक्य (a) से (e) तक में निर्दिष्ट की गई प्रतिभूतियों पर ही स्टेट बैंक किसी व्यक्ति या फर्म के लिये बिलों को, ऐसी रकम के लिये जो व्यक्ति या फर्म के लिये स्वीकृत की गई सीमा से अधिक न हो, बट्टे पर नहीं भुना सकता।

(३) स्टेट बैंक किसी व्यक्ति या फर्म के विनिमय साध्य रुक्के की प्रतिभूति पर, जो कि एक ऐसे स्थान पर देय हों जहाँ कि उसे डिस्काउट करने के लिये प्रस्तुत किया जाय और जिस पर कम से कम दो व्यक्तियों या फर्मों का, जो सामान्य मामले-

दारी में एक दूसरे से असम्बन्धित हों, दायित्व न हो, ऋण, अग्रिम, उधार या नगद साख नहीं दे सकती।

(४) स्टेट बैंक किसी ऐसी विनिमय साध्य प्रतिभूति की प्रतिभूति पर (वह प्रतिभूति नहीं, जिसमें कि ट्रस्टी अपने ट्रस्ट धन का विनियोग कर सकता है) ऋण, अग्रिम, उधार या नगद साख नहीं दे सकता, जो :—

(अ) प्रस्तावित लेनदेन की तिथि पर १५ महीने (यदि प्रतिभूति वह बिल है जो कि मौसमी कृषि आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये लिखा गया है) और अन्य दशाओं में छः महीने से अधिक की अवधि के लिये चलती रहती है।

(आ) जबकि प्रतिभूति एक बिल है, तो वह मौसमी कृषि कार्यों के लिये अर्थ का प्रबन्ध करने के उद्देश्य से लिखे गये बिल की दशा में १५ महीने अथवा अन्य दशाओं में छः महीने से अधिक के लिये लिखा गया है।

(इ) धारा ३३ में दी हुई दशा के अतिरिक्त स्टेट बैंक भी अचल जायदाद में कोई हित प्राप्त नहीं कर सकता। हाँ, स्टेट बैंक का व्यापार चलाने या अपने अधिकारियों एवं कर्मचारियों के लिये भवन प्रदान करने के लिये वह अचल जायदाद ले सकता है।

बैंक का प्रबन्ध एवं संगठन—

(अ) *कार्यालय एवं एजेन्सियाँ*—स्टेट बैंक का केन्द्रीय कार्यालय बम्बई में है और उनके स्थानीय कार्यालय बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में स्थापित हैं। उसके स्थानीय कार्यालय ऐसे अन्य स्थानों पर भी खोले जा सकते हैं जहाँ केन्द्रीय सरकार सैन्ट्रल बोर्ड की सलाह से उनका खोलना उपयुक्त समझे। १ जुलाई सन् १९५५ से इम्पीरियल बैंक की समस्त शाखायें, उसके कार्यालय एवं उसकी अन्य एजेन्सियाँ स्टेट बैंक ने ग्रहण करली हैं और उन्हें रिजर्व बैंक की अनुमति के बिना बन्द नहीं किया जा सकता। स्टेट बैंक को यह अधिकार है कि वह भारत में या बाहर किसी एक स्थान पर अतिरिक्त शाखायें या एजेन्सियाँ खोले। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि स्टेट बैंक अपनी स्थापना के पाँच वर्षों के भीतर या केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्धारित अधिक विस्तृत अवधि में अपनी विद्यमान शाखाओं के अतिरिक्त कम से कम ४०० शाखायें और खोलेगा।

(आ) *प्रबन्ध*—स्टेट बैंक के कार्यों और व्यापार का संचालन और देखरेख सैन्ट्रल बोर्ड को सुपुर्द किया गया है, जो वह सब अधिकार प्रयोग में ला सकता है और उन सब कार्यों को कर सकता है, जिन्हें स्टेट बैंक प्रयोग में ला सकता है या कर सकता है और जिन्हें अधिनियम स्पष्ट रूप से केवल स्टेट बैंक द्वारा जनरल मीटिंग में ही करने का निर्देश नहीं करता। अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में स्टेट बैंक व्यापारिक नीति पर चलेगा, किन्तु साथ ही सार्वजनिक हित का भी ध्यान रखेगा। सार्वजनिक हित

को प्रभावित करने वाले नीति सम्बन्धी मामलों में स्टेट बैंक उन निर्देशों को भी ध्यान में रखेगा जो कि केन्द्रीय सरकार रिजर्व बैंक के गवर्नर और स्टेट बैंक के चेयरमैन के परामर्श से उसे दे। केन्द्रीय सरकार अपने निर्देश रिजर्व बैंक द्वारा देगी और जब यह विवाद उठे कि अमुक निर्देश किसी नीति विषयक मामले से सम्बन्धित है या नहीं, केन्द्रीय सरकार का निर्णय ही अन्तिम होगा।

(इ) सेन्ट्रल बोर्ड की सदस्यता—सेन्ट्रल बोर्ड में निम्नलिखित होंगे — (अ) एक चेयरमैन* और एक उप चेयरमैन, जिन्हें केन्द्रीय सरकार रिजर्व बैंक के परामर्श से नियुक्त करेगा। (आ) अधिक से अधिक २ प्रबन्ध सचालक, जिन्हें सेन्ट्रल बोर्ड केन्द्रीय सरकार की सहमति से नियुक्त करेगा। (इ) ६ सचालक, जो निर्धारित विधि से अंशधारियों द्वारा (रिजर्व बैंक के अतिरिक्त) चुने जायेंगे। (ई) ८ सचालक, जो केन्द्रीय सरकार रिजर्व बैंक की सलाह से प्रादेशिक और आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व करने के लिए नियुक्त करेगी। कम से कम ऐसे दो सचालकों को सहकारी सस्थाओं की कार्य प्रणाली एवं ग्रामीण अर्थ व्यवस्था का विशेष ज्ञान होना चाहिये और अन्य सचालक भी व्यापार, वाणिज्य एव उद्योग, बैंकिंग अथवा अर्थ प्रबन्धन में अनुभवी हों। (उ) एक सचालक, केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत और (ऊ) रिजर्व बैंक द्वारा मनोनीत एक सचालक। यह स्मरण रहे कि प्रथम निमित सेन्ट्रल बोर्ड के सभी सचालक केवल चेयरमैन, उप चेयरमैन और प्रबन्ध संचालकों को छोड़ कर, नियुक्ति तिथि से दो वर्ष समाप्त होने पर रिटायर हो जायेंगे।

(ई) स्थानीय बोर्ड एव कमेटियाँ—प्रत्येक स्थान पर, जहाँ स्टेट बैंक का एक स्थानीय प्रधान कार्यालय है, एक स्थानीय बोर्ड (Local Board) सगठित किया जायगा, जिसमें निम्नलिखित सदस्य होंगे।—

(१) ऊपर (इ) और (ई) के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार द्वारा चुने गये या मनोनीत समस्त सचालक, जो ४ स्थानीय प्रधान कार्यालय के शाखा रजिस्टर से सम्बन्धित क्षेत्र के साधारण निवासी हैं।

(२) अधिक से अधिक चार ऐसे व्यक्ति, जिन्हें वे अंशधारी, जिनके नाम शाखा रजिस्टर में दिये हुए हैं, चुनें या जो केन्द्रीय सरकार द्वारा रिजर्व बैंक के परामर्श से मनोनीत किये जायें।

केन्द्रीय सरकार किसी क्षेत्र के लिए स्थानीय कमेटी भी सगठित कर सकती है, जिसमें इतने सदस्य होंगे जोकि केन्द्रीय सरकार निर्धारित करे। ये स्थानीय बोर्ड एव कमेटियाँ ऐसे अधिकार प्रयोग करेंगी और ऐसे कर्त्तव्यों को निबाहेंगी, जोकि केन्द्रीय बोर्ड (Central Board) उनके सुपुर्द करे।

(उ) सेन्ट्रल बोर्ड की एक्जीक्यूटिव एवं अन्य कमेटियाँ—केन्द्रीय सरकार ऐसी और इतनी कमेटियाँ (जिसमें उसकी अपनी एक्जीक्यूटिव कमेटी भी शामिल है ।

---

* डा० जान मथाई स्टेट बैंक के प्रथम चेयरमैन हैं।

नियुक्त कर सकती है, जो वह ठीक समझे । ये कमेटियाँ ऐसे कर्त्तव्यों का पालन किया करेंगी, जोकि सेन्ट्रल बोर्ड उन्हें सौंपे।

(ऊ) *सेन्ट्रल बोर्ड की सभायें*—सेन्ट्रल बोर्ड ऐसे समय और स्थान पर सभा करेगा तथा वह ऐसे नियमों का पालन करेगा, जोकि उसकी सभायें निर्धारित करें। सभाओं में सभी प्रश्नों को उपस्थिति संचालकों के बहुमत द्वारा निर्णय किया जावेगा और बराबर वोटें होने पर चेयरमैन अथवा उसकी अनुपस्थिति में वायस चेयरमैन को निर्णय वोट देने का अधिकार होगा । यदि कोई संचालक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से किसी अनुबन्ध, ऋण या समझौते में हित रखता है तो उसके लिये यह आवश्यक कि वह उसकी प्रकृति शीघ्र से शीघ्र सेन्ट्रल बोर्ड पर प्रकट कर दे। वह ऐसी सभाओं में न जा सकेगा जिनमें ऐसा अनुबन्ध रखा गया हो । हाँ, यदि उससे कुछ सूचना लेनी हो, तो वह सभा में आ सकता है।

कोष एवं खाते—

(अ) *सङ्गठन एवं विकास कोष*—स्टेट बैंक को एक विशेष कोष रखना पड़ेगा, जिसे सगठन एवं विकास कोष (Integration and Development Fund) कहते हैं। इसमें रिजर्व बैंक को चुकाये जाने वाले लाभांश और ऐसा अभिदान (Contribution) सम्मिलित होगा जो केन्द्रीय सरकार या रिजर्व बैंक समय-समय पर दे। इस कोष की रकम केवल रिजर्व बैंक और स्टेट बैंक के मध्य ठहरी हुई वार्षिक रकम से हुई अधिक हानियों और ऐसी अन्य हानियों को पूरा करने के काम में प्रयोग की जायेगी, जिनके लिए केन्द्रीय सरकार रिजर्व बैंक के परामर्श से स्वीकृति दे। यह उल्लेखनीय है कि उक्त कोष रिजर्व बैंक की सम्पत्ति होगा और स्टेट बैंक का कार्य कोई अंशधारी अथवा अन्य व्यक्ति इस रकम पर दावा न रख सकेगा।

(आ) *रिजर्व फण्ड*—स्टेट बैंक एक रिजर्व फण्ड भी स्थापित करेगा, जिसमें इम्पीरियल बैंक का रिजर्व फण्ड और कोई अन्य फण्ड, जो स्टेट बैंक अपने वार्षिक लाभों में से उपलब्ध करे, ट्रान्सफर किया जायेगा ।

(इ) *लाभों का निपटारा*—डूबे व संदिग्ध ऋणों, ह्रास एवं कोषों, लाभांशों के सन्तुलन, स्टाफ फन्ड आदि अन्य वैधानिक उद्देश्यों के लिये आयोजन करने के पश्चात् स्टेट बैंक अपने शुद्ध लाभ में से लाभांश घोषित कर सकता है। लाभांश की दर सैन्ट्रल बोर्ड द्वारा निर्धारित की जायेगी। स्टेट बैंक की पुस्तकें प्रत्येक वर्ष ३१ दिसम्बर के दिन बन्द की जायेंगी और शेष निकाले जावेंगे।

इम्पीरियल बैंक की विदेशी शाखायें—

स्टेट बैंक ऑफ इन्डिया एक्ट सन् १९५५ ने भारतीय शाखाओं की सम्पत्तियाँ और दायित्व तो स्टेट बैंक ऑफ इन्डिया को हस्तान्तरित करा दिये, लेकिन विदेशी शाखाओं के प्रबन्ध में कानूनी कठिनाइयाँ अनुभव की जा रही हैं। यह सम्भव था कि विदेशी न्यायालय उक्त अधिनियम के प्रभाव को स्वीकार न करें, क्योंकि स्टेट बैंक ऑफ

इन्डिया (उन शाखाओं के लिये) एक विदेशी देश में संगठित हुआ था। इस कठिनाई को दूर करने का एक उपाय यह हो सकता था कि विदेशी देशों की विधान सभायें तुरन्त ही आवश्यक सन्नियम पास करें, जिससे ऐसा हस्तान्तरण सम्भव हो जाय अथवा स्टेट बैंक और इम्पीरियल बैंक परस्पर विदेशी देशों के नियमानुसार ऐसे अनुबन्ध करें, जिनके द्वारा इम्पीरियल बैंक की सम्पत्तियाँ एवं दायित्व स्टेट बैंक को हस्तान्तरित हो जायें।

यह विचार किया गया कि ऐसे अधिनियम १ जुलाई सन् १९५५ से पहले नहीं बनाये जा सकते थे और यदि पास हो भी जायें, तो भी स्टेट बैंक इतनी जल्दी विदेशों में कार्य आरम्भ नहीं कर सकता था, अतः इम्पीरियल बैंक की विदेशी शाखाओं को १ जुलाई सन् १९५५ के पश्चात् भी जीवित रखना आवश्यक हो गया, ताकि वे आवश्यक अनुबन्धों में सरलता से प्रविष्ट हो सकें, अतः २३ जून सन् १९५५ को एक अध्यादेश पास किया गया, जिसके द्वारा स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट को इस प्रकार संशोधित किया गया कि विदेशी शाखायें पूर्ववत् कार्य करती रहें।

स्टेट बैंक ऑफ इन्डिया की स्थापना पर आलोचना—

अनेक व्यापारियों ने बैंकों, बीमा कम्पनियों और औद्योगिक संस्थाओं के चेयरमेन होने के नाते सरकार द्वारा इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण कर लेने की आलोचना की। इम्पीरियल बैंक के कई अंशधारियों ने बड़ा शोर मचाया और यह कहा कि सरकार द्वारा दिया जाने वाला हर्जाना बड़ा अपर्याप्त और अनुचित है, लेकिन इनकी किसे परवाह थी। पार्लियामेन्ट में एक भी सदस्य ने उनका समर्थन नहीं किया। इसके विपरीत ऐसे अनेक व्यक्ति थे जिन्होंने यह कहा कि हर्जाने की रकम बड़ी उदार थी। यहाँ तक कि इस सम्बन्ध में श्री ए० सी० गुप्ता को, जिन्होंने श्री देशमुख (वित्त मन्त्री) की अनुपस्थिति में बिल प्रस्तुत किया था, खेद प्रगट करना पड़ा था। उन्होंने जो रिमार्क किया उससे तो यह लगता है कि इम्पीरियल बैंक के अंशधारियों को हर्जाने की उदार रकम के लिये सरकार के प्रति अनुग्रहित होना चाहिये। व्यापारीगण और अंशधारियों को, जिन्होंने सरकार को विरोध प्रस्तुत किया था, यह बात भूल गई थी कि पार्लियामेन्ट का बहुमत उनके अनुसार ही नहीं सोचता।

जहाँ तक स्टेट बैंक के निर्माण का प्रश्न है, सिद्धान्तः तो वह पूर्णतः न्यायसम्मत है। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में क्रान्ति तभी सम्भव है जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में साख सुविधाओं का विस्तार हो। यह समस्या अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि देश के अनेक भागों में कृषि साख बड़ी कठिनता से उपलब्ध होती है, क्योंकि परम्परागत स्रोत, जितने अब तक साख मिलती रही थी, या तो सूख गये हैं अथवा पृथक् हो गये हैं। कृषक देनदारों को लेनदारों के दाँवों से बचाने के लिये बनाये गये विभिन्न सन्नियम और भूमि सुधारों ने साख की लागत अत्यधिक कर दी है और उपलब्ध साख को सीमित कर दिया है। इस प्रकार जो स्थान रिक्त हो रहा है, उसे शीघ्र भर देने की आवश्यकता है। इस वर्ष कृषि पदार्थों के मूल्य में जो तेज गिरावट आई है उसका एक

कारण ग्रामीण क्षेत्रों में अपर्याप्त साख पूर्ति होना है। व्यक्तिगत साख को जीवित करने का प्रयत्न व्यर्थ है। ऐसा न तो सम्भव है और न वांछनीय ही। संस्थात्मक साख (Institutional Credit) का विकास ही एकमात्र विकल्प है। व्यापारिक बैंक तो कई कारणों से इस अवसर का लाभ नहीं दे सके हैं, अतः इस क्षेत्र में राज्य का हस्तक्षेप अनिवार्य हो गया है।

गोरवाला कमेटी, जिसने इस प्रश्न पर विस्तार से जाँच की, इस निर्णय पर पहुँची है कि अनेक दोष होते हुये भी सहकारिता एक ऐसा उपाय है जिसके द्वारा साख ग्रामीण क्षेत्रों तक पहुँचाई जा सकती है। इसने एक समन्वित योजना भी प्रस्तुत की है, जिसके अन्तर्गत आन्दोलन में राज्य के सहयोग और देश व्यापी शाखाओं वाले एक दृढ़ व्यापारिक बैंक की सहायता से सहकारी बैंकिंग का विकास करना है। इस बैंक का प्रधान कर्त्तव्य अन्य बैंकों के साथ सहकारी बैंकों को भी स्थानान्तर और विनिमय सुविधायें प्रदान करना है। इस आशय के लिये कमेटी ने इम्पीरियल बैंक अन्य राज्य बैंकों को चुना और इस चुनाव का औचित्य यह था कि इन सबको राज्य ने आरम्भ किया था और बहुत समय तक इन सब को सहायता की थी, अत सरकार को निस्सन्देह इस बात का नैतिक अधिकार है कि वह इन बैंकों को एक विशेष दिशा में देश की वर्तमान आवश्यकताओं के अनुसार कार्य करने के लिये कहे।

अन्य दृष्टियों से भी एक सुसमन्वित एवं दृढ़ व्यापारिक बैंक की स्थापना, जिसके अधिक साधन हों और जिसकी शाखायें देश भर में फैली हो, अच्छी सिद्ध हो सकती है। ऐसा बैंक अन्य व्यापारिक बैंकों के लिए भी बड़ा सहायक सिद्ध हो सकता है। श्री गुहा ने यह आश्वासन दिया कि नया स्टेट बैंक व्यापारिक बैंकों को उसी प्रकार सहायता करता रहेगा जिस तरह इम्पीरियल बैंक ने अब तक की है। अधिक शाखायें होने के कारण वह अब विस्तृत स्थानान्तरण सुविधायें दे सकता है। इसके द्वारा रिजर्व बैंक भी देश भर में साख पूर्ति एवं ब्याज दरों पर प्रभाव पूर्ण नियन्त्रण रख सकता है। सरकार की ओर से अधिकार मिले होने के कारण यह आशा की जाती है कि कालान्तर में स्टेट बैंक उन नये क्षेत्रों में, जहाँ उसके कार्य करने की अपेक्षा की जा रही है, लोगों में ऐसा विश्वास उत्पन्न कर सकेगा कि वे अपनी बचतें जमा के रूप में उसके पास जमा करादें। इस प्रकार अधिक डिपाजिट धन बैंकिंग व्यवस्था के अन्तर्गत लाया जा सकेगा। स्टेट बैंक के चार्टर में एक विशेष आयोजन यह है कि स्टेट बैंक स्वेच्छा के आधार पर अन्य व्यापारिक बैंकों को सविलीन कर सकता है। इस प्रकार वह छोटे और अनार्थिक बैंकों को समाप्त कर सकेगा, जिसमे बैंक असफलतायें कम हो जायेंगी, जो कि अब तक बैंकिंग प्रवृत्ति के विस्तार में बड़ी बाधक सिद्ध हुई हैं। फिर यदि स्टेट बैंक की स्थापना से ये सब लाभ होते हैं और ग्रामीण साख बलवती होती है, तो प्राइवेट क्षेत्र भी इससे लाभान्वित होगा, क्योंकि व्यापार एवं उद्योग की सम्पन्नता स्वस्थ ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था और सुदृढ़ बैंकिंग व्यवस्था पर निर्भर है। इसी कारण श्री जी० डी० बिडला ने, जो कि देश के एक बड़े व्यापारी हैं, गोरवाला कमेटी की

सिफारिशों का स्वागत किया और इनके तात्कालिक प्रयोग पर जोर दिया, किन्तु ये सब लाभ तब ही उठाये जा सकते हैं जबकि स्टेट बैंक का कुशलतापूर्वक सचालन किया जाये और ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारी विधि सफलतापूर्वक अपनाई जाये।

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया को लाभ पहुँचाने की जो शक्तियाँ प्राप्त हैं उनका वह प्राइवेट क्षेत्र पर कठोर नियन्त्रण रखने में काम ला सकता है। यह उल्लेखनीय है कि कुछ राज्य सहभागी बैंकों सहित देश के सबसे बड़े व्यापारिक बैंक का राष्ट्रीयकरण लगभग आधे बैंकिंग कारोबार को सरकार के अधिकार में रख देता है, अतः यह स्पष्ट है कि भविष्य में बैंकिंग के क्षेत्र में सरकारी भाग प्राइवेट भाग पर बलशाली रहेगा। स्टेट बैंक के द्वारा सरकार ब्याज दरों को प्रभावपूर्ण रीति से निश्चित कर सकती है और साख देने के मामलों में पब्लिक एव प्राइवेट संस्थाओं में अथवा दो प्राइवेट संस्थाओं में भेद भाव कर सकती है, क्योंकि बोर्ड में अधिकतर सरकार के मनोनीत सदस्य होंगे, इसलिए राजनैतिक आधार पर पक्षपात की बड़ी सम्भावना रहेगी। एक व्यापारी, जो सरकारी दल का समर्थन नहीं करता, उसे साख सुविधाएँ कम मिलेंगी या बिल्कुल ही नहीं मिलेंगी।

यह भी डर है कि जब स्टेट बैंक ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक शाखायें खोलने में लगा हो तब वह इम्पीरियल बैंक के समान अपना ध्यान व्यापारिक बैंकिंग की ओर न दे सके। यद्यपि यह डर बेबुनियाद नहीं है, तथापि इसकी आशंका तीन कारणों से घट जाती है :—प्रथम, स्टेट बैंक का मुख्य कर्त्तव्य कोषों के स्थानान्तर के लिये मार्ग का कार्य करना है। यह सच है कि उसे सहकारी बैंकें को ऋण देना होगा, किन्तु आसानी से ऐसे ऋणों के विरुद्ध रिजर्व बैंक से सुविधायें प्राप्त कर सकता है। दूसरे, ग्रामीण साख के क्षेत्र में यह तभी सफल हो सकेगा जबकि सहकारी आन्दोलन को दृढ़ बनाने की गोरवाला समिति की अन्य सिफारिशों को भी कार्यान्वित किया जाये। इसके लिए आशा से कुछ अधिक समय लगेगा। तीसरे, यदि वह देश में अपने कार्य-क्षेत्र का विस्तार करता है, तो उसके डिपाजिट भी अवश्य बढ़ेंगे, विशेषतः आन्तरिक भागों में द्रव्य आय जैसे-जैसे बढ़ेगी वैसे वैसे डिपाजिट बढ़ेंगे, अतः यदि स्टेट बैंक का कुशलता से सचालन किया जाये, तो स्टेट बैंक अपने नये कर्त्तव्यों को भी व्यापारिक बैंकिंग कार्यों को ठेस पहुँचाये बिना प्रभावपूर्ण ढङ्ग से पूरा कर सकता है।

यह भी सन्देह किया जाता है कि क्या व्यापारीगण इस बैंक से कारोबार करेंगे, क्योंकि यह डर है कि सरकार को उनके रहस्य का पता लग जायेगा अथवा उनके मामलों पर पार्लियामेन्ट में आलोचना होगी। यह डर इन्डस्ट्रियल फाइनेन्स कार्पोरेशन के साथ हुये व्यवहार से पैदा हुआ है। यह प्रशंसा की बात है कि बैंक के चार्टर में गोपनीयता की धारा जोड़कर इस डर को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। अधिनियम की धारा की ओर श्री गुहा ने पार्लियामेन्ट का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया कि सदन को इस धारा का सम्मान करना होगा, ताकि बैंक का व्यापारिक स्वरूप बना रहे। कहीं पार्लियामेन्ट बैंक के व्यापारिक रहस्यों को जानने के लिये उत्सुक न हो

और सरकार अत्यधिक हस्तक्षेप न करे, इसके हेतु बैंक का स्वामित्व रिजर्व बैंक को सौंपा गया है। बैंक का आडिट प्राइवेट अकेक्षकों द्वारा कराया जायेगा सरकार के आडीटर जनरल द्वारा नहीं। यह आडीटर जनरल ऐसा करता, तो उसकी रिपोर्ट सदन के समक्ष जाती और फिर उस पर बहस भी होती, अतः यह एक सुन्दर आयोजन है।

उपसंहार—

स्टेट बैंक की स्थापना नव भारत के आर्थिक निर्माण और विकास में बड़ी सहायक होगी। सहकारी बैंक और व्यापारिक बैंकों को अपनी अमूल्य सहायता प्रदान करते हुए देश की पूँजी को अधिक गतिशील बनावेगा, जिसकी आज हमें अत्यन्त आवश्यकता है।

[३३]

भारत में बेरोजगारी की समस्या

रूप रेखा—

१. *प्रारम्भिक*—हमारे देश में प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता होते हुए भी बेकारी है। भारत में बेरोजगारी की समस्या के दो रूप हैं—बेरोजगारी और आंशिक रोजगारी। समुचित आँकड़ों के अभाव में यह बताना तो कठिन है कि देश में कितनी बेरोजगारी है, परन्तु इस सम्बन्ध में कुछ छोटे मोटे अनुमान अवश्य प्राप्त हैं।

२. *मध्यवर्गीय लोगों की बेरोजगारी*—यह अभी हाल में विकसित हुई है। मद्रास समिति के अनुसार रोजी खोजने वाले शिक्षित व्यक्तियों और रोजगार का अनुपात २ १ है। इस प्रकार के असन्तुष्ट नवयुवकों का अधिक संख्या में बेकार होना देश की राजनैतिक स्थिरता के लिए अत्यन्त घातक है।

३. *बेरोजगारी के कारण*—(अ) युद्धोत्तर आर्थिक मन्दी और छटनी, (आ) शिक्षा पद्धति के दोष, (इ) सामाजिक कारण—जैसे—जाति प्रथा, बाल विवाह आदि, (ई) आर्थिक दृष्टि पिछड़ापन, (उ) जन-संख्या में वृद्धि।

४. *समस्या को सुलझाने के उपाय*—कुछ सामान्य उपाय निम्नलिखित हैं—(अ) बढ़ती हुई जन-संख्या पर नियन्त्रण, (आ) लघु और कुटीर-धन्धों का तेजी से विकास, (इ) शीघ्रतम औद्योगीकरण, (ई) यातायात सेवाओं तथा जन-कल्याण योजनाओं का विकास, (उ) सिंचाई की उन्नति व्यवस्था और बंजर भूमि का उपयोग (ऊ) रोजगार कार्यालयों की स्थापना, (ए) बेरोजगारी का सांख्यकीय सर्वेक्षण।

५. *सपरू समिति के सुझाव*—इन्हें सम्पूर्ण भारत पर लागू किया जा सकता है। ये निम्न हैं—(अ) नगरपालिकाओं एवं जिला संस्थाओं की सेवाओं में (आ) हाईस्कूल परीक्षा में दो प्रकार के प्रमाण पत्र देना—एक शिक्षा का और दूसरा महाविद्यालयों में प्रवेश पाने का, (इ) व्यावहारिक सुविधा।

६. *द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में बेकारी को दूर करने का निमु[illegible] योजन*— प्रथम, शहरों तथा गाँवों में इस समय जो बेकार व्यक्ति हैं [illegible]के लिए काम की व्यवस्था करनी होगी। दूसरे, प्रति वर्ष रोजगार की [illegible]श करने वालों की संख्या में वृद्धि का उपाय करना होगा और तीसरे [illegible] गाँवों व शहरों में जिन

लोगो को पूरा काम नहीं मिलता उनके लिये पूरे समय के काम की व्यवस्था करनी पड़ेगी। राज्यों के आँकड़ों और निजी क्षेत्रों में उत्पादन बढ़ने से नये रोजगार सम्बन्धी स्थानों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि लगभग ८० लाख लोगों को काम मिल सकेगा, जबकि काम चाहने वालों की संख्या (नये व पुराने रोजगार चाहने वाले) कुल १५३ लाख हैं।

७ *निष्कर्ष*—प्राप्त साधनों का भरपूर प्रयोग करने के बाद भी समस्या का पूरा हल नहीं हो सकेगा। लोगों को काम दिलाने वाले लक्ष्यों की पूर्ति के लिए आवश्यकतानुसार उपाय काम में लाने चाहिए।

प्रारम्भिक—

भारतवर्ष में बेरोजगारी की समस्या बहुत पुरानी है, किन्तु कुछ समय से इसकी गम्भीरता बहुत बढ़ गई है। हमारे देश में प्राकृतिक प्रसाधनों की प्रचुरता होते हुए भी बेकारी है, जो हमारे कम उन्नत होने का चिन्ह है। भारत की बेरोजगारी की समस्या के दो रूप हैं—बेरोजगारी एवं आंशिक रोजगारी। वास्तविकता यह है कि आंशिक रोजगारी की समस्या अधिक भीषण एवं अधिक विस्तृत है। समुचित आँकड़ों के अभाव में यह बताना तो कठिन है कि देश में कितनी बेरोजगारी है, परन्तु इस सम्बन्ध में कुछ छोटे मोटे अनुमान अवश्य प्राप्त हैं। आंशिक रोजगार के सम्बन्ध में डाक्टर राधाकमल मुकर्जी ने अनुमान लगाया है कि उत्तरी भारत में एक कृषक को साल में २०० दिन से अधिक समय के लिए रोजगार नहीं मिलता। डाक्टर स्लाटर के अनुसार दक्षिणी भारत का कृषक वर्ष में केवल ५ महीने के लिए ही व्यस्त रहता है। जैक का विचार है कि बंगाल मे जूट तथा चावल की कृषि करने वालों को साल में ८ से लेकर ९ महीने तक बेकार बैठना पड़ता है। इसी प्रकार कृषि के शाही कमीशन के अनुमानानुसार साल में कम से कम २ से ४ महीने तक कृषकों मे बेरोजगारी रहती है। अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की एक अनुसन्धान समिति ने यह पता लगाया है कि दिल्ली राज्य के ग्रामीण क्षेत्रों में किसान ३ घन्टे प्रति दिन की दर से साल में ६ से ८ महीने तक व्यस्त रहता है, जबकि शेष काल के लिए लगभग कुछ भी करने को नहीं रहता है। इस समिति के अनुसार भूमि रहित कृषि श्रमिक की दशा तो और भी खराब है। यद्यपि उनकी संख्या कुल ग्रामीण जन संख्या की लगभग २०% है, परन्तु उन्हें वर्ष में केवल ५ ६ माह के लिए ही काम मिलता है।

उद्योगों तथा अन्य पेशों की ओर दृष्टिपात करने से हमें यह पता लगता है कि श्रमिकों के प्रायः दो वर्ग हैं—(१) शारीरिक कार्य करने वाले श्रमिक और (२) मानसिक कार्य करने वाले श्रमिक। जहाँ तक प्रथम वर्ग का प्रश्न है, हमारी समस्या इतनी जटिल नहीं है जितनी कि द्वितीय वर्ग वाले श्रमिकों की। कारण यह है कि हमारा औद्योगिक विकास अभी पाश्चात्य स्तर पर नहीं पहुँच सका है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि प्रथम वर्ग में समस्या है ही नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे

देश में जो भी संगठित उद्योग थे, वे सन् १६२६-३० की विश्व-व्यापी आर्थिक मन्दी के चंगुल में आ गये थे और अन्य देशों की भाँति यहाँ भी काफी औद्योगिक बेरोजगारी पैदा हो गई। कारखानों के बन्द होने अथवा उनमें श्रमिकों की छटनी के परिणामस्वरूप अनेक कुशल तथा अकुशल श्रमजीवी बेकार हो गये थे, किन्तु साधारण परिस्थितियों में यहाँ कुशल श्रमिकों की अधिकता और बेकारी न होकर औद्योगिक श्रम की कमी का ही अनुभव किया जाता है। इसके अतिरिक्त यदि यहाँ बेरोजगारी आती भी है तो उसका रूप उतना भयङ्कर नहीं होता जितना कि पाश्चात्य देशों में। इसका प्रधान कारण यह है कि हमारे अधिकांश औद्योगिक श्रमिक कृषि से भी सम्बन्धित हैं। वे प्रायः कारखाने में सहायक रोजगार के रूप में कार्य करते हैं, विशेषतः उस अवधि में जबकि गाँव में कृषि सम्बन्धी कोई काम नहीं होता, अतएव भारत की बेरोजगारी पाश्चात्य देशों की बेरोजगारी से भिन्न है। हमारे देश में पाश्चात्य देशों की भाँति काम की खोज में लगे बेकार लोगों के समूह सड़कों पर नहीं घूमते। संगठित उद्योगों की बेरोजगारी से भिन्न यत्किंचित बेकारी कुटीर श्रमिकों में भी पाई जाती है।

मध्यवर्गीय लोगों की बेरोजगारी—

हमारे देश में एक विशेष प्रकार की बेरोजगारी अभी हाल में विकसित होने लगी है। यह है मध्यवर्गीय लोगों की बेरोजगारी। मध्यवर्गीय बेरोजगारी ने इस समय में बड़ा भयंकर रूप धारण कर लिया है। सप्रू कमेटी के मतानुसार मध्यवर्गीय बेरोजगारी अखिल भारतीय प्रकार की है। मद्रास समिति ने बताया है कि रोजी खोजने वाले शिक्षित व्यक्तियों और रोजगार का अनुपात २:१ है। सन् १९२७ की पंजाब समिति भी इसी निष्कर्ष पर पहुँची। इस प्रकार की बेरोजगारी से अमुक व्यक्ति को तो कष्ट पहुँचता ही है साथ ही उसका एक प्रकार से नैतिक पतन होता है जो साधारण रूप से समाज को ग्रस्त कर लेता है और पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ता ही जाता है। इस प्रकार के असन्तुष्ट नवयुवकों का अधिक संख्या में बेकार होना देश की राजनैतिक स्थिरता के लिए अत्यन्त हानिकारक है। इस बात को एडलर कमीशन ने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है—"इस प्रकार के शिक्षित बेरोजगार वर्ग की उपस्थिति और क्रमिक वृद्धि किसी भी देश में और विशेषकर ऐसे देश में, जहाँ पर थोड़े ही व्यक्ति शिक्षित हों, किसी भी प्रकार की सुव्यवस्थित सरकार के लिए भयंकर है। जब तक देश की बुद्धिमान मनुष्यता का एक विशाल भाग उत्तरोत्तर बढ़ती हुई संख्या में इस प्रकार के अध्ययन में संलग्न है, जिससे कि ऐसी आकांक्षायें बँध जाती हैं जो पूरी नहीं हो पातीं और जो अध्ययन कर्ताओं को देश और अपने हित के लिए किये जाने वाले कितने ही पेशों के लिए बेकार बना देता है, तब तक कोई भी सरकार चाहे वह कितनी ही अच्छी प्रकार से संगठित हो, अपना मार्ग आलोचना-प्रत्यालोचना से रोक पायेगी। सहायता की एक ऐसी मांग हमेशा बढ़ती जायेगी, जिसका किसी भी प्रकार निराकरण नहीं किया जा सकेगा।" बम्बई की जाँच से यह पता लगा है कि इस वर्ग में मुख्यतः २७ वर्ष से नीचे के नवयुवक हैं। इनमें विशेषकर उनकी संख्या अधिक है जिनका

प्रशिक्षण प्रधानतः साहित्यिक है और जो उच्चतर शिक्षा के लिए एंग्लो वर्नाक्यूलर से आगे बढ़े हैं। बेकारी उस वर्ग में अधिक है, जोकि मैट्रिक या इसके समकक्ष परीक्षायें पास न कर सके हैं। शिक्षा के क्षेत्र में प्रशिक्षितों में अप्रशिक्षितों की अपेक्षा कम बेकारी है। कानूनी पेशे के सम्बन्ध में बहुमत इस पक्ष में था कि यह आवश्यकता से अधिक बढ़ चुका है। इसी प्रकार औषधि पेशे के लोग बाजारों, विशेषकर बड़े शहरों में तो भरे पड़े हैं, किन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में इनकी संख्या बहुत कम है, क्योंकि वहाँ जीवन की सुविधायें अपेक्षाकृत बहुत कम हैं और लोग औषधियों के लिए नियमित रूप से नगद फीस देने की सामर्थ्य नहीं रखते। इंजीनियरों की दशा कुछ ही अच्छी है। रेल्वे में रोजगार खोजने वाले लोगों की संख्या बहुत अधिक थी, किन्तु प्रशिक्षित न होने के कारण उन्हें नौकरी न मिल सकी। अधिकोषण के क्षेत्रों में जो लोग शिक्षा प्राप्त कर चुके थे, वे बेकार न रहे, परन्तु जिन्हें प्रशिक्षा प्राप्त न थी, वे नौकरी न पा सके।

बेरोजगारी के कारण—

(१) *युद्धोत्तर आर्थिक मन्दी और छटनी*—अन्य देशों की भाँति भारतवर्ष में भी युद्धोत्तर आर्थिक मन्दी का गहरा प्रभाव पड़ा। लड़ाई के बाद अनेक व्यक्ति नौकरी से बाहर निकाल दिये गये। छँटनी की कुल्हाड़ी के प्रहार सब दिशाओं में हुए। मध्य वर्ग बड़ी ही कठोर अग्नि परीक्षा से होकर निकला।

(२) *शिक्षा पद्धति के दोष*—मध्यवर्गीय बेरोजगारी का दूसरा कारण देश की औद्योगिक प्रगति और देश की प्रचलित शिक्षा में सन्तुलन का अभाव है। ऐसा कहा जाता है कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली केवल क्लर्की करने योग्य नवयुवक तैयार कर रही है और यह सरकारी नौकरी पाने का एक द्वार मात्र है। सर एन्डरसन ने एक स्थान पर लिखा है कि प्रारम्भ से ही (वर्तमान शिक्षा पद्धति) लड़कों को विदेशी परीक्षाओं के लिये तैयार करने के लिए बनाई गई थी। इसका उद्देश्य लड़कों को बाबू गिरी की शिक्षा देना था। भारत का साधारण शिक्षित व्यक्ति सर्वप्रथम जीविका के लिए सरकारी नौकरी की ओर झुकता है। उसके न मिलने पर अर्ध सरकारी प्रकार की क्लर्की जैसे—रेलवे, म्यूनिस्पल बोर्ड अथवा अन्य स्थानीय संस्थाओं की क्लर्की ढूँढता है। शिक्षा पद्धति का एक यह भी दोष है कि यह लड़कों को अपने पैतृक पेशों के लिये भी बेकार बना देती है, क्योंकि वे एक क्षण के लिए हाथ से काम करके अपनी जीविका कमाने की बात नहीं सोच सकते। वे कृषि को भी गिरी हुई दृष्टि से देखते हैं। कृषकों, हस्तकार्य करने वाले तथा अन्य पिछड़े वर्ग के लोग भी अपने बच्चों को सरकारी नौकरी के लालच में पड़ कर स्कूल और कालेजों में भेजने लगे हैं। इस सम्बन्ध में यह कहना अनावश्यक न होगा कि यद्यपि पिता अपने बच्चों को ठीक प्रकार का पेशा चुनने की कुशलता और दूरदर्शिता प्रदर्शित नहीं करते, किन्तु इसका कारण अंशतः व्यावहारिक शिक्षा—कृषि प्रशिक्षण, औद्योगिक तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण का अभाव भी है।

(३) *सामाजिक कारण*—कुछ सामाजिक कारण, जैसे—जाति प्रथा एवं बाल विवाह, संयुक्त परिवार एवं साम्प्रदायिक असमानताएँ भी बेरोजगारी के लिए

उत्तरदायी है। उदाहरणार्थ, जाति प्रथा लोगों को कितने ही ऐसे धन्धे करने से रोक देती है, जो कि लाभदायक है, किन्तु जो सामाजिक दृष्टि से निम्न स्तर के माने जाते हैं। इसी प्रकार बाल-विवाह के परिणामस्वरूप भी हमारे नवयुवकों पर शीघ्र ही जिम्मेदारी आ जाती है। संयुक्त परिवार प्रथा इस प्रकार के उत्तरदायित्व को हल्का कर देती है और कमजोर एवं असहाय को सहायता तथा सुरक्षा देकर आर्थिक पराधीनता को जन्म देती है और वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा तथा प्रतिभा को समाप्त कर देती है। शिक्षित वर्ग में बेरोजगारी का एक मूल कारण हमारे नवयुवकों में अपने घर-बार से दूर जा कर अपने भाग्य निर्माण की अनिच्छा भी है, जो कि संयुक्त परिवार प्रथा की देन है।

(४) आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा होना—देश की आर्थिक अप्रगति का मुख्य कारण औद्योगीकरण का अभाव है, जिसके परिणामस्वरूप शिक्षित नवयुवकों को रोजगार के लिए मार्ग नहीं मिलता। विलायत में सेना, नौसेना और सिविल सर्विसेज को छोड़ कर इस समय देश में कुल १६ हजार पेशे हैं, किन्तु भारत में कुल मिलाकर ४० से भी कम पेशे हैं। देश की दरिद्रता का मुख्य कारण आर्थिक साधनों का अपर्याप्त विकास ही है और यही अन्तिम विश्लेषण में बेरोजगारी के सब कारणों में शीर्ष स्थान का अधिकारी है।

(५) जन संख्या में वृद्धि—हमारे देश में बेरोजगारी का एक कारण यह भी है कि यहाँ जन-संख्या के बढ़ने की गति अति तीव्र है, जबकि धन उत्पादन के साधनों की गति धीमी है।

इस सम्बन्ध में यह दोहराना अनावश्यक न होगा कि कृषि के क्षेत्र में बेरोजगारी का मूल कारण कृषि उद्योग की विशेषता है। हमारे कृषक साल में केवल ३-४ महीने कार्य करते हैं और शेष अवधि में वे प्रायः बेकार रहते हैं। अति वृष्टि अथवा अनावृष्टि की परिस्थितियाँ या दुर्भिक्ष की दशाएँ बेरोजगारी की समस्या को और भी गम्भीर बना देती हैं।

समस्या को सुलझाने के उपाय—

बेरोजगारी के अनेक कारण हैं, इसलिये इसकी कोई एक रामबाण औषधि नहीं हो सकती। फिर भी समस्या के निवारण के लिए कुछ सामान्य उपाय निम्न हैं :—

(१) देश की बढ़ती हुई जन-संख्या पर नियन्त्रण रखने की आवश्यकता है। सन् १९५१ की जनगणना रिपोर्ट को प्रस्तुत करते समय भारत के जनगणना कमिश्नर श्री गोपालास्वामी ने बड़े कड़े शब्दों में यह चेतावनी दी थी कि देश की बढ़ती हुई जन-संख्या के अनुपात में हमारे निर्धारित उत्पादन लक्ष्य बहुत ही अपर्याप्त हैं। यदि हम वर्तमान गति से बढ़ते गये तो सन् १९८१ तक जन-संख्या लगभग ५६ करोड़ हो जायेगी। निस्सन्देह यदि हम इस वृद्धि पर समुचित अंकुश नहीं लगाते तो हमारी किसी भी आर्थिक योजना द्वारा जीवन-स्तर में उन्नति नहीं हो सकती। अल्पकालीन दृष्टि से जन-संख्या की समस्या के दो ही उपाय हो सकते हैं—एक तो विवाह की कम से

कम आयु का नियमों द्वारा निर्धारण तथा दूसरे, सन्तान निरोधी उपायों का उपयोग, परन्तु भारत का अनुभव यही है कि ये दोनों उपाय सफल नहीं हो पाये हैं।

(२) दूसरे, देश में लघु और कुटीर धन्धों का तेजी के साथ विकास होना चाहिए। इन उद्योगों में कुछ ऐसे विशेष गुण हैं, जो उन्हें बेरोजगारी की समस्या के निवारण के लिए बहुत उपयुक्त बना देते हैं।

(३) देश के शीघ्रतम औद्योगीकरण की विशेष आवश्यकता है, यद्यपि बड़ी मात्रा के उद्योगों के विकास से पूर्ण रोजगार की समस्या को पूर्णतः हल नहीं किया जा सकता, किन्तु फिर भी इससे बेरोजगारी की समस्या की गम्भीरता बहुत कुछ हल की जा सकती है।

(४) चौथे, देश में यातायात सेवाओं तथा जन-कल्याण की सेवाओं के विकास की भी आवश्यकता है। सड़कों, रेलों, वायु सेवाओं को किसी भी प्रकार पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। रोजगार की दशा में सुधार करने के लिए उन्नति यातायात की विशेष आवश्यकता है। इसी प्रकार हमारे देश में सामाजिक तथा लोक-हितकारी सेवाओं, जैसे—शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि का भी घोर अभाव है। इन सेवाओं के विकास से देश के सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक स्तर को भी काफी ऊँचा उठाया जा सकता है और जन-साधारण के लिए सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था भी की जा सकती है।

(५) कृषि के क्षेत्र में भी रोजगार की वृद्धि के लिए पर्याप्त क्षेत्र है। हमारे देश में लाखों एकड़ भूमि बंजर तथा बेकार पड़ी हुई है, जिसे थोड़े ही प्रयत्नों से कृषि योग्य बनाया जा सकता है। सिंचाई की व्यवस्था द्वारा भी काफी उन्नति की जा सकती है। सहकारी कृषि के द्वारा भी बेरोजगारी का भय बहुत कम किया जा सकता है। खाली समय का सदुपयोग करने के लिए मिश्रित कृषि की प्रणाली भी अपनाई जा सकती है।

(६) मध्यवर्गीय बेरोजगारी को दूर करने के लिए प्रत्येक नगर में रोजगार कार्यालय की स्थापना करनी चाहिये।

(७) अन्त में यह कहना आवश्यक न होगा कि समस्या का पर्याप्त अध्ययन करने के लिए बेरोजगारी का सांख्यकीय सर्वेक्षण होना चाहिए। इस प्रकार के सर्वेक्षण से विभिन्न उद्योग के श्रम की माँग की समीक्षा भी हो जायगी और उनके लिए आवश्यक योग्यता का भी एक आधार प्राप्त हो जायेगा। इस प्रकार के आँकड़ों से विभिन्न उद्योगों और व्यवसायों द्वारा नवयुवकों को मिलने वाली नौकरियों का भी पता लग जायेगा।

सप्रू समिति के सुझाव—

यह समिति उत्तर-प्रदेश की बेरोजगारी की जाँच के लिये नियुक्ति की गई थी, किन्तु इसके सुझावों को समस्त भारत पर लागू किया जा सकता है। समिति के सुझावानुसार ज़िला एवं नगर पालिकाओं को बाध्य करना चाहिए कि वे सड़कों और

इमारतों को अपनी स्थिति में रखने के लिए कुशल तथा योग्य इंजीनियरों एवं निरीक्षकों की नियुक्ति करे। यदि सरकार चाहे तो जन-औषधि-सहायता के द्वारा सुयोग्य व्यक्तियों को रोजी दे सकती है। जनता के स्वास्थ्य और स्वच्छता की देखरेख के लिये भी योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति करनी चाहिए। ५५ वर्ष पर सेवा से विरत करने के नियम का कठोरता से पालन कराना चाहिए, जिससे कि नवयुवकों को तुरन्त अवसर मिल सके। बड़े और छोटे पैमाने के उद्योगों को साथ ही साथ प्रेरणा देनी चाहिए, जिससे वे बड़ी संख्या में नवयुवकों को खपा सकें। अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा प्रचलित करने का प्रयास जोर शोर से करना चाहिए। दूसरे, हाई स्कूल परीक्षा में दो प्रकार के प्रमाण पत्र होने चाहिये—एक तो शिक्षा की समाप्ति का और दूसरा प्रमाण पत्र कला, विज्ञान व वाणिज्य के महाविद्यालयों में प्रवेश पाने के लिये होना चाहिए। इस प्रकार कितने ही छात्र जो विश्वविद्यालय की शिक्षा के अयोग्य होंगे, अपनी उच्च माध्यमिक शिक्षा समाप्त करते ही लाभदायक कार्यों में लग जायेंगे। इस प्रकार रोजगार के लिये अनुपयुक्त स्नातकों की संख्या घट जायेगी। तीसरे, व्यावहारिक शिक्षा के लिये मिलने वाली सुविधायें भी बढ़ानी चाहिये। दवा दारू की शिक्षा प्राप्त करने और डाक्टरी पेशा अपनाने वालों को चाहिए कि सरकार उन्हें ग्रामीण क्षेत्रों में बसने की सुविधा तथा सहायता दे। फार्मेसी, डेन्टिस्ट्री, हिसाब-किताब, निर्माण कला, पुस्तकाध्यक्ष की शिक्षा, बीमा-कार्य, पत्रकारिता जैसे पेशों का विकास करना चाहिए। ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि डिप्लोमा प्राप्त व्यक्ति तथा कृषि स्नातक वैज्ञानिक कृषि को जीविका के साधन के रूप में अपनायें।

द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में बेकारी दूर करने के लिये त्रिमुखी आयोजन—

द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में बेकारी दूर करने के लिये विशेष प्रयत्न किये जाने की व्यवस्था है। इसके लिये त्रिमुखी कार्य किया जायेगा—प्रथम, शहरों तथा गाँवों में इस समय जो बेकार लोग हैं, उनके लिये काम की व्यवस्था करनी होगी। दूसरा, रोजगार की तलाश करने वाले व्यक्तियों की संख्या में प्रति वर्ष २० लाख की जो वृद्धि होती है, जिसके लिये समुचित उपाय करना होगा। तीसरा, देहातों में जिन लोगों को पूरा काम नहीं मिला है तथा शहरों में जो लोग घरेलू कामों में लगे हैं, उनके लिये अधिक तथा पूरे समय के काम की व्यवस्था करनी होगी। इस त्रिमुखी समस्या के समाधान के लिये केवल कुल मिलाकर रोजगार की स्थिति का अनुमान लगाना पर्याप्त न होगा, वरन् शहरों तथा गाँवों की रोजगार की स्थितियों को अलग आंकना होगा।

हाल में राष्ट्रीय न्यादर्श सर्वेक्षण विभाग ने शहरी इलाकों में जो प्रारम्भिक सर्वेक्षण किये हैं, उनसे तथा काम दिलाऊ केन्द्रों द्वारा समय-समय पर दिये जाने वाले आंकड़ों से यह ज्ञात होता है कि शहरों में लगभग २१ लाख व्यक्ति बेकार हैं। इस संख्या में शहरों में काम तलाशने वाले नये व्यक्तियों की संख्या और बढ़ानी होगी। अनुमान है कि अगले पाँच वर्षों में रोजगार की तलाश करने वाले व्यक्तियों की संख्या

में लगभग ३८ लाख की वृद्धि हो जायेगी। देहातों में यह पता लगाना कठिन है कि कौन बेकार और किसके पास आवश्यकता से कम काम है। इन क्षेत्रों में मुख्यतः लोगों की आमदनी की वृद्धि द्वारा रोजगार की स्थिति का अनुमान लगाना होगा। देहातों में खेतिहर मजदूरों तथा विशेषकर भूमि हीन गैर काश्तकारों की बेकारी की समस्या भी उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी शहरी बेकारों की। उपलब्ध आंकड़ों के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि देहातों में लगभग २८ लाख व्यक्ति ऐसे हैं, जिन्हें बेकार कहा गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, दूसरी योजना की अवधि में मजदूरी चाहने वाले नये व्यक्तियों की सख्या १ करोड़ मानी गई है। इनमें से शहरी क्षेत्रों में मजदूरी चाहने वालों की ३८ लाख अनुमान सख्या घटा दें, तो ग्राम क्षेत्रों में मजदूरी चाहने वाले नये व्यक्तियों की संख्या सन् १९५६–६१ में सम्भवतः ६२ लाख होगी।

राज्यों तथा केन्द्र मत्रालयों ने जो आँकड़े भेजे हैं तथा निजी क्षेत्रों में उत्पादन बढ़ने से जो नये रोजगार मिलने का अनुमान है, उनके आधार पर यह हिसाब लगाना सभव हो गया है कि दूसरी योजना के कार्यान्वित होने पर नौकरी के कितने अतिरिक्त स्थान सुलभ हो जायेंगे। इसका सारांश नीचे सारिणी में दिया जाता है:—

	संख्या लाखों में
१. निर्माण कार्य	२१.००
२. सिंचाई तथा बिजली	५१
३. रेलवे	२.५३
४. अन्य परिवहन तथा सचार	१.८०
५. उद्योग तथा खनिज	८.००
६. कुटीर तथा छोटे उद्योग	४.५०
७. वन-विज्ञान, मत्स्य पालन, राष्ट्रीय विस्तार सेवा तथा अन्य योजनायें	४.१३
८. शिक्षा	२.६०
९. स्वास्थ्य	१.१६
१०. अन्य सामाजिक सेवायें	१.४२
११. सरकारी सेवायें	४.३४
(१ से ११ तक का योग)	५१.९९
१२. व्यापार और उद्योग समेत 'अन्य' रोजगारों में	२७.०४
कुल योग	७९.१३

अर्थात् ८० लाख के आस-पास

इस प्रकार दूसरी योजना में रोजगार काफी बढेगा, पर फिर भी बेरोजगारी की समस्या पर काफी ध्यान देने की जरूरत पड़ेगी।

बेकारी को आम शिक्षा के अलावा शिक्षित बेकारों की समस्या विशेष रूप से विचारणीय है। योजना आयोग की एक समिति ने अपने प्रतिवेदन में बताया है कि सन् १९५६-६१ की अवधि में मैट्रिक से ऊपर की योग्यता रखने वाले १४ लाख ५० हजार व्यक्तियों को काम की जरूरत होगी। राज्य सरकारों ने जो विवरण भेजा है, उसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि रोजगार बढ़ाने के वर्तमान कार्यक्रमों के अनुसार १४ लाख ५० हजार लोगों को काम मिल सकेगा। रोजगार बढ़ाने के लिये छोटे उद्योगों और परिवहन की सहकारी समितियाँ खड़ी करने पर १ अरब ३० करोड़ रुपये खर्च करने की सिफारिश की गई है और भी कई योजनाओं की सिफारिश है। इनके मान लेने पर २ लाख ५० हजार लोगों को रोजगार मिलने की आशा है। यह तो रहा बेरोज़गारी की समस्या का सामूहिक रूप। पर देश के अलग-अलग भागों में कुछ कामों के विशेष प्रोत्साहन से वहाँ की बेकारी दूर हो सकती है, पर लोगों को अपनी रुचि और योग्यता का काम न मिलने की समस्या शिक्षा प्रणाली मे परिवर्तन करने से और काफी समय बाद जाकर हल हो सकती है।

निष्कर्ष—

प्राप्त साधनों के भरपूर उपयोग करने के बाद भी बेकारों और कम रोजगार वाले लोगों की समस्या का पूरा हल नहीं हो सकेगा। योजना के कार्य-क्रम से रोजगार के जो साधन पैदा होंगे उनको पूरक नियोजन द्वारा बढ़ाया जा सकेगा। ज्यों-ज्यों योजना का कार्य-क्रम आगे बढ़ेगा, उसके साथ-साथ इस बात की भी जाँच होती रहनी चाहिये कि उसकी प्रगति से कितने अतिरिक्त लोगों को रोजगार मिल रहा है। इस प्रकार लोगों को काम दिलाने वाले लक्ष्यों की पूर्ति के लिये आवश्यकतानुसार उपाय काम में लाना चाहिये।

---

[३४]

भारत में जनाधिक्य की समस्या

रूपरेखा—

१. *प्रारम्भिक*—गत ८० वर्षों से भारत की जन-संख्या में निरन्तर वृद्धि हुई है। यह ज्ञात करने के लिए कि किसी देश में जनाधिक्य है या नहीं, प्रायः दो कसौटियों का उपयोग किया जाता है—माल्थस का सिद्धान्त और कैनन का सिद्धान्त। माल्थस के सिद्धान्तानुसार भारत में जनाधिक्य है, किन्तु कैनन के सिद्धान्तानुसार ऐसी बात नहीं है। दोनों सिद्धान्तों के सन्तुलन से यह स्पष्ट है कि भारत में जनाधिक्य की दशायें हैं।

२. *भारत में जन-संख्या की वेगपूर्ण वृद्धि के कारण*—जन सख्या की वृद्धि के प्रधान कारण ये हैं :—अति अधिक दरिद्रता, स्त्रियों की आर्थिक परतन्त्रता, निम्न शिक्षा स्तर, बाल विवाह की प्रथा, सामाजिक कुप्रथायें, गृह-स्वास्थ्य, सन्तान निरोध तथा गर्भविरोधी शिक्षा का अभाव आदि।

३. *जन-संख्या की वृद्धि को रोकने की आवश्यकता*—भारतवासियों का जीवन-स्तर ऊँचा करने एव राष्ट्रीय आय मे वृद्धि करने के लिये जन सख्या की वृद्धि को रोकना नितान्त आवश्यक है।

४. *जन-संख्या की वृद्धि को कैसे रोका जाय ?*—कुछ उपाय :—(अ) देश का पर्याप्त औद्योगीकरण, (आ) सयम तथा ब्रह्मचर्य, (इ) कृत्रिम उपायों का प्रयोग, (ई) बाल विवाह की प्रथा पर नियन्त्रण, (उ) प्रवास की व्यवस्था, (ऊ) पारिवारिक नियोजन, (ए) शिक्षा का प्रचार आदि।

५. *निष्कर्ष*—अल्पकालीन उपाय उपलब्ध नहीं हैं। वास्तव मे आवश्यकता है धन उत्पत्ति एवं औद्योगीकरण की, जिससे कि प्राकृतिक प्रसाधनों का पूर्णतः सदुपयोग हो सके।

प्रारम्भिक—

भारतवर्ष की गणना विश्व के अत्यन्त घने देशों में की जाती है। जन-संख्या की दृष्टि से चीन के बाद भारत का विश्व मे दूसरा नम्बर है। जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है, भारतवर्ष की जन-सख्या गत ८० वर्षों से निरन्तर बढ़ती आ रही है—

वर्ष	जन-संख्या (करोड़)	प्रतिशत-वृद्धि
१८७२	२१	—
१८८१	२५	२३
१८९१	२६	१६
१९०१	२६½	१½
१९११	३१½	७
१९२१	३२	१
१९३१	३५	१०
१९४१	३६	११
१९५१	३५½	१३½

उपरोक्त आँकड़ों से स्पष्ट है कि भारतवर्ष में जन संख्या बराबर बढ़ती चली जा रही है, अतएव कभी कभी धारणा पैदा होती है कि क्या भारत में जनाधिक्य है? अर्थशास्त्रियों के लिए सचमुच ही यह एक विवाद का प्रश्न है। यह ज्ञात करने के लिए कि किसी देश में जनाधिक्य है या नहीं, प्राय दो कसौटियों का उपयोग किया जाता है —(अ) माल्थस का सिद्धान्त और (आ) कैनन का सिद्धान्त।

माल्थस का सिद्धान्त—

अर्थशास्त्र में जन संख्या का सर्वप्रथम क्रमबद्ध सिद्धान्त माल्थस का जन संख्या सिद्धान्त है और भारत की जन संख्या का अध्ययन करते समय बहुधा इसी सिद्धान्त की शरण ली जाती है। माल्थस के सिद्धान्त के अनुसार किसी देश मे जनाधिक्य की स्थिति उस समय होती है, जबकि उस देश में उपलब्ध खाद्य सामग्री उस देश की कुल जन संख्या के जीवनयापन के लिए अपर्याप्त होती है। माल्थस के जन संख्या सिद्धान्त में बताया गया है कि आधारभूत समस्या यह है कि जन संख्या तथा जीवन निर्वाह के साधनों के बीच अन्तर होता है। कुछ कारणों से किसी एक देश में जन-संख्या खाद्य उत्पादन की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ती है। अपने सिद्धान्त के सम्बन्ध मे माल्थस का कहना है कि यदि खाद्य उत्पादन जन-संख्या के लिए पर्याप्त नहीं होता है, तो उसमें मृत्यु दर बढ़ती जायेगी। प्रकृति जन संख्या तथा खाद्य उत्पादन के बीच मृत्यु-दर को बढ़ा कर सन्तुलन स्थापित करने का प्रयत्न करती है। सभी प्रकार की प्राकृतिक आपत्तियाँ जैसे—अकाल, युद्ध, महामारी आदि जन संख्या पर टूट पड़ती हैं और उसके आकारों को घटा देती हैं। इस विवेचना के फलस्वरूप माल्थस अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नैसर्गिक निरोधन की उपस्थिति ही अति जन संख्या की सूचक है।

माल्थस के उपरोक्त दृष्टिकोण से तो भारत में जनाधिक्य की स्थिति है। इस मत के पक्ष में अनेक तर्क दिये जाते हैं —प्रथम, देश में खाद्य सामग्री की अपर्याप्त उपलब्ध है। भारतवर्ष में खाद्य सामग्री की पूर्ति देशवासियों की माँग के बराबर नहीं है। अनेक विद्वानों ने इस मत का समर्थन किया है। डा० राधाकमल मुकर्जी ने सन्

१६३८ में 'फूड प्लानिंग फॉर फोर हन्ड्रेड मिलियन्स' शीर्षक पुस्तक में लिखा है कि सामान्य वर्षों तक में भारत में खाद्य सामग्री की पूर्ति कुल जन-संख्या के केवल ८८% व्यक्तियों के लिए ही हो सकी है। इसी प्रकार डा० ज्ञानचन्द्र ने 'इन्डियाज टीमिंग मिलियन्स' शीर्षक पुस्तक में लिखा है कि सन् १६०० से सन् १६३४ तक के काल में भारत की जन संख्या में वृद्धि तो २१% हुई, किन्तु कृषि भूमि में वृद्धि केवल ११% हुई। सन् १६४८ में भारत सरकार के उस समय के खाद्य मन्त्री ने विधान सभा में कहा था कि यदि हम २ पौंड प्रति व्यक्ति प्रति सप्ताह का आधार मानें, तो राष्ट्र की खाद्य सामग्री की कुल माँग लगभग ५८० लाख टन होती है, परन्तु सन् १६४७ के अनुमानानुसार देश में खाद्य पदार्थों की कुल उत्पत्ति केवल ४२० लाख टन ही हुई थी, जिसमें से यदि बीज और अन्य प्रकार से अन्न की बर्बादी को निकाल दिया जाय, तब तो खाद्य सामग्री की कुल पूर्ति और भी कम हो जावेगी। इस प्रकार सन् १६४८ में खाद्य सामग्री में लगभग ६० लाख टन का घाटा रहा। राष्ट्रीय योजना कमीशन ने भी प्रथम पंच-वर्षीय योजना की अन्तिम रिपोर्ट में यह मत प्रगट किया है कि देश की खाद्य सामग्री में लगभग ६.७% का घाटा होता है। इन बातों से स्पष्ट है कि देश में खाद्य सामग्री की पूर्ति सदैव माँग की तुलना में कम बैठती है।

दूसरे, हमारे देश में प्रतिबन्धक रोक के साधनों का भी अभाव है। प्राय सभी व्यक्ति विवाहित हो जाते हैं, विवाह भी कम आयु में हो जाता है तथा जन संख्या में वृद्धि के रोक के कृत्रिम साधनों का लगभग पूर्ण अभाव है, जिससे देश की जन संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। सन् १६४१-५१ के काल में यह वृद्धि १२.५% हुई थी, जो अपेक्षाकृत बहुत अधिक है। तीसरे, देश में नैसर्गिक प्रबन्धों का भी प्रयोग होता रहता है, जैसे—महामारी, लड़ाई-झगड़े, अकाल आदि। चौथे, हमारे देश-वासियों का जीवन स्तर भी बहुत नीचा है। कुछ लोगों का मत है कि हमारे देश में लगभग ६०% व्यक्ति भूख की सीमा के पास ही जीवन व्यतीत करते हैं। इन तर्कों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष में माल्थस का सिद्धान्त लागू होता है एवं वहाँ जनाधिक्य है।

कैनन का सिद्धान्त—

अनुकूलतम जन-संख्या का सिद्धान्त (Optimum Theory of Population) का विकास माल्थस के सिद्धान्त के दोषों को दूर करने के लिये हुआ। इस सिद्धान्त के समर्थकों का मत है कि जन संख्या को देश मे उपलब्ध खाद्य सामग्री से सम्बन्धित नहीं करना चाहिये, क्योंकि वास्तव में जन संख्या का सम्बन्ध तो देश की कुल उत्पत्ति से है। किसी देश में किसी समय पर एक आदर्श जन संख्या हो सकती है, जो उस देश के प्राकृतिक प्रसाधनों के पर्याप्त शोषण के लिये अनुकूल होती है। इतनी जन संख्या को ही आदर्श अथवा सर्वोत्तम जन संख्या कहते हैं। यदि किसी देश में जन संख्या इस अनुकूलतम बिन्दु से कम होगी, तो वहाँ के प्राकृतिक प्रसाधनों का अपर्याप्त शोषण होने से प्रति व्यक्ति आय कम हो जायेगी। जन संख्या की इस दशा को न्यून जन संख्या कहते

हैं। इसके विपरीत यदि किसी देश की जन-संख्या इस आदर्श बिन्दु से अधिक है, फिर भी प्राकृतिक साधनों का पर्याप्त शोषण न हो सकेगा और फलतः प्रति व्यक्ति आय कम हो जायेगी। देश मे जन-संख्या की इस दशा को जनाधिक्य कहते हैं।

जब हम कैनन की कसौटी भारत पर लागू करते हैं, तो हमें पता लगता है कि भारत में जन-संख्या का आधिक्य नहीं है। इस मत की पुष्टि के लिये भी अनेक तर्क दिये जाते हैं :–प्रथम, देश की सम्पत्ति में जन-संख्या की अपेक्षा अधिक वृद्धि हुई है। डा० पी० के० थामस ने सन् १९२९ से सन् १९३२ के काल के सम्बन्ध में अनुमान लगाया है कि इस काल में जन-संख्या में वृद्धि तो १०·४% हुई है, परन्तु कृषि उपज में वृद्धि १९% और औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि ४१% हुई है, अतः स्पष्ट है कि हमारे यहाँ जन-संख्या का आधिक्य नहीं है। दूसरे, प्रति व्यक्ति की आय भी निरन्तर बढ़ती जा रही है। दादाभाई नौरोजी के अनुमानानुसार सन् १८६९-७० में देश की प्रति व्यक्ति आय २०) थी, परन्तु सन् १९३२-३३ में डाक्टर वी० के० आर० वी राव के अनुसार यह ६५) थी और सन् १९४८-४९ में उनका अनुमान २५५ रु० था, अतः स्पष्ट है कि अभी तक हमारे देश में अधिकतम उत्पत्ति की सीमा नहीं आई, अतः जनाधिक्य भी नहीं है।

माल्थस तथा केनन दोनों के सिद्धान्तों के संतुलित अध्ययन से हम यही निष्कर्ष निकालते हैं कि भारत में वर्तमान परिस्थितियों में तो जनाधिक्य की दशायें हैं, परन्तु साथ-साथ भारतीय कृषि तथा उद्योगों में उन्नति की भी विशाल संभावनायें हैं। उनके अधिकतम उत्पत्ति की सीमा नहीं आई है। यदि वर्तमान वैज्ञानिक आविष्कारों तथा शिल्प ज्ञान का प्रयोग भारतीय कृषि, उद्योग, खनिज व वन सम्पत्ति में किया जाय, तो निस्सन्देह हम अपनी बढ़ती हुई जन-संख्या का सुविधा से भरण पोषण कर सकेंगे, अतः भारत में वास्तविक समस्या जन-संख्या को कम करने की नहीं है, वरन् भारत की विशाल प्राकृतिक के समुचित एवं पर्याप्त शोषण की है।

भारत में जन-संख्या की वेगपूर्ण वृद्धि के कारण—

हमारे देश में अनेक आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक कारणों ने जन-संख्या की वृद्धि को प्रोत्साहन दिया है, जिनमे से कुछ महत्वपूर्ण कारण निम्नलिखित हैं। सबसे महत्वपूर्ण कारण देश की गरीबी है। इसके दो भीषण प्रभाव होते हैं। गरीबी एक व्यक्ति को धृष्ट अथवा मस्त बना देती है। जब जीवन स्तर नीचे गिर जाता है, तो व्यक्ति इस बात की चिन्ता छोड़ देता है कि उसके कितने बच्चे हैं। दूसरे, निर्धन वर्ग के व्यक्तियों को मनोरंजन के साधन भी उपलब्ध नहीं होते। उन्हें केवल विवाहित आनन्द ही सरलतापूर्वक प्राप्त हो सकता है और पशु प्रवृत्ति के कारण इनमें सतति उत्पत्ति अधिक होती है। वैज्ञानिकों का यह भी मत है कि कमज़ोर व्यक्ति में सन्तान उत्पादन प्रवृत्ति अधिक होती है।

दूसरे, भारत में स्त्रियों को आर्थिक स्वतन्त्रता नहीं के बराबर है। घर की चहारदीवारी के बाहर उनके लिए बहुत कम रोजगार उपलब्ध है। यदि कहीं रोजगार मिलता भी है तो सामाजिक प्रथायें उनके मार्ग में बाधायें उपस्थित करती हैं। हमारे

देश में प्रायः प्रत्येक स्त्री के लिए विवाह अनिवार्य है। अविवाहित एवं निस्सन्तान और अपनी जीविका के हेतु कमाने वाली स्त्रियों को आज भी समाज आदर की दृष्टि से नहीं देखता।

तीसरे, हमारा शिक्षा-स्तर भी बहुत नीचा है। केवल १७% व्यक्ति पढ़े लिखे हैं और इनमें ऐसे व्यक्ति भी सम्मिलत हैं जो केवल नाम लिखना ही जानते हैं। स्त्रियों में तो शिक्षा का घोर अभाव है। अधिकांश व्यक्तियों की अज्ञानता तो इतनी अधिक है कि वे न तो ऊँचे जीवन स्तर के महत्त्व को ही समझते है और न परिवार के अत्यधिक विस्तार के दोष को ही जानते हैं।

चौथे, हमारे देश में बाल-विवाह की कुप्रथा भी प्रचलित है। सन् १९५१ की जन-गणना के अनुसार ४% से अधिक विवाहित लोग ५ से १४ वर्ष की आयु के हैं। गर्म जलवायु के कारण सन्तान पैदा करने की आयु योरोपीय देशों की अपेक्षा शीघ्र आरम्भ हो जाती है। प्रायः सभी माँ-बाप यह चाहते हैं कि उनके सभी बच्चों का विवाह उनके जीवन काल में ही हो जाय।

पाँचवे, देश की सामाजिक प्रथायें जन-संख्या की वृद्धि को प्रोत्साहन देती हैं। ऐसी कहावत है कि भारत में भिखमगों का भी विवाह हो जाता है। यदि किसी व्यक्ति के पुत्र नहीं होता, तो उसे मृत्यु के उपरान्त कुछ लाभों से वंचित रहना पड़ता है। ग्रामीण क्षेत्रों में तो आज भी एक मनुष्य की सम्पन्नता उसके पुत्रों की संख्या से ही जा सकती है।

छठे, गृह, स्वास्थ्य, सन्तान-विरोध तथा गर्भविरोधी शिक्षा की भी बहुत कमी है। सन्तान-विरोधी उपायों के विषय में स्वास्थ्य तथा चिकित्सा सुविधाओं तथा परामर्श-दाताओं का भारी अभाव है।

जन-संख्या की वृद्धि को रोकने की आवश्यकता—

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत में जन-संख्या की वृद्धि को रोकने की बहुत अधिक आवश्यकता है। जब तक हम इस अनावश्यक वृद्धि को न रोकेंगे तब तक हमारी प्रति व्यक्ति आय नहीं बढ़ सकती। परिणामस्वरूप रहन सहन के स्तर में भी वृद्धि की आशा नहीं कर सकते। बढ़ती हुई जन संख्या को रोकने की आवश्यकता इसलिए उत्पन्न होती है कि हमारा उपभोग स्तर बहुत नीचा है और ऊपर उठाने की विशेष आवश्यकता है। यदि हम इस वृद्धि को रोक सकते हैं तथा जन संख्या में कुछ कमी कर सकते हैं तो निस्सन्देह हमारा जीवन-स्तर ऊँचा उठेगा। हमारा वर्तमान आराम-स्तर इतना कम है कि उससे देश में स्वास्थ्य एवं कुशलता में भारी हानि हो रही है। यही कारण है कि भारतीय उद्योगपति अच्छे उत्पादक नहीं हैं। ऐसी सन्तान उत्पन्न करने से क्या लाभ, जिसके लिए समाज जीवन निर्वाह के लिए भी पर्याप्त व्यवस्था न कर सके, अतः आवश्यकता है जनाधिक्य पर नियन्त्रण की।

जन-संख्या की वृद्धि को कैसे रोका जाय ?—

बढ़ती हुई जन-संख्या की समस्या को हल करने के लिये निम्न उपाय प्रस्तुत किये जा सकते हैं : प्रथम, देश का पर्याप्त औद्योगीकरण किया जाय, जिससे हम अपने प्राकृतिक प्रसाधनों का पूर्ण एवं समुचित सदोपयोग कर सकें। औद्योगीकरण राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी, कृषि पर जन-संख्या का भार कम होगा एवं हमारा जीवन-स्तर ऊँचा उठेगा। दूसरे, देश में जन-संख्या की अबाधित वृद्धि पर नियंत्रण किया जाय। इसके अनेक उपाय हैं—मनुष्य संयम तथा ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करके भी जन-संख्या की वृद्धि पर रोक लगा सकता है, किन्तु इस उपाय का प्रयोग सर्व साधारण की शक्ति के परे है, अतः हमें कृत्रिम उपायों का प्रयोग करना चाहिए, परन्तु इन कृत्रिम साधनों के उपयोग का विरोध नैतिक आधार पर किया जाता है, क्योंकि ये अप्राकृतिक हैं और इनसे समाज में व्यभिचार की वृद्धि की भी आशंका रहती है। स्वास्थ्य पर भी इनका बुरा प्रभाव पड़ता है। फिर कुछ शिक्षित व्यक्ति ही इनका उपयोग कर सकते हैं, किन्तु ऐसी धारणाओं की चिन्ता नहीं करनी चाहिये। जहाँ तक हो, संयम का जीवन व्यतीत किया जाय अन्यथा कृत्रिम साधनों का उपयोग किया जाय। तीसरे, जन-संख्या की समस्या को हल करने के लिये बाल-विवाह प्रथा पर भी रोक लगानी चाहिये, क्योंकि इस प्रथा का जन्म तथा मृत्यु दोनों ही दरों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। चौथे, हमारी सरकार को देशवासियों के प्रवास की भी उचित व्यवस्था करनी चाहिये और यह तब ही सम्भव है जबकि हम विदेशों में विदेशियों के ही समान सुविधायें प्राप्त कर लें। पाँचवे, कृषि और उद्योग दोनों में उत्पत्ति की वृद्धि से वर्तमान जन संख्या के आधिक्य का लोप तो हो सकता है, परन्तु इस समस्या का पूर्णत: हल नहीं हो सकेगा। हमारे देश में प्रति दस वर्ष में जन-संख्या में ४½ करोड़ की वृद्धि हो जाती है, अतः यह आवश्यक है कि हमारे देश में पारिवारिक नियोजन, अर्थात् परिवारों के आकार को सीमित किया जाय तथा उनके सदस्यों को उचित शिक्षा-दीक्षा दी जाय। सौभाग्य का विषय है कि पारिवारिक नियोजन के महत्व को स्वीकार करके योजना कमीशन ने पाँच वर्ष की अवधि में पारिवारिक नियोजन के पक्ष में प्रचार करने तथा सहज व सस्ते उपाय ढूंढ निकालने तथा उन्हें प्रचलित करने के हेतु ६५ लाख रुपये खर्च करने की सिफारिश की है। छठे, शिक्षा का प्रचार भी जन-संख्या की समस्या को बहुत कुछ हल कर सकता है। इसी प्रकार सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा सफाई के महत्व पर भी अधिक जोर दिया जाना चाहिये।

निष्कर्ष—

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत में जन-संख्या के विस्तार को रोकने तथा वर्तमान जन संख्या के आकार को कम करने की विशेष आवश्यकता है, किन्तु इस दिशा में कोई भी अल्पकालीन उपाय उपलब्ध नहीं है। किसी भी उपाय की सलाह देते समय प्रत्येक व्यक्ति को भारत के आर्थिक और सामाजिक कलेवर का विशेष ध्यान रखना चाहिये। साथ ही, यदि कुछ अल्पकालीन उपाय किये गये तो

उनका दीर्घकालीन उपायों से समन्वय रखना चाहिये। इससे भी अधिक आवश्यकता इस बात की है कि हमें एक निश्चित योजना द्वारा राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि करें और यदि हम इस उद्देश्य में सफल हो जाते हैं तो निस्संदेह हम अपनी जन-संख्या की समस्या को सुलझा लेंगे। हम सबकी आँखें द्वितीय पंच-वर्षीय योजना की ओर लगी हैं, जिसका मुख्य उद्देश्य भारत का शीघ्र से शीघ्र औद्योगीकरण करना है। ईश्वर हमारी योजना को सफलीभूत करे, जिससे कि अन्य सम्बन्धित समस्यायें स्वतः हल हो जायें।

---

[३५]

भारत में समाजवादी ढंग की अर्थ-व्यवस्था

रूपरेखा

(१) *प्रारम्भिक*—आधुनिक युग में पूँजीवादी व्यवस्था अनावश्यक है। योजना का लक्ष्य—सुरक्षा, स्वतन्त्रता और अवकाश—होना चाहिये।

(२) *समाजवाद एवं समाजवादी ढग की अर्थ व्यवस्था का अर्थ*—समाजवाद पूँजीवाद के विरुद्ध मोर्चा रखता है। इसके दो प्रकार हैं—क्रान्तिकारी समाजवाद और विकासात्मक समाजवाद। भारत में विकासात्मक ढंग की समाजवादी व्यवस्था करना श्रेयस्कर है। भारत जैसे पिछड़े हुये देश में समाजवाद का अर्थ केवल सर्वोदय समाज हो सकता है, जहाँ राजनैतिक एवं आर्थिक सत्ता के व्यापक विकेन्द्रीयकरण द्वारा व्यक्ति एवं समाज दोनों को अपनी उन्नति और समृद्धि का पूर्ण अवसर मिल सके।

(३) *भारत में समाजवादी ढग की आर्थिक व्यवस्था की आवश्यकता*—निम्न कारणों से यह भारत के लिये आवश्यक है:—(अ) आय का असमान वितरण, (आ) प्राकृतिक साधनों का अपर्याप्त उपयोग, (इ) भारतीय पूँजी का लजीली प्रकृति, (ई) ऐतिहासिक आवश्यकता।

(४) *समाजवाद का आर्थिक विकास*—चाणक्य के अर्थशास्त्र में भारत के प्राचीन सामाजिक जीवन का प्रतिबिम्ब मिलता है। उस युग मे हमारे ग्रामीण क्षेत्रों की अर्थ व्यवस्था समाजवाद के ही सिद्धान्तों पर आधारित थी। सन् १९३७ में योजना समिति ने जो आर्थिक योजना बनाई उसका सुझाव मुख्यतः समाजवादी व्यवस्था की ओर था। सन् १९५५ में चीन यात्रा से लौटने पर प्रधानमन्त्री नेहरू ने समाजवादी समाज का नारा बुलन्द किया। कांग्रेस के आवडी अधिवेशन में भी प्रस्ताव पास किये गये।

(५) *समाजवादी व्यवस्था के मूल सिद्धान्त निम्न हैं*—पूर्ण रोजगार एव काम पाने का अधिकार, राष्ट्रीय धन का अधिकतम उत्पादन, अधिकतम राष्ट्रीय आत्म निर्भरता, सामाजिक एवं आर्थिक न्याय, शांतिपूर्ण एव जनतन्त्रात्मक तरीकों का प्रयोग, ग्राम पचायतों एवं सहकारी समितियों की स्थापना। अन्टू दी लास्ट।

(६) *हमारी योजना का आधार समाजवादी समाज*—हमारी प्रथम एव द्वितीय पंच-वर्षीय योजना के उद्देश्य से यह प्रगट है कि योजना का आधार समाजवादी समाज है।

(७) *समाजवादी समाज में निजी क्षेत्र का स्थान*—समाजवादी ढंग की आर्थिक व्यवस्था में निजी क्षेत्र का अन्त नहीं होगा। हाँ, उसका सार्वजनिक और सहकारी क्षेत्र से मेल बिठाना होगा।

(८) *निष्कर्ष*—भारत ने समाजवादी समाज व्यवस्था अपनाली है। समाजवादी ढांचा बनाने के लिये समाज में परिवर्तन करना होगा। भारतीय संविधान के निर्देशक तत्वों में समाजवादी सिद्धान्तों पर ही बल दिया गया है।

प्रारम्भिक—

वर्तमान युग में प्रायः सभी विवेकशील व्यक्ति इस बात से सहमत हैं कि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था जन साधारण का शोषण करने वाली व्यवस्था है और इसके अन्तर्गत हम सुख एवं समृद्धि की आशा नहीं कर सकते। यही कारण है कि किसी भी देश की आर्थिक समृद्धि की योजना बनाते समय इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाता है कि उसमें कहीं पूँजीवादी शोषण का पुट न हो। प्रत्येक योजना का लक्ष्य प्रत्येक व्यक्ति अथवा समाज के लिये निम्न तीन बातों का पूरा करना होना चाहिये:—सुरक्षा, स्वतंत्रता और अवकाश। 'सुरक्षा' से हमारा तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को आधुनिक सभ्य समाज के अनुरूप साधारण रहन सहन का दर्जा प्राप्त होना चाहिये। इसके लिये यथेष्ठ मात्रा में उत्पादन एवं न्यायपूर्ण वितरण की आवश्यकता होगी।

दूसरे, मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के हेतु आर्थिक सुरक्षा के अतिरिक्त राजनैतिक, नैतिक एवं सामाजिक स्वतंत्रता भी नितान्त आवश्यक है। तीसरे, उसके पास थोड़ा अवकाश भी होना चाहिये, जिसका उपयोग वह जीवन की उच्चतर प्रवृतियों, जैसे—कला, विज्ञान एवं साहित्य आदि में कर सके। सारांश यह है कि मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से उसी सामाजिक व्यवस्था को श्रेष्ठ कहा जा सकता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को उत्पादक की दृष्टि से सुरक्षा, नागरिक की दृष्टि से स्वतंत्रता और उपभोक्ता की दृष्टि से अवकाश प्राप्त हो।

यह सर्वमान्य निश्चित हो चुका है कि उपरोक्त आदर्श को प्राप्त करने वाली अर्थव्यवस्था पूँजीवादी नहीं हो सकती और न उसका स्वरूप मिली जुली अर्थ-व्यवस्था का ही हो सकता है, जैसा कि विभाजन के बाद सोचा गया था, अतः हमारे सरकार ने अपनी आर्थिक योजना गाँधीवादी एवं समाजवादी विचारों के समन्वय के आधार पर प्रस्तुत की।

समाजवाद एवं समाजवादी ढंग की व्यवस्था का अर्थ—

भारतीय समाजवादी समाज की व्यवस्था का अर्थ समझने के लिये पहले समाजवाद का अर्थ समझना आवश्यक हो जाता है। कुछ वर्षों से समाजवादी-सामाजिक व्यवस्था पर प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान आकर्षित हो उठा है। प्रायः सभी लोग भावी सामाजिक संगठन के लिये समाजवादी समाज को मान्यता प्रदान करते हैं। वास्तविकता यह है कि समाजवाद अपने ढंग का एक अनूठा शब्द है, जो पूँजीवाद के विरुद्ध मोर्चा

रखता है। इसके अध्ययन के लिये हम इसे दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—प्रथम, क्रान्तिकारी समाजवाद और द्वितीय, विकासात्मक समाजवाद। आजकल क्रान्तिकारी समाजवाद, साम्यवाद अथवा कम्यूनिज्म के नाम से प्रसिद्ध है। क्रान्तिकारी समाजवाद वह स्वाभाविक रूप है जो समाजवादी ढंग को अपनाने के लिये एक क्रान्तिकारी परिवर्तन चाहता है, जिसमें युद्ध, जीवन का संघर्ष एवं सम्पत्तियों की हानि निहित है। इसके विपरीत विकासवादी समाजवाद, समाजवाद का आधुनिक दृष्टिकोण है। यह धीरे धीरे आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति को ध्यान में रख कर समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने का एक श्रेष्ठ साधन है। इसके अन्तर्गत राज्य को सुव्यवस्था करने वाला यन्त्र मानते हैं, जो देश को आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और नैतिक दृष्टिकोण से उच्चतम् स्तर पर पहुँचा सकता है। इसमें राज्य जनतन्त्रवाद को प्रोत्साहन देने के लिये तत्पर रहता है। वास्तव में उसका यह सोचना सत्य है कि समाजवादी राज्य की स्थापना एक कल्याणकारी राज्य (Welfare State) से है। हमारा देश भी विकासात्मक समाजवादी समाज की स्थापना करना चाहता है। उसका ध्येय पाश्चात्य देशों के क्रान्तिकारी समाजवाद से नहीं है, जिसमें हत्यायें, युद्ध और सम्पत्ति की हानि हो। देश को सुखी एवं समृद्धिशाली बनाने के लिये भारत में विकासात्मक ढंग की समाजवादी व्यवस्था करना अति श्रेयस्कर है। भारत में, जहाँ धन का असमान वितरण हो, दरिद्रता एवं बेरोजगारी मुँह बाये खड़ी हो, प्राकृतिक सम्पत्ति का पूर्णत: सदुपयोग न किया गया हो, समाजवादी व्यवस्था का आश्रय न लेना देश को अवनति की ओर अग्रसर करना है। इन दोषों को दूर करना ही समाज की उन्नति करना है और समाज की उन्नति से राष्ट्र की उन्नति होना स्वाभाविक है। हमारे प्रधान मन्त्री नेहरू ने कांग्रेस के लक्ष्य के सम्बन्ध में कहा था कि सम्मिलित सहकारी स्वराज्य (Co-operative Commonwealth) स्थापित करना ही समाजवादी समाज का निर्माण करना है। ऐसे समाज से हमारा तात्पर्य ऐसी आर्थिक व्यवस्था से है, जिसके अन्तर्गत—(अ) राष्ट्रीय सम्पत्ति में अधिकतम वृद्धि हो, (ब) उत्पत्ति का समान वितरण हो और (स) जहाँ कुछ व्यक्तियों अथवा वर्गों को ही विशेष अधिकार न मिले हों। नेहरू के शब्दों में—"इस व्यवस्था से हम यह न समझ लेना चाहिये कि हम व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त करना चाहते हैं। निजी क्षेत्र के विकास की अभी काफी सम्भावनायें हैं, उनका क्षेत्र विस्तृत है। यह समझना व्यर्थ है कि उद्योगों का राष्ट्रीयकरण सब रोगों का रामबाण है। यह नितान्त आवश्यक है कि देश के बुनियादी उद्योगों का स्वामित्व एवं प्रबन्ध राज्य द्वारा होना चाहिये। देश के बुनियादी उद्योग निम्नलिखित हैं—लोहा एवं इस्पात, कोयला, बिजली एवं भारी मशीनें, लेकिन कपड़ा, चीनी, तेल आदि जैसी उपभोग की वस्तुएँ उत्पन्न करने वाले बड़े पैमाने के उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत उपभोग की वस्तुएँ उत्पन्न करने वाले बड़े पैमाने के उद्योगों का सहकारी समितियों के रूप में विकेन्द्रीयकरण होना चाहिए। संक्षेप में, हम इस देश में एक ऐसा समाजवाद

स्थापित करना चाहते हैं जो कि उन देशों के समाजवाद से भिन्न होगा जहाँ की आबादी कम है और पूँजी अधिक। भारत जैसे देश में जहाँ की आबादी घनी और पूँजी कम है, समाजवादी अर्थ व्यवस्था विकेन्द्रित अर्थ व्यवस्था के रूप में होनी चाहिए। स्वर्गीय बापू ने इसी बात को निम्न शब्दों में कहा था—"भारतीय समाजवाद ने विशाल पैमाने के उत्पादन के स्थान पर विशाल जनता द्वारा उत्पादन होना चाहिये। शिशिर गुप्त के शब्दों में—"समाजवादी ढंग एक क्रान्तिकारी मार्ग है, इसमें सन्देह नहीं। इसका अर्थ समाज को एक विशेष साँचे में ढालना है और राजकीय प्रोत्साहन द्वारा अभीष्ट उचित व्यवस्था का निर्माण करना है। यहाँ क्रान्ति का आशय—एक दिये हुए सामाजिक ढाँचे में क्रमश परिवर्तन से है।

प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने भारत की आर्थिक नीति की बहस में बोलते हुये कहा था कि "समाजवाद की ओर भारत का झुकाव कट्टरपंथी झुकाव नहीं है, बल्कि पूर्ण रोजगार, अत्यधिक उत्पादन और अधिक न्याय के मूल उद्देश्यों की प्राप्ति का एक व्यावहारिक तरीका है।' गाँधीवादी समाजवाद का तात्पर्य (यदि यह शब्द प्रयोग किया जा सके) विशेषत गाँव पंचायतों तथा औद्योगिक सहकारी समितियों के रूप में राजनैतिक एवं आर्थिक शक्ति के विकेन्द्रीयकरण से है। आज भारत की समाजवादी ढङ्ग की व्यवस्था वास्तव में गाँधीवादी समाज एवं विकासात्मक सामाजिक व्यवस्था के समन्वय का नया रूप है। श्री उच्छ्ङ्गराय नवलशङ्कर जी ढेबर (काँग्रेस अध्यक्ष) *का भारतीय समाजवाद से आशय लोगों के शारीरिक स्वास्थ्य की आवश्यकताओं की* पूर्ति के पर्याप्त साधन, तन ढकने के लिए वस्त्र और रहने के लिये मकान तथा उनके लिये समुचित शिक्षा देने की व्यवस्था करने से है।

भारत में आर्थिक पुनर्निर्माण के मुख्य लक्ष्य हैं—(१) पूर्ण रोजगार, (२) अधिकतम उत्पादन एवं (३) सामाजिक तथा आर्थिक समता। इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये हमें समाज के नियन्त्रण में बुनियादी या आधारभूत उद्योगों को कायम करना अनिवार्य प्रतीत होता है। जहाँ तक उपभोग पदार्थों के निर्माण करने वाले पदार्थों का सम्बन्ध है, विकेन्द्रित एवं सहकारी आधार उपयुक्त है, क्योंकि इससे उत्पादन बढ़ेगा तथा साथ ही रोजगार के लिये भी लोगों को अनेक अवसर मिलेंगे। भारत जैसे पिछड़े हुये देश में समाजवाद का अर्थ केवल सर्वोदय समाज हो सकता है, जहाँ राजनैतिक एवं आर्थिक सत्ता के व्यापक विकेन्द्रीयकरण द्वारा व्यक्ति एवं समाज दोनों को अपनी उन्नति एवं समृद्धि का पूर्ण अवसर मिल सके। भारतीय समाज का आधार सरकारी लोकतन्त्र है।

भारत समाजवादी ढङ्ग की अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकता—

भारत की गणना पूँजीवादी राष्ट्रों में की जाती है, क्योंकि यहाँ भी पाश्चात्य देशों की भाँति मुट्ठी भर व्यक्तियों के हाथों में उद्योगों की बागडोर है। ये पूँजीपति यहाँ के मजदूर वर्ग एवं भूमि विहीन वर्ग के समाज का शोषण करते हैं। हमारी वर्तमान जन प्रिय सरकार का उद्देश्य देश में सर्वमङ्गलकारी राज्य की स्थापना करना है।

इसी उद्देश्य से सरकार पूँजीपतियों द्वारा कर वसूल कर निम्न वर्ग के समाज को जीवन-स्तर उठाने में प्रयत्नशील है। भारत में वैधानिक दृष्टि से क्रिया, विचार एवं भाषण की स्वतन्त्रता है, किन्तु वास्तविक जीवन में भारत का पूँजीवाद इस स्वतन्त्रता का महान बाधक है। यहाँ धनी व्यक्ति अत्यन्त धनी और निर्धन व्यक्ति अधिक निर्धन होता जा रहा है। आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में एक घुड़दौड़ सी हो रही है, कोई भी वर्ग अथवा व्यक्ति अपनी स्थिति से सन्तुष्ट नहीं है। इस विषमता को दूर करने के लिए ही समाजवादी समाज का निर्माण करना आवश्यक हो जाता है। काँग्रेस पार्टी ने अपने आवड़ी अधिवेशन (सन् १९५५) में समाजवादी समाज के प्रस्ताव रखते हुए यह बताया था कि निम्न कारणों से ऐसे समाज की स्थापना करना आवश्यक है:—

(१) आय का असमान वितरण—हमारे देश में असमानता का अनुपात बहुत अधिक है। सन् १९३१-३२ में हमारी राष्ट्रीय आय ६५) थी और आज २८५) है। यद्यपि पहले की अपेक्षा तो यह सन्तोषजनक वृद्धि हुई है, किन्तु अन्य देशों की तुलना में अभी हम बहुत पीछे हैं। ग्रामीण एवं नगरी क्षेत्रों में रहने वाले व्यक्तियों की आय में आकाश पाताल का अन्तर है। आय की इस महान् असमानता को दूर करने के लिए समाजवादी समाज का निर्माण करना आवश्यक है।

(२) भारत एक अविकसित राष्ट्र है। यहाँ का प्रत्येक मध्यम एवं निम्न श्रेणी का व्यक्ति दरिद्रता से ग्रसित है। देश के प्राकृतिक साधनों का उचित उपयोग नहीं हो रहा है। अनेक क्षेत्रों में तो साधन बेकार पड़े हैं, अतः इन बेकार पड़े साधनों को विकसित करके उपयोग करना है। इनके द्वारा रोजगार पैदा होंगे, जीवन स्तर ऊँचा होगा, राष्ट्रीय आय बढ़ेगी, असमानता दूर होगी एवं देश समृद्धिशाली होगा। तभी समाजवादी समाज के निर्माण का ध्येय पूरा होगा और प्रत्येक व्यक्ति ऐसे समाज में खुशहाली का जीवन व्यतीत कर सकेगा।

(३) भारतीय पूँजी बड़ी शर्मीली कही जाती है। हमारे देश के औद्योगिक कलेवर का प्रधान दोष यह है कि यहाँ की पूँजी गड्ढों में दबी हुई है, भारतीय पूँजी का संचय करके उसे अपने पास रखना अधिक श्रेष्ठ समझते हैं, उद्योगों में विनियोग करना नहीं। इसका कारण यह है कि हमारी अधिकांश जन-संख्या अशिक्षित एवं रूढ़िवादी है। इन दोषों को दूर करना एवं पूँजी के विनियोग को प्रोत्साहन देना ही समाजवादी समाज का उद्देश्य है।

(४) आज समाजवादी समाज का निर्माण करना एक ऐतिहासिक आवश्यकता हो चुकी है। स्वतन्त्र-व्यापार-नीति (Laissez-faire) एवं अबाध पूँजीवाद (Unrestricted Capitalism) के दिन समाप्त हो चुके हैं। आज प्रत्येक देश समाजवादी आदर्श की कल्पना कर रहा है, अतएव ऐसे समाजवादी वातावरण में हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम भी अन्य राष्ट्रों के साथ कन्धा से कन्धा मिला कर चलें।

(५) देश में बेरोजगारी की समस्या ज्वालामुखी पर्वत के समान धधक रही

है। हमारे देश में ३९.६६ करोड़ आबादी में से २४.९० करोड़ जन संख्या कृषि से जीविका उपार्जन करती है। यह कुल जन संख्या का ६९.९% है। शेष १.७६ करोड़ अथवा ३०·२% जन संख्या गैर कृषि रोजगारों पर अवलम्बित हैं। कृषि पर जन संख्या का इतना दबाव न केवल कृषि को आर्थिक दृष्टि से लाभ हीन बना देता है, अपितु ग्रामीण अर्थ व्यवस्था में अर्द्ध रोजगारी और बेरोजगारी को भी जगह देता है। रोजगार का वितरण दोषपूर्ण होने के कारण ही खेती पर जन संख्या का इतना बड़ा अनुपात आश्रित है। यदि कुल जोतने योग्य भूमि को हल के नीचे ले आया जाय, तो सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार भारत के कुल क्षेत्रफल, अर्थात् ८,१२६ लाख एकड़ में से केवल ५,०४४ लाख एकड़ पर ही खेती हो सकती है। विशेषज्ञों के अनुसार ५ व्यक्तियों के परिवार के लिए २० एकड़ जमीन से ही अच्छी पैदावार सम्भव है। इस हिसाब से भारतीय भूमि का समस्त कृषि उपयोगी भाग ५ व्यक्ति वाले २,५२,२०,००० परिवारों में, अर्थात् १२,६१,००,००० लोगों का पेट भरता है, किन्तु आजकल इसी भूमि से जीविकोपार्जन करने वाले व्यक्तियों की संख्या २४,९०,००० है, अर्थात् शेष १२,२९,००० व्यक्ति बेकार हैं, अतः स्पष्ट है कि कृषि क्षेत्र में बेरोजगारी कितनी प्रबल है।

देश में पूर्ण रोजगार की व्यवस्था १० वर्ष में करने का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये द्वितीय पंच वर्षीय योजना कुटीर एवं लघु धन्धों के विकास का आयोजन किया गया है। इनकी उन्नति से रोजगार के नये नये साधन निकलेंगे एवं राष्ट्रीय आय में भी उन्नति होगी। इस सब आयोजन का एक मात्र उद्देश्य समाजवादी समाज का निर्माण करना ही है।

समाजवाद का आर्थिक विकास—

यद्यपि समाजवादी अर्थ व्यवस्था कुछ नई सी प्रतीत होती है, किन्तु वास्तव में इस प्रकार के समाज का संगठन प्राचीन काल में भी पाया जाता था। चाणक्य के अर्थशास्त्र में भारत के प्राचीन सामाजिक जीवन का प्रतिबिम्ब मिलता है। सन् १८३० में सर चार्ल्स मेटकॉफ ने भारतीय अर्थ व्यवस्था के विषय में लिखा है कि ग्राम समुदाय वास्तव में छोटे छोटे गणतन्त्र हैं, जिनमें उनकी आवश्यकता की सब चीजें मौजूद हैं और जो विदेशी सम्बन्धों से स्वतन्त्र हैं। इनका स्थायी अस्तित्व है, जबकि किसी का भी अस्तित्व स्थायी नहीं होता। ग्राम समुदायों का यह संघ, जिसमें प्रत्येक स्वयं एक राज्य के समान है, इनकी प्रसन्नता और स्वतन्त्रता का महान् प्रेरक है।" इससे यह स्पष्ट है कि उस युग में भी हमारे ग्रामीण क्षेत्रों की आर्थिक व्यवस्था समाजवाद के ही सिद्धान्तों पर अवलम्बित थी, यद्यपि 'समाजवाद' जैसा शब्द प्रचलित न था।

प्लेटो के लेखों में समस्त विश्व के लिये समाजवादी तरीकों पर चलने के आदेश मिलते हैं, जो इस प्रकार के संगठन का प्रत्यक्ष प्रमाण है। योरोप की औद्योगिक क्रान्ति ने इस समाजवादी विचारधारा को काफी विकसित कर दिया है। क्रान्ति के बाद इस प्रकार की समाजिक आदर्शवादी विचारधारा ने फ्रान्स, इंगलैण्ड तथा अन्य योरोपीय

देशों का ध्यान भी अपनी ओर आकर्षित किया। समाजवादी व्यवस्था पूँजीवाद के विरुद्ध एक संगठित मोर्चा है। सन् १९२९-३० की विश्व व्यापी आर्थिक मन्दी के बाद जब सभी देश अपना पुनर्निर्माण कर रहे थे, उस समय समाजवादी व्यवस्था की ओर लोगों का ध्यान विशेष रूप से गया, किन्तु पूँजीवादी वातावरण के कारण यह बाद सफल न हो सका। द्वितीय महायुद्ध ने स्थिति में काफी परिवर्तन किया। युद्ध के अन्त होते ही साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद की जड़ें हिलने लगीं। उसी समय कई देशों को स्वतंत्रता मिली और उन्होंने अपने आर्थिक तथा सामाजिक कलेवर में परिवर्तन करने के लिये समाजवादी व्यवस्था की शरण ली। आज प्रजातन्त्र चीन के समाजवादी ढांचे को देखकर प्रायः सभी राष्ट्र आश्चर्य चकित हैं और उसके परिवर्तन की सराहना करते हैं। यही नहीं बर्मा, इन्डोचीन, मलाया, इन्डोनेशिया, फिलीपाइन्स, आदि देशों में भी समाजवादी ढंग के राज्य स्थापित करने के प्रयत्न आरम्भ हो गये हैं।

भारतवर्ष में योजनाकरण का प्रश्न सबसे पहले काँग्रेस ने सन् १९३८ में उठाया। एक राष्ट्रीय योजना समिति बनाई गई, जिसका झुकाव मुख्यतः समाजवादी व्यवस्था की ओर था। युद्धोपरान्त काल में देश के आर्थिक पुनर्संगठन के लिये अनेक योजनायें बनाई गई, जैसे–टाटा-बिरला योजना (या बम्बई योजना), कोलम्बो योजना, जन-योजना गांधीवादी योजना आदि। इनमें से प्रथम दो योजनायें तो पूँजीवादी सिद्धान्तों पर आधारित थीं और शेष दो समाजवादी सिद्धान्तों पर। दिसम्बर सन् १९४९ में प्रधान मंत्री श्री नेहरु की अध्यक्षता में योजना कमीशन की स्थापना की गई, जिसने समस्त भारत की आर्थिक उन्नति के लिये सन् १९५१ में एक पंच-वर्षीय योजना बनाई, इस समय देश की अर्थ-व्यवस्था मिश्रित व्यवस्था (Mixed Economy) थी।

जब जनवरी सन् १९५२ में पंडित जवाहरलाल नेहरू चीन की यात्रा से लौट कर भारत आये, तो उन्होंने भारत की आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं का चीन की समस्याओं से मुकाबला किया और उन्होंने यह अनुभव किया कि चीन की आर्थिक प्रगति का एक मात्र कारण वहाँ की समाजवादी ढङ्ग की व्यवस्था है। तभी से उन्होंने समाजवादी समाज (Socialistic Pattern of Society) का नारा शुरू किया। आवडी के ६०वें कांग्रेस अधिवेशन में भी समाजवादी समाज के निर्माण का प्रस्ताव रखा गया। हमारी द्वितीय पंच-वर्षीय योजना का लक्ष्य भी समाजवादी समाज का निर्माण ही है। भारत के संविधान की प्रस्तावना में दिये गये उद्देश्यों में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, न्याय, प्रतिष्ठा और अवसर की समानता सम्मिलित है। आवडी अधिवेशन में मुख्य रूप से दो प्रस्ताव पास हुए, जिनमें प्रथम प्रस्ताव कांग्रेस का उद्देश्य और दूसरा प्रस्ताव समाजवादी समाज की व्याख्या करता है। प्रथम प्रस्ताव कांग्रेस का ध्येय 'सम्मिलित सहकारी स्वराज्य' बतलाता है, जिसका तात्पर्य एक ऐसे समाजवादी ढङ्ग की व्यवस्था करने से है, जिसमें उत्पादन के मुख्य साधनों पर समाज का स्वामित्व या अधिकार हो और उत्पादन की गति बढ़ी हुई हो तथा राष्ट्र की सम्पत्ति का उचित बटवारा हो। द्वितीय प्रस्ताव समाजवादी समाज की स्पष्ट व्याख्या

करता है। यह देश की आर्थिक नीति को भी दर्शाता है। यह ६ मुख्य भागों में बटा हुआ है। प्रथम भाग में बताया गया है कि अभी तक पच वर्षीय योजना में सफलता मिली और जो शेष है उसे पूर्ण किया जाय। द्वितीय भाग बताता है कि पच वर्षीय योजनाओं ने भारतवासियों की प्रगति की नींव खोद दी है। अब उन्हें अपनी सामाजिक एव आर्थिक उन्नति करना उचित है, जिसके लिए शीघ्र ही उत्पादन में वृद्धि की जायें, रोजगार की सुविधायें बढाई जायें एव जीवन स्तर ऊँचा किया जाय। इस प्रस्ताव का तीसरा भाग द्वितीय पच वर्षीय योजना का आधार समाजवादी समाज होना दर्शाता है। देश में भारी उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाय एव लघु और कुटीर उद्योगों को पर्याप्त स्थ न मिले, जिससे बेरोजगारी की समस्या हल होकर प्रति व्यक्ति आय बढ सके। चतुर्थ भाग में नियोजित आर्थिक विकास में राज्य के क्या कर्तव्य होंगे, इस पर प्रकाश डाला गया है। पचम भाग में, देश की अर्थ व्यवस्था में निजी क्षेत्र का क्या स्थान है, इस विषय की चर्चा की गई है। छठे भाग मे, यह विश्वास प्रगट किया गया है कि भारत की जनता शान्तिपूर्ण एवं प्रजातन्त्री ढगों से अपनी शीघ्र आर्थिक उन्नति करने में समर्थ होगी।

समाजवादी समाज के मूल सिद्धान्त—

आवडी अवधि के प्रस्तावानुसार समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत ७ मूल सिद्धान्त हैं —

(१) *पूर्ण रोजगार एव काम पाने का अधिकार*—जब तक देश का प्रत्येक स्वस्थ नागरिक रोजी कमाने के लिए लाभदायक रोजगार प्राप्त नहीं कर पाता, तब तक समाजवादी समाज की कल्पना करना व्यर्थ है। भारतवासी 'दान की अर्थ-व्यवस्था' में विश्वास नहीं करते। महात्मा गाधी ने सदा यह सिखाया कि बेरोजगारी या काम न कर पाने के लिये विवश होने से केवल शारीरिक और मानसिक पतन ही नहीं वरन् नैतिक पतन भी है। भारत की समाजवादी ढग की व्यवस्था मे प्रत्येक स्त्री या पुरुष महनत की कमाई से अपना जीवन-बसर करना चाहेगा। गीता में भी यही कहा गया है कि जो काम किए बिना खाता है, वह चोर है और जो समाज उस चोर को सहन करता है वह बदकार व जाहिल है।

(२) *राष्ट्रीय धन का अधिकतम उत्पादन*—आर्थिक जीवन का ऐसा सगठन भी जरूरी है जिसके द्वारा हम उपभोग्य वस्तुओं में वृद्धि करके अपने जीवन स्तर को ऊँचा कर सकें। पूर्ण रोजगार के लिए हमें आवश्यक छोटे धन्धों, ग्राम एव कुटीर उद्योगों में श्रमिकों की प्रति व्यक्ति उत्पादनशीलता बढ़ाने के लिए बिजली का भी प्रयोग किया जा सकता है, अत स्पष्ट है कि पूर्ण रोजगार के लिये राष्ट्रीय धन का पूर्ण उत्पादन हो। गरीबी को बाँटकर मगलकारी राज्य बनाने का स्वप्न अधूरा रह जावेगा।

(३) *अधिकतम राष्ट्रीय आत्म निर्भरता*—स्वस्थ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए देश में उत्पादन आवश्यक है। देश के विद्यमान साधनों द्वारा देश में आत्म-

निर्भरता लाना आवश्यक है अन्यथा आयात के द्वारा देश को किसी भी समय अन्य देशों द्वारा शोषण करने का खटका रहेगा।

(४) *सामाजिक एवं आर्थिक न्याय*—भारत में समाजवादी राज्य कायम करने का प्रयत्न तब तक सफल होना असम्भव है जब तक कि मन से छुआछूत का दुर्भाव दूर नहीं होता। यह सामाजिक कुरीति भारतीय संस्कृति और सभ्यता के लिए एक भीषण कलंक है। समाजवादी व्यवस्था कायम करने के पूर्व हमें नशेबाजी एवं वेश्यावृत्ति की कुरीतियाँ भी आमूल नष्ट करनी पड़ेंगी। आज हमारे देश में प्रत्यक्षत आर्थिक विषमतायें दृष्टिगोचर होती हैं। हमें कर-जाँच-कमीशन के सुझाव को, जिसने समाज में असमानता का अनुपात १ ३० से अधिक होना बताया था, मान लेना चाहिए। इन आर्थिक विषमताओं को बिना किसी भेदभाव के गाँव और शहर दोनों से ही दूर करना होगा।

(५) *शान्तिपूर्ण, अहिंसात्मक एवं जनतंत्रात्मक तरीकों का प्रयोग*—समाजवादी व्यवस्था में शान्तिपूर्ण, अहिंसात्मक एवं जनतन्त्रात्मक तरीकों का प्रयोग करना आवश्यक है। महात्मा गाधी सदा यही कहा करते थे कि साधनों की पवित्रता उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी लक्ष्यों की पवित्रता। सत् लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये असत् साधनों का प्रयोग करने से लक्ष्य स्वयं पतित हो जाते हैं। अन्य पाश्चात्य देशों ने वर्ग संघर्ष, हिंसा और अधिनायकवाद द्वारा समाजवाद प्राप्त करने की कोशिश की है। उन्होंने रक्तपात एवं युद्ध का सहारा लिया। भारत इनको किसी भी परिस्थिति में अपनाने में बाध्य नहीं होगा।

(६) *ग्राम पंचायतें एवं सहकारी समितियों की स्थापना*—ग्राम पंचायतों एवं औद्योगिक सहकारी समितियों की स्थापना द्वारा आर्थिक एवं राजनैतिक सत्ता का विकेन्द्रीयकरण सम्भव है। अत्यधिक केन्द्रित एवं यन्त्रीकृत उत्पादन के आधार पर अहिंसात्मक एवं जनतन्त्रात्मक समाज की योजना बनाना सम्भव नहीं है। भारत को सैन्यकृत अथवा अधिनायकवादी व्यवस्था से घृणा है। ग्राम पंचायतें एवं ग्राम समुदाय हमारे पूर्वजों के दीर्घ अनुभव और परिपक्व विचार की उपज है, अत यदि हम वास्तव में भारत में समाजवादी व्यवस्था को कायम करना चाहते हैं, तो जनतंत्र का विकेन्द्रीयकरण हमारे लिये अधिक महत्व रखता है।

(७) *'अन्टू दी लास्ट' (अन्तिम के लिये)*—समाजवादी राज्य का आदर्श अन्तिम व्यक्ति है। गाधी जी प्राय कहा करते थे कि अन्तिम व्यक्ति हमारी चिन्ता का प्रथम विषय होना चाहिए। समाजवादी समाज कायम करने के लिए हमें अपनी जनता के दरिद्रतम और निम्नतम भागों की तात्कालिक आवश्यकताओं को उच्चतम प्राथमिकता (Highest Priority) देनी चाहिये। इस व्यवस्था के लिये हमें अपनी योजना में अन्तिम व्यक्ति को प्रथम और प्रथम व्यक्ति को अन्तिम स्थान देना चाहिए।

ये सिद्धान्त मुख्यत राष्ट्र पिता महात्मा गाधी के महान् उपदेशों के पूरक हैं। श्री मन्नारायण जी अग्रवाल के शब्दों में—"भारत को एक अति सम्पन्न सांस्कृतिक

विरासत प्राप्त है और इस सम्पन्न विरासत एवं संस्कृति के आधार पर ही हम अपने इस प्राचीन देश में एक सच्ची समाजवादी व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं।

हमारी योजना का आधार समाजवादी समाज—

हमारे योजना आयोग के निम्न लक्ष्यों से स्पष्ट है कि नियोजन का उद्देश्य समाजवादी समाज का निर्माण करना ही है—

(१) भारत वासी—स्त्री तथा पुरुष समान रूप से जीविकोपार्जन करने के लिये समान अधिकार रखते हैं।

(२) समाज के भौतिक साधनों का स्वामित्व एवं नियंत्रण इस प्रकार किया जाय, जिससे सबका हित हो।

(३) इस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था न हो जिससे भूमि का केन्द्रीयकरण हो।

हमारी प्रथम पंच वर्षीय योजना देश की अर्थ व्यवस्था को सुदृढ़ एवं विकास शील बनाने की ओर पहला रचनात्मक प्रयत्न था। यह योजना काफी सीमा तक सफल हुई है। कृषि उपज में आशा से अधिक वृद्धि हुई है, सिंचाई की सुविधायें बढ़ी हैं। नदी घाटी विकास योजनायें पूर्ण हो गई हैं। यातायात एवं सन्देशवाहक के साधनों में वृद्धि हो गई है। स्वास्थ्य सम्बन्धी योजनायें भी सफल हुई हैं एवं सामुदायिक विकास योजनाओं एवं राष्ट्रीय विकास सेवाओं की भी पर्याप्त प्रगति हुई है। इस प्रकार प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में समृद्धि का श्री गणेश हो गया है, जिससे आय की असमानता भी कुछ कम हो गई है तथा राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई है।

इसी प्रकार द्वितीय पंच वर्षीय योजना के उद्देश्यों से भी हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि योजना का मूलाधार समाजवादी समाज का निर्माण है। प्रोफेसर पी० सी० महालानोबिस द्वारा प्रस्तुत ढांचे में इस योजना के आठ मुख्य उद्देश्य बताये गये हैं—

(१) समाजवादी ढंग की अर्थ व्यवस्था की ओर अग्रसर होने के लिये सार्वजनिक क्षेत्र के महत्व और सीमा को विस्तृत करना।

(२) आर्थिक स्वातंत्र्य की नींव को दृढ़ करने के लिये मूल भूत भारी उद्योगों का विकास।

(३) गृह उद्योगों और हाथ के धन्धों द्वारा खपत की वस्तुओं का अधिक से अधिक उत्पादन।

(४) खपत की वस्तुओं का उद्योगों द्वारा ऐसे ढंग से बढ़ाना कि वह छोटे उद्योगों का मुकाबिला न करें।

(५) भूमि सुधारों की गति को तीव्र करना तथा कृषकों में भूमि का बराबर बराबर विभाजन करना।

(६) जन संख्या में से अधिक निर्धन लोगों के लिये अधिक अच्छे घरों और स्वास्थ्य सेवाओं तथा शिक्षा सुविधाओं का विस्तार।

(७) बेरोजगारी को अधिक से अधिक १० वर्षों में दूर करना।

(८) योजना-काल में राष्ट्रीय आय में २५% वृद्धि करना और इसका अधिक समान रूप से बटवारा करना।

समाजवादी समाज में निजी क्षेत्र का स्थान—

समाजवादी ढंग की आर्थिक व्यवस्था में निजी क्षेत्र का अन्त नहीं होगा विशेषतः खेती और छोटे उद्योग धन्धों और लघु व्यापार का,* परन्तु हमें सार्वजनिक क्षेत्र और सहकारी क्षेत्र में मेल मिलाना होगा। गांधी जी का यह कहना था कि पूंजीपति लोग धन को अपना न समझें, बल्कि उसे थाती समझें और जनता के भले के लिये उसका उपयोग करें। बड़े उद्योगों और व्यवसायों के मालिकों को चाहिये कि इस सिद्धान्त पर चलें तथा अपना लक्ष्य व्यक्तिगत लाभ एवं अधिक साधनों पर अधिकार करना नहीं बल्कि समाज की सेवा करना समझें। निजी क्षेत्रों का प्रबन्ध ऐसा होना चाहिये कि मजदूर भी उनके प्रबन्ध में राय दे सकें और प्रबन्धकों तथा मजदूरों में कोई मतभेद न रहे। निजी क्षेत्र के प्रत्येक उद्योग में ऐसी विकास समितियाँ या इसी तरह के अन्य संगठन बनाने चाहिये जिनमें संचालक, शिल्पज्ञ और मजदूरों के प्रतिनिधि रहें।

समाजवादी व्यवस्था का होना राष्ट्रीयकरण का द्योतक नहीं है। इससे उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न नहीं उपस्थित होता और इस कारण उद्योगों का राष्ट्रीयकरण सोच लेना ही उचित है। आज की अर्थ व्यवस्था में निजी क्षेत्र को एक निश्चित स्थान प्राप्त है। द्वितीय पंच वर्षीय योजना में २,२०० करोड़ का आयोजन निजी क्षेत्र के लिये रखा गया है, जो देश के कुल विनियोग का लगभग ४०% है। प० जवाहर लाल नेहरू के आवडी अधिवेशन के द्वितीय प्रस्ताव के पांचवे भाग से निजी क्षेत्र प्रश्न का एक स्पष्ट विचार प्रगट होता है और इस क्षेत्र के विकास का भविष्य उज्वल प्रतीत होता है। इस व्यवस्था द्वारा निजी क्षेत्रों के पूंजीपतियों को डरने की कोई आवश्यकता नहीं है।

निष्कर्ष—

आज भारत ने समाजवादी समाज व्यवस्था अपनाली है। समाजवादी समाज व्यवस्था में ही उसकी उन्नति निहित है। समाजवादी ढांचा बनाने के लिये हमें समाज में परिवर्तन करना होगा। इस परिवर्तन का लक्ष्य यह होना चाहिये कि समाज पर सम्पत्ति शाली वर्ग का जो प्रभुत्व है वह कम हो और सभी नागरिकों को उन्नति का एक मौका मिले। विदेशी अंग्रेज शासकों की पूंजीवादी, साम्राज्यवादी द्रव्य पिपासा ने हमारे गांवों को ध्वस्त कर दिया। जहाँ पर पहले समृद्धि का बोलबाला था वहाँ भीषण रक्तशोषण के फलस्वरूप गरीबी ने दुख दारिद्रय ने अपना घर कर लिया। हमारे देश की गरीबी संसार को आश्चर्य चकित कर देने वाली कहानी बन गई और गरीबी के साथ हमारे सांस्कृतिक स्तर, हमारा सम्पूर्ण जीवन ही निम्न धरातल स्तर पर आ गया। आज जमींदारी, जागीरदारी, छुआछूत आदि प्रथाओं का अन्त इस समाजवादी व्यवस्था का द्योतक है। भारतीय संविधान के निर्देशक तत्वों में राज्य नीति के जो आधार रखे गये हैं (जिनमें कि समाज में आर्थिक समता, रोजगार, शिक्षा आदि बातें कही गई हैं) इसी समाजवादीव्यवस्था के सूचक हैं।

[३६]

भारत के राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में सांख्यिकी का महत्व

रूपरेखा—

१. *प्रारम्भिक*—सांख्यिकी का प्रयोग नया नहीं, वरन् अत्यन्त पुराना है। गुप्त-काल, मौर्य-काल एवं मुगल शासन काल में भी संख्याओं का उपयोग होता था। पहले इसके उपयोग की सीमा संकुचित थी, किन्तु विज्ञान के विस्तार के हेतु सत्यता की आवश्यकता की पूर्ति के लिए संख्याओं का प्रयोग बढ़ने लगा। सांख्यिकी वह विज्ञान है, जो तथ्यों को आंकिक रूप में नापता है, उनका विश्लेषण करके उन्हें इस प्रकार प्रस्तुत करता है, जिससे उनके बीच का परस्पर सम्बन्ध जाना जा सके।

२. *भारत की वर्तमान आर्थिक परिस्थिति एवं पुनर्निर्माण की आवश्यकता*—भारत के लिये वर्तमान युग पुनर्निर्माण एवं योजना का काल है। विभाजन की अनेक समस्याएँ हैं। देश धनी है, किन्तु यहाँ के निवासी निर्धन हैं। कृषि उद्योग, व्यापार यातायात आदि के विकास के लिए योजना की आवश्यकता है। योजनाकरण का मूलाधार है सांख्यिकी सर्वेक्षण।

३. *राष्ट्रीय निर्माण में सांख्यिकी का महत्व*—आर्थिक योजनाकरण एवं सांख्यिकी का घनिष्ट सम्बन्ध है। *आर्थिक विकास के लिये पहले सांख्यिकी सर्वेक्षण* अनिवार्य है। सांख्यिकी के चार मुख्य कार्य हैं। यह मानव कल्याण का शास्त्र है। जन-मंगलकारी राज्य की स्थापना में एवं अभाव, बेकारी, बीमारी, फिजूलखर्ची आदि समस्याओं के हल में गणतीय सांख्यिकी (Econometrics) के सहयोग की विशेष आवश्यकता है।

४. *उपसंहार*—पग-पग पर सांख्यिकी की आवश्यकता प्रतीत होती है, अतः देश के पुनर्निर्माण के लिए इसकी शरण लेनी ही पड़ेगी। हमारे योजना आयोग ने इसके महत्व को मान्यता दी है।

प्रारम्भिक—

"सांख्यिकी" शब्द संख्या से बना है, जिसका आशय अंकों अथवा आँकड़ों से होता है। इस शब्द का एक प्राचीन पर्यायवाची राज्य अंकगणित (State Arithmetic) भी है, क्योंकि पहले शासक अपने देश की सेना तथा खाद्य पदार्थों की मात्रा के विषय में अनुमान लगाने के लिए संख्याओं का प्रयोग करते थे। मौर्य

शासन काल में आर्थिक व्यवस्था के विषय में बहुत सी सामिग्री अंकों के रूप में एकत्रित करने की प्रथा थी। इसके बाद गुप्त-काल में भी अनेक शासकों ने अंकों की सहायता से देश की आर्थिक स्थिति का अनुमान लगाया एवं पुनर्निर्माण की दशा में अनेक प्रयत्न किये। केवल हिन्दू-काल में ही नहीं, मुगल शासन काल में भी और विशेषतः अकबर के समय में संख्याओं का काफी उपयोग होता था। उस युग की "आईने अकबरी" शीर्षक पुस्तक इस बात की साक्षी है कि मुगल साम्राज्य में जन-संख्या की गणना, मूल्य वृद्धि, मजदूरी आदि के विषय में अंकों का ही प्रयोग होता था, अतः स्पष्ट है कि प्राचीन काल से ही संख्याओं का उपयोग होता चला आया है। हाँ, यह अवश्य है कि अतीत-काल में संख्याओं के उपयोग की सीमा अत्यन्त संकुचित थी। केवल आर्थिक क्षेत्र में ही इनका उपयोग होता था, सामाजिक शास्त्रों में तो अंकों का प्रयोग बहुत ही कम होता था, किन्तु ज्ञान एवं विज्ञान के विस्तार के साथ-साथ, सांख्यिकी का उपयोग एवं महत्व दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति कर रहा है।

सांख्यिकी के बढ़ते हुए महत्व का एकमात्र कारण है, इसके द्वारा प्राप्त होने वाली सत्यता (Precision)। जैसे-जैसे विज्ञान का विस्तार होता गया, सत्यता की आवश्यकता बढ़ती चली गई। विज्ञान की आवश्यकताओं की पूर्ति के दो ही साधन हैं—सही नाप लेने वाले यन्त्रों का उपयोग एवं सही आँकड़ों का उपयोग। वर्तमान विज्ञान के युग में अधिकांश व्यक्तियों की कुछ ऐसी धारणा है कि जो ज्ञान यन्त्रों द्वारा नहीं नापा जा सकता अथवा जो संख्याओं के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, उसे पूर्णतः विश्वासनीय नहीं कहा जा सकता।

सांख्यिकी एवं इसकी रीतियों का उपयोग, प्रयोग और अनुसन्धान दोनों ही क्षेत्रों में किया जाता है। सांख्यिकी रीतियों (Statistical Methods) से हमारा तात्पर्य उन रीतियों से है, जिनका उपयोग करके कारण-बाहुल्य से प्रभावित आंकिक सामिग्री (Quantitative Data) का समहण (Collection), वर्गीकरण (Classification), निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार किया जा सके, जिससे कि इच्छित सूचना आवश्यक परिशुद्धता (Accuracy) के साथ प्राप्त की जा सके।

सांख्यिकी की निम्न परिभाषा में इसके मूल तत्वों का आभास मिलता है। "सांख्यिकी वह विज्ञान है जो आंकिक तथ्यों के समहण, वर्गीकरण और सारणीयन (Tabulation) को गोचर घटनाओं (Phenomena) की व्यवस्था, वर्णन और तुलना करने के लिए आधार मान कर उन पर विचार करता है।" इसी प्रकार किंग के शब्दों में—"सांख्यिकी प्रगणना (Enumeration) या आगणना समूह (Collection of Estimates) के विश्लेषण के परिणाम रूप से प्राप्त सामूहिक प्राकृतिक या सामाजिक गोचर घटनाओं का निर्णय देने की रीतियों का विज्ञान है।"

भारत की वर्तमान आर्थिक परिस्थिति एवं पुनर्निर्माण की आवश्यकता—

वर्तमान युग हमारे देश के लिये सचमुच पुनर्निर्माण एवं पुनर्संगठन का युग (Age of Reconstruction) है। द्वितीय महायुद्ध से भारतीय अर्थ-व्यवस्था के

गहरी चोटें लगी हैं। युद्ध द्वारा हुए घाव को भरने के अतिरिक्त देश के विभाजन से उत्पन्न समस्याओं को भी सुलझाना है। १५ अगस्त सन् १९४७ की अर्ध रात्रि के पश्चात् हमको स्वाधीनता मिली, किन्तु वह स्वतन्त्रता अपने साथ आर्थिक परतन्त्रता की अनेक समस्यायें भी लाई। देश की दायें बायें की उर्वरा भूमि, अर्थात् पूर्वी बंगाल तथा पश्चिमी पंजाब भारत के बटवारे के फलस्वरूप पाकिस्तान के हाथ में पहुँच गई, जिससे औद्योगिक विकास को बड़ी क्षति हुई है। जूट तथा कपास के कारखाने आज कच्चे माल के लिए तरस रहे हैं, उनकी गति धीमी हो गई है और खाना, कपड़ा तथा स्थान, इन तीनों क्षेत्रों में उलझनें आ गई हैं। हमारा देश आदि काल से ही कृषि प्रधान देश रहा है, किन्तु अब इस बटवारे में कृषि उद्योग को गहरा धक्का पहुँचा है। शरणार्थियों के आगमन से उत्पन्न हुई स्थान की कमी भी अपने ढङ्ग की एक निराली ही समस्या है। युद्ध काल में हमारे देश के उद्योगों की मशीनें अत्यधिक प्रयोग में लाई गई। उनके परिवर्तन करने एवं नई मशीनें लेने की भी एक समस्या है। कृषि उद्योग की क्षति को पूरा करने के लिये भी हमें विशेष रूप से औद्योगीकरण करने हैं। औद्योगिक संगठन की प्राचीन प्रणाली को बदलकर एक नवीन योजना और विवेकपूर्ण ढङ्ग से आर्थिक विकास की ओर बढ़ना है।

यद्यपि विभाजन के परिणाम स्वरूप भारत की अर्थ व्यवस्था के गहरी चोट पहुँची है, किन्तु फिर भी यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि अपने प्राकृतिक प्रसाधन एवं आर्थिक सम्पन्नता के बल पर हम आज भी विश्व के शिरोमणि हो सकते हैं। भारत एक धनाढ्य देश है, यद्यपि यहाँ के निवासी निर्धन हैं। किसी भी देश के आर्थिक पुनरुत्थान के लिए जिन बातों की आवश्यकता होती है वे प्राय सब हमारे देश में उपलब्ध हैं। हमारा देश २ हज़ार मील लम्बा और लगभग १७०० मील चौड़ा है। देश के उत्तर में महरी रूपी हिमालय है, दक्षिण में विशाल पठार है एवं इसके वक्ष स्थल पर विशाल उपजाऊ मैदान है, जिसमें पावन गंगा एवं ब्रह्मपुत्र सपरिवार क्रीड़ा करती है। मानसूनी जलवायु का यह क्षेत्र वास्तव में असीमित विकास का क्षेत्र है। अपनी अज्ञानता, अशिक्षा एवं रूढ़िवादिता के कारण हम अभी तक प्रगति नहीं कर सके। ब्रिटिश शासन सत्ता के कारण हमको विकास का अवसर ही न मिला। हम अपनी प्राकृतिक सम्पदा का सदुपयोग ही न कर सके, क्योंकि सचमुच में हमको इस बात का ज्ञान ही न था कि हमारी भारत माता में क्या क्या विशेषतायें हैं। हमको इसका अनुमान ही न था कि हमारे गर्भ में अपार सम्पत्ति छिपी है। हिमाच्छादित शिखरों से निकलने वाली गंगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र एवं इनकी सहायक नदियों का जल व्यर्थ बह कर सागर की शरण में चला जाता है। इन नदियों के जल से एवं अन्य पर्वतीय प्रपातों से जल विद्युत की शक्ति उत्पन्न की जा सकती है। अभी तो हम अपने इस धन का केवल दस प्रतिशत भाग ही उपयोग में ला सके हैं। इस प्रकार हमारे पठारी एवं पर्वतीय क्षेत्रों मे, लोहे, कोयले, माइका, मैंगनीज आदि खनिज सम्पत्तियों

के अपार भण्डार हैं। अभी ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ अपार मात्रा में खनिज पदार्थ पाये जाते हैं, किन्तु उनका हमको ज्ञान नहीं है।

कृषि के विकास के लिये भी असीमित क्षेत्र हैं। नदियों अथवा वर्षा का जल जो व्यर्थ बह जाता है, उसको रोक कर सिंचाई की सुविधाओं में वृद्धि की जा सकती है। बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाया जा सकता है। भूमि के कटाव के दानव पर विजय प्राप्त करके एवं उन्नत खाद एवं उन्नत बीज का प्रयोग करके कृषि उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है। व्यापार, यातायात एवं सन्देश वाहन के साधनों में भी विकास करने के लिये काफी गुञ्जायश है।

अन्य समस्याओं के साथ यह कहना अनुचित न होगा कि आज भारतीय उद्योगों में विवेकीकरण एक संदिग्ध आधार शिला पर स्थित है। हमारे देश में केवल उन्हीं उद्योगों का विकास हुआ है जो उपभोक्ताओं के लिये वस्तुओं का निर्माण करते हैं, पूँजीगति उद्योगों का तो अत्यन्त अभाव है, अतएव देश का आर्थिक पुनर्संगठन करते समय उसे उद्योगों के विकास पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। रक्षात्मक उद्योगों की, जिनका अत्यन्त अभाव है, स्थापना तथा विकास भी नितान्त आवश्यक है। देश में उद्योगों का स्थानीयकरण भी युक्ति पूर्ण ढङ्ग से नहीं हुआ है। देश के किंचित भागों में तो उद्योगों का अधिक केन्द्रीयकरण है और अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ नेक मात्र भी विकास नहीं हुआ है। आज कल उद्योगों के स्थानीयकरण में भी सामाजिक तथा रक्षात्मक परिस्थितियों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। वास्तव में आवश्यकता ऐसी योजना की है जिसके अन्तर्गत देश की सर्वतोमुखी प्रगति सम्भव हो तथा जिससे उद्योगों का उचित प्रादेशिक वितरण होकर राष्ट्रीय सम्पत्ति का समानता से वितरण हो। आज कल हमारे कुछ बड़े-बड़े उद्योग ग्रस्त व्यस्त अवस्था में हैं। हमारे अधिकांश उद्योग व्यक्तिगत आधारों पर संगठित हैं। भारतीय साहस में अभी तक तत्पर-बुद्धि और दूरदर्शिता का अभाव है। वर्तमान समय में हमारे औद्योगिकों के दिमाग केवल निर्माण की लागतों, तत्समान वस्तुओं के बाजारी मूल्यों और अधिकतम लाभों की ओर लगे हुए हैं, जो कि उन्हें वर्तमान असाधारण मांगों पर अपनी वस्तुओं की बिक्री से मिल सकते हैं। निस्सन्देह अब तक वर्तमान मांग रहती है, हम बिना खतरे के निर्वाह कर सकते हैं, किन्तु जैसे ही समुद्र, रेल, सड़कों और वायु यातायात की सुविधायें सरल हो जायेंगी। इन उद्योगों को विदेशों से एक सुव्यवस्थित स्पर्धा का सामना करना पड़ेगा, अतएव सचेत होकर हमें राष्ट्रीय पुनर्संगठन के लिये आयोजन करना चाहिए।

ऊपर जिन समस्याओं का सङ्केत किया गया है, वे वास्तव में देश के पुनर्निर्माण की समस्यायें हैं। इन राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का प्रधान उद्देश्य है राष्ट्रीय आय में वृद्धि करना, देशवासियों का जीवन-स्तर ऊँचा करना एवं राष्ट्रीय उत्पादन को बढ़ाना। राष्ट्रीय उत्पादन को बढ़ाने के लिये भूमि, श्रम, पूँजी, साहस एवं संगठन आदि जिन साधनों की आवश्यकता होती है, वे प्रायः सभी हमारे देश में विद्यमान हैं, किन्तु

आवश्यकता है सुचारू एवं वैज्ञानिक ढङ्ग से पुनर्निर्माण के श्रीगणेश के। प्रस्तुत निबन्ध में हम राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के विभिन्न साधनों पर प्रकाश न डालते हुए केवल इसके मूलाधार की ही विवेचना करेंगे।

राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में सांख्यिकी का महत्त्व—

किसी भी देश के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए सर्व प्रथम यह जानना आवश्यक होता है कि उसके प्राकृतिक प्रसाधन क्या हैं? प्राकृतिक प्रसाधनों के आधार पर ही योजना की दीवाल खड़ी की जाती है, अतः भारत के आर्थिक पुनरुत्थान के लिए सबसे पहले सांख्यकीय सर्वेक्षण (Statistical Survey) की आवश्यकता है। जहाँ भी आर्थिक नीति निश्चित करनी पड़ती है, सांख्यिकी का उपयोग अनिवार्य हो जाता है। बिना वस्तु स्थिति का सत्यतापूर्ण अध्ययन किए बिना उसके सघटकों का उचित माप किए किसी भी प्रकार की आर्थिक नीति निश्चित करना सम्भव नहीं। आर्थिक आयोजन में तो बिना आँकड़ों का पूरा-पूरा ज्ञान हुए कुछ भी नहीं किया जा सकता। आयोजन के प्रारम्भ से अन्त तक सिवाय आँकड़ों के सग्रहण, विश्लेषण और निर्वाचन के कुछ भी नहीं है। यही कारण है कि आजकल अर्थशास्त्र की एक नवीन शाखा बन गई है जिसमें गणितीय अर्थशास्त्र और गणितीय सांख्यिकी का प्रयोग होता है... इसे इकोनोमैट्रिक्स (Econometrics) कहते हैं। इस नवीन विज्ञान के अन्तर्गत अर्थशास्त्र के नियमों और सिद्धान्तों को गणितीय रूप में रखा जाता है, जिससे कि उन का माप सम्भव हो सके। यही नहीं सांख्यिकी का उपयोग अन्य अनेक विज्ञानों में भी होता है। समाज-शास्त्र, जीव-शास्त्र, शिक्षा-शास्त्र, स्वास्थ्य विज्ञान आदि ऐसे अनेक विषय हैं जो सांख्यिकीय रीतियों का उपयोग करके लाभ उठाते हैं। वास्तव में किसी भी प्रकार की योजना बिना आँकड़ों की सहायता के सम्भव नहीं है। किन क्षेत्रों को अधिक प्रोत्साहन देना है, कहाँ आवश्यकता से अधिक व्यय हो रहा है आदि समस्याओं के उत्तर, बिना सांख्यिकी के असम्भव है। इसके साथ-साथ यह जानने के लिए कि किसी विशेष क्षेत्र में कहाँ तक सफलता मिली है, सांख्यिकी का उपयोग करना ही पड़ता है। यह बात कल्पनातीत है कि बिना आँकड़ों की सहायता से कोई योजना सफलीभूत हो जाय। पूर्णरूप से आयोजित अर्थ-व्यवस्था में भी अंकों अथवा सांख्यिकी का उपयोग अनिवार्य है।

सांख्यिकी के चार मुख्य कार्य हैं:—प्रथम, सांख्यिकी द्वारा जटिल और अधिक सख्या में प्रस्तुत तथ्यों को सरल और सुविधाजनक रूप में उपस्थित किया जाता है। सांख्यिकी का दूसरा कार्य सरल और सुविधाजनक रूप में प्रस्तुत की गई सामग्री की तुलना करना और उसके बीच गणितीय सम्बन्ध स्थापित करना है। सांख्यिकी का तीसरा कार्य तथ्यों को यथार्थ रूप में रखना है। सांख्यिकी का चौथा कार्य दूसरे विज्ञानों के नियमों को सुझाव देना और उनकी परीक्षा करना है। इस सम्बन्ध में यह लिखना अनावश्यक न होगा कि सांख्यिकी का प्रयोग वर्तमान वस्तु-स्थित के विषय में विश्वसनीय अगणन करने में तो होता ही है और इसके साथ-साथ भविष्य की

स्थितियों के विषय में पूर्वानुमान करने के लिए भी होता है। किसी भी घटना के परिवर्तनों को ठीक रूप से समझने के लिए सांख्यिकी का उपयोग किया जाता है।

वर्तमान काल में सांख्यिकी का क्षेत्र अधिक व्यापक हो गया है। हमारी जनप्रिय राष्ट्रीय सरकार का प्रमुख उद्देश्य जन-कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है। ऐसे राज्य के अन्तर्गत बीमारी, बेकारी, गरीबी, फिजूलखर्ची, पारस्परिक स्पर्धा आदि दोष नहीं होते। इन दोषों का निवारण करना ही कल्याणकारी राज्य का प्रमुख उद्देश्य है। हमारे भारत देश में बीमारी, बेरोजगारी एवं दरिद्रता का दानव रौद्र रूप धारण किए हुए है। इस सम्बन्ध में वास्तविक स्थिति का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना है और तत्पश्चात् जन-कल्याण के लिए एक योजना बनानी है। केन्द्रीय सरकार एवं राज्य सरकारों को बार बार जनता की आर्थिक एवं सामाजिक दशा की सच्ची जानकारी के लिये सर्वेक्षण करने पड़ते हैं और इनसे प्राप्त सामग्री का विश्लेषण करके इन कारणों को दूर करने के उपायों का अनुमान करना पड़ता है। इस कार्य में सांख्यिकीय से सचमुच बड़ी सहायता मिलती है। यही कारण है कि आजकल सांख्यिकी को हम मानव कल्याण का अर्थशास्त्र कहते हैं।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत, जैसा कि भारत में है, उत्पादन व्यक्तिगत रूप से होता है और ऐसी परिस्थिति में सांख्यिकी का उपयोग आवश्यक हो जाता है। प्रत्येक उत्पादक को वस्तु की मांग का अनुमान लगाना पड़ता है। इसके साथ-साथ उसे अन्य प्रतिस्पर्धी वस्तुओं के मूल्यों, व्यक्तियों के रुचियों के प्रभाव आदि का भी अनुमान लगाना पड़ता है। यदि वह इन सब पर विचार न करे तो उसे हानि की आशंका रहती है। कोई भी व्यापारी बिना इन पर विचार किये सफल नहीं हो सकता, अतः स्पष्ट है कि व्यापार एवं वाणिज्य के क्षेत्र में, जिसमें भारत को विशेष रूप से प्रगति करनी है, सांख्यिकी का महत्व निर्विवाद हो जाता है। यही कारण है कि कभी-कभी सांख्यिकी को व्यापार का प्राण भी कहते हैं। बीमा कम्पनियों के लिए भी और विशेषतः जीवन बीमा कम्पनियों के लिए (जिनका राष्ट्रीयकरण हमारी सरकार ने कर लिया है) सांख्यिकी अत्यावश्यक है, क्योंकि उनका पूरा कार्य सम्भवता से किये गये अनुमानों पर ही निर्भर करता है।

हमारी सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिये भी सांख्यिकी का उपयोग अनिवार्य है, उदाहरणार्थ शराब पीना और निर्धनता का सम्बन्ध अथवा जुएबाजी और दरिद्रता का सम्बन्ध आदि सांख्यिकी की सहायता से ही अध्ययन किये जा सकते हैं। इस प्रकार से किया गया अध्ययन कानून बनाने के काम में भी आ सकते हैं। सांख्यिकी के गुण कहाँ तक गाये जायँ, अच्छे राज्य प्रबन्ध के लिए भी इनका उपयोग करना पड़ता है। राज्य का आय, व्यय, शासन की कर नीति आदि विविध विषयों को भली प्रकार समझने के लिये सांख्यिकी की शरण लेना आवश्यक है। सड़कों की लम्बाई, मार्ग के स्थान दुर्घटनाओं के सम्बन्ध में सांख्यिकी के बिना नहीं जाना जा सकता। संक्षेप में, सम्पूर्ण राजनीति सांख्यिकी पर ही निर्भर करती है। जन-संख्या एवं भोजन

पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि का तुलनात्मक ज्ञान सांख्यिकी के द्वारा ही सम्भव है। सांख्यिकी के द्वारा अन्य विज्ञानों के नियमों की वास्तविकता का भी पता लगाया जा सकता है।

उपसंहार—

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आधुनिक युग में सांख्यिकी कितने महत्वशाली पद पर आसीन है। पग पग पर सांख्यिकी की आवश्यकता अनुभव होती है। वास्तविकता को सांख्यिकीय रीतियों द्वारा समझने का प्रयत्न बढ़ता ही चला जा रहा है। इस बात की पुष्टि कितनी अधिक संख्या में संग्रहीत सामग्री और उसके द्वारा प्राप्त आंकड़े करते हैं। भारत सरकार की प्रथम एवं द्वितीय पंच-वर्षीय योजनाओं में भी आंकड़ों के महत्व को प्रधानता दी गई है। सच बात तो यह है कि जिस समाजवादी समाज का हम निर्माण करने जा रहे हैं, उसकी आधार शिला सांख्यिकी ही है। यदि इस आधार शिला के निर्माण में सावधानी एवं ईमानदारी से काम न किया गया, तो सफलता मिलना कठिन हो सकता है। हमारी राष्ट्रीय सरकार इस सम्बन्ध में काफी सचेत है और हमें विश्वास है कि देश के पुनर्निर्माण की दशा में जो भी प्रयत्न किये जायेंगे, वे सफल होंगे।

सामुदायिक विकास योजनायें एवं राष्ट्रीय विस्तार सेवा

रूपरेखा—

१. *प्रारम्भिक*—भारतवर्ष गाँवों का देश है। इसकी अधिकांश जन-संख्या कृषि पर निर्भर है। यह एक धनाढ्य देश है जिसके निवासी निर्धन हैं। भारत की सच्ची आर्थिक प्रगति के लिए ग्रामीण क्षेत्रों का विकास करना आवश्यक है। यह विकास सामुदायिक योजनाओं द्वारा सुलभ है।

२. *सामुदायिक विकास योजना का अर्थ*—सामुदायिक विकास योजना वास्तव में बहुमुखी आधार पर ग्रामीण विकास की एक विस्तृत योजना है।

३. *भारत में सामुदायिक विकास योजनाओं की आवश्यकता*—देश के आर्थिक पुनर्संगठन के लिये एवं मुख्यतः ग्रामीण क्षेत्रों की सफलता के लिये सामुदायिक विकास योजनायें आवश्यक हैं। यह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र तक विस्तृत है। इन योजनाओं का शिक्षात्मक महत्व भी बहुत है।

४. *सामुदायिक विकास योजनाओं का उद्देश्य*—इन योजनाओं का प्रमुख उद्देश्य क्षेत्र के मानव और भौतिक साधनों का पूर्णतः विकास है। सभी दिशाओं में विकास करने के हेतु समाज के लिये भोजन, स्वास्थ्य तथा आवश्यक ज्ञान प्राप्त करना ही इनका उद्देश्य है। इससे लोगों को अपने पैरों पर खड़ा होना आता है।

५. *योजना का आरम्भ*—१५ अगस्त सन् १९४७ को हमें स्वतन्त्रता मिली। ग्रामीण क्षेत्रों में स्वतन्त्रता की आवाज पहुँचाने के लिये एवं ग्रामवासियों का जीवन स्तर ऊँचा करने के लिये सामुदायिक विकास योजनाओं का आश्रय लिया गया है।

६. *कार्य क्षेत्र*—निम्नलिखित परमावश्यक कार्यक्रमों को कार्यान्वित किया गया है खेती तथा उससे सम्बन्धित अन्य कार्य, यातायात, शिक्षा, स्वास्थ्य, प्रशिक्षण, व्यवस्था प्रबन्ध, गृह निर्माण तथा लोक-कल्याण। २ अक्टूबर सन् १९५२ से योजना का श्री गणेश हुआ। ५५ सामूहिक विकास योजनायें देहातों को जीवन प्रदान करने लिये आरम्भ की गईं।

७. *राष्ट्रीय विस्तार सेवा*—अक्टूबर सन् १९५३ में राष्ट्रीय विस्तार सेवा आरम्भ की गई, जिसमें सामूहिक कार्यक्रम को भी मिला दिया गया है। कार्यक्रम की प्रगति—आरम्भ से उन्नति।

८. *निष्कर्ष*—लोक-कल्याण राज्य की स्थापना में यह योजनायें भारी सहयोग देंगी।

आरम्भिक—

भारतवर्ष एक गांवों का देश है, जिसकी ८० प्रतिशत जन संख्या ग्रामीण क्षेत्रों में ही निवास करती है। कुल जन-संख्या का लगभग ७०% भाग कृषि पर निर्भर करता है, अतः देश की किसी भी आर्थिक योजना में हम अपनी अर्थव्यवस्था की इस विशेषता को भुला नहीं सकते। हमारी आर्थिक सम्पन्नता तब तक सम्भव नहीं, जब तक कि हमारे ग्रामीण क्षेत्रों में सम्पन्नता उत्पन्न नहीं होती। ग्रामीण विकास के बिना एक शक्तिशाली तथा सम्पन्न भारत की कल्पना भी नहीं की जा सकती। कृषि विस्तृत ग्रामीण विकास की एक आवश्यक अंग के रूप में ही महत्वपूर्ण हो सकता है। राष्ट्रीय योजना कमीशन ने भी इस सत्य को स्वीकार किया है कि—"एक निश्चित सीमा के परे इसे स्वतन्त्र रूप में नहीं बढ़ाया जा सकता है, क्योंकि इसकी प्रगति ग्रामीण क्षेत्रों में एक प्रगतिशील दृष्टिकोण के विकास पर निर्भर करती है। अतएव भविष्य में संगठित प्रगति तभी हो सकती है जबकि कृषि विकास के साथ साथ विस्तृत ग्रामीण विकास योजना को भी कार्यान्वित किया जाय।

सामुदायिक विकास योजना का अर्थ—

सामुदायिक विकास योजना वास्तव में बहुमुखी आधार पर ग्रामीण विकास की एक विस्तृत योजना है। यह सचमुच सामुदायिक विकास की एक क्रिया है। लायड कुक के अनुसार एक समुदाय "जन संख्या का एक ऐसा समूह है जो एक मिले हुए प्रदेश में रहते हों, जिसका एक सामूहिक अनुभव द्वारा एकाकीकरण हुआ है, जिसके कुछ आधार हों, सेवा संस्थायें हो, जिसको अपनी स्थानीय एकता का ज्ञान हो और जो सामूहिक रूप में कार्य कर सकते हो।' जिमेरन के विचारानुसार—"समुदायों में कुछ विशेषताएं उत्पन्न हो जाती हैं उनके उद्देश्यों का इस प्रकार एकाकीकरण हो जाता है कि व्यवहार प्रणालियाँ बन जाती है।' श्री लोश गोह के शब्दों में—"सामुदायिक योजना गहन विकास की ओर एक संगठित तथा आयोजित प्रयत्न है। श्री सैन्डरसन के अनुसार—' सामूहिक संगठन उन उद्देश्यों को प्राप्त करने, जो सामूहिक कल्याण के लिए आवश्यक हैं तथा उनके प्राप्त करने के सर्वोत्तम उपाय दोनों को ही उपलब्ध करने की एक कार्य विधि है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि सामुदायिक विकास योजना सामूहिक रूप में सामुदायिक संगठन के विकास की एक आयोजित प्रणाली है, जो निर्देशित होती है तथा एक निश्चित योजनानुसार सम्बद्ध विधि से चलती है। स्वभाव से ही यह एक बहुमुखी योजना है। एक प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि यह सरकार और जनता के सहयोग के आधार पर ग्रामीण क्षेत्रों के क्षेत्र वर्ती नियोजन का एक विशिष्ट रूप है। हमारे देश में ऐसी योजनाओं का निर्माण इसी दृष्टिकोण से किया गया है कि निर्वाचित ग्रामीण क्षेत्रों का विकास करके आर्थिक नियोजन के विस्तृत उद्देश्य को प्राप्त किया जाय।

भारत में सामुदायिक विकास योजनाओं की आवश्यकता—

सामुदायिक विकास योजनाओं की आवश्यकता के सम्बन्ध में भारत में इन

योजनाओं के एडमिनिस्ट्रेटर श्री एस० के० डे० ने लिखा है कि—"हमारे समाज और समुदाय में वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि बगीचा और वन में होता है। वन में सभी प्रकार की वनस्पति होती है, किन्तु वह अआयोजित (Unplanned) होता है। वृक्षों का उत्पादन क्रम-बद्ध रूप में किसी योजनानुसार नहीं होता, किन्तु इसके विपरीत एक बगीचे में वृक्षों का उत्पादन योजनानुसार एवं क्रम-बद्ध होता है। बगीचे का प्रत्येक पौधा इस सिद्धान्त पर बढ़ता है कि 'जियो तथा जीने दो।'" आगे चलकर श्री डे ने कहा है कि "वर्तमान स्थिति में सामुदायिक योजनाओं को उसी प्रकार चालू करना है जैसे कि युद्ध काल में कार्य सचालन होता है। हमारे देश में अपार मात्रा में प्राकृतिक साधन हैं तथा एक विशाल जन-सेना है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि चक्रवर्ती तर्क को समाप्त किया जाय, 'यह नहीं हो सकता है' के स्थान पर यह यह होना चाहिए कि 'यह हो सकता है और अवश्य किया जायगा।' भुजायें इसको कर सकती हैं। भुजायें इसे करने का अभ्यास प्राप्त कर सकती हैं। ऐसी दशायें उत्पन्न की जा सकती हैं कि यह किया जा सके। यह दोनों विश्वास फिर से उत्पन्न कर देने की आवश्यकता है और इनके पीछे ऐसी इच्छा शक्ति रहनी चाहिए, जो बिजली की कड़क से भी बलवान हो।

इस प्रकार देश के आर्थिक पुनर्संगठन के लिये सामुदायिक विकास योजना की विशेष आवश्यकता है। यदि हम ग्रामीण क्षेत्रों की सम्पन्नता चाहते हैं तो इसका एक मात्र उपाय सामुदायिक योजनायें ही हैं। ऐसी योजनायें जीवन के प्रत्येक क्षेत्रों तक विस्तृत हैं, जिसमें शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, कृषि, उद्योग, सामाजिक कार्य आदि सभी सम्मिलित हैं। ग्राम वासियों का जीवन स्तर ऊँचा करने में भी ये योजनायें काफी सीमा तक सहायक होंगी। यदि सच्चा सामाजिक सुधार करना है, ग्राम-वासियों को आदर्श नागरिक बनाना है, तो गाँवों को अच्छा, साफ और रहने योग्य बनाना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त खाद्य समस्या का समुचित हल करने के लिए एवं आर्थिक स्वावलम्बता प्राप्त करने के लिए भी सामुदायिक योजनाओं का विशेष महत्व है। यही नहीं, सामुदायिक योजना का शिक्षात्मक महत्व भी बहुत है, क्योंकि उनके द्वारा कृषकों में यह विश्वास उत्पन्न किया जा सकता है कि वे अपने सामूहिक प्रयत्नों द्वारा अपनी दशाओं को सुधार सकते हैं। यह योजनायें ग्रामवासियों के लिए एक आदर्श स्थापित कर सकती हैं एवं पथ-प्रदर्शक के रूप में उन्हें सदैव कल्याण के मार्ग की ओर अग्रसर करती रहेंगी।

सामुदायिक विकास योजनाओं का उद्देश्य—

भारत सरकार द्वारा प्रकाशित सामुदायिक योजना की रूपरेखा इसका उद्देश्य निम्न प्रकार से बताया गया है—"सामुदायिक विकास योजना का उद्देश्य होगा, योजना के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्र के पुरुषों, स्त्रियों एवं बच्चों के जीवित रहने के अधिकार में, एक मार्ग प्रदर्शक व्यवस्था के रूप में, सेवायें प्रदान करना, पर कार्य क्रम की प्रारम्भिक अवस्था में इस उद्देश्य की पूर्ति के मुख्य साधन—खाद्य की ओर सर्व

प्रथम ध्यान देना है।" इस प्रकार सामुदायिक विकास योजना का प्रमुख उद्देश्य क्षेत्र के मानव और भौतिक साधनों का पूर्णतः विकास है। मिस्टर विलसन ने, जो भारत में टेक्नीकल कोपरेशन फॉर इन्डिया के सचालक हैं, नीलोखेड़ी में एक भाषण देते हुए कहा था कि भूख, बीमारी और अज्ञानता मनुष्य जाति के सबसे बड़े शत्रु हैं। उन्होंने आगे कहा कि सामुदायिक योजनाओं का उद्देश्य सभी दिशाओं में विकास करने के हेतु समाज के लिए भोजन, स्वास्थ्य तथा आवश्यक ज्ञान उपलब्ध करना है। इस प्रकार योजना का प्रारम्भिक उद्देश्य यही है कि लोगों को अपने पैरों पर खड़े होने में सहायता दी जाय तथा कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में योजना को सफल बना कर गहन आधार पर आर्थिक उन्नति का और विकास किया जाय।

वास्तव में सामुदायिक योजनाओं का विचार राष्ट्रीय योजना कमीशन की उपज है। पंच-वर्षीय योजना की प्रारम्भिक रिपोर्ट में बताया गया था कि "गहन क्षेत्रों में काम करने से अनेक लाभ प्राप्त होते हैं। यदि उन्हें छोटे से क्षेत्र पर व्यय किया जाय, तो सीमित साधनों से अधिक अच्छा फल प्राप्त होता है। गहन क्षेत्रों में शासन सम्बन्धी कुशलता भली प्रकार प्राप्त की जा सकती है, क्योंकि एक ओर तो निश्चित साधन निर्धारित किये जा सकते हैं और दूसरी ओर उत्तरदायित्व निश्चित किया जा सकता है...... ...... ग्रामीण विकास में भावी नीति विशिष्ट क्षेत्रों का गहन विकास होना चाहिए।" रिपोर्ट में आगे बताया गया है कि—"कार्य-विधि यह है कि ऐसे क्षेत्रवर्तीय वर्गों का जिनमें एक सीमित मात्रा में कुछ परिवार मिल जुल कर पास ही पास रहते हों, स्वय शासनीय तथा सहकारी इकाइयों में सगठित किया जाये, जिससे कि उनके सामूहिक हितों की उन्नति हो। साधारणतः सामूहिक सगठनों का निर्माण, सचालन तथा प्रबन्ध क्षेत्र समुदाय को ही करना चाहिए, किन्तु प्रारम्भिक अवस्था में ऐसे आन्दोलनों का श्री गणेश राज्य द्वारा किया जा सकता है।"

योजना का प्रारम्भ—

१४ अगस्त सन् १६४७ की ठीक आधी रात्रि को स्वतन्त्रता का बिगुल बज उठा। विदेशी शासक विदा हुए। देश के नेताओं ने विदा होने वाले शासकों से देश की बागडोर सभाली। वे शासन कार्य से अनभिज्ञ थे। पुराने शासन निपुण लोग चले गये और इस परिवर्तन से देश का शासन प्रबन्ध उन लोगों के अनुभवों से वंचित हो गया। इसके अतिरिक्त देश का जो शासन प्रबन्ध तलवार के बल पर चलाया जा रहा था, उसे नव-स्वतन्त्र जनता की सेवा के योग्य बनाया जाने की महान् समस्या भी थी।

स्वतन्त्रता के पूर्व कुछ वर्षों में द्वितीय विश्व युद्ध ने देश की आर्थिक स्थिति पर भारी बोझा डाला था। रेल, डाक, तार तथा उत्पादन के समस्त साधन समय के साथ-साथ नष्ट-भ्रष्ट हो गये थे। इन्हें बदलने और ठीक करने की अति आवश्यकता थी। विश्व व्यापी क्लेश के साथ-साथ ही धन के फैलाव ने देश की आर्थिक स्थिति को खोखला कर दिया।

देश के समक्ष भयकर और आवश्यक समस्याएँ थीं, किन्तु साधन सीमित थे। विदेशी शासकों के चले जाने के पश्चात् सौभाग से नव भारत इस योग्य था कि वह अब अपनी उन्नति के लिए योजनायें बनाये और लोक कल्याण राज्य की स्थापना के लिये आवश्यकतानुसार अपने उद्देश्य बना सके। इस लक्ष्य को सामने रख कर स्थिति के अनुकूल पहली पञ्च वर्षीय योजना बनाई गई—एक ऐसी योजना जिसमे मानवीय तथा भौतिक आदि समस्त शक्तियों का प्रयोग होकर देश में समृद्धि का वृक्ष लगाया जा सके। इस आयोजन में बहुत सी योजनायें सम्मिलित थीं, जिनमें अधिक धन को व्यय करने, विशेष प्रकार के औजार और आधुनिक-यन्त्र-कला विज्ञान की आवश्यकता थी। ऐसी परिस्थितियों में केवल वेतन भोगी कर्मचारियों के अतिरिक्त जनता को भाग लेने का अवसर नहीं मिला। वास्तव में स्वतन्त्रता उन अधिकारों एवं कर्त्तव्यों सहित सभी के लिए थी, समस्त बड़े-बड़े नगरों में राष्ट्रीय झण्डे लहराये गये, किन्तु दूर स्थित देहातों में जहाँ करोड़ों की संख्या में लोग भूखे जीवन व्यतीत करते हैं, क्रान्ति की सूचना न पहुँची थी। इस सन्देह को उन तक ले जाना और समृद्ध देश की नींव रखने के लिये एक नई व्यवस्था सामूहिक योजना बनाई गई। जनता का अपना एक आयोजन जनता द्वारा जनता के लिए बनाया गया।

सामुदायिक विकास आयोजन का उद्देश्य था—जनता अपनी समृद्धि और उन्नति के लिए एक व्यवस्था बनाये। जनता का रुझान नगरों और कुछ विदेश की ओर होने के कारण देहात अधिक पिछड़ गये थे, इसलिए इस कार्य क्रम का सब दिशाओं में फैलना आवश्यक था।

कार्य क्षेत्र—

निम्नलिखित परमावश्यक कार्य क्रमों को कार्यान्वित किया गया—

(क) खेती तथा उससे सम्बन्धित अन्य कार्य—

(१) भूमि को उपजाऊ बनाना और सिंचाई के छोटे छोटे कार्य।

(२) अच्छे बीज, खेती की सुव्यवस्थित-यन्त्र कला, पशु चिकित्सा, खेती के सुधरे हुये औजार, चीजों का क्रय विक्रय, ऋण की सुविधायें, पशु-पालन तथा नस्ल सुधारने के केन्द्र, भूमि तथा खाद का अनुसन्धान।

(३) मीनाराय, फलों और तरकारियों की खेती, बन लगाने का विकास और भोजन का सुधार।

(ख) यातायात—

सड़कों का प्रबन्ध, यातायात, यन्त्र ट्रान्सपोर्ट को उन्नत करना, जहाँ पशुओं का यातायात तथा अन्य कार्यों के लिये उनका प्रयोग किया जाता है, वहाँ उस कार्य की उन्नति करना।

(ग) शिक्षा—

नि शुल्क, अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा, हाई स्कूल और मिडिल स्कूल, सामाजिक शिक्षा और वाचनालयों का प्रबन्ध करना।

(घ) *स्वास्थ्य—*

सफाई और जन स्वास्थ्य की व्यवस्था, रोगियों की चिकित्सा, बच्चा होने से पहले और बाद की देख भाल तथा दाइयों की व्यवस्था करना।

(ङ) *प्रशिक्षण—*

(१) विद्यमान कारीगरों के स्तर को नवीन अध्ययन द्वारा ऊँचा करना।
(२) खेतिहरों, विस्तार कार्य सहायकों, निरीक्षकों, कारीगरों, प्रबन्धकों, स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्य कर्ताओं और अफसरों के प्रशिक्षण का प्रबन्ध करना।

(च) *व्यवस्था प्रबन्ध—*

देहाती प्रदेशों में बेरोजगारी को दूर करने के लिये सहायता देना तथा अधिक से अधिक व्यवसाय दिलाने के लिये—

(१) छोटे तथा मध्यम स्तर के घरेलू उद्योगों का विकास करना।
(२) आयोजित वितरण, व्यापार, सहायक और कल्याण सेवाओं द्वारा व्यवसाय दिलाने का प्रबन्ध करना।

(छ) *गृह-निर्माण—*

देहाती तथा नागरिक प्रदेशों म मकानों के आधुनिक डिजाइन और नक्शे तैयार करना।

(ज) *लोक कल्याण—*

(१) स्थानीय कलाकारों की सुलभता और संस्कृति के अनुसार सामूहिक मनोरंजन की व्यवस्था करना, फिल्म द्वारा शिक्षा देना और मनोरंजन कराना।
(२) स्थानीय तथा अन्य खेलों और मेलों का प्रबन्ध करना।
(३) सहकारी समितियों और पञ्चायतों द्वारा जनता के आर्थिक तथा नागरिक आन्दोलन का सगठन करना।

२ अक्टूबर सन् १९५२ से योजना का श्री गणेश—

२ अक्टूबर सन् १९५२ को महात्मा गांधी के जन्म दिवस के अवसर पर ५५ सामूहिक विकास योजनायें देहातों को जीवन प्रदान करने के लिये आरम्भ की गई। राष्ट्रपति ने इस व्यवस्था का उद्घाटन किया और प्रधान मन्त्री ने दिल्ली के समीप एक योजना में सम्मिलित एक गाव की सड़क बनाने के कार्य में मिट्टी की टोकरियाँ उठाई। इस प्रकार यह कार्य प्रारम्भ हुआ। राज्यों के मुख्य मन्त्री और प्रतिष्ठित लोगों ने सहयोग दिया तथा कटिबद्ध होकर इस पवित्र कार्य में जुट गये। हमारे लज्जाशील और भीरु ग्रामीण पहले तो चकित हुये, उनके लिये यह एक असाधारण बात थी, किन्तु शीघ्र ही उन्होंने हाथ बँटाना आरम्भ कर दिया। सड़कें बनने लगीं, नये स्कूल और सामूहिक केन्द्र तथा चिकित्सालय देखते ही देखते खड़े हो गये।

स्थान-स्थान पर खेती-प्रदर्शन-फार्म, पशु वंश-वृद्धि और बनावटी बीज बोने के केन्द्र फलों और तरकारियों के बगीचे तथा फुलवारियाँ लगने लगीं।

गाँवों में नये कुंये बनाने और पुरानों की दशा सुधारने, गलियाँ और नालियाँ बनाने के कार्य ने एक आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। ग्रामीण, जिनमें पुरुष और स्त्रियाँ, वृद्ध और युवा सभी सम्मिलित थे, समूहों में आकर इस पवित्र कार्य में हाथ बंटाने लगे। विदेशी शासकों के समय जो सरकारी कर्मचारी जनता की आंखों में खटकते थे, अत्याचार करने और दबाव डालने को जिन पर शंका की जाती थी, अब वे एक नये रूप में जनता के सामने आने लगे थे। अब तक इन लोगों का जनता से कोई सम्पर्क नहीं था, किन्तु अब वे उनके साथ मिलकर एक नये युद्ध में उतर आये थे। यह युद्ध देश के तीन शत्रुओं—भूख, रोग और अज्ञान से विरुद्ध था, जो देश को चारों ओर से घेरे हुये थे।

राष्ट्रीय विस्तार सेवा—

प्रथम ५५ योजनाओं के काम-काज के साथ कार्यक्रम को ओर फैलाने की आवश्यकता पड़ी। यह अनुभव किया गया कि लाभदायक बनाने के लिये इस कार्यक्रम को अवश्यमेव समस्त देश पर लागू करना चाहिये। दूसरे यह कि शासन का एक अङ्ग बन जाये। दोनों आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये भारत सरकार ने अक्टूबर सन् १६५३ में राष्ट्रीय विस्तार सेवा आरम्भ की, जिसमें सामूहिक कार्यक्रम को भी मिला दिया गया। इस प्रकार अक्टूबर सन् १६५३ से ये दोनों कार्यक्रम, अर्थात् सामूहिक योजना तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा एक ही साथ कार्य कर रहे हैं। सर्व प्रथम प्रदेशों को राष्ट्रीय विस्तार क्षेत्र के लिये चुना जाता है। इसमें से कुछ प्रदेशों को सामूहिक योजना में बताई गई बातों के बढ़े स्तर पर उन्नति के लिये आंक लिया जाता है। इस प्रकार के चुनाव का प्रमाण यह है कि उस प्रदेश के लोग अपनी प्रसन्नता से कार्य करने के लिये कितनी अधिक संख्या में उत्साह के साथ आगे बढ़ते हैं।

देश की कुल ग्रामीण जन संख्या के ⅓ भाग पर यह योजनायें लागू हो जायें, यही आयोजन का प्रथम ध्येय था। अप्रेल सन् १६५६ तक ८२८ क्षेत्र, जिनमें लगभग ११,२६२ गांव हैं और जिनकी जन-संख्या लगभग ६ करोड़ २२ लाख हैं, इस कार्यक्रम में चुने गये। इनमें से ३२,२९७ ग्राम, जिनकी जन-संख्या २ करोड़ से अधिक है, सामूहिक कार्यक्रम के आधीन आते हैं और ४ करोड़ १८ लाख जन-संख्या के ६६,३३५ गांव राष्ट्रीय विस्तार प्रोग्राम के अधीनस्त हैं। इस प्रकार इन दोनों मिश्रित कार्यक्रमों से भारत के प्रत्येक ५ गांव में से १ गांव इससे पूरा-पूरा लाभ उठा रहा है। यद्यपि देहाती कुल जन-संख्या का ⅘ भाग इस कार्यक्रम से बाहर है, तथापि फिर भी हमारा लक्ष्य कुछ कम आश्चर्यजनक नहीं है। हमारा देश एक उप-महाद्वीप है और इसकी आर्थिक दशा ऐसी नहीं है कि उन्नति के कार्य की ओर अधिक बार जोड़ सकें। इसे अनुभव करते हुये भारत सरकार ने द्वितीय पंच-वर्षीय कार्यक्रम के अन्त को अपना लक्ष्य माना है, जिसमें सारे देश पर राष्ट्रीय विस्तार सेवा कार्य लागू हो जायगा।

सामूहिक कार्यक्रम का उद्देश्य ग्रामीणों में एक यथेष्ट दृष्टिकोण और एक ऐसी पहुँच उत्पन्न करना है, जिससे वह सरकारी सहायता से अपने ही प्रयत्नों द्वारा अपने रहन सहन के स्तर को ऊँचा तथा उत्तम बना सकें। इस कार्यक्रम को लागू करते समय जहाँ इस लक्ष्य को मुख्य रखा गया वहाँ भौतिक सिद्धियों के लिये भी उतना ही प्रयत्न किया गया है, क्योंकि काम के द्वारा ही भावना जाग्रत होती है। योजना के बहुत से क्षेत्रों में असाधारण भौतिक उन्नति हुई है। इसमें उन्नति के सभी क्षेत्र खेती, पशु उन्नति, भूमि को उपजाऊ बनाना, सिंचाई, शिक्षा, कला और शिल्प, घरेलू उद्योग, सहकारिता-आन्दोलन और यातायात सभी सम्मिलित हैं।

कार्य की उन्नति का बहुत आश्वासन देने वाला पक्ष इस कार्यक्रम में लोगों का अधिक संख्या में सम्मिलित होना है, जिससे पता चलता है कि जैसे कार्यक्रम को आरम्भ करने वालों की इच्छा थी वैसा ही इसने जनता के हृदय में अपना स्थान बना लिया है और वे इसे लागू करने में बुद्धिमता और हित दिखा रहे हैं।

दिसम्बर सन् १९५४ तक योजनाओं पर सरकार का कुल व्यय १३ करोड़ ४८ लाख रुपया हुआ था और इन्हीं दिनों में जनता ने भूमि, धन तथा परिश्रम के रूप में ७ करोड़ ४८ लाख रुपया की सहायता की थी। इस प्रकार कुल सरकारी व्यय का लगभग ५५ प्रतिशत भाग जनता ने प्रसन्नता से सहायता के रूप में दिया। लोगों ने स्वतंत्र रूप से आगे बढ़कर जो सहायता की है उससे उनका कार्यक्रम में उत्साह और विश्वास प्रकट होता है।

यद्यपि प्रसारित आर्थिक तथा सामाजिक नीति का एक भाग सभी देशवासियों को व्यवसाय दिलाना और उसकी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिये इस नीति को लागू कर निश्चित रूप से वर्षों तक चलाना है। फिर देहाती प्रदेशों में बेरोजगारी को दूर करने के लिये सामूहिक योजनाओं द्वारा हर प्रकार के व्यक्ति के लिये अनेक प्रकार की नौकरियाँ निकली हैं। आरम्भ में योजनाओं के लिये बहु संख्या में अनुभवी कर्मचारियों की आवश्यकता है। ये लोग योजना अफसर, क्षेत्र उन्नति अफसर, ग्राम सुधार का काम करने वाले, सामाजिक शिक्षा व्यवस्थापक, कृषि विज्ञान, पशु वंश वृद्धि, स्वास्थ्य और इन्जीनियरिंग के अध्यापक और विद्वान् आदि हैं। प्रथम पंच वर्षीय आयोजन के समय में योजनाओं के लिये कुल ८५,००० अनुभवी (विज्ञ) कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता है। दूसरे पंच वर्षीय आयोजन के समय जब राष्ट्रीय विस्तार सेवा के अधीन समस्त देश आ जायेगा, ऐसे अनुभवी कार्यकर्त्ताओं की संख्या ३½ लाख के लगभग होगी। इसके अतिरिक्त घरेलू छोटे छोटे धन्धे और ग्राम दस्तकारियों में आर्थिक विकास की कार्यवाहियाँ बढ़ जायेंगी।

सामूहिक योजनाओं में जिन विशेष कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता पड़ती है उन के प्रशिक्षण केन्द्र खोलना, जिनका भारत की आर्थिक स्थिति पर विशेष प्रभाव पड़ता है। ऐसे कार्यकर्त्ताओं के प्रशिक्षण केन्द्र देश के २० विभिन्न स्थानों पर पहले ही खोले जा चुके हैं। इनमें ग्राम सुधार का काम करने वाले, जिन्हें देहातों में काम करना होता

है, सामाजिक शिक्षा का प्रबन्ध करने वाले जिन पर लोक कल्याण राज्य के लिये जनता को उसके अधिकार और कर्त्तव्य की शिक्षा देने की जवाबदेही डाली गई है, क्षेत्र विस्तार अधिकारी, जिन पर १०० देहातों की एक इकाई की शासन सम्बन्धी जुम्मेवारी का बोझ होता है और खेती बाड़ी, स्वास्थ्य, सफाई आदि कार्यों में दूसरी प्रकार के सहायक व्यक्तियों को प्रशिक्षण प्रदान करेंगे। यह केन्द्र स्थायी रूप से बनाये गये हैं तथा भविष्य में ऐसे और केन्द्र भी खोले जाएंगे जिनसे ठीक प्रकार के कार्यकर्त्ता तैयार किये जायें, ताकि भारत का विकास कार्य चलाया जा सके।

योजनाओं का खर्च—

तीन वर्ष के लिये एक सामूहिक विकास क्षेत्र का कुल खर्च १५ लाख रुपया है, जिसका लगभग आधा भाग खेती बाड़ी के कार्यों के लिये अन्त:कालीन ऋण देने पर व्यय होता है, शेष आधा धन सामूहिक योजना के कार्यक्रम के विभिन्न भागों पर व्यय किया जाता है, जिनमें पशु वंश वृद्धि, खेती बाड़ी में उन्नति, स्वास्थ्य और देहातों की सफाई, शिक्षा, सामाजिक शिक्षा, यातायात, देहाती कला, दस्तकारी और प्रबन्ध कार्य सम्मिलित हैं।

एक राष्ट्रीय विस्तार सेवा क्षेत्र का व्यय कम होता है, क्योंकि विस्तार क्षेत्र का कार्यक्रम सामूहिक योजना क्षेत्र के कार्यक्रम से कम फैला हुआ होता है। एक विस्तार क्षेत्र का तीन वर्ष के लिए खर्च का चिट्ठा ७½ लाख रुपया होता है, जिसमें से ३ लाख रुपया कम समय के ऋण देने और १ लाख रुपया सिंचाई के छोटे छोटे कामों के लिए अन्त:कालीन ऋण देने पर खर्च होता है। शेष ३½ लाख रुपया यातायात, कार्यालय के सामान, स्थानीय कार्यों, सामाजिक शिक्षा, स्कूलों, अस्पतालों आदि तथा प्रबन्ध कार्यों पर व्यय होता है।

आरम्भ से उन्नति—

अब जबकि उद्देश्य यह है कि दूसरे पंच-वर्षीय आयोजन के अन्त तक समस्त देश में राष्ट्रीय विस्तार सेवा छा जाये और आधे देश में सामूहिक विकास कार्यक्रम का काम हो। सरकार इन दोनों कार्यक्रमों के अधीन एक विशेष आयोजन बनायेगी, जो सारे भारत की उन्नति का कार्यक्रम होगा। इन दोनों कार्यक्रमों का घनिष्ट सम्बन्ध होगा और इनके मध्य में सरकार की पूरी मशीनरी इस सम्बन्ध को सुदृढ़ बनाने के लिए अपना घेरा डाले रहेगी।

इस प्रकार आरम्भ से उन्नति करना सम्भव होगा, अर्थात् गाँव से आरम्भ हो कर ऊपर की ओर उन्नति करना, क्योंकि गाँवों की पंचायतें अपनी उन्नति का प्रयोग आयोजन बनायेंगी और गाँव के लोग उसका प्रयोग करके कामयाब बनायेंगे। इस प्रकार देहात से आरम्भ होकर केन्द्र तक हर प्रकार से निपुण आयोजन बनाना और उसे पूरा करना सम्भव होगा। जनता और उसके प्रतिनिधियों का योजना की प्रत्येक सीढ़ी पर का काम कार्यक्रम के साथ घनिष्ट सम्बन्ध उत्पन्न करेगी। सामूहिक योजना के लिए चिट्ठा में दिल खोल कर धन का प्रबन्ध किया गया है और उसी सम्बन्ध में राजकीय

प्रबन्ध और यन्त्र कला-विज्ञता के (टेक्निकल) परामर्श द्वारा ग्राम के केन्द्र तथा उनके सदस्यों को पहली बार ऐसा अवसर मिल रहा है कि वह सरकार के कर्मचारियों और एक दूसरे के साथ मिल जुल कर पूर्ण रूप से एक जान हो कर काम कर सकें।

निष्कर्ष—

१५ अगस्त सन् १९४७ को इनक़िलाब का प्रथम दौर उस दिन समाप्त हो गया जिस दिन विदेशी सरकार की दासता का जुआ निकाल स्वतन्त्रता प्राप्त की, पर इनक़िलाब का दूसरा दौर पहले की समाप्ति से ही आरम्भ हो गया। इस नये दौर में सामूहिक योजनाओं का आरम्भ होना एक विशेष कृति है। यह तीन शत्रुओं—भूख, रोग और अज्ञान के विरुद्ध युद्ध का बिगुल था, जिन्होंने हमारी जाति का रक्त जोंक की तरह चूस लिया है। देहात में रहने वाले ६ करोड़ परिवारों को गहरी नींद से जगाकर और उन्हें जीवित रहने के अधिकार से जानकार कराना है। हमने लोक कल्याण राज्य की स्थापना का व्रत लिया हुआ है। उससे उन्हें होशियार और जानकार करना है। इन्हें नई-नई बातें सीखनी हैं, जीवन की नई धारा को पहचानना है और एक सुखों से भरपूर पूर्ण जीवन के लिए विश्वास उत्पन्न करना है।

यही सामूहिक विकास योजना तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा कार्यक्रम का अभिप्राय है। लोक कल्याण राज्य के बनाने का कार्य हो रहा है। यह नव भारत निर्माण के लिए एक नया निश्चय तथा नया पवित्र मार्ग है। यद्यपि यह एक लम्बा और थका देने वाला 'रास्ता है तो भी इसे समाप्त करना ही होगा। इसके अतिरिक्त और कोई सीधा मार्ग भी तो नहीं है। इस लम्बे मार्ग पर सामूहिक योजना हमारा पहला पग है। लोगों का स्वयं रास्ता तैयार करना और समतल बनाना है। जनता को इस पर स्वयं चलना और आगे बढ़ना है तथा रास्ते को पार कर आगे निकल जाना है।

[३८]

घाटे का राजस्वन

रूपरेखा—

१. *आरम्भिक*—घाटे के राजस्वन से अभिप्राय व्यय की आय पर अधिकता से है। प्राचीन अर्थशास्त्री घाटे के बजटों को नापसन्द करते थे, किन्तु सन् १९२९-३० की मन्दी के समय सरकार पर नये दायित्व आगये, जिन्हें निबाहने के लिये इस नीति को अपनाना आवश्यक हो गया।

२ *स्वतन्त्र-व्यापार नीति का त्याग*—आधुनिक युग मे सरकारों ने पुरानी स्वतन्त्र व्यापार नीति को छोड़ दिया। अब यह धारणा बढ़ रही है कि व्यक्ति का कार्य देश का स्वस्थ विकास करने में असफल रहा है, अतः राज्य अपने ऊपर अनेक कार्यों का भार ले रहे हैं।

३ *घाटे के राजस्वन की नीति के आधार*—यदि विनियोग गिरते हैं तो पूर्ण रोजगार और राष्ट्रीय आय भी गिरेगी तथा हमें घोर मन्दी का सामना करना पड़ेगा, अत विनियोग की स्थिति को सुधारने के लिये आय से अधिक व्यय करना नितान्त आवश्यक है। घाटे के राजस्वन से वास्तविक प्रसाधनों को गतिशील बनाया जाता है।

४. *घाटे के राजस्वन द्वारा पूर्ण रोजगार*—इसके तीन मार्ग हैं—सार्वजनिक सेवा कार्यक्रम, पम्प प्राइमिंग और क्षति पूरक व्यय, प्रत्येक मार्ग के अपने अपने लाभ हैं।

५. *घाटे के राजस्वन की नीति के मुद्रा प्रसारक परिणाम*—घाटे का राजस्वन नये उत्पादित द्रव्य की सीमा तक वृद्धि कर देता है। ऐसे द्रव्य का कुछ भाग ही मुद्रा प्रसारक होता है, सम्पूर्ण भाग नहीं। जब अर्थ व्यवस्था में पहले से ही मुद्रा प्रसार हो तो ऐसे समय में घाटे के राजस्वन से बचना चाहिए।

६. *भारत में घाटे का राजस्वन*—प्रथम पंच-वर्षीय योजना में ६२० करोड़ रुपए और द्वितीय पंच-वर्षीय योजना की रूप रेखा में १२०० करोड़ रुपए घाटे के राजस्वन द्वारा जुटाने की व्यवस्था है। भारत जैसे अर्ध विकसित देश में इस नीति के कई विरोध हैं।

७. *निष्कर्ष*—घाटे के राजस्वन का कार्यक्रम विनियोग प्रोत्साहित करने में अवश्य सफल होगा। अब तक योरोपियन देशों को जो कठोर अनुभव हुए हैं वह उनकी दुर्बल द्रव्यिक नीति का परिणाम था।

प्रारम्भिक—

अत्यन्त सरल शब्दों में 'घाटे के राजस्व' से अभिप्राय व्यय की आय पर अधिकता से है। घाटे के राजस्व में सरकार समाज की कुल क्रय शक्ति को कायम रखने के लिए जान-बूझ कर 'न्यूनता' या घाटा (Deficit) उठाती है। प्राचीन अर्थ-शास्त्री यह मानते थे कि वैयक्तिक अर्थ-व्यवस्था के सिद्धान्त सरकारी व्यय नीति में भी लागू होते हैं। इस कारण वे घाटे के बजटों को नापसन्द करते थे। यहाँ तक कि २० वीं शताब्दी के आरम्भ में भी घाटे के बजट सरकार की दुर्बलता के चिन्ह समझे जाते थे, किन्तु सन् १६२६-३० की मन्दी में सरकार पर नये दायित्व आ गये। बात इस तरह हुई कि प्राइवेट विनियोग बहुत कम हो गया और बेरोजगारी बढ़ने लगी, अतः यह सुझाव दिया गया कि प्राइवेट विनियोग में हुई कमी को जन-सेवा के कार्यों में सरकारी विनियोग बढ़ा कर पूरा किया जाय। इस प्रकार कुल विनियोग कुल रोजगार में वृद्धि होकर देश मन्दी के दुष्प्रभावों से बच सकेगा, अतः मन्दी के समय सरकार की साख का लाभ उठाया जाय और प्रति वर्ष बजट को बैलेन्स रखने का प्रयत्न व्यर्थ है। इस प्रकार विचारधारा में एक नवीन विचार फूट निकला।

स्वतन्त्र व्यापार नीति का त्याग—

आधुनिक युग में अनेक जटिलतायें पैदा हो जाने के कारण (जैसे, एकाधिकार व्यापार नियन्त्रण, श्रम संघों का दबाव, विदेशी विनिमय का नियन्त्रण आदि) सरकारों ने पुरानी 'स्वतन्त्र व्यापार नीति' (Laisez faire Policy) को छोड़ दिया। यह ... न किया गया कि स्वतन्त्र-व्यापार-नीति के लाभ केवल सैद्धान्तिक हैं व्यावहारिक नहीं। सच तो यह है कि अब प्रत्येक उन्नत देश में यह धारणा बढ़ रही है कि व्यक्ति का ऐच्छिक और स्वतन्त्र कार्य देश का स्वस्थ आर्थिक विकास करने में बुरी तरह असफल रहा है, अतः स्वतन्त्र व्यापार नीति अब प्रायः मर चुकी है। एक आधुनिक राज्य न केवल अपने प्रारम्भिक कर्तव्य करता है, अपितु वह समाज के साधारण कल्याण (Common good) का भी (वर्तमान और भविष्य दोनों में) ध्यान रखती है। इस बदली हुई विचारधारा के कारण आधुनिक राज्य अपने ऊपर ऐसे अनेक कार्य एवं कर्तव्यों का भार ले रहे हैं, जिन्हें कि किसी समय उसके क्षेत्र से बाहर माना जाता था। इस प्रकार सब देशों की सरकारों ने यह अनुभव किया कि आर्थिक क्षेत्र में सरकार की जिम्मेदारियों को भुलाया नहीं जा सकता, अतः मन्दी से प्रभावित कई देशों में सरकारों ने उत्पादित द्रव्य (Created Money) की सहायता से सार्वजनिक सेवा कार्यक्रमों को आरम्भ कर दिया। इस कदम से मुद्रा प्रसार होना स्वाभाविक था, किन्तु मन्दी-युग में मुद्रा प्रसार कुछ सीमा तक वांछनीय है। अब घाटे के राजस्व को प्रशुल्क नीति का एक महत्वपूर्ण अंग समझा जाता है, यद्यपि इसका उद्देश्य द्वितीय महायुद्ध के काल में बदल गया था, जबकि वह उचित सीमाओं के परे चला गया और कई देशों में अवांछनीय मुद्रा प्रसार हो गया। इस प्रकार घाटे के राजस्व सम्बन्धी धारणा उन परिस्थितियों पर आधारित है, जबकि चालू और पूँजी

ही खातों पर कुल सरकारी व्यय कर, ऋण, फीस आदि से हुई कुल प्राप्तियों से अधिक हो।

घाटे के राजस्व की नीति के आधार—

कुल विनियोग का महत्व प्रभावपूर्ण मांग (Effective Demand) पर निर्भर है। यही बात कुल रोजगार और राष्ट्रीय आय के साथ भी है। इसके अतिरिक्त यदि विनियोग गिरते हैं तो पूर्ण रोजगार और राष्ट्रीय आय भी गिरेगी तथा हमें घोर मन्दी का सामना करना पड़ेगा, अतः यदि विनियोग की स्थिति सुधारना है, तो प्रभावपूर्ण मांग को घटने नहीं देना चाहिये। वास्तव में प्रभावपूर्ण मांग की न्यूनता ही घोर बेरोजगारी को जन्म देती है। इस न्यूनता को दूर करने के लिये आय से अधिक व्यय करना नितान्त आवश्यक हो जाता है। घाटे का राजस्व वह युक्ति है जिसके द्वारा वास्तविक प्रसाधनों को गतिशील बनाया जाता है। घाटे का राजस्व कोई वास्तविक प्रसाधन उत्पन्न नहीं करता। ऋण निर्गमन, छोटी बचत प्रसार आदि के द्वारा वह सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) के लिये उन वास्तविक प्रसाधनों को उपलब्ध करता है जो कि पहले से ही विद्यमान हैं। घाटे के राजस्व की आवश्यकता इस तथ्य से उदय होती है कि एक व्यक्ति अपनी वास्तविक आय के एक भाग को रोकड़ शेष (Cash Balance) में परिवर्तित कर लेता है और शेष का या तो उपभोग कर लिया जाता है अथवा क्रय्य विनिमयों आदि के द्वारा विनियोग कर दिया जाता है। आय के साथ-साथ विनियोग और उपभोग की भांति, रोकड़ शेष में भी वृद्धि होती है, क्योंकि रोकड़ शेष बचत का एक भाग है, इसलिये अर्थ-व्यवस्था में कहीं न कहीं उतनी रकम के वास्तविक प्रसाधन विद्यमान हैं। घाटे का राजस्व व्यक्ति को रोकड़ शेष प्रदान करके उनसे वास्तविक प्रसाधन प्राप्त कर लेता है। यदि रोकड़ शेष में हुई वृद्धि के साथ मांग भी पर्याप्त नहीं बढ़ती है तो मूल्य गिर जायेंगे और बेरोजगारी फैलने लगेगी। प्रभावपूर्ण मांग की न्यूनता को घाटे का राजस्व सुधारता है। इस नीति के अनुसार सरकार सार्वजनिक सेवा कार्यक्रमों पर अपना व्यय बढ़ा देती है। इस कारण प्राइवेट मांग की कमी व्यय की वृद्धि हुई मांग से पूरी हो जाती है। इस प्रकार कुल प्रभावपूर्ण मांग विनियोग, बेरोजगार और राष्ट्रीय आय को घटने के स्थान पर बढ़ा देती है। यही घाटे के राजस्व का कार्य है। लार्ड कीन्स के अनुसार—"यदि बेरोजगारी से आय घटती है तो सरकार को चाहिये कि वह इच्छा से अनिच्छा से घाटे के राजस्व को अपनाये। "युद्ध एवं युद्धोत्तर काल में कुछ सरकारों ने घाटे के बजट बनाने की नीति को अपनाया था। युद्ध-काल में यह आकस्मिक परिस्थिति और अत्यधिक युद्ध व्यय को पूरा करने के लिये आवश्यक था, किन्तु युद्धोत्तर काल में वह सार्वजनिक सेवा कार्यक्रमों का अर्थ प्रबन्ध करने के लिये आवश्यक हो गया था। स्वतन्त्र व्यापार-नीति के परित्याग और सरकारों द्वारा समाज के सामान्य कल्याणार्थ अधिकाधिक दायित्व ग्रहण से घाटे के राजस्व का महत्व बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त एक प्रजातंत्री राज्य में, जिसमें अधिक से अधिक व्यक्तियों का अधिक से अधिक लाभ का

उद्देश्य होता है, जिसमें समाजवादी समाज की प्राप्ति ही सर्वोपरि उद्देश्य होता है और जो कि एक सर्वमंगलकारी राज्य होने जा रहा है (जैसे कि भारत) सार्वजनिक सेवा कार्यक्रमों की आवश्यकता और तदनुसार घाटे का राजस्वन करने की माग तीव्रतर हो जाती है। घाटे के राजस्वन को निम्नलिखित आधारों पर उचित ठहराया जाता है :—

(१) कोई भी सरकार अपनी वर्तमान रेवेन्यू से एक विशाल पैमाने पर विकास-व्यय नहीं चला सकती और उसे अनिवार्यत घाटे का राजस्वन अपनाना पड़ता है। यदि ऐसा नहीं किया जाय, तो आर्थिक प्रसाधनों का शोषण नहीं हो पावेगा और देश दरिद्र ही रहेगा।

(२) प्रति वर्ष बजट का सतुलन करना अनावश्यक है। पांच या दस वर्ष की लम्बी अवधि में बजट को बैलेन्स करने का प्रयत्न किया जाय, तो अच्छा होगा।

(३) कीन्ज का पूर्ण रोजगार सिद्धान्त 'उत्पादित मुद्रा' की सहायता से नये विनियोगों पर जोर देता है। इस क्रिया का अनिवार्य परिणाम घाटे का राजस्वन है। घाटे के राजस्वन के अभाव में, राष्ट्रीय आय उच्चतम सीमा तक बढ़ाना सम्भव नहीं होगा।

(४) घाटे के राजस्वन को पूरा करने के लिए अर्थ प्रबन्धन के साधनों को इस प्रकार वर्गित किया जा सकता है —(अ) बैंकिंग सस्थाएं—सरकार बैंक से ऋण लेती है, अत विनिमय का माध्यम बढ जाएगा। (आ) सरकार प्रायवेट व्यक्तियों एवं कारपोरेशनों से उनके 'सुप्त' कोषों (Idle Balance) से ऋण लेती है। (इ) सरकार बैंकों को या किसी केन्द्रीय बैंक को ट्रेजरी बिल बेचेगी और बैंक नोट छापेगा। इस प्रकार चलन में मुद्रा बढ जायेगी।

इस प्रकार सरकारी बजट के घाटों को उधार लेकर या नया द्रव्य उत्पन्न करके पूरा किया जा सकता है। प्रत्येक ढग की विशेष समस्यायें हैं। यदि अर्थ-व्यवस्था से सार्वजनिक क्षेत्र की न्यूनता का ऋणों द्वारा अर्थ-प्रबन्ध किया जाता है तो इस सीमा तक सरकार पूँजी बाजार में प्रतिद्वन्दी बन जाती है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि विनियोग करने योग्य धन का कोष देश में अत्यन्त सीमित है, यह प्रतिद्वन्दिता प्रायवेट क्षेत्र के विनियोग में बाधा डाल देगी। जब जनता सरकारी प्रतिभूतियों में रुपया लगाना अधिक आकर्षक पावेगी, तो वह स्वभावत सरकारी ऋणों में अधिक और अन्य प्रतिभूतियों में कम रुपया लगावेगी अथवा वह अपना सामान्य उपभोग कम न करते हुए, केवल अपने धन को सरकारी ऋणों में मोड़ देगी अथवा यह भी सम्भव है कि जनता अपने पिछले सचय या बचत को सरकारी ऋणों में लगाने के लिए घटा दे। ये तात्कालिक परिणाम होंगे, जिन्हें कि पीगू ने 'Announcemental Effects' कहा है, किन्तु इसके वितरणात्मक प्रभाव (Distributional Effects) भी हैं। सार्वजनिक ऋण में वृद्धि होने से भविष्य में करों की वृद्धि होगी, जिससे विनियोग के लिए रुचि कम हो जायगी। इसके अतिरिक्त आय का बान्ड-धारियों के अनुकूल और करदाताओं के प्रतिकूल पुनर्वितरण होने से अर्थ व्यवस्था पर

अलग ही प्रभाव पड़ेगा। जब न्यूनता का नये द्रव्य की उत्पत्ति द्वारा अर्थ-प्रबन्ध (Finance) किया जाता है, तो अधिक सावधानी आवश्यक है, क्योंकि इसके प्रभाव अधिक प्रत्यक्ष होते हैं। वे व्यक्ति अथवा उत्पादन के वह साधन, जिनकी आय को मूल्य वृद्धि की सीमा तक बढ़ाया जा सकता है उनकी स्थिति अप्रभावित रहती है, किन्तु अन्य लोगों के लिए मूल्यों में वृद्धि होने की सीमा तक वास्तविक आय घट जाती है। यदि नये द्रव्य के उत्पादन के साथ-साथ साख रूपी ढांचे (Credit Superstructure) में अधिक वृद्धि होती है तो इसके प्रभाव केवल वर्तमान में ही नहीं बल्कि भविष्य तक विस्तृत होंगे।

घाटे के राजस्व द्वारा पूर्ण रोजगार—

किसी सरकार के लिए घाटे के राजस्व द्वारा पूर्ण रोजगार की उपलब्धि के लिए तीन मार्ग खुले हैं.—

(१) सार्वजनिक सेवा कार्यक्रम।

(२) पम्प प्राइमिंग (Pump Priming)।

(३) क्षतिपूरक व्यय (Compensatory Spending)।

(१) वैयक्तिक विनियोग प्राय घटता-बढ़ता रहता है, अतः सार्वजनिक सेवा कार्यक्रम का उद्देश्य प्राइवेट विनियोग में परिवर्तनों के कुप्रभावों की रोक-थाम होना चाहिये। इस नीति की सबसे बड़ी हानि यह है कि उसे तत्काल ही कार्यान्वित नहीं किया जा सकता और इससे क्रय शक्ति धीरे-धीरे बढ़ती है। यही नहीं, इसके द्वारा राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में शक्ति फूँकने में सरकार को कुछ समय लगता है, जबकि मन्दी से लड़ने के लिए इसकी एकदम आवश्यकता होती है। साथ ही, एक बार योजना चल निकलने पर इसे एक दम रोका नहीं जा सकता, भले ही मन्दी की परिस्थितियाँ समाप्त हो गई हो।

(२) इन कठिनाइयों को दूर करने के लिये जिस मार्ग का सहारा लिया जाता है, उसे (Pump Priming) कहते हैं। इसके द्वारा द्रव्य उन लोगों को तत्काल ही उपलब्ध कर दिया जाता है, जोकि सामाजिक उपभोग पर व्यय करेंगे। जब सामाजिक उपयोग इस प्रकार बढ़ जाता है तो उपभोग की मात्रा और पूँजी-माल की माँग दोनों ही काफी बढ़ जाती हैं।

(३) उक्त दोनों ही उपाय मन्दी के काल में अपनाये जाते हैं और वे अस्थायी हैं, किन्तु तीसरा उपाय—क्षतिपूरक व्यय—इनसे भिन्न है। क्षतिपूरक व्यय के सिद्धान्त का सार यह है कि सरकार को प्राइवेट विनियोग की कमी अवश्य पूरी करनी चाहिये। इसके लिये अवधि सम्बन्धी कोई सीमा नहीं है। इसके अतिरिक्त यह व्यापार-चक्र की सभी अवस्थाओं में कार्यान्वित किया जा सकता है। इसी नीति को निम्न आधारों पर उचित ठहराया जाता है—(१) यह एक अस्थायी नीति नहीं है और (२) इसे सभी समयों में चालू रखा जा सकता है।

घाटे के राजस्वन की नीति के मुद्रा प्रसार के परिणाम—

घाटे के राजस्वन के पीछे यह उद्देश्य है कि चालू प्राप्तियों से अधिक सीमा तक व्यय का कार्यक्रम कार्यान्वित किया जाय। इस कार्यक्रम की पूर्ति करते हुए वह समाज की क्रय शक्ति में नये उत्पादित द्रव्य की सीमा तक वृद्धि कर देता है। केवल विशेष परिस्थितियों में ही ऐसा हो सकता है कि नया उत्पादित द्रव्य अर्थ-व्यवस्था में न आवे। उदाहरण के लिये, जब सरकार कुछ धन विशेष उद्देश्यों के लिये या आकस्मिक दशा के लिये नियत कर देती है तो उत्पादित द्रव्य अर्थ व्यवस्था में तब तक प्रवेश नहीं पाता, जब तक कि वह व्यय न किया जाय। जब सरकार व्यय करती भी है और द्रव्य अर्थ व्यवस्था में प्रवेश पा भी लेता है तो भी ऐसे द्रव्य का केवल कुछ भाग ही मुद्रा प्रसार प्रोत्साहित करता है, सम्पूर्ण द्रव्य नहीं। उदाहरण के लिये, मन्दी युग में सरकारी व्यय का वह भाग, जो प्रायवेट विनियोग की कमी को पूरा करता है, मुद्रा-प्रसार नहीं करता, अतः एकदम यह कह देना कठिन है कि घाटे के राजस्वन की नीति से किस सीमा तक मुद्रा प्रसार होगा? अधिकतर साधारण समयों में, जबकि सरकार बजट के घाटे में से विकास योजनाओं के लिये धन व्यय करती है तो व्यय कुछ समय के लिये अवश्य ही मुद्रा प्रसारक (Inflatory) होता है। हाँ, अवधि के अन्त में मुद्रा प्रसारक तत्व घट सकते हैं, किन्तु केवल उस सीमा तक ही घटेंगे जिस तक नया उत्पादक साज सामान और या उपभोक्ता माल बाजार में आता है। यदि ि अवधि के अन्दर कुछ लागत तत्व ऊँचे हो गये हैं तो वे अर्थ व्यवस्था के लिये लगभग स्थायी भार बन जाता है। बहुत कुछ अर्थ व्यवस्था के प्रायवेट क्षेत्र की तत्कालीन स्थिति पर भी निर्भर करता है। यदि सरकार ऐसे समय पर न्यूनता-व्यय (Deficit spending) का कार्यक्रम चलाती है (जबकि प्रायवेट विनियोग निम्न स्तर पर हो), तो मुद्रा प्रसार का भय निश्चय ही कम या बिल्कुल भी नहीं होता। जैसे ही प्राइवेट विनियोग में वृद्धि होती है वैसे ही सरकारी क्रिया धीमी हो जानी चाहिए, जिससे घाटे के राजस्वन से मुद्रा प्रसार का दबाव न हो। इस प्रकार मन्दी के युग में अपनाया गया घाटे का राजस्वन सरकार को इतनी फुर्सत प्रदान कर देता है, जिससे बढ़ने वाले मुद्रा प्रसार को रोकने के लिये आवश्यक प्राशुल्किक उपाय किये जा सकें, किन्तु दीर्घकालीन आर्थिक विकास को आरम्भ करने और प्रायवेट विनियोग के अभाव की पूर्ति करने के लिये अपनाये गये घाटे का राजस्वन सदैव ही (कम से कम परिवर्तन की अवधि में तो अवश्य) मुद्रा-प्रसारक होता है, नियोजित अर्थ व्यवस्था (Planned Economy) में नियोजित विकास पर किये गये व्यय का कुछ अनुमान वर्तमान उत्पादन में हुई वृद्धि से लग सकता है, अतः कुल उत्पादन में हुई वृद्धि को आधार बना कर द्रव्य की पूर्ति बढ़ाई जा सकती है। उत्पादन वृद्धि के साथ द्रव्य-वृद्धि की वाञ्छनीय सीमा का कोई निकट सम्बन्ध नहीं रखा जा सकता। विशेषतः ऐसी अर्थ व्यवस्था में जो न तो पूर्णतः समन्वित है और न पूर्ण द्राव्यिक (Monetised of Integrated) (जैसे भारत की अर्थ व्यवस्था)। यह भी उचित रूप से कहा

आ सकता है कि राष्ट्रीय आय में निरन्तर होने वाली वृद्धि के साथ साथ द्रव्य की पूर्ति में वृद्धि होने से न केवल मुद्रा प्रसारक परिणाम नहीं होंगे अपितु उसे मूल्यों के गिरने को रोकना भी आवश्यक हो सकता है, जिससे अर्थ व्यवस्था कठिनाई से बच जाये।

इस प्रकार घाटे का राजस्व सदैव ही भय मद नहीं होता। यह तो उसे अपनाने का समय और सीमा है, जो कि महत्वपूर्ण है। जब अर्थ-व्यवस्था में पहले से ही मुद्रा प्रसार हो तो ऐसे समय में घाटे के राजस्व से बचना चाहिये। घाटे को राजस्व का सिद्धान्त इस प्रकार बनाया जा सकता है कि निष्क्रिय और कम शोषिक प्रसाधनों के पूर्ण उपयोग द्वारा उत्पादन विनियोग और उत्पादन आय की क्रिया प्रारम्भ करने के लिये भविष्य में जो अधिक आय से अतिरिक्त बचतें उपलब्ध होंगी, उनका ध्यान रखना चाहिये और इसलिये कुछ प्रारम्भिक साख का उत्पादन एक विकास कार्यक्रम का आवश्यक अंग है।

अब हमें समस्या का दूसरा पहलू देखना चाहिये। सभी सरकारी व्यय, च है वह उत्पादक हो या अर्ध उत्पादक अथवा अनुत्पादक, व्यय की रकम के बराबर अतिरिक्त क्रय-शक्ति का सृजन करता है। जब व्यय उत्पादक होता है तब उसका मुद्रा प्रसारक प्रभाव (Inflatory Effect) अस्थायी होगा, क्योंकि जैसे ही बाजार में वस्तुओं की सप्लाई आनी आरम्भ हो जायगी, वैसे ही (यदि अन्य बातें समान रहें) वस्तुओं के मूल्य गिरने आरम्भ हो जायेंगे, किन्तु यदि यही नीचे लागत तत्व ऊँचे हो जायें तो अर्थ व्यवस्था वाञ्छित सीमा तक विस्तृत नहीं हो सकगी। वह एक ऐसे बिन्दु पर स्थिर हो सकती है, जो पूर्ण रोजगार के स्तर से बहुत नीचे हो। इसे न्यून रोजगार सतुलन बिन्दु (Under Employment Equilibrium) कहते हैं, अत लागत तत्वों की उचित रोक थाम रखते हुये ठीक रूप से सचालित घाटे का राजस्व अन्तिमत लोगों के भौतिक कल्याण में वृद्धि ही करता है, उनकी आय बढाता है और उनके जीवन स्तर को ऊपर उठाता है। प्रति व्यक्ति आय बढने स कर दान क्षमता और ऋण ग्रहण सीमा बढ जाती है, परिणामस्वरूप फिर घाटे के राजस्व की आवश्यकता नहीं रहती। इसके अतिरिक्त उत्पादक साज सामान (Productive Equipment) की पूर्ति म वृद्धि होने से लागत तत्व (Cost Elements) कम हो जायेंगे और जो भी मुद्रा प्रसार हुआ होगा उसे वे समाप्त कर देंगे, अत इस प्रकार के घाटे के राजस्व में अपने भीतर ही एक सुधारात्मक तत्व होता है, जो एक अवधि (Time Lag) की समाप्ति के बाद तत्काल ही कार्य करने लगता है, यहाँ तक कि मुद्रा सकुचन आरम्भ हो सकता है। जहाँ व्यय केवल अशत उत्पादक होता है, वहाँ अनुत्पादक भाग पर वह स्थायी रूप से मुद्रा प्रसारक होगा और शेष भाग पर वह कुछ समय के लिये ही मुद्रा प्रसारक रहेगा। जैसे ही अवधि (Time Lag) समाप्त होगी, वैसे ही सुधारक तत्व अपना कार्य आरम्भ कर देगा। जहाँ व्यय केवल अप्रत्यक्ष रूप से ही अनुत्पादक हो, वहाँ भी यह आवश्यक नहीं कि उसके अन्तिम परिणाम मुद्रा प्रसारक हों। हाँ,

दीर्घकाल में अवश्य वे मुद्रा प्रसारक (Inflatory) होंगे। जब व्यय पूर्णतः अनुत्पादक हो (जैसे कि युद्धकाल के व्यय) तो वह उत्पादन करने में ही अपनी शक्ति खर्च कर देता है। चाहे द्राव्यिक आय में कितनी भी वृद्धि हो यदि वास्तविक आय कम हो जाय तो बचत अपेक्षित (Anticipated) सीमा तक न होगी और इस प्रकार भावी योजनाओं का कार्य उलझन में पड़ जायेगा।

एक कम विकसित अर्थ व्यवस्था में घाटे का राजस्वन न्यून वास्तविक प्रसाधनों का पूरा-पूरा उपयोग करने के लिये आवश्यक है। जैसे ही मुद्रा प्रसार का आरम्भ बिन्दु आये, वैसे ही घाटे के राजस्वन को रोक देना चाहिये। मुद्रा प्रसार से कुल पर (On-balance) वास्तविक प्रसाधनों में वृद्धि नहीं होती। वह तो सीमित बचत पर अनावश्यक या सामाजिक दृष्टि से कम उपयोगी माँगें उत्पन्न करता है। इससे विलास-वस्तुओं के व्यापार में अधिक विनियोग होने लगता है, ताकि बढ़ी हुई आय के कारण उत्पन्न हुई अतिरिक्त माँग को पूरा किया जा सके। यह बचत को शहरी जायदादों में और वास्तविक सम्पत्तियों को स्वर्ण सचय एवं जेवरों व विदेशी विनिमय में अनुचित रूप से प्रवाहित कर देता है, क्योंकि बचत करने वाले अपनी बचत के मूल्य की रक्षा करने का प्रयत्न करते हैं।

मुद्रा प्रसार स्थायी होने की प्रवृत्ति रखता है। मूल्यों और मजदूरियों में वृद्धि होने से, योजनाओं की लागत के मूल अनुमान बेकार हो जाते हैं। उनको पूरा करने के लिए अधिक घाटे के राजस्वन की आवश्यक होगी। किसी भी दिए हुये समय पर वर्तमान में जो बचत उपलब्ध है, उसके प्राइवेट या पब्लिक क्षेत्र में विनियोग होने के कारण ऐसी कोई 'सुस्त' बचत नहीं होगी जिसे प्रयोग किया जा सके। वास्तविक प्रसाधनों को ही बलात् प्रयोग करना पड़ेगा। इससे उक्त अपव्यय और कठिनाइयाँ बढ़ जायेंगी। ऐसी दशा में मुद्रा-प्रसार की स्थिति पर निगरानी रखने का व्यावहारिक महत्व भी जाता रहेगा। एक बार आरम्भ हो जाने पर मुद्रा प्रसार शक्ति ग्रहण कर लेता है और अपने रास्ते पर ही दौड़ता है, जबकि हम केवल विवश दर्शकों की भांति उसे देखते रहते हैं, अत. मुद्रा-प्रसार का सर्वोत्तम बचाव यह है कि विनियोग कार्यक्रम को वास्तविक साधनों की सीमा में ही रखा जाय, इसलिये घाटे का राजस्वन और साख उत्पादन दोनों की संयुक्त रकम रोकड़ धन में वृद्धि तक सीमित रखनी चाहिए। रोकड़ धन (Cash Balance) में वृद्धि की दर सम्बन्धित अवधि के भीतर राष्ट्रीय उत्पादन की वृद्धि की दर पर निर्भर रहेगी।

उपरोक्त परिणामों को ध्यान में रखते हुए घाटे का राजस्वन एक ऐसे देश में भी न्यायोचित ठहराया जा सकता है, जहाँ आर्थिक प्रगति की दर बहुत धीमी है और राज्य हस्तक्षेप द्वारा उसे तीव्र करना आवश्यक है। यह मानते हुये कि कोई अन्य कठिनाई प्रस्तुत नहीं होती और वह देश बिल्कुल पहले पहल विकास आरम्भ कर रहा है, उस देश की साधारण गरीबी घाटे के राजस्वन की सीमा पर गम्भीर रोक लगाती है। यह रोक दो प्रकार से लगती है :—प्रथम, क्योंकि घाटे का राजस्वन परिणाम में

मुद्रा-प्रसारक होता है, इसलिये वह कितना भी अस्थायी और सीमित हो, उसका विस्तार जनता के सदस्यों की कर वहन क्षमता से सीमित होगा। एक गरीब देश में यह क्षमता बहुत कम होती है। दूसरे, यद्यपि कुछ सरकारी व्यय इस प्रकार ऋण लेकर निपटाये जाते हैं तो भी किसी भावी तिथि पर ऐसे उपाय मालूम करने चाहिए, जिनसे इन ऋणों का भुगतान कर दिया जाय, अतः घाटे का राजस्व जनता की भावी तिथि पर जबकि भुगतान करना पड़ेगा, अपेक्षित कर योग्य क्षमता से सीमित रहता है। इससे यह परिणाम निकलता है कि निर्धन अर्थ-व्यवस्था में सरकार के हाथ बँधे रहते हैं।

भारत में घाटे का राजस्व—

जबसे सरकार ने आर्थिक विकास का कार्यक्रम आरम्भ विकास किया है, तब से ही विशेषतः प्रथम पंच-वर्षीय योजना के प्रकाशन के पश्चात् घाटे का राजस्व इस देश में बड़ा महत्व प्राप्त कर चुका है। आज यहाँ के आर्थिक क्षेत्रों में घाटे के राजस्व की उपयोगिता पर जोर शोर से विचार विमर्श किया जाता है। प्रथम पंच-वर्षीय योजना में १६० करोड़ रुपये घाटे के राजस्व द्वारा ही जुटाये गये थे और द्वितीय पंच-वर्षीय योजना की रूपरेखा में इसे २०० करोड़ रुपया प्रति वर्ष रखा गया है। यह कहा जाता है कि इस सीमा तक घाटे का राजस्व देश के लिये हानिप्रद न होगा, अपितु इसके विपरीत वह अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इसका प्रयोग सरकार अपनी उत्पादक क्रियाओं और सार्वजनिक सेवाओं के लिये करेगी।

भारत जैसे अर्ध विकसित देश में घाटे के राजस्व के प्रति निम्न विरोध हैं।—

(१) यह एक प्रकार से अप्रत्यक्ष करारोपण है और इसके तत्सम्बन्धित परिणाम भी होते हैं।

(२) यह देश के शोधनाधिक्य (Balance of Payments) में कमी लाता है, क्योंकि इसके कारण आयात-माल की माँग बढ़ जाती है।

(३) इससे रहन-सहन की लागत में भी वृद्धि होती है।

(४) घाटे के राजस्व का सिद्धान्त यह कल्पना लेकर चलता है कि आर्थिक व्यवस्था में पहले से मुद्रा-प्रसार विद्यमान नहीं है और ऐसे प्रसाधन (Resources) बेकार पड़े हैं, जिन्हें इस नीति के कारण क्रियाशील बनाया जा सकता है, किन्तु भारत में युद्ध-काल से अति मुद्रा-प्रसार की स्थिति पैदा हो गई है, जो काफी लम्बे समय से चालू है और यद्यपि अब भी कुछ अशोषित प्रसाधन (विशेषतः अकुशल श्रम) विद्यमान है, तथापि भी कुछ अन्य प्रसाधन (जैसे, मशीन कैमीकल्स कच्चा माल) भी औद्योगिक हलचलों को तीव्र करने के लिये आवश्यक हैं।

(५) योजना के अन्तर्गत अनेक कार्यक्रम दीर्घकालीन हैं, इसलिए घाटे के राजस्व से उत्पादन में तात्कालिक वृद्धि सम्भावना नहीं है। फलस्वरूप मूल्य ऊँचे बढ़ जायेंगे।

(६) भारतीय पूँजी अपर्याप्त है और विदेशी पूँजी भी यथेष्ट उपलब्ध नहीं है। ऐसी परिस्थिति में घाटे के राजस्वन की नीति को असफल बना देगी।

पिछली अवधि में जो अत्यधिक घाटा (Heavy Deficit) रहा उसमें कुछ चिन्ता अवश्य हुई, किन्तु सौभाग्य से कोई गम्भीर स्थिति न हुई, क्योंकि सरकार के पास रोकड़ प्रसाधन (Cash Balance) थे, जिनमें से बजट का घाटा पूरा हो सकता था, किन्तु सन् १९५३-५४ में परिस्थिति बदल गई और १४१ करोड़ रुपये का घाटा सारे ही रोकड़ प्रसाधन को निगल गया और फिर भी ६० करोड़ रुपया शेष रहा।

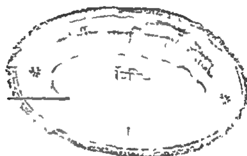
इन दोषों को दूर करने के लिये उपयुक्त उपाय करना चाहिए। डाक्टर वी० के० आर० वी० राव ने निम्नलिखित सुझाव दिये हैं —

(१) घाटे के राजस्वन की रकम जितनी कम हो उतनी ही अच्छी है।
(२) घाटे के राजस्वन को व्यर्थ कार्यों में न लगाया जाय, जैसा कि प्राय किया जाता है।
(३) आयात पर कन्ट्रोल जारी रखा जाय।
(४) व्यापारियों के लिये लाइसेन्स दिये जाया करें और उनसे विभिन्न वस्तुओं के रिटर्न (Returns) भरवा कर मगाये जायें।
(५) रिजर्व बैंक साख नियन्त्रण की प्रभावपूर्ण नीति अपनाये।
(६) विनियोग मौलिक (Basic) आवश्यकताओं की सप्लाई में लगाये जायें और वे शीघ्र और अधिक फल देने वाले हों।
(७) सप्लाई और वितरण का सगठन एक निश्चित मूल्य पर किया जाय।
(८) अधिक लाभों पर विशेष कर लगाये जायें।
(९) छोटी-छोटी बचतों को प्रोत्साहित किया जाय।
(१०) कन्ट्रोल सम्बन्धी एक दृढ़ और स्पष्ट नीति है।

निष्कर्ष—

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कोई भी आर्थिक नीति अपनाई जाय, कुछ उसमें कोई बुराई अवश्य है। इसके लाभ होते हैं और दोष भी। उसके दोष दूर करना और लाभ उठाना ही सम्बन्धित अधिकारियों का कार्य है। यह सच ही कहा गया है कि आर्थिक प्रबन्धों में ऐसा कोई जादू नहीं होता जो मनुष्य जाति को उसके राजनैतिक और आर्थिक दोषों से मुक्त रखे। आज विश्व के सामने चीन और भारत के व्यावहारिक उदाहरण मौजूद हैं। बीसवीं शताब्दी में योरोपियन देशों को घाटे के राजस्वन के कठोर अनुभव हुए हैं, किन्तु यह उनकी दुर्बल द्राव्यिक नीति (Monetary Policy) का परिणाम था। यह याद रखना चाहिए कि घाटे के राजस्वन का कार्य क्रम विनियोग प्रोत्साहित करने में अवश्य ही सफल होगा। भले ही व्यापारिक वर्ग उसे अवाञ्छनीय समझे, क्योंकि अनुचित भय स्वत. मर जाता है। निश्चय ही यह एक अद्भुत बात है कि एक ही समय विश्व के इतिहास में दो बड़े राष्ट्र (चीन और

भारत), जिनका भूतकाल अंधकार पूर्ण है और भविष्य कटीला है, अपनी अर्थ-व्यवस्था को सुधारने का प्रयत्न कर रहे हैं। इनके प्रयोग बड़े महत्त्व के हैं। ये प्रयोग दो गरीब जनताओं के आर्थिक नव निर्माण के लिये किये जाने वाले प्रयत्न मात्र ही नहीं, अपितु दो विभिन्न विचारधाराओं के प्रयोग हैं—एक साम्यवादी है तो दूसरा जनतंत्री, अतः अविकसित देशों की निगाहें इन देशों के प्रयत्नों की ओर लगी हुई हैं।



[३९]

भूदान यज्ञ

रूपरेखा

१. *प्रारम्भिक*—आजादी के पिछले ९ साल के अनुभव से यह साबित हो गया है कि सरकार देश के दुःख घटाने के बजाय बढ़ाने का ही कारण बनती है। विदेशी पूँजी, विदेशी सामान, विदेशी अफसरों का सहारा लेकर उसने परिस्थिति को तंग बना दिया है। दूसरी तरफ जनता है, उसकी ताकत है, जिसके पनपने में देर लगती है। पिछले ९ साल की घटनाओं से सिद्ध हो गया है कि जनता की ताकत का अँकुर फूट निकला और विनोबा का भूदान यज्ञ उसका पहला और गहरा निशान है।

२. *यज्ञ का श्री गणेश*—गरीब और अमीर का भेद सारे हिन्दुस्तान में है, लेकिन वह हैदराबाद की रियासत में इतना चमकता है। हैदराबाद के अन्दर तेलंगाने के लोग सबसे दुखी। जमींदारों के पास २०-२० हजार एकड़ जमीन है और मजदूरों के पास रत्ती भर भी नहीं। कम्यूनिस्टों ने इस विषमता का लाभ उठाना चाहा। स्वतन्त्र सरकार की सहायता से इन लोगों को कुचलने का प्रयत्न किया गया। काफी जान माल का नुकसान हुआ। ऐसी हालत में सन्त विनोबा इस क्षेत्र में कूद पड़े। लोगों ने उनसे जमीन दिलाने की प्रार्थना की। कुछ लोग जमीन देने को तैयार हो गये। इससे प्रेरणा लेकर बाबा ने भूदान यज्ञ का शङ्ख बजा दिया।

३. *भूदान यज्ञ के उद्देश्य*—देश के आजाद होने से देश का दुखड़ा कम नहीं हुआ। सुखिया जरूर पहले से ज्यादा सुखी है और दुखिया पहिले से ज्यादा दुखी। इस रोग की जड़ यह है कि हम सब बटोरने में लगे हैं, अतः बाबा ने यज्ञ का आयोजन किया। आज समाज में पैसे का बोलबाला है। समाज का ढाँचा बैर और मुकाबले के आधार पर खड़ा किया गया है। बाबा इस आधार को ही बदलना चाहते हैं। बटोरने के स्थान पर बाँटने का रिवाज डालना चाहते हैं।

४. *भूदान यात्रा*—११ सितम्बर सन् १९५१ को बाबा अपनी भूदान यात्रा पर निकले। रास्ते में गाँव-गाँव जमीन माँगते गये। जहाँ-जहाँ वे गये, वहाँ-वहाँ उनको बड़ी सफलता प्राप्त हुई।

५. *निष्कर्ष*—भूदान यज्ञ वह मार्ग है जिस पर चलकर हम समाजवादी समाज, राम राज्य या खुदाई हुकूमत की कल्पना साकार कर सकते हैं।

प्रारम्भिक—

"शहरों और कस्बों से अलग उसके ७ लाख गांवों की दृष्टि से हिन्दुस्तान की सामाजिक, नैतिक और आर्थिक आजादी अभी हासिल करना बाकी है। लोकशाही के उद्देश्य की तरफ भारत जब बढ़ेगा तब उस बीच फौजी ताकत और सिविल ताकत में एक दूसरे पर प्रमुख जमाने के लिये संघर्ष होना आवश्यक है।"* बापू की की यह बात १६ आना सच्ची उतर रही है। भारत सरकार अपनी सेना, पुलिस, अफसरों और पैसे के द्वारा देश को एक विशेष दिशा में ले जाना चाहते हैं। पिछले ६ साल के अनुभव से यह सिद्ध हो गया है कि इस तरह करने में सरकार देश के दुःख घटाने के बजाय बढ़ाने का ही कारण बनती है और विदेशी पूँजी, विदेशी सामान, विदेशी अक्ल वालों का सहारा लेकर उसने दशा को केवल तंग ही नहीं बनाया बल्कि जाने या अनजाने देश को ऐसे फंदे में जकड़वा दिया है, जिससे निकलना कोई आसान नहीं। दूसरी तरफ जनता है या उसकी सिविल ताकत है, किन्तु इसने कोई ऐसी ठोस शकल नहीं ली थी, जो सरकार के केन्द्रीयकरण और पूँजीशाही नीति का मुकाबला कर अपनी बात मनवा सके। वैसे भी सिविल ताकत को पनपने में देर लगती है। जिस तरह चाय और कोकाकोला के मुकाबले में खादी के प्रचार में देर लगती है, लेकिन पिछले २ साल की घटनाओं से यह सिद्ध हो गया है और विनोबा का भूदान यज्ञ उसका पहला और दूसरा आलीशान निशान है।

यज्ञ का श्री गणेश—

हिन्दुस्तान ही नहीं सारी दुनियां में एक दौड़ चली है, एक होड़ मची है और हर कोई इस प्रयास में है कि इस खींचातानी में मैं आगे बढ़ जाऊं और सब बटोर कर रख लूं। जो आगे लपक गये वे धनी कहलाते हैं और जो पीछे रह गये वे निर्धन। कुछ बीच में रहे जो न ज्यादा गरीब हैं न अमीर। समाज का ढाँचा कुछ ऐसा है कि जो आगे पहुँच जाते हैं वे मालिक बनते हैं, कानून बनाते हैं और शासन करते हैं। इस तरह समाज में तरह-तरह के वर्ग बन जाते हैं और आपस में भेद और ऊँच-नीच की तह पर तह पड़ती है। भारत में भी यह भेद या असमानता विशाल रूप में मौजूद है, लेकिन हैदराबाद रियासत में इतनी साफ चमकती है, जैसे पीठ पर फोड़ा। शहर हैदराबाद की रौनक देखने पर मुँह में पानी भर आता है, लेकिन जरा दो मील दूर जाकर देखें तो हालत एकदम दूसरी। जहाँ हैदराबाद में कई मंजिल वाले ऊँचे मकान वहाँ छाई फूस कच्ची झोंपड़ियाँ जहाँ सूट बूट शेरवानी डटे मोटर में घूमने वाले उमराव वहाँ फटे चीथड़े पहने पैदल घिसटने वाले नंगे, भूखे, दुःखी—मानो हैदराबाद रियासत की जनता के खून को निकालकर हैदराबाद के जगमगाते शहर रूपी मेम की नसों में बरबस भरकर उसे मोटा ताजा बना दिया गया है।

हैदराबाद रियासत के अन्दर सबसे अधिक दुखी लोग उसके पूर्वी भाग के हैं जो तेलँगाना के नाम से पुकारा जाता है। यहाँ के जमींदार बीस-बीस हजार एकड़ जमीन के

* Mahatma Gandhi

मालिक थे, जबकि वहाँ के मजदूर किसानों के पास एक रत्ती भर भी नहीं। इस अन्याय से लोग बेहाल थे। लगभग १५ वर्ष हुए समाजवादी या कम्यूनिस्ट विचारधारा वाले उनके बीच पहुँचे और उन्होंने पीड़ितों में आग भड़कानी आरम्भ की। उन्होंने कहा कि इस अन्याय के लिए ईश्वर जिम्मेदार नहीं, बल्कि ये जमींदार हैं, जो सीधी तरह मानने वाले नहीं। अंग्रेजी राज्य के चले जाने के बाद जब हैदराबाद रियासत और स्वतन्त्र भारत के बीच जब खींचतान चली तब कम्यूनिस्टों ने अपने कार्यक्रम को और भी तेज कर दिया। उन्होंने गाँव के गाँव की जमीनें किसानों में बाँट दीं। वहाँ के जमींदार या तो मार डाले गये या भाग गये। ऐसा लगने लगा मानो तेलँगाने में न तो हैदराबाद सरकार के हाकिमों का राज्य है और न दिल्ली सरकार का। जब हैदराबाद के निजाम और नई दिल्ली की सरकार में बाकायदा सम्बन्ध हो गया तो हैदराबाद शासन ने नई दिल्ली की सरकार की मदद से कम्यूनिस्टों से मोर्चा लेने की ठानी। इसमें सरकार ने करीब ५ करोड़ रु० का खर्चा किया। कम्यूनिस्टों ने काफी जान-माल का नुकसान उठाया। जमींदारों की तो अक्ल ही गुम हो गई और किसानों के पल्ले भी कुछ नहीं पड़ा। ऐसा लगता था कि अब कोई सूरत ही नहीं है। ऐसी हालत में ऐसी आग में जो कोई बुझा नहीं पाता था, जो हाथ डालता उससे आग और भड़कती ही थी, वही महात्मा गाँधी के चुने हुए हिन्दुस्तान के पहले सत्याग्रही सन्त विनोबा (जो 'बाबा' के नाम से विख्यात हैं) आगे आये। बाबा ८ मार्च सन् १९५१ को वर्धा के निकट स्थित अपने आश्रम से पैदल चल पड़े और ९ अप्रैल को हैदराबाद पहुँचे। १५ अप्रैल को रामनवमी के दिन बाबा तेलँगाने के लिए निकले। जब वे पोचमपल्ली गाँव में पहुँचे तो वहाँ के लोगों ने अपने बाबा को दर्दभरी कहानी सुनाई। बाबा से हरिजनों ने कहा कि अगर हमें आप कुछ जमीन दिलादें तो फायदा हो जाय। बाबा ने पूछा कि कितनी जमीन से काम चलेगा। तो बोले अस्सी एकड़। बाबा जरा देर शान्त रहे। फिर बोले क्या आप जो गाँव के लोग यहाँ मौजूद हैं वह कुछ मदद नहीं दे सकते हैं। ईश्वर का एक बन्दा खड़ा हुआ और कहने लगा मैं जमीन देने को तैयार हूँ। मैं सौ एकड़ जमीन देता हूँ। सब लोग दंग रह गये। बाबा ने कहा क्या सचमुच आप जमीन देना चाहते हैं। जोरदार आवाज के साथ वह दाता बोला मैं सौ एकड़ जरूर दूँगा और अगर आप लोगों को इत्मीनान न हो तो लिखकर देने को तैयार हूँ। शाम को प्रार्थना में बाबा ने उस दान का एलान किया। रात भर उन्हें नींद नहीं आई। राम भजन में सारी रात बिताई। वह समझ गए कि इस काम में ईश्वर का इशारा है। वह उनसे यह काम कराना चाहता है। दूसरे दिन जिस गाँव में बाबा पहुँचे वहाँ भी उन्होंने जमीन माँगी। एक दाता वहाँ भी तैयार हो गया। बाबा का विश्वास पक्का हो गया। तीसरे दिन उन्होंने भूदान यज्ञ का शंख जोरों से बजाया और तब से उनकी यह भूदान यज्ञ की पैदल यात्रा लगातार चल रही है। इस प्रकार भूदान यज्ञ का श्री गणेश हुआ।

भूदान यज्ञ का उद्देश्य—

तीस बरस पहले की बात है जबकि देश की हालत बहुत दुखभरी थी। उसकी झलक देते हुए महात्मा गाँधी ने लिखा था, सबसे बड़ी बदकिस्मती की बात जो मुझे महसूस होती है वह यह है कि हमारे अनगिनती भाई बहनों की जान धीरे-धीरे सिसक कर निकलती है। उनको लाजमी तौर पर हमेशा ही फाका कशी करनी पड़ती है और जब कभी चावल के दानों से वह अपना फाका तोड़ते हैं तो ऐसा लगता है कि मानो हमारे जैसे रहने का मजाक उड़ा रहे हों।"* आज हम पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हैं। हमारा झण्डा देश विदेश में शान से लहराता है, लेकिन क्या देश का दुखड़ा कम हुआ? नहीं, हालत पहले से अधिक बिगड़ गई है। दुखिया पहले से अधिक दुखी हैं। हाँ, सुखिया पहले से अधिक सुखी हैं। परिणामतः दोनों के बीच की खाई और भी चौड़ी हो गई है। करोड़ों रुपया खर्च हो रहा है, परन्तु काम नहीं निकलता। हालत ठीक होने के बजाय मर्ज बढ़ता गया, ज्यों ज्यों दवा की, वाली कहावत चरितार्थ हो रही है।

इस मुसीबत की जड़ क्या है? इसका कारण क्या है? गहराई से देखें तो पता चलेगा कि कारण एक है—हम सब बटोरने में लगे हैं। जितना भी अपने पास हो उतना ही थोड़ा। न पड़ोसी के दुख में शामिल होते हैं और न अपने सुख में किसी को पूछते हैं। सन्त विनोबा ने रोग की इस जड़ को पकड़ लिया। उन्होंने देखा कि समाज में आज पैसे का बोल-बाला है। समाज का ढाँचा वैर और मुकाबिले के आधार पर खड़ा किया गया है। बाबा इस आधार को ही बदलना चाहते हैं। वह समाज का ढाँचा प्रेम और सहयोग पर खड़ा करना चाहते हैं। बटोरने की जगह बाँटने का रिवाज डालना चाहते हैं। अपरिग्रह की चाह पैदा करना चाहते हैं। बटोरने या परिग्रह का काम व्यक्ति न करके समाज या गाँव करेगा। वस्तुओं पर स्वामित्व व्यक्ति का न हो कर समाज या गाँव का होगा। ऐसा करने पर समाज का ढाँचा बदलेगा। देश का नक्शा बदलेगा। नया देश बनेगा, नया समाज और नया इन्सान बनेगा। इस प्रकार भूदान का असली उद्देश्य समाज में क्रान्ति करना है। भूदान-यज्ञ कोई दया का काम नहीं। दया यों तो आज समाज में बहुत चलती है। भिखारी को भीख, गरीब को पैसा या कपड़ा, भूखे को रोटी आज भी दी जाती है, लेकिन इस देने से न समाज में भिखमङ्गापन कम होता है, न गरीबी मिटती है और न दुखिया की भूख शान्त होती है।

भूदान यज्ञ के रूप—

"पुराने जमाने में जब भी कोई संकट देश में आता था, तो हमारे पुरखा लोग यज्ञ किया करते थे। मैं भी इसलिए एक यज्ञ करना चाहता हूँ और मैंने यह भूमि-दान यज्ञ शुरु कर दिया है। मैं लोगों से कहता हूँ कि अपनी जमीनें दान में दीजिये। हर एक को चाहिए कि इस यज्ञ में शामिल हों, क्योंकि वह सबकी अच्छाई के लिए है। हवन या यज्ञ में लोग कुछ न कुछ चढ़ाते हैं। इसी तरह इस यज्ञ में जमीन दान देना

---

* यंग इण्डिया।

चाहिए।" दूसरे यज्ञ में लकड़ी और घी जलाते थे। पर आज लकड़ी कहाँ है—उल्टे, जंगल बसाने की जरूरत है। आज घी जलाने को कहाँ है—अच्छा घी देखने तक को नहीं मिलता, लेकिन जब तक दिल में प्रेम नहीं, तब तक यज्ञ में कुछ भी जलावें बेकार है। अन्दर का मैल नहीं जायगा, इसलिए बाबा सबसे प्यारी चीज माँगते हैं—जमीन। जब जमीन एक हाथ से दूसरे हाथ में जायेगी तो पाने वाले को भी खुशी होगी और देने वाले के घर पर बरकत होगी। जिनके पास जमीन नहीं है, पैसा है, बाबा उससे पैसा माँगते हैं। कहते हैं कि घर में हर माह जो खर्च होता है उसका छठा हिस्सा अलग निकाल कर रख दो और दरिद्र नारायण की खातिर उसे खर्च करो। इस को वह सम्पत्ति दान यज्ञ कहते हैं। जिनके पास न जमीन है न पैसा, पर हाड़-मांस में मेहनत करने की ताकत है उनसे वह कहते हैं कि दूसरों की खातिर अपने बदन से श्रम या मेहनत करके दो। किसी की जमीन गोड़ना है, किसी का खेत जोतना है—जो बन पड़े वह मेहनत की जाये। इसे वह कहते हैं श्रमदान यज्ञ। जिनके पास न जमीन है, न पैसा न देह मे ताकत, जैसे—वकील, मास्टर, डाक्टर इत्यादि, वह क्या करें। उनके पास बुद्धि है। वह अपनी बुद्धि कुछ समय रोज गरीबों के हित में खर्च करें—मास्टर मुफ्त पढ़ाने का काम करे, वकील गरीबों के मुकद्दमे मुफ्त करे, डाक्टर गरीबों की दवा मुफ्त करे। इसे वह कहते हैं बुद्धिदान यज्ञ।

जिनके पास यह चारों चीजें न हों—एक दम अपाहिज, लाचार हो—वह क्या करें। बाबा कहते हैं कि उनके पास कुछ न हो पर भगवान का सबसे बड़ा उपहार तो उनके पास है ही—दिल। उनके अन्दर प्रेम का भण्डार है। वह हर कहीं प्रेम बाँटा करें, प्रेम की बात बोला करें, प्रेम का प्रचार करें। इसे वह कहते हैं प्रेमदान यज्ञ।

इन यज्ञों से बाबा सबको पाँच बात का ज्ञान कराना चाहते हैं:—

(१) सभी इन्सान उसी मालिक के बन्दे हैं। सभी में उसी का नूर है। इनमें भेद करना गलत। हमें एक दूसरे की सेवा के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए।

(२) जमीन या सम्पत्ति पर स्वामित्व किसी एक आदमी का नहीं हो सकता। इसका मालिक केवल भगवान हो सकता है। यह कोई नई बात नहीं। 'सबै भूमि गोपाल की'—सदियों से कहा जाता है, और गोस्वामी तुलसीदास जी भी कह गये हैं—'सम्पत्ति सब रघुपति की आही।' क्या भूमि, क्या सम्पति, यह सब है आलम के उस करतार की-सिरजन-हार की।

(३) जो रोटी खाये वह रोटी पैदा करे, अर्थात् हर किसी को अपने बदन से थोडी बहुत देर ऐसी मेहनत जरूर करनी चाहिए जिससे कि खाने-कपडे या दूसरी बुनियादी जरूरतों की चीजें तैयार हो सकें। जैसा नहाना हर कोई धर्म समझता है, वैसे शरीर से मेहनत करना भी धर्म समझा जाये। शरीर की मेहनत के काम और दिमाग के काम में फर्क करना।

(४) अपने पास जो भी हो, थोड़ा हो या ज्यादा, उसमें से कुछ हिस्सा छठा या जितना हो सके, अपने भूखे पडोसी के लिए हमेशा रख देना चाहिए।

(५) मेहनत करने वाले को मेहनत के साधन मिलने चाहिए, जैसे—नाई को उस्तरा और दर्जी को सुई मिलनी चाहिए वैसे कास्तकार को जमीन मिलनी चाहिए। जैसे नाई को सुई और दर्जी को उस्तरा दे देना गलत है, उसी तरह हल नहीं छूने वाले जमींदार के पास जमीन रहना गलत। पैदावार का सहारा पैदावार करने वाले को मिलना चाहिए।

भूदान यात्रा—

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि भूदान यज्ञ का श्री गणेश तेलंगाना में हुआ। २७ जून सन् १९५१ को वह अपने परम धाम आश्रम वापिस आ गये। फिर ११ सितम्बर सन् १९५१ को दिल्ली के लिये निकले। रास्ते में गांव-गांव जमीन माँगते गये। उनका यही कहना था :—"आपके पाँच बच्चे हैं तो छठा मुझे समझिये और मेरा हिस्सा मेरे हवाले कीजिये।" वह समझते थे कि आज हमारे देश का सबसे बड़ा सवाल उन लाखों करोड़ों का है जिनको दो वक्त खाना भी नसीब नहीं होता। यह सवाल है उखड़े हुए इंसानी समाज का। इसके पैदा होने की वजह है हमारे देहाती संगठन या अर्थनीति का बरबाद हो जाना, जिसका आधार ग्रामोद्योग और स्वावलम्बन पर था। हमारे गाँवों की बढ़ती हुई दरिद्रता एक चिन्ता का विषय है और चार बरस के स्वराज्य के बावजूद इसमें रत्ती भर फर्क नहीं पड़ सका है।

दरिद्रनारायण के प्रतिनिधि बनकर बाबा अपना हक माँगते हैं :—"मैं हाथ जोड़ कर आपसे विनती करता हूँ कि मेरा मकसद पूरा कीजिये। मैं जमीन अपनी खातिर नहीं माँग रहा हूँ। जिनकी तरफ से मैं आया हूँ वह बोल नहीं सकते। न अपना मतलब ही जाहिर कर सकते हैं। मैं चाहता हूँ कि रामबाण की तरह मेरे शब्द आपके दिल पर असर करें"। ध्यान रहे कि जमीन दान देना किसी पर अहसान करना नहीं है। जमीन दान देना धर्म है, अपना पवित्र कर्त्तव्य है।

बाबा कहते हैं :—"मैं यह नहीं कहूँगा कि जमींदारों के पास जो जमीन है वह उन्होंने गलत तरीकों से हासिल की है, लेकिन समय आ गया है जब जमींदार लोग बेजमीन वालों के अधिकार को महसूस करें और उनके सही दावे को स्वीकार करें। उन्हें चाहिये कि बेजमीन वालों का जो हिस्सा है वह खुशी-खुशी दे डालें।"

तारीख २ अक्टूबर सन् १९५१ को बाबा मध्य-प्रदेश के सागर नाम के नगर में थे। उन्होंने वहाँ ऐलान किया :—'यद्यपि मेरी भूख बहुत कम है। तथापि दरिद्र नारायण की भूख बहुत ज्यादा है, इसलिये जब मुझसे पूछते हैं कि आपका आँकड़ा क्या है, कितनी जमीन आपको चाहिये तो मैं जवाब देता हूँ पाँच करोड़ एकड़! जो जमीन जेरेकाश्त है, उसी की मैं बात कर रहा हूँ। अगर परिवार में पाँच भाई हैं तो एक और छठवाँ मुझे मान लीजिये। चार हो तो पाँचवा। इस तरह कुल जेरेकाश्त जमीन का यह पाँचवा या छठवाँ हिस्सा होता है।'

मध्य-प्रदेश, विन्ध्य प्रदेश, मध्य भारत, राजस्थान और उत्तर-प्रदेश के कुछ जिलों में घूमते हुए बाबा १३ नवम्बर को दिल्ली पहुँचे। इन बासठ दिन में उन्हें १८,४३६

एकड़ जमीन मिली। इसी बीच पहली नवम्बर को वह मथुरा में थे। वहाँ पर उत्तर-प्रदेश के कार्यकर्ताओं ने जमा होकर पाँच लाख एकड़ जमीन जमा करने का संकल्प किया। दिल्ली में बाबा राजघाट में महात्मा गाँधी की समाधि के पास एक कुटिया में ठहरे। ग्यारह दिन वहाँ रहने के बाद २१ नवम्बर को बाबा दिल्ली से चल दिये और उत्तर-प्रदेश की यात्रा करने की ठानी।

अलमोड़ा, गढ़वाल और नैनीताल जिलों को छोड़कर २२ नवम्बर सन् १९५१ से ३ जुलाई सन् १९५२ तक उन्होंने उत्तर-प्रदेश के बाकी ४८ जिलों की पद यात्रा की। फिर बरसात की वजह से १३ सितम्बर तक काशी में रहे। उत्तर-प्रदेश में उन्होंने २४७ जगह पड़ाव डाला, ३,०५० मील चले और २,९५,०२८ एकड़ जमीन पाई। इसके अलावा २३१ कुएँ, ३४ बैल-जोड़ी आदि का दान भी मिला। २६ मई सन् १९५२ को हमीरपुर जिले के मगरौठ गाँव के सारे काश्तकारों ने अपनी कुल जमीन भूदान यज्ञ में दे दी। इसी अरसे में बनारस जिले के सकलडीहा गाँव के पास जहाँ सेवापुरी आश्रम है वहां १३, १४, १५ अप्रैल सन् १९५२ को सर्वोदय सम्मेलन हुआ। उसमें देश भर के रचनात्मक काम करने वालों ने तय किया कि दो साल के अन्दर कम से कम पच्चीस लाख एकड़ जमीन हासिल करेंगे। इसके बाद देश के कई हिस्सों में भूदान यज्ञ का काम, जो पिछले एक वर्ष से बाबा अकेले ही कर रहे थे, शुरू हो गया।

उत्तर-प्रदेश में यात्रा करते समय जब बाबा लखनऊ पहुँचे तो उस दिन वैशाखी पूर्णिमा भगवान बुद्ध की जन्म तिथि थी। बाबा ने अपने प्रार्थना प्रवचन में उस दिन कहा—"भूमि की समस्या आज दुनिया की समस्या है। मैं आपसे आग्रह करना चाहता हूँ कि इसे आपको हल करना होगा। उसके हल के लिए मैं आपको यह धर्म विचार दे रहा हूँ। मैं आपसे भिक्षा माँगने नहीं आया हूँ। दरिद्र नारायण के प्रतिनिधि के नाते में आपको दीक्षा देने आया हूँ। मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि जो काम भगवान बुद्ध के द्वारा परमेश्वर करवाना चाहता था, वह काम इन कमजोर कन्धों से भगवान लेना चाहता है और यह काम भी धर्म चक्र प्रवर्तन का काम है, इसलिए मैं जहाँ जाता हूँ, मानो सिंह गर्जना-सी करता रहता हूँ। जमीन तो अब लोगों के हाथों पहुँच गई। किस तरीके से यह हस्तान्तर हो। घी के डिब्बे को आग लगाकर या यज्ञ के रूप में घी की आहुति देकर, यह अब आपको सोचना है।" "आज भारत में मनुष्य के भीतर का 'रघुनाथ' जाग रहा है। हम उस निष्ठा से अपना विचार मुल्क में फैलायेंगे, जैसे भगवान बुद्ध ने फैलाया था और जैसे प्रेम की शक्ति का आधार लेकर वह बाहर गये थे, हम भी इस धर्म चक्र प्रवर्तन में उसी तरह से लग जायेंगे।"

इस तरह धर्म-चक्र प्रवर्तन फैलने लगा। १४ सितम्बर सन् १९५२ को बाबा ने बिहार की धर्ती पर—बुद्ध और महावीर का बिहार, राजा जनक का बिहार, जहाँ महात्मा गाँधी को अहिंसा देवी का साक्षात्कार हुआ—उस बिहार की धर्ती पर बाबा ने कदम रखा। बिहार में उनकी यात्रा ३१ दिसम्बर सन् १९५४ तक चली। बिहार में उन्होंने बरसात में भी यात्रा जारी रखी। बाबा मान भूमि जिले के चाँदिल नामक

स्थान पर रहे। वहीं सर्वोदय सम्मेलन हुआ। उसमें श्री जयप्रकाश नारायण ने ऐलान किया—"स्वराज्य के बाद हमारे दिलों में जो निराशा पैदा हो गई थी वह विनोबा जी के इस यज्ञ ने दूर कर दी। हमारे पुराने साथी जिनके हाथ में सत्ता आई थी, उनके सामने भी यह सवाल थे ही कि किस तरह शोषण, विषमता और दरिद्र का अन्त हो, सब लोग सुखी हों, लेकिन इसका जवाब उनको नहीं मिला था, इसलिए देश में अन्धेरा छाया हुआ था और वह फैल रहा था। इतने में ही इस यज्ञ का प्रकाश सामने आया। जैसे-जैसे यह प्रकाश बढ़ता गया, वैसे-वैसे बादल छूटते गये। आज सबने मान लिया है कि धरती सबकी माता है और उस पर सबका समान अधिकार है। धरती से जो जीविका पैदा करता है, उसका उस पर पहला अधिकार है। यह एक मानसिक क्रांति पिछले दो वर्षों में हुई है। इस मानसिक क्रान्ति को अमल में लाना, उसे वास्तविक रूप देना, इस काम को पूरा करना—यह सब हमारे सामने है।"

बिहार यात्रा में ही बाबा ने सम्पत्ति दान यज्ञ का विचार देश के आगे रखा। इस तरह भूदान-यज्ञ की गंगा बहती चली और सम्पत्तिदान यज्ञ, श्रमदान यज्ञ, बुद्धिदान यज्ञ, प्रेमदान यज्ञ, साधन दान यज्ञ, कूपदान यज्ञ की धारायें उसमें आकर मिलने लगीं। अप्रैल सन् १९५४ में जीवन दान यज्ञ की जमुना भी आ मिली। यह अनोखी घटना सर्वोदय सम्मेलन के मौके पर २० अप्रैल सन् १९५४ को हुई। १८ अप्रैल को सम्मेलन शुरू हुआ। १९ अप्रैल को सम्मेलन में स्पीच देते हुए श्री जयप्रकाश नरायन ने कहा—"भूदान यज्ञ का यह एक ऐसा आन्दोलन है जिसमें एक साल या पाँच साल देने से ही काम नहीं चलेगा। इसमें तो जीवन दान ही देना होगा। ऐसे जीवनदानी कार्यकर्त्ताओं का आवाहन इस सम्मेलन से होना चाहिए। मैं ऐसे कार्यकर्त्ताओं को आवाहन करता हूँ।" दूसरे दिन सुबह को बाबा ने उनको चिट्ठी भेजी।

जयप्रकाश नरायन ने वह चिट्ठी अपनी एक निजी चिट्ठी के साथ सम्मेलन की सदर श्रीमती आशादेवी आर्यनायकम् को भेज दी। आशादेवी ने ये चिट्ठियाँ पढ़कर सुनाईं। जयप्रकाश नरायन की चिट्ठी यह थी, "बाबा का एक पत्र आया है, जो साथ भेज रहा हूँ, जिन्होंने हम सबको प्रेरित किया है, वही मुझ जैसे नाचीज को जीवन दान करें, इस पर कुछ कहा नहीं जाता। इतना ही कहूँगा कि इस अमूल्य दान को स्वीकार कर सकूँ, इसके लिये सर्वथा अयोग्य हूँ। हमें तो जीवनदान, भगवान के नाम पर बाबा को ही करना है।"

'श्री जयप्रकाश,

कल आपने जो आवाहन किया था, उसके जवाब में—

भूदान-यज्ञ-मूलक, ग्रामोद्योग प्रधान अहिंसक-क्रांति के लिये मेरा जीवन समर्पण।

सर्वोदयपुरी

२०-४-५४।

—विनोबा'

सुनने वाले दंग रह गये। सम्मेलन की हवा ही मानों बदल गई। जीवन दान यज्ञ की जो जमुना बहना शुरू हुई तो कोई ठिकाना नहीं था। करीब २०० भाई-बहनों ने अपने नाम दिये।

सम्मेलन के बाद से बाबा की यात्रा फिर शुरू हो गई। बरसात के जमाने में बाबा ने मुजफ्फरपुर, दरभंगा और सहरसा जिलों का दौरा किया जहाँ बहुत भयानक बाढ़ आई हुई थी। कमर-कमर और सीने-सीने तक पानी के होते हुए वह गाँव-गाँव घूमे और कहा—"बाढ़ से तो यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि सब भूमि गोपाल की है। अब तो मैं पूरे गाँव के गाँव चाहता हूँ। अगर कुल गाँव एक परिवार बन जाता है तो यह बाढ़ का संकट एक वरदान के रूप में बदल जायेगा और आप सब आनन्द का जीवन बिता सकेंगे।"

अपना हक माँगते वह बढ़ते चले आते थे। अगर कोई दाता अपनी हस्ती के लायक जमीन नहीं देता था तो इन्कार कर देते थे। एक गाँव में एक परिवार के पास दो हजार बीघा जमीन थी। उसने ६० बीघा जमीन दी। बाबा ने दान पत्र वापिस कर दिया। रात को उस घर के चार भाई मिलने आये। बाबा से जब बातचीत की। आखिर बाबा का हक कबूल किया और अपना छठा हिस्सा देना तय किया। यह भी वायदा किया कि हमारे हिस्से में अच्छी और पड़ती दोनों तरह की जमीन है। पर जो पड़ती जमीन देंगे वह तुड़वा कर देंगे।

पहली जनवरी को बाबा ने बंगाल की वैष्णव भूमि में कदम रखा। वहाँ उन्होंने २१ दिन तक बाँकुड़ा और मेदनीपुर जिलों की यात्रा की। २६ जनवरी सन् १९५५ को बाबा ने उड़ीसा में प्रवेश किया। पहले ही दिन उन्होंने कहा—"हमें पूरा विश्वास है कि अब जबकि भूदान यज्ञ की धारा पौने बहते-बहते चार साल में यहाँ आ पहुँची है, तो जैसे सागर के नजदीक यहाँ की महानदी विशाल हुई, वैसे यह धारा भी विशाल होगी। हमने सुना है कि मुकुन्द देव ने कोशिश की थी कि गंगा का प्रवाह यहाँ आये। शायद उनको यश नहीं मिला था, लेकिन आपको अब यश मिलेगा। यह भूदान यज्ञ की धारा गंगा धारा है। समुद्र में, जन-समुद्र में पूरी तरह से इसे विलीन कर दें।" शाम को प्रार्थना में उन्होंने उन्हें एक लाख बाईस हजार एकड़ भूमि भेंट में दी गई और ११ गाँव पूरे के पूरे मिले। २ फरवरी को उन्हें २२ गाँव, जो एक दूसरे के आस-पास हैं—समूचे मिले।

इस समय तक सारे देश में लगभग सैंतीस लाख एकड़ जमीन मिल चुकी है, जिसमें से कोई डेढ़ लाख एकड़ बट चुकी है। अब बँटवारे का काम भी जोरों से चल रहा है। इस तरह भूदान यज्ञ की गंगा लगातार बहती चली आ रही है और अब छटपटा रही है महासागर में समा जाने के लिये।

निष्कर्ष—

आज भारत स्वतन्त्र है। स्वतन्त्र भारत की मंजिल लोकवादी समाज की स्थापना है, वही लोकशाही वाली मंजिल, जिसे राम राज्य या खुदाई हुकूमत या किंगडम ऑफ गॉड कहा जाता है और उस पर पहुँचने का रास्ता है—प्रेम, उद्योग, स्वावलम्बन और विकेन्द्रीयकरण। भूदान यज्ञ आन्दोलन की उक्त सफलता से यह प्रगट हो गया है कि इस रास्ते की अपील जनता के दिल में लगातार घर करती जा रही है।

---

[४०]

पंच-वर्षीय योजना

रूप रेखा—

१. *प्रारम्भिक*—योजना का अर्थ है किसी उद्देश्य से कार्य करना तथा चुनाव करना और चुनाव ही आर्थिक क्रियाओं का सार है। आज संसार के सभी राष्ट्र अपनी उन्नति चाहते हैं। इसके लिए वे विभिन्न योजनायें बना रहे हैं। भारत में योजना की बड़ी आवश्यकता है।

२. *भारत में आर्थिक योजनाओं का इतिहास*—सर्व प्रथम सन् १६१६ में औद्योगिक कमीशन ने योजनाबद्ध कार्य करने पर जोर दिया। सन् १६३१ में कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन में आर्थिक योजनाओं से सम्बन्धित प्रस्ताव पास किया गया। सन् १६३८ में १२ सदस्यों की एक राष्ट्रीय योजना बनाई गई। विभिन्न प्रान्तीय सरकारों ने और विभिन्न दलों ने अपनी अपनी योजनाएँ बनाईं। सन् १६५० में भारत सरकार ने एक योजना कमीशन बनाया, जिसने एक पंच वर्षीय योजना तैयार की।

३. *प्रथम पंच-वर्षीय योजना*—योजना का उद्देश्य ऐसी प्रणाली का निर्माण करना है, जिससे देश का जीवन स्तर ऊँचा हो सके। ऐसे कार्यक्रमों को प्राथमिकता दी गई है, जो देश की कृषि सम्बन्धी उपज को बढ़ायेंगे। योजना पर कुल व्यय २,०६६ करोड़ रुपये आया। योजना के कई दोष थे। फिर भी इसके अन्तर्गत आशाजनक उन्नति हुई है।

४. *द्वितीय पंच-वर्षीय योजना*—द्वितीय पंच वर्षीय योजना का मुख्य उद्देश्य उद्योगों की वृद्धि, रोजगार की वृद्धि तथा आय और सम्पत्ति के भारी अन्तर को दूर करना है। इस योजना पर कुल व्यय ४,८०० करोड़ रुपये आँका गया है। यह आयोजन समय-समय पर परिवर्तित किया जायेगा।

५. *निष्कर्ष*—द्वितीय पंच-वर्षीय योजना के सफल होने पर देश की आर्थिक व्यवस्था बहुत कुछ सुधर जायेगी। आयोजन के रूप में समय-समय पर परिवर्तन करना पड़ेगा, क्योंकि जैसे-जैसे विकास होता जायेगा, वैसे-वैसे नई समस्यायें भी खड़ी हो जायेंगी।

प्रारम्भिक—

आज संसार के सारे राष्ट्र, प्राय सभी क्षेत्रों में विशेषकर राजनैतिक एवं आर्थिक

क्षेत्र में अपनी उन्नति चाहते हैं । विश्व में चारों ओर से 'योजना-योजना' के शब्द सुनाई पड़ते हे । आर्थिक योजनायें बनाने का मुख्य उद्देश्य देश मे पूर्ण सामाजिक सुख, शान्ति का लाना, देश में रहने वाली जनता का जीवन स्तर ऊँचा उठाना तथा उनका कल्याण करना है। सीओनल राबिन्स के शब्दों में—"योजनायें हमारे युग की त्रैलोक्य चिन्तामणि हैं। "श्री राबिन्स के ही शब्दों में—"योजना का अर्थ है किसी उद्देश्य से कार्य करना तथा चुनाव करना और चुनाव ही आर्थिक क्रियाओं का सार है।' भारतीय राष्ट्रीय योजना समिति सन् १९३७ ने योजना की परिभाषा इस प्रकार की है —"योजना क्या है ? जन सत्तात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत योजना की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि वह निस्वार्थ विशेषज्ञों के द्वारा उपभोग, उत्पादन, विनियोग, व्यापार तथा आय वितरण का राष्ट्र की प्रतिनिधि संस्थाओं के द्वारा निश्चित सामाजिक हितों के अनुसार एक अपूर्व औद्योगिक समन्वय है। इस योजना पर केवल अर्थशास्त्र एवं जीवन स्तर के उन्नयन की दृष्टि से ही विचार नहीं करना है, वरन् उसमें सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक हितों और जीवन के मानवीय पक्ष का भी समावेश होना चाहिये।"

भारत कृषि प्रधान देश है, जहाँ लगभग ६७ प्रतिशत जनता कृषि पर और केवल १० ८ प्रतिशत उद्योगों पर निर्भर रहती है। जन संख्या की दृष्टि से भारतवर्ष चीन को छोड़कर विश्व के अन्य सभी देशों से बड़ा है। क्षेत्रफल की दृष्टि से रूस को निकाल कर योरोप की टक्कर का है। प्रकृति माता की भारत पर पूर्ण कृपा है, किन्तु सब होते हुए भी हमें पेट भरने के लिए विदेशों से खाद्यान्न मँगाना पड़ा। सन् १९४६ के बाद से भारत प्रति वर्ष करोड़ों रुपयों का अनाज विदेशों से मँगाता रहा। सौभाग्य से आज स्थिति अच्छी है। जो भोजन भारतवासियों को मिलता है, उसकी मात्रा भी कम है और उसमे पौष्टिक पदार्थों की भी न्यूनता है। श्री जे० डब्ल्यू० डी० मेगा ने लिखा है कि "सम्पूर्ण भारत को दृष्टि मे रखने पर डाक्टरों का मत है कि देश की केवल ३८% जनता को अच्छा भोजन मिलता है, ४१% को भोजन ठीक नहीं मिलता और २०% को बहुत खराब मिलता है। हमारे अधिकांश देशवासियों को पहनने के लिए यथेष्ट वस्त्र नहीं मिलते। उनके रहने के लिए मकानों की उचित व्यवस्था नहीं है। उनकी वार्षिक आय बहुत ही कम है। अन्य देशों से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि सन् १९३१ में भारत के प्रति व्यक्ति की औसत आय ७४) प्रति वर्ष थी, जबकि विश्व के छोटे छोटे देश के व्यक्ति की आयु दुगुनी थी। कुछ लोगों का मत है कि आज हमारी आय पहले से दूनी हो गई है। यदि यह मान भी लिया जाय कि आमदनी १२०) प्रति वर्ष हो गई है अर्थात् १२½ रुपया मासिक या लगभग ७ आना प्रति दिन तो भी यह विचारने की बात है कि इस समय जबकि वस्तुओं के मूल्य पाच से छः गुना अधिक बढ़ गये हैं, सात आने मनुष्य के लिये क्या पर्याप्त होंगे ?

यदि हम भारतीय कृषकों की आर्थिक दशा की ओर देखें तो सचमुच रोना आता है। उसके पास खेती के लिये पर्याप्त भूमि नहीं है। समस्त भारत के कृषकों की

औसत भूमि २'६ एकड़ है। इतना ही नहीं, उनके पास जो थोड़ी बहुत भूमि है वह भी कई छोटे मोटे टुकड़ों में अलग-अलग स्थानों पर बिखरी हुई है। सिंचाई के लिये भारतीय कृषक वर्षा पर ही निर्भर रहते हैं। देश में लगभग २०% सिंचाई कृत्रिम साधनों द्वारा होती है। देश के केवल ३१% भाग में खेती की जाती है। आज भी लगभग २०% कृषि योग्य भूमि फालतू पड़ी है। प्रति एकड़ उत्पादन भी भारत में अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम है। भारतीय कृषक दरिद्र हैं, अशिक्षित तथा अज्ञानी हैं। उनके पास न तो अच्छे बीज, खाद तथा आधुनिक ढंग के कृषि यन्त्र ही हैं और न उनको क्रय करने के लिये पर्याप्त पैसा ही है। एक ओर तो उनकी सीमित भूमि पर पेट भरने वालों की संख्या बढ़ रही है। दूसरी ओर खेती अथवा खेती के अन्य सहायक उद्योग धन्धे करने के लिये उनके पास सुविधायें नहीं हैं, फलतः देश में भूमि रहित श्रमिकों की संख्या प्रति वर्ष बढ़ती जा रही है।

भारत में जानवरों की संख्या लगभग १८ करोड़ है, किन्तु उनका उचित उपयोग नहीं होता है। दूध देने वाले जानवरों में से केवल ½ जानवर दूध देते हैं। हमारे देश के जानवर जितना दूध देते हैं उतना दूध जर्मनी में केवल २½ करोड़ जानवर ही दे देते हैं।

भारतीय उद्योगों की भी बड़ी हीन दशा है। प्रति दिन की अनेक आवश्यक वस्तुओं के लिये हमें विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता है। पिछले वर्षों में इङ्गलैंड तथा जापान से लगभग ७२ करोड़ रुपये का वस्त्र भारत ने आयात किया, फिर भी देश वासियों को औसत वार्षिक कपड़ा केवल ७-८ गज मिल पाता है। औद्योगिक क्षेत्र में विवेकीकरण एवं वैज्ञानिक प्रबन्ध की बड़ी आवश्यकता है। भारत में निर्मित वस्तुओं की किस्म में भी अनेक दोष हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में भी हमें निराशा ही होती है। सन् १६५१ की जन गणना के आधार पर पढ़ सकने वाले केवल १२% व्यक्ति थे। शिक्षा पर व्यय भी कम होता है। बजट का केवल २.३% शिक्षा पर खर्च किया जाता है, जबकि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में ११%।

देश में विद्युत शक्ति का भी समुचित प्रयोग नहीं हो रहा है, अभी तक हम केवल ५ लाख किलोवाट विद्युत् का ही प्रयोग कर रहे हैं जो सम्भावित शक्ति का १'२% है, अर्थात् हमारे देश में लगभग ४ करोड़ किलोवाट विद्युत निर्माण करने की शक्ति है। खनिज पदार्थों की भी देश में अधिकता है और पाकिस्तान की अपेक्षा इस दृष्टि से हम राजा हैं, किन्तु उनका भी पूर्ण रूप से उपयोग नहीं किया गया है।

प्रशुल्क नीति भी विशेष हितकारी नहीं है। व्यापार के क्षेत्र में भी हमारी प्रगति कम हुई है। सन्देशवाहन एवं यातायात के क्षेत्र में तो अन्य देशों की अपेक्षा भारत बहुत पीछे है। उपर्युक्त अभावों को पूरा करके देश का आर्थिक उत्पादन करना आवश्यक है और इसलिये आर्थिक योजना देश के लिये बड़ी आवश्यक है।

भारत में आर्थिक योजनाओं का इतिहास—

भारत की आर्थिक स्थिति को सुधारने एवं उसमे वृद्धि के हेतु देश में अनेक योजनायें बनीं। सर्व प्रथम सन् १६१६ में भारतीय औद्योगिक वर्तन (Industrial Commission) द्वारा योजनाबद्ध कार्य करने पर जोर दिया गया। फलत उसकी सिफारिशों पर महायुद्ध के उपरान्त इस देश के उद्योगों को सहायता देने के लिये विवेचनात्मक संरक्षण (Discriminating Protection) की नीति को अपनाया गया। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् आने वाली मन्दी के घातक परिणामों ने देश के उत्पादन पर नियन्त्रण करने एवं लोगों को धन्धा देने की आवश्यकता ने योजनाओं के लिये जागृत रूप दे दिया। दिसम्बर सन् १६३४ में भारत के वयोवृद्ध अर्थशास्त्री सर एम० विश्वेश्वर्य (Sir M Vishvesvarya) ने अपनी पुस्तक 'प्लान्ड इकानामी फॉर इण्डिया को प्रकाशित कर दस वर्षीय योजना बनाने की आवश्यकता पर जोर दिया। उसी समय हमारे देश की महान् राजनैतिक सभा राष्ट्रीय कांग्रेस ने अक्टूबर १६३१ में अपने बम्बई अधिवेशन में आर्थिक योजनाओं से सम्बन्धित और विशेष कर ग्राम्य उद्योगों को सगठित करने के लिये एक प्रस्ताव पास किया। अप्रैल सन् १६३६ में कृषि सम्बन्धी कार्यक्रम के लिये प्रस्ताव पास हुआ। दिसम्बर सन् १६३६ में देश की प्रान्तीय सरकारों के मतानुसार कृषि सुधार के सम्बन्ध में प्रस्ताव पास कर केन्द्रीय सरकार को कार्यान्वित करने के लिये प्रार्थना की। सन् १६३७ में देश के ७ प्रान्तों में कांग्रेसी सरकार होने के कारण काम और भी सरल हो गया। सन् १६३८ में प्रान्तीय उद्योग मन्त्रियों की देहली वाली सभा मे इस आशय का प्रस्ताव पास किया गया कि देश में औद्योगीकरण से ही राष्ट्रीय रक्षा होगी और दरिद्रता तथा बेकारी दूर होगी। इस प्रस्ताव को कार्य रूप मे परिणित करने के लिये १२ सदस्यों की एक राष्ट्रीय योजना समिति (National Planning Committee—N P. C) बनाई गई, जिसके सभापति पण्डित नेहरू थे। समिति ने विभिन्न विषयों पर २६ उप समितियाँ बनाई और उनको अपने अपने विषयों की जाँच करके रिपोर्ट पेश करने का आदेश दिया गया, किन्तु सन् १६३६ मे राजनैतिक स्थिति मे एक दम परिवर्तन हो जाने के कारण न तो राष्ट्रीय योजना समिति ही अपनी रिपोर्ट प्रकाशित कर सकी और न उप समितियाँ ही। सन् १६४५ मे पुन श्री जवाहरलाल नेहरू ने समिति की एक बैठक बुला कर रिपोर्ट तैयार करने के लिए श्री के० टी० शाह को आदेश दिया। साथ ही साथ भारत सरकार, विभिन्न प्रान्तों देशी रियासतों एव वाणिज्य मण्डलों को भी उनकी सहायता करने के लिये कहा गया। अब सारी रिपोर्ट प्रकाशित हो चुकी है और उन्होने अपने की आर्थिक स्थिति का वर्णन करते हुये अपने अपने प्रस्ताव तथा

:6) प्रति वर्ष हो गई

भी यह विचारन की बार देश के विभिन्न प्रान्तों में भी प्रान्तीय सरकारों ने अपनी अपनी
ा अधिक बढ़ गये हैं, सात परिणाम असन्तोषजनक ही रहा। देश के विद्वान् अर्थशास्त्री एव
यदि हम भारतीय कृष समय पर अपनी पुस्तकों द्वारा तथा भ पत्रों एवं प्रस्तावों द्वारा
रा है। उसके पास खेती के वि

जून सन् १६४१ में भारत सरकार के व्यापार सचिव की अध्यक्षता में एक पुनर्निर्माण समिति (Reconstruction Committee) नियुक्ति की गई। फिर मार्च सन् १६४३ में इस समिति में परिवर्तन किया गया और भारत के उस समय के वायसराय की अध्यक्षता में दूसरी समिति बनाई गई। कई विकास अधिकारियों की भी नियुक्तियाँ की गईं, किन्तु मार्च सन् १६४४ तक सरकार की ढीली-ढाली नीति के कारण कोई विशेष कार्य नहीं हुआ।

मार्च सन् १६५० में भारत सरकार ने एक योजना कमीशन बनाया, जिसके अध्यक्ष पण्डित नेहरू थे। उद्योगपतियों एवं श्रमिकों के भी प्रतिनिधि कमीशन में सम्मिलित किये गये। कमीशन की प्रथम बैठक २८ मार्च सन् १६५० को हुई। कमीशन ने १५ माह तक विचार विनिमय के उपरान्त जुलाई सन् १६५१ में एक पंच-वर्षीय योजना तैयार की और उसे जनता के समालोचनार्थ प्रकाशित किया। देश की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को हल करने और भविष्य के कल्याण की नींव रखने की दृष्टि से और उपरोक्त ध्येय की पूर्ति के लिए कमीशन ने निम्न बातों पर विचार किया :—

(१) देश में मौजूदा सम्पत्ति और जनता की ताकत का अनुमान लगा कर देश की आवश्यकताओं को देखते हुए सभी प्रकार के साधनों का विकास।

(२) देश के साधनों का सबसे अधिक प्रभावशाली और नपे-तुले ढङ्ग से उपयोग करने के बारे में योजना का निर्माण।

(३) कौनसे काम पहले और कौनसे काम बाद में होने चाहिए, इसका पता लगा कर यह निश्चय करना कि योजना को किन अवस्थाओं में होकर आगे बढ़ना चाहिए।

(४) देश के आर्थिक विकास में कौन-कौन सी कठिनाइयाँ आती हैं, इनका पता लगाना और उन उपायों को खोजना, जिनसे इन्हें दूर करके योजना को सफल बनाया जा सके।

(५) विभिन्न अवस्थाओं में योजना के प्रत्येक अंग को लागू करने के लिए किस प्रकार के संगठन और शासन यन्त्र की आवश्यकता है, इसे बताना।

(६) योजना अपनी विभिन्न अवस्थाओं में किस प्रकार प्रगति कर रही है, इसका पता लगा कर नीति और उपायों में आवश्यकतानुसार अदल-बदल करना।

(७) योजना के अन्तर्गत जिन कार्यों को करना है उन्हें किस तरह सरलता से किया जा सकता है, इसके बारे में समय-समय पर सुझाव देना।

प्रथम पंच-वर्षीय योजना—

जुलाई सन् १६५१ में प्रस्तुत किये गये मसविदे के दो भाग थे—पहले भाग के लिये १,४९३ करोड़ रुपये खर्च होने थे और इसके अन्तर्गत आने वाले कार्यक्रमों को हर हालत में पूरा करना आवश्यक माना गया। दूसरे भाग के अन्तर्गत ३०० करोड़ रुपये खर्च होने थे और इसे बाहरी सहायता मिलने पर पूरा होना था। योजना

कमीशन द्वारा प्रस्तुत किये गये मसविदे पर जनता, राज्य सरकारों, केन्द्रीय मन्त्रालयों तथा अन्य गैर सरकारी जानकार लोगों की राय मालूम करने के बाद इसे अन्तिम रूप दे दिया गया। इस अन्तिम रूप में पंच वर्षीय योजना को पिछले मसविदे की तरह दो भागों में नहीं बाँटा गया, किन्तु अलग अलग कार्यक्रमों को एक में मिला कर एक ही योजना के नीचे लाया गया। इसका समय भी वही रखा गया जो मसविदे का था और इसके लिए कुल २,०६९ करोड़ रुपयों के खर्च की व्यवस्था रखी गई।* इस योजना में मसविदे वाले विकास के सभी कार्यक्रमों को अधिक मजबूत बना दिया गया। खेती और सामूहिक विकास योजनाओं के अन्तर्गत अधिक कार्यक्रम लाये गये, ताकि खेती की उपज को देश की आवश्यकतानुसार बढ़ाया जा सके। इसी तरह छोटे और बड़े उद्योगों के विकास के लिए भी और अधिक व्यवस्था की गई। सामाजिक सेवा की दशा में भी कई महत्वपूर्ण कार्यक्रम जोड़ दिये गये, जैसे—मलेरिया की रोकथाम, पिछड़ी हुई जातियों की उन्नति के कार्य, विस्थापित लोगों को फिर से बसाना आदि। इस योजना में तीन और भी महत्वपूर्ण बातें जोड़ दी गई—(१) राज्यों में समय-समय पर मौसम के असर से जो कमी की हालत पैदा हो जाती है, उनका सामना करने की व्यवस्था की गई, (२) प्रत्येक राज्य की योजना को स्थानीय जनता का सहयोग प्राप्त कराने के लिए जिलों और तहसीलों तक ले जाया गया, (३) योजना की सफलता के उन सब संस्थाओं और व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त करने की व्यवस्था की गई, जो देश के विकास के लिए रचनात्मक कार्यों में लगे हुये हैं।

योजना में व्यय इस प्रकार बांटा गया।—

	१९५१-५६ में व्यय (करोड़ रुपयों में)		इस व्यय के साथ प्रतिशत	
	प्रारम्भिक योजना	अन्तिम योजना	प्रारम्भिक योजना	अन्तिम योजना
कृषि एवं सामुदायिक विकास	१९१ ६९	३६० ४३	१२ ८	१७ ४
सिंचाई एवं शक्ति	४५० ३६	५६१ ४१	३० ०	२७ २
यातायात एवं संवाद साधन	३८८ १२	४९७ १०	२६ १	२४ ०
उद्योग	१०० ९९	१७३'०४	६ ७	८ ०
सामाजिक सेवायें	२५४ २१	३३९ ८१	१७ ०	१६ ६४
पुनर्निवास	७६ ००	८५ ००	५ ३	४'१
विविध	२८'५४	५१ ९९	१ ९	२ ५
	१,४९२ ९२	२०,५८ ७८	१०० ०%	१०० ०%

* परन्तु अन्तिम योजना की यह राशि भी बेकारी की तीव्र एवं बढ़ती हुई समस्या को सुलझाने के लिए तथा कीमतों में कमी लाने की दृष्टि से १७५ करोड़ रुपया बढ़ा दी गई जिससे सम्पूर्ण योजना की लागत २,२४४ करोड़ रुपये हो गई।

योजना का उद्देश्य—

योजना का मूल उद्देश्य ऐसी प्रणाली का निर्माण करना था, जिससे देश का जीवन स्तर ऊँचा हो सके और जनता को सम्पन्न एवं विविधतामय जीवन के अवसर मिल सकें। योजना कमीशन के मतानुसार हमारी वर्तमान प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है, जिसे यथा सम्भव शीघ्र दो गुना करना है। ऐसा अनुमान किया गया था कि इस योजना की पूर्ति होने पर राष्ट्रीय आय ११% बढ़ेगी। योजना कमीशन को यह आदेश दिया गया था कि वह अपनी नीति का निर्माण निम्न उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए करे :—

(१) कि सभी नागरिकों, चाहे वे पुरुष हों या स्त्री, समान रूप से जीवन निर्वाह के पर्याप्त साधन उपलब्ध हों।

(२) कि समाज के भौतिक साधनों के स्वामित्व और नियंत्रण का ऐसा ही वितरण हो, जो सामूहिक हित के दृष्टिकोण से सबसे उपयुक्त हो।

(३) कि आर्थिक प्रणाली का संचालन धन और उत्पत्ति के साधनों का ऐसा केन्द्रीयकरण उत्पन्न न कर पाये जो समाज का अनहित करे।

योजना में प्राथमिकता का क्रम—

योजना में प्राथमिकता का अर्थ उस क्रम से होता है, जिसमें विकास की विभिन्न शाखाओं को चुना जाता है। इस सम्बन्ध में कमीशन ने ५ महत्वपूर्ण मदों का विशेष रूप से उल्लेख किया। ऐसी योजनाओं को, जो देश की कृषि सम्बन्धी उपज को बढ़ायेंगे, सबसे अधिक महत्व दिया गया जिससे देश की अर्थ व्यवस्था का कृषि प्रधान रूप बना रहे, परन्तु देश के पास साधन सीमित हैं और उनका उपयोग निम्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिये किया जायगा, ऐसा निश्चय हुआ:—

(१) ऐसी योजनाओं को पूरा करने के लिये जिन पर पहले से ही काम हो रहा है, जैसे—शरणार्थी तथा बेघर लोगों का पुनर्वासन, वे विकास योजनायें जो कार्यारोपित हैं, वे योजनायें जो माहीगिरी, जगल, वृक्ष आदि से सम्बन्धित हैं।

(२) ऐसे उद्योगों के विकास के लिये जो कृषि की आवश्यकता पूरी करते हैं अथवा सिंचाई और शक्ति का विकास करके थोड़े ही समय में खाद्य और कच्चे माल का उत्पादन बढ़ा देते हैं।

(३) ऐसी योजनाओं को पूरा करना जो भौतिक और शिल्प साधनों के विकास के लिये आवश्यक हैं और रोजगार तथा उपभोग की वस्तुयें उत्पन्न करने वाले उद्योगों को प्रोत्साहित करती हैं।

(४) ऐसे आधार उद्योगों की उत्पादन क्षमता को बढ़ाना जो लोहा, इस्पात, भारी रासायनिक पदार्थ आदि का उत्पादन करते हैं।

(५) वर्तमान औद्योगिक व्यवस्था के निम्न दोषों को दूर करना:—

(अ) पर्याप्त शासनीय तथा सामाजिक सेवाओं का अभाव।

(आ) विभिन्न राज्यों में आर्थिक अवनति स्तरों का अन्तर।

योजना की मुख्य बातें—

उत्पादन सामिग्री एव अर्थ व्यवस्था—

उपर्युक्त दिये हुये व्यय में सबसे बड़ी बात यह कि इससे सरकारी और निजी क्षेत्रों में पर्याप्त उत्पादक सामग्री की आशा थी, जो कि भविष्य में विकास के लिये नींव का काम करेगी। इसका ब्यौरा इस प्रकार है—

	(करोड़ रुपये)
(१) केन्द्रीय एव प्रान्तीय सरकारों की उत्पादक पूँजी में वृद्धि के लिये होने वाला व्यय।	१,१६६
(२) व्यक्तिगत क्षेत्र में उत्पादक पूँजी में वृद्धि के लिये व्यय —	
(अ) ग्रामीण विकास एव कृषि पर (इसमें सामुदायिक विकास योजनाओं के व्यय का समावेश नहीं है)।	२४४
(आ) यातायात एव उद्योगों को ऋण देने के लिये।	४७
(इ) स्थानीय विकास को प्रोत्साहन देने में (सामुदायिक एव स्थानीय विकास योजनायें)।	१०५
(३) सामाजिक पूँजी के लिये व्यय	४२२
(४) अन्य (जिसका समावेश ऊपर नहीं है) व्यय	४६
	२,०६६

इस व्यय का वितरण केन्द्र एव प्रान्तीय सरकारों में निम्न प्रकार से किया गया —

केन्द्रीय सरकार (रेल्वे को सम्मिलित करते हुये) १,२४१ करोड़ रुपये, राज्य सरकारें इस प्रकार—

(अ) विभाग	६१० करोड़ रुपये
(ब) विभाग	१७३ „ „
(स) विभाग	३२ „ „
जम्मू एव काश्मीर	१३ „ „
कुल	२,०६६ करोड़ रुपये

अर्थ प्रबन्ध—

इस आर्थिक आधार का निर्धारण करते समय योजना कमीशन ने देश में उपलब्ध साधन, विदेशी ऋणों का अनुमान लगाया, जिसमें देश में बजट से १,२५८ करोड़ रुपया उपलब्ध होंगे और १५६ करोड़ रुपये विदेशी ऋण एव सहायता के रूप

में प्राप्त हो चुके हैं। शेष ६२२ करोड़ रुपये की राशि का प्रबन्ध आन्तरिक ऋणों से, बचत से तथा अभाव पूर्ण अर्थ प्रबन्धन (Deficit Financing) से करना होगा, जिसकी राशि २९० करोड़ रुपये आंकी गई है। इसी उद्देश्य से गत वर्ष राष्ट्रीय योजना ऋण एवं प्रमाण पत्र बेचे गये थे।

योजना के विभिन्न पहलू—

(१) कृषि—हमारे देश के विभाजन और जन संख्या की वृद्धि ने अन्न समस्या को अधिक संकटमय बना दिया है, इसीलिये योजना में कृषि को प्राथमिकता दी गई, यह बात कृषि विकास के लिए सिंचाई एवं विद्युत पर होने वाले व्यय से स्पष्ट है, जो कुल योजना की लागत का ४२.८% है। प्रत्येक व्यक्ति के लिये प्रति दिन औसत १३.७ औन्स अन्न देने के लिये योजनाकाल के अन्त तक अन्न की उपज को ७६ लाख टन बढ़ाने का लक्ष्य रखा गया। उत्पादन के लिये जो लक्ष्य रखे गये वे इस प्रकार हैं —

	मात्रा (लाखों में)	प्रतिशत बढ़ती
अन्न	७६ टन	१४
रुई	१२.६ गांठें	४२
जूट	२०.६ ,,	६३
गन्ना	७.० टन	१२
तिलहन	४.० टन	८

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये सिंचाई एवं विद्युत पर विशेष ध्यान दिया गया।

कृषि मजदूरी की स्थिति को सुधारने के लिये भी योजना बनाई गई। कृषि की उपज को बढ़ाने के लिये छोटे और मध्यम किसानों को प्रोत्साहित करने की ओर ध्यान दिया जाय, जिससे वे इच्छापूर्वक सहकारी कृषि समितियों के सहारे काम करें। इससे गाँव के दूसरे कार्यों में भी सहायता मिलेगी। योजना की सफलता के लिये यह भी आवश्यक थी कि हमारी खुराक सम्बन्धी नीति सही और साफ हो। देश की वर्तमान स्थिति को देखते हुये यह आवश्यक समझा गया कि देश के अन्दर कन्ट्रोल व्यवस्था चालू रहे और आवश्यकतानुसार उन्हें ढीला किया जाय। खाद्य के सम्बन्ध में नीति ऐसी रहे कि उपज में वृद्धि हो, विदेशों में बेची जाने वाली उपज बढ़े और ऐसी स्थिति लाई जाय कि विदेशों से अन्न का आयात बिल्कुल बन्द हो जाय। कम उपज वाले क्षेत्रों के लिये अधिक उपज वाले क्षेत्रों के लिये अधिक उपज वाले क्षेत्रों से अन्न की वसूली तथा कन्ट्रोल जारी रखना भी आवश्यक समझा गया। सामूहिक विकास योजना (Community Development Projects) द्वारा गाँवों के सामाजिक और आर्थिक ढाँचे को बदलने का प्रयत्न किया जा रहा है। सामूहिक विकास योजना में खेती और उसके साथ के धन्धे, सचार शिक्षा, स्वास्थ्य, पूरक कार्य, घर बनाना, प्रशिक्षण और सामाजिक कल्याण इत्यादि काम रखे गये। किसानों को खेती के लिये ऋण मिलने की व्यवस्था की गई।

(२) *सिंचाई एवं शक्ति*—शक्ति का विकास इस प्रकार निश्चित किया गया है कि सिंचाई और शक्ति दोनों का एक साथ ही विकास हो। सिंचाई तथा शक्ति के विकास पर किये जाने वाले प्रस्तावित ५६१ करोड़ के व्यय के फलस्वरूप पाँच वर्षों में बिजली के उत्पादन में १२ लाख किलोवाट की वृद्धि होगी। ऐसा अनुमान किया गया है कि पाँच साल के पश्चात् भी कुछ योजनाएँ अधूरी रह जायेंगी, जिन पर १३७ करोड़ रुपये का अधिक व्यय करने से जल विद्युत का उत्पादन और भी बढ़ जायगा। कमीशन की रिपोर्ट में जिन योजनाओं को सम्मिलित किया गया, उनमें से मुख्य मुख्य इस प्रकार हैं :—दामोदर घाटी योजना, हीराकुंड बाँध योजना, नागल और भाकरा योजनायें; बोकारो का थर्मल स्टेशन और तिलिया, कोनार तथा मैथान की जल विद्युत योजनायें। तत्पश्चात् कोसी नदी की योजना को भी इसके अन्तर्गत ले लिया गया।

(३) *गृह एवं कुटीर-उद्योग*—ग्राम्य विकास कार्यक्रमों में गाँव के उद्योगों का प्रमुख स्थान है, इसलिए इनके विकास को भी कृषि की उपज में वृद्धि करने के समान ही प्राथमिकता देना है। इसके लिये सर्व प्रथम यह आवश्यक है कि वे कारण, जिनसे उनका विकास रुका हुआ है, दूर किये जायें। इन कारणों में सगठन, राज्य नीति, अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण तथा आर्थिक प्रबन्धन मुख्य हैं। प्रत्येक गृह उद्योग के लिए एक क्षेत्र निश्चित करना आवश्यक है। ऐसे क्षेत्रों में, जहाँ इनकी प्रतियोगिता बड़े पैमाने के उद्योगों से होती हो, राज्य सरकार का नियन्त्रण आवश्यक है, जिससे मिले जुले प्रोग्रामों से उत्पादन किया जा सके। नये ढगों और नये औजारों की खोज करके उद्योगों में काम करने वाले कारीगरों को प्रशिक्षण देना भी आवश्यक है। देहाती कारीगरों को आर्थिक सहायता करने के लिए इस आवश्यकता पर जोर दिया गया कि राज्यों में औद्योगिक सहकारी समितियाँ कायम की जायें। गृह-उद्योगों के अतिरिक्त छोटे-छोटे पैमाने के उद्योगों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहले वे जो परम्परा से चली आई हुई कारीगरी का प्रतिनिधित्व करते हैं और दूसरे वे जो हाल ही में पनपे हैं और जिनका विशेष सम्बन्ध आधुनिक काल के बड़े पैमाने के उद्योगों से है। हाल ही में पनपे ग्राम-उद्योगों को बिजली मिलने पर बड़ी ही उन्नति की आशा है, किन्तु साथ ही साथ टेकनीकल सुधार भी आवश्यक हैं। इन गृह-उद्योगों के उत्पादन की माँग में वृद्धि करने और बनाए रखने के साथ ही साथ उत्पादन के ढगों में परिवर्तन करने की ओर भी ध्यान देना चाहिए। इन उद्योगों का विकास विशेषकर इसलिए आवश्यक है कि पढ़े-लिखे और योग्य पुरुषों तथा स्त्रियों को घर बैठे काम मिल सकता है। विदेशों में माँग बढ़ाने के लिये यह आवश्यक है कि उनकी आवश्यकता को देखकर उत्पादन के कार्यक्रम निश्चित किये जायें। वस्तुयें बेचने वाले एम्पोरियम की स्थापना तथा नई-नई डिजायनों की सूचनायें कारीगरों को देना आवश्यक है। विदेशी बाजारों में माँग बढ़े। इनके लिए केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों को उत्पादकों और खरीदारों के बीच एक कड़ी का काम करना आवश्यक है। इन उद्योगों के लिये धन, सगठन, ट्रेनिङ्ग और सरक्षण की आवश्यकता है। योजना में ट्रेनिङ्ग, खोज और अर्थ-प्रबन्धन का

वर्णन है। ट्रेनिङ्ग के बारे में यह सुझाव दिया गया कि उन पेशों की तरफ ही विशेष तौर से ध्यान दिया जाय जिनमें स्थाई काम मिलने की आशा है। धन की समस्या को हल करने के लिए यह सुझाव दिया गया कि कुछ राज्य मिलकर औद्योगिक अर्थ-प्रबन्धन मण्डल नामक विभागीय संस्थायें स्थापित करें। अन्त में, इस बात की ओर भी ध्यान दिलाया गया कि छोटे-छोटे उद्योगों का, जिनके लिये योग्यता, ट्रेनिङ्ग और शक्ति की आवश्यकता है, मूल उद्योगों से गहरा सम्बन्ध है, जिनमें यन्त्रों का बनाना भी शामिल है। इस प्रकार के छोटे-छोटे उद्योगों के विकास में टेक्नीकल शिक्षा (प्रशिक्षण) की प्रगति का भी बड़ा हाथ है।

(४) *वृहत् उद्योग*—यद्यपि पंच-वर्षीय योजना में कृषि के विकास पर विशेष कर सिंचाई और बिजली के उत्पादन को सबसे अधिक महत्व दिया गया है, किन्तु इसके यह अर्थ नहीं है कि औद्योगिक विकास कम महत्वपूर्ण हैं। उद्योग-धन्धों के बारे में सरकारी नीति को अप्रैल सन् १९४८ के एक प्रस्ताव में स्पष्ट कर दिया गया। कुछ धन्धे, जैसे—हथियार और उनके लिए गोला बारूद आदि, एटम शक्ति का नियन्त्रण और रेलें पूरे रूप से सरकार के हाथों में रखे गये हैं। कोयला, लोहा, इस्पात, हवाई जहाज़ों का निर्माण, जहाज़ों का बनाना, टेलीफोन, टेलीग्राफ और बेतार के यन्त्र, खान से उत्पन्न होने वाले तेल आदि पर राज्य की जिम्मेदारी होगी, परन्तु इसमें निजी व्यापार का सहयोग बहुत आवश्यक समझा गया है। इनके अतिरिक्त बाकी सारे उद्योग धन्धों को निजी व्यवसाय पर छोड़ दिया गया है और उन उद्योग-धन्धों को, जिन्हें निजी व्यवसाय पर नहीं छोड़ा जा सकता या जिन्हें वे अपने ऊपर लेने के योग्य हैं या इच्छा नहीं रखते, उन्हें केन्द्रीय सरकार के ही हाथ में रखना चाहिए। यह समझा गया कि वर्तमान समय में मौजूदा उद्योगों का राष्ट्रीयकरण या सरकार द्वारा संचालन कोई विशेष हितकर न होगा, क्योंकि इस सम्बन्ध में हमारे जो उद्देश्य हैं वे सब सही ढङ्ग के नियन्त्रण से पूरे हो सकते हैं। देश की आवश्यकता को देखते हुये यह निश्चित किया गया कि किन उद्योगों को अधिक महत्व दिया जाय। इस समय सरकारी तौर पर जो उद्योग चालू हैं, उन्हें पूरा किया जायगा और इस बात की व्यवस्था की गई है कि सन् १९५५-५६ तक एक नया लोहा और इस्पात का उद्योग चालू कर दिया जाय, जिसमें अनुमानतः ३० करोड़ रुपये लगेंगे और उसमें ६ साल में कुल मिला कर ८० करोड़ रुपए खर्च होंगे। इस धन्धे के लिए सरकार १५ करोड़ देगी और बाकी रकम देशी और विदेशी पूँजीपतियों से प्राप्त की जायगी।

निजी व्यवसायों के क्षेत्र में औद्योगिक विस्तार के लिये कुल २३३ करोड़ रुपए लगने का अनुमान था। इस पूँजी का ८०% कलों तथा अन्य ऐसे धन्धों में लगाया जायगा, जिससे उत्पादकों का सम्बन्ध है। इनमे से मुख्य ये हैं :—

	खर्च
लोहा और इस्पात	४३ करोड़ रुपये
पैट्रोल की सफाई के कारखाने	६४ ,,

सीमेन्ट उत्पादन	१३	,,
एल्यूमीनियम	६	,,
रासायनिक खाद, उच्च रासायनिक पदार्थ पावर अल्कोहल आदि	१२	,,

(५) *विदेशी पूँजी*—इसके सम्बन्ध में सरकार की मोटी नीति यह रखी गई कि जहाँ नये उत्पादन हो रहे हों या जिन धन्धों में खास अनुभव या टेक्नीकल योग्यता चाहिए या जिन क्षेत्रों में देश की उपज माँग से बहुत कम है, उन क्षेत्रों में उसे काम करने दिया जायगा। वैदेशिक पूँजी को यह सुविधायें होंगी कि उसके साथ कोई भेद भाव नहीं बरता जायगा और मुनाफे को, जिस देश से पूँजी आई है वहाँ को भेजने दिया जायगा और राष्ट्रीयकरण होने पर मुआविजा दिया जायगा।

(६) *खनिज उद्योग*—उद्योगों को बढ़ाने के लिए जिन खनिज वस्तुओं की आवश्यकता है, उनके बारे में सोच विचार कर नीति अपनाने की आवश्यकता है, क्योंकि ये आधुनिक उद्योगों की नींव हैं। इस नीति में साधनों की जाँच पड़ताल, खानों की उचित देख भाल, गन्धक, टीन, टंगस्टीन आदि महत्वपूर्ण धातुओं की खोज-बीन, खनिज पदार्थों का विदेश भेजना आदि बातों का विशेष ध्यान रखा जाय। कमीशन ने कोयला उद्योग के बारे में विशेष सिफारिशें कीं और सन् १९५३ का कोयला खान (कन्जरवेशन एन्ड सेफ्टी) एक्ट इन्हीं सिफारिशों के आधार पर बनाया गया। एक कोयला बोर्ड भी बनाया जा चुका है। घटिया किस्म के मैंगनीज की कमी के कारण नीति पर दुबारा विचार किया जा रहा है। योजना में एल्यूमीनियम के उत्पादन को बढ़ाने की भी व्यवस्था की गई, ताकि माल अधिक बढ़ सके। अभ्रक के महत्व को देखते हुए (संसार की ८०% आवश्यकता को भारत पूरी करता है) काफी सिफारिशें की गई। खड़िया (जो रासायनिक खाद के काम आता है) तथा गन्धक आदि धातुओं की अच्छी तरह जाँच पड़ताल करने की सिफारिश की गई।

(७) *यातयात तथा संवाद*—यातायात तथा संवाद के कार्यक्रमों में कुल खर्च का एक बड़ा भाग रेलों पर लगेगा। केन्द्रीय सरकार ने १५ करोड रुपयों की लागत से चितरंजन में इन्जन बनाने के लिए एक कारखाना खोल दिया, जहाँ प्रति सप्ताह एक इन्जन तैयार होता है। सरकार द्वारा टाटा लोकोमोटिव इन्जीनियरिंग कम्पनी को भी २ करोड रुपये की आर्थिक सहायता दी गई। रेलवे योजना पर कुल ४०० करोड रुपया खर्च होने का अनुमान था, जिसमें से ८० करोड केन्द्रीय सरकार देगी और बाकी का रुपया रेलें अपने साधनों से पूरा करेंगी। इसके अतिरिक्त मूल उद्योगों के लिए रखे गये ५० करोड रुपयों में से भी रेलों के विकास के लिए रुपये मिलने की आशा थी।

राष्ट्रीय सड़कों के विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत जो सड़कें बन रही हैं उन्हें पूरा करने, ४५० मील लम्बी नई सड़कें बनाने और छोटे-छोटे बहुत से पुलों के अलावा ४३ बड़े पुल बनाने की व्यवस्था रखी गई। केन्द्रीय सरकार की योजना में पाँच वर्षों

में २७ करोड़ रुपया खर्च किया जायगा। इसके अलावा और भी लम्बी सड़कों को सुधारा जायगा। इसके अतिरिक्त कुछ चुनी हुई सड़कों के लिए ४ करोड़ रुपयों की और व्यवस्था की गई, जो केन्द्रीय सरकार द्वारा ही दिया जावेगा। केन्द्रीय सड़क अनुसंधानशाला पर भी २१'६५ लाख रुपये खर्च करने की योजना थी। राज्यों के सड़क विकास के लिए ६४'५४ करोड़ रुपयों की व्यवस्था की गई।

जहाजरानी के लिए विकास कार्यक्रम के अनुसार सन् १९५५-५६ तक विदेशी और समुद्री किनारे के व्यापार के लिए लगभग ६,००,००० टन के रजिस्टर्ड जहाज काम करने लगेंगे। जहाजी कम्पनियों को जहाज खरीदने के लिए १५ करोड़ रुपया ऋण देने की सिफारिश की गई। देश की आवश्यकता को देखते हुए कांडला बन्दरगाह के विकास की सिफारिश की गई, जिससे जो कार्य पहले करांची बन्दरगाह से होता था वह इससे किया जा सके। कांडला बन्दरगाह के लिए १२'०१ करोड़ रुपया खर्च करने की योजना बनाई गई।

(८) *अन्य*—इसके अलावा सामाजिक सुविधायें, डाकघर एवं तार विभाग की सुविधायें, गृह निर्माण, पुनर्निवास व्यवस्था, कुटुम्ब नियोजन आदि विषयों की योजना भी बनाई गई। आयोग का मत था कि योजना की सफलता के लिए एवं देश की समृद्धि के लिए बढ़ती हुई जन-संख्या को रोकना होगा, इसलिए उसमें कौटुम्बिक नियोजन भी प्रस्तुत की गई, जिसके लिए ६५ लाख रुपये का आयोजन था।

प्रथम पंच-वर्षीय योजना की आलोचना—

भारत के आर्थिक विकास के लिये बनाई गई अन्य योजनाओं की भाँति इस योजना में भी निर्माताओं ने अपने उद्देश्यों को बढ़ा-चढ़ा कर दिखलाया। श्री गोरवाला ने अपने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "यह (योजना कमीशन) केवल कुछ ऐसी योजनायें बनाता है जिनका सम्बन्ध केवल लोक क्षेत्र के व्यय से है, परन्तु ऊँचा नाम देने के लिये वह इसे प्रथम पंच वर्षीय योजना बताता है। इस प्रकार का दृष्टिकोण काफी हानिकारक है। यदि एक मनुष्य एक झोंपड़ी बनाता है और इसे महल का नाम दे तो उसे इस बात पर आश्चर्य नहीं करना चाहिये कि देखने वाले इसे कुछ और ही कहते हैं। योजना कमीशन ने जो रिपोर्ट तैयार की है वह लोक क्षेत्र के व्यय की ही एक साधारण योजना है।" दूसरे, योजना का आर्थिक आधार सुदृढ़ नहीं था, क्योंकि इसमें आय की प्राप्ति के जो साधन अपनाये गये वे अवास्तविक थे, करों द्वारा जो आय की आशा की गई वह जनता की कर देय क्षमता से कहीं अधिक थी। तीसरे, योजना निर्माताओं ने आर्थिक विकास के नियमों को भली प्रकार नहीं समझा। आर्थिक प्रणाली शरीर की भाँति है और इसके विकास पर कुछ निश्चित नियम लागू होते हैं। प्राथमिकता का क्रम, राष्ट्रीय जीवन की विभिन्न शाखाओं के विकास तथा जीवन के अनार्थिक पहलुओं के विकास में समन्वय के साथ-साथ इस बात की भी आवश्यकता है कि यह सभी समाज के विकास के आधार रूप नियमों के अनुसार हो, ऐसा नहीं है। चौथे, योजना में कृषि को अधिक महत्व दिया गया तथा औद्योगिक विकास को विशेष

महत्त्व नहीं दिया गया, अत योजना की पूर्ति के बाद भी हमारा देश एक कृषि प्रधान देश ही रहेगा। पाँचवें, योजना की अधिकतम राशि का व्यय ग्रामीण क्षेत्र में होने के कारण राष्ट्रीय आय गाँवों में रहेगी, जिसको पुन प्राप्त करने के लिये अथवा उनकी अतिरिक्त क्रय-शक्ति को सोखने के लिये कोई आयोजन नहीं है। छठे, दुर्भाग्यवश योजना की अर्थ प्रबन्ध की प्रणाली स्वय मुद्रा प्रसार की प्रवृत्ति रखती है। सातवें, जन सख्या की वृद्धि को रोकने के लिये 'कौटुम्बिक नियोजन की आवश्यकता' के अतिरिक्त योजना में अन्य कोई भी प्रभावशाली उपाय नहीं बताया है। आठवें, हमारी योजना में दीर्घकालीन योजनाओं को अधिक महत्त्व दिया। रूस ने भी ऐसा ही किया था, किन्तु भारत की आर्थिक स्थिति में दीर्घकालीन योजनाओं के साथ-साथ अल्पकालीन योजनाओं को भी समान महत्व देना आवश्यक था, जिससे कि देश को शीघ्र लाभ पहुँचे। नवें, आर्थिक विकास की किसी भी योजना की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि उसके सचालन के लिये विश्वसनीय शासन और समन्वय प्रणाली हो, किन्तु भारत का अब तक का अनुभव अधिक आशाजनक नहीं है। नदी घाटी योजनाओं का कार्य सचालन बडा असन्तोषजनक रहा है। साथ ही वर्तमान शासन केवल आय के साधनों का उपयोग करने में ही असफल नहीं रहा वरन् वह विवेकपूर्ण व्यय करने मे भी असफल रहा, अत आवश्यकता इस बात की है कि लोक सेवा आयोग (Public Service Commission) की भाँति एक यूनियन आर्थिक सेवा आयोग (Union Economic Service Commission) की स्थापना की जाय, तो योजना की शासन प्रणाली के लिये आवश्यक प्रशासकों की नियुक्ति करे। दसवें, योजना में वितरण की असमानता को दूर करने के लिये भी कोई सक्रिय सुझाव नहीं दिये गये।

इन आलोचनाओं के होते हुए भी हमारे देश में पच वर्षीय योजना का अभूत पूर्व स्वागत किया गया, क्योंकि यह देश के सन्तुलित आर्थिक विकास का सच्चा प्रयत्न है। साराश मे, इसमें वास्तविकता की गन्ध है तथा योजनाओं को उपलब्ध स्रोतों से सम्बन्धित किया गया।

योजना की प्रगति का विवरण—

योजना की अवधि पूरी हो चुकी है और इस समय भारतीय अर्थ व्यवस्था का ढाँचा अपेक्षाकृत दृढ और स्थिर बन चुका है। यह स्थिति सतोषजनक तो है ही, भविष्य के लिए भी आशाजनक है। पिछले वर्षों में देश की आर्थिक व्यवस्था में महत्व पूर्ण तथा सर्वतोमुखी प्रगति हुई है, जिसका विवरण इस प्रकार है—

खाद्य उत्पादन—

योजना की सबसे बडी सफलता खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि है। सन् १९४९ ५० (पच वर्षीय योजना की गणना का आधार वर्ष) के आँकडों को देखते हुए मार्च सन् १९५५ तक खाद्यान्न में ११६ लाख टन की वार्षिक वृद्धि अनुमानित है। यह वृद्धि अनुकूल वर्षा, गहन कृषि पद्धति, बडी नदी घाटी योजनाओं तथा छोटी

सिचाई योजनाओं द्वारा सम्भव हो सकी। लाखों एकड़ ऊसर भूमि को खेती योग्य बनाया गया, नहरें निकाली गई, कुएं खोदे गये, खाद्यान्न पर लगाये गये राशनिंग आदि सारे प्रतिबन्ध हटाये गये।

पंच-वर्षीय योजना में निर्धारित १४ लाख एकड़ ऊसर भूमि को फिर से खेती योग्य बनाने के लक्ष्य के अनुसार गत चार वर्षों में १२·३ लाख एकड़ भूमि को अभी तक खेती योग्य बनाया गया है। ६·२ लाख अतिरिक्त एकड़ भूमि को सिंचाई सुविधायें प्रदान की गई हैं।

इस प्रकार हमारी खाद्य समस्या सफलतापूर्वक हल की गई है। विदेशों से होने वाली धान्य की आय और खाद्यान्न की कीमतें कम हो गई हैं। योजना में निर्धारित चावलों के उत्पादन का लक्ष्य २०१·७ लाख टन था। सन् १९५४-५५ तक २४२·१ लाख टन चावल उत्पादित करके इस लक्ष्य की आंशिक पूर्ति की गई। रुई के वार्षिक उत्पादन का निर्धारित लक्ष्य ४२·२६ लाख गाँठें था। सन् १९५४-५५ तक सालाना ४१·३८ लाख गाँठें निर्माण करके इसमें प्रशंसनीय प्रगति की गई। योजना की पूरी अवधि में तिलहन का निर्धारित लक्ष्य ५५ लाख टन था। केवल सन् १९५४-५५ तक ही ५८·७७ लाख टन तिलहन उत्पादित करके इसमें वृद्धि की। चीनी का निर्धारित लक्ष्य सन् १९५१-५६ तक के लिए ६३·१६ लाख टन है और सन् १९५४-५५ तक ५५·४६ लाख टन उत्पादन हुआ है। जूट का निर्धारित लक्ष्य ५,३९१ लाख गाँठें हैं, हालाँकि अभी तक ३१·२३ लाख गाँठें उत्पादित हुई हैं।

सामूहिक विकास कार्यक्रम—

कृषि के उत्पादन के साथ-साथ ग्रामीण जनता के रहन सहन का स्तर ऊँचा करने के सुनियोजित प्रयत्नों में जनता स्वयं कार्यशील है। प्रधान मन्त्री के शब्दों में सामूहिक विकास योजना और राष्ट्रीय विस्तार सेवा कार्यक्रम, पंच-वर्षीय योजना को गतिशील बनाने वाली शक्ति है।

भारत की ८२% जनता ग्रामों में है। ग्रामों के पुनर्निर्माण के लिये ही सामूहिक विकास योजनाएं बनाई हैं। राष्ट्रीय विस्तार सेवा कार्यक्रम और सामुदायिक विकास योजनाएं, सम्मिलित रूप से मोटे तौर पर कृषि के ही विकास में संलग्न हैं। इनके संयुक्त कार्यक्रम के अन्तर्गत पशुपालन, मच्छीमारी, कुटीर उद्योग, प्रौढ़ शिक्षा आदि ग्रामजीवन के मुख्य पहलू आते हैं। इस कार्य के लिये सामुदायिक योजनाओं को अतिरिक्त कर्मचारी तथा अधिक धन दिया गया है।

योजना की अवधि में १,२०० ग्राम खंडों में ६०,००० से लेकर ७०,००० जन-संख्या वाले ग्राम आते हैं। इस प्रकार प्रथम योजना की अवधि में एक चौथाई देश इसके अन्तर्गत आ जाएगा। दस वर्ष की अवधि में समस्त देश इसके अन्तर्गत आ जाने की अपेक्षा है। अक्टूबर सन् १९५५ तक ६८३ लाख जन-संख्या वाले १,०५,५२७ गावों में यह कार्य आरम्भ हो गया है। वहाँ किये गये काम—पशुपालन और कृषि सुधार, ऊसर भूमि को खेती योग्य बनाना, सिंचाई, स्वास्थ्य और आरोग्य, शिक्षा, नये

स्कूल खोलना तथा साधारण स्कूलों को बुनियादी स्कूलों में परिवर्तित करना, सामाजिक शिक्षा, ग्रामों में सड़कें बनाना, सहकारी संस्थायें चालू करना और इन सब कामों के लिए कार्य कर्त्ताओं को प्रशिक्षित करना—आदि हैं। विकास कार्यक्रमों में ग्रामीणों को अच्छे मकान बनाने की शिक्षा दी जाती है और ग्रामीण जीवन का महत्वपूर्ण अंग पचायत-संगठित करना भी सिखाया जाता है।

बिजली और सिंचाई—

एक कृषि प्रधान देश के लिये सिंचाई का महत्व पहचानते हुए योजना के निर्माताओं ने सिंचाई और बिजली के लिये ६२३ करोड़ रुपये की राशि निर्धारित की थी। स्वतन्त्रता से पूर्व समूचे देश के लिये सिंचाई और बिजली पर जितनी रकम खर्च की गयी थी, यह रकम उससे अधिक है। इस क्षेत्र में सिंचाई के अनेक छोटे मोटे काम ही केवल नहीं किये गये, जैसे—नए कुएं खोदना और पुराने कुओं की मरम्मत करना, ट्यूबवेल्स खोदना, कुओं पर पम्प लगाना, तालाब और नहरें बनाना आदि, बल्कि साथ ही *भाखड़ा नांगल, दामोदर घाटी कार्पोरेशन, हीराकुड और तुंगभद्रा* आदि अनेक लाभ वाली विशाल योजनाओं पर भी तेजी से काम किया गया। हमारे प्रधान मत्री ने ८ जुलाई सन् १९५४ को भाखड़ा नहर चालू कर दी और २ जनवरी सन् १९५५ को राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने गुजरात में बस योजना के पहले बिजली-घर का उद्घाटन किया। दमोदर घाटी योजना का बोकारो थर्मल स्टेशन और तिलैया पनबिजली केन्द्र चालू हो चुके हैं। हीराकुड और तुगभद्रा योजनाओं पर भी सतोष-जनक प्रगति हो रही है। चम्बल और कोसी जैसी कुछ नई योजनाएं भी हाथ मे ले ली गई हैं। इन योजनाओ की अब तक की प्रगति के फलस्वरूप मार्च सन् १९५५ तक लगभग ६५ लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि में सिंचाई का प्रबन्ध हो गया है और १८ लाख ३० हजार किलोवाट बिजली तयार होने लगी है।

उद्योग—

भारत में आज एक औद्योगिक क्रान्ति आरम्भ हो रही है। स्वतन्त्रता के बाद औद्योगिक उत्पादन का देशनांक (Index) उच्चतम है यदि सन् १९४६ में देशनांक (Index) १०० था तो आज मार्च १९५५ मे वही १६२ ६ है।

औद्योगिक क्षेत्र में सन् १९५४-५५ में इस्पात का उत्पादन १,२४३ हजार टन था। अल्युमीनियम का ५,४७६ टन, सीमेण्ट का ४,४१४ हजार टन और सूती कपड़े का ५०४ ६ करोड गज था। सन् १९५०-५१ में कुल १,०१,००० साइकिलें तैयार हुई थीं, जबकि सन् १९५४-५५ में ५,३०,००० हुई। हमने रेलों के इञ्जन और डिब्बे बनाने आरम्भ कर दिए हैं। सन् १९५३-५४ के ६४ इञ्जनों के मुकाबले में चितरञ्जन के इञ्जन के कारखाने में अप्रैल सन् १९५४ से दिसम्बर तक की अवधि मे ८६ इञ्जन बने। सिलाई की मशीनें, जिनका उत्पादन सन् १९५० ५१ मे ३३,००० था, बढ़ कर सन् १९५४-५५ में ७१,००० हुआ। इसी प्रकार चालन सुषव (Power Alcohol) का उत्पादन ५० लाख गैलन से ८७ लाख गैलन हुआ, रेयान (Rayon) के धागे

का ७ ९ लाख पौंड से २१६ १ लाख पौंड हुआ, सलफ्यूरिक एसिड का ११,००० टन से १,२६,००० टन हुआ, अमोनियम सल्फेट का ४६,००० टन से ३,६९,००० टन हुआ।

सरकार ने कई बड़े कारखानों की स्थापना की है, उदाहरणार्थ सिंद्री का रसायनिक खाद का कारखाना, चितरञ्जन का इञ्जन कारखाना, बिरला मिट्टी का कारखाना, भारतीय टेलीफोन उद्योग, हिन्दुस्तान केबल्स, अलिपुर की नई टकसाल, पेराम्पुर का सवारी गाड़ी के डिब्बों का कारखाना और कल-पुर्जों, औजार आदि का कारखाना, इत्यादि। भारत सरकार ने तीन नये इस्पात कारखाने खोलने का भी फैसला किया है।

देश के विभिन्न भागों में लगभग एक दर्जन राष्ट्रीय प्रयोगशालायें स्थापित की गई हैं, जिससे वैज्ञानिक अनुसन्धान का देश के सर्वतोमुखी विकास में उपभोग हो सके।

परिवहन और सचार—

इस क्षेत्र में हमने काफी प्रगति की है। भारतीय रेल्वे ने अपनी स्वतन्त्र पंच वर्षीय योजना बनाई और निर्धारित लक्ष्य की ८०% सफलता तीन वर्षों में प्राप्त कर ली। मार्च सन् १९५५ तक ७०३ मील का नया रेल मार्ग चालू किया गया और ३९० ६९ मील रेल मार्ग का पुनर्निर्माण किया। योजना की चार वर्ष की अवधि में ३,०३६ सवारी गाड़ी के डिब्बे, २७,६६६ माल वाहक डिब्बे और ३२१ इञ्जन बनाए गये।

विशाखापट्टम में हिन्दुस्तान शिपयार्ड ने महासागर की यात्रा के योग्य ११ जहाज बनाये। कुल जहाज भार (Tonnage) १,७३,९६१ (जी० आर० टी०) है। राष्ट्रीय मार्गों की मरम्मत की जा रही है चार ५४० मील के नये मार्ग बनाये गये है। इनके अतिरिक्त भी सड़कें बनाई गई है। १९ बड़े पुल भी बनाये गये हैं।

नवम्बर सन् १९५५ तक समस्त भारत के आकाशवाणी केन्द्रों की संख्या २२ हो जायेगी। अधूरी योजनाएँ पूरी हो जाने के बाद ४,७८,००० वर्गमील क्षेत्र व्याप्त करेंगी। सन् १९५१ ५५ की चार वर्ष की अवधि में ७१,९४० अतिरिक्त टेल फोन एक्सचेन्ज लाइनें चालू की गई।

विस्थापितों का पुनर्वास—

देश के स्वतन्त्र होने के तुरन्त बाद एक बहुत बड़ी समस्या पाकिस्तान से आये लगभग एक करोड़ विस्थापित व्यक्तियों के पुनर्वास की थी। सरकार ने इन व्यक्तियों के पुनर्वास के लिये १३० करोड़ रुपये की राशि स्वीकार की। अधिकतर व्यक्तियों को अब जल्दी मुआवजा दिया जा रहा है।

सामाजिक कल्याण—

अगस्त १९५३ में एक समाज कल्याण बोर्ड की स्थापना की गई, जिसका ध्येय देश में समाज कल्याण के कार्य को प्रोत्साहन देना है। इस बोर्ड ने अन्य समाज

कल्याण कार्यों के अतिरिक्त पिछड़े वर्गों की स्त्रियों और बच्चों के कल्याण का काम भी अपने हाथ में ले लिया है।

पिछड़े वर्गों का कल्याण—

पिछड़े वर्गों के लिए १९५१-५५ तक की अवधि में किये गये कल्याण कार्यों के अन्तर्गत ४१,१२४ स्कूल, ३१३ छात्रालय, ८६२ प्रौढ़ शिक्षा और संस्कार केन्द्र खोले गये। लगभग १६,०१,१३६ विद्यार्थियों को छात्र-वृत्तियाँ, आंशिक वेतन तथा किताबें वितरित की गई।

शिक्षा—

आशा की जाती है कि पंच-वर्षीय योजना की अवधि में हर पांच बच्चों में से तीन बच्चों को प्राथमिक शिक्षा मिल सकेगी। मार्च १९५५ के अन्त तक २०,००० नये प्राइमरी स्कूल और ५,७०० जूनियर बेसिक स्कूल खोले गये हैं। आशा की जाती है कि १९५६ तक प्राइमरी स्कूलों में छात्रों की संख्या २३६ लाख और जूनियर स्कूलों में ७६ ८१ लाख हो जायगी।

स्वास्थ्य—

जनता के स्वास्थ्य का स्तर ऊँचा करने का भरसक प्रयत्न किया जा रहा है। योजना के आरम्भ में यहाँ ६३,००० व्यक्तियों के पीछे एक डाक्टर था, इसलिए पंच वर्षीय योजना में स्वास्थ्य को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। १९५५ तक २,३८५ नये अस्पताल खोले गये। आशा है कि मार्च १९५६ तक पलंगों की संख्या १,२५,००० और सूतिकागृह तथा शिशु-कल्याण केन्द्रों की संख्या २३३ हो जाएगी। योजना में इनकी निर्धारित संख्या १,१७,००० और २९६ है। ग्रामों में आरोग्य और स्वास्थ्य सुधारने के लिए भरसक प्रयत्न किया जा रहा है। राज्यों में काम करने वाले १३६ मलेरिया कन्ट्रौल यूनिटों में से ९६ यूनिट ९६० लाख जनता की सेवा में व्यस्त हैं। १९५४-५५ में बी० सी० जी० के टीके लगाने वालों के १२० दल, जिनके साथ एक डाक्टर और ६ टेक्निशियन थे, भिन्न भिन्न राज्यों में काम कर रहे थे। १९५५ के आरम्भ तक ३८० लाख व्यक्तियों की परीक्षा की गई और १२० लाख व्यक्तियों से अधिक को टीका लगाया गया।

उपसंहार—

भारत की प्रथम पंच-वर्षीय योजना एक महान् राष्ट्रीय प्रयास का प्रतीक है। चार वर्षों की अवधि की समाप्ति पर आज हमें राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था दृढ़ और सुस्थिर रूप में दिखाई देती है। योजना की अब तक की सफलता का श्रेय भारतीय नागरिकों के सम्मिलित प्रयत्नों को ही है। यह जनता की योजना है और जनता का कल्याण ही इसका उद्देश्य है। अब तक की कार्य सिद्धि से प्रोत्साहित होकर देश में द्वितीय योजना की रूपरेखा तैयार की जा रही है, जिसके अन्तर्गत अगले पांच वर्षों में, अर्थात् १९५६ से १९६१ तक ४,३०० करोड़ रुपये की राशि विकास कार्यों पर खर्च की जायगी।

दूसरी पञ्च-वर्षीय योजना—

विश्वास के वातावरण में नई तैयारी—

पहली पच-वर्षीय योजना का मुख्य उद्देश्य ऐसा आधार तैयार करना था, जिस पर अधिक प्रगतिशील और सर्वाङ्गीण अर्थ-व्यवस्था का निर्माण हो सके। उस समय कुछ बड़ी जरूरी समस्यायें सामने थीं, जैसे अनाज और कच्चे माल की कमी, मुद्रा बाहुल्य इत्यादि, पर वास्तव में पहली योजना भविष्य में और तेजी से विकास करने की तैयारी के लिए थी। दूसरी योजना उन कार्यों को और आगे बढ़ायेगी, जो शुरू हो चुके हैं। पहली योजना का देश की अर्थ-व्यवस्था पर अच्छा असर पड़ा। औद्योगिक उत्पादन और कृषि उपज दोनों में काफी वृद्धि हुई है। अब चीजों की कीमतें भी मुनासिब हो गई हैं। विदेशों से हमारा लेन-देन भी प्रायः सन्तुलित है। पहली योजना के मुख्य-मुख्य लक्ष्य पूरे हो गये हैं और कुछ काम तो लक्ष्य से भी अधिक हुये हैं। इन पाँच सालों में १ करोड़ ७० लाख भूमि में सिंचाई का प्रबंध किया गया और देश की बिजली बनाने की क्षमता भी २३ लाख किलोवाट से बढ़ कर ३४ लाख किलोवाट हो गई है। रेलों में भी काफी सुधार हुआ है। कई नये सरकारी और निजी कारखाने चालू हुये हैं। अनुमान है कि राष्ट्रीय आय पिछले ५ सालों में १८ प्रतिशत बढ़ी है। सन् १९५५-५६ का विकास व्यय (सरकारी) भी सन् १९५१-५२ से ४॥ गुना अधिक होगा। निजी क्षेत्र में भी आशानुकूल धन लगाया गया। इस विकास के कारण किसी पर कोई खास बोझ नहीं पड़ा। योजना से लोगों में सहकार और सहयोग की भावना की काफी जाग्रति हुई है। इससे देश में विश्वास का वातावरण उत्पन्न हुआ है और लोगों को बहुत सी आशाएँ बंधी हैं।

दूसरी पंच-वर्षीय योजना निम्न उद्देश्य को सामने रखकर बनायी गई है:—

(क) देश के रहन-सहन का स्तर ऊँचा करने के लिए राष्ट्रीय आय में पर्याप्त वृद्धि करना।

(ख) तेजी से देश में उद्योगों और विशेष रूप से भारी तथा मूल उद्योगों की वृद्धि करना।

(ग) रोजगार की व्यापक वृद्धि करना।

(घ) लोगों की आय और सम्पत्ति के भारी अन्तर को दूर करना और सम्पत्ति का समान वितरण करना।

ये सब बातें परस्पर सम्बद्ध हैं। इनकी प्राप्ति के लिए देश की जन शक्ति और प्राकृतिक साधनों का समुचित उपयोग करना होता है। यहाँ की विशाल जन-संख्या को देखते हुए रोजगार की सुविधाएँ बढ़ाना भी स्वतः एक उद्देश्य है। विकास इस ढंग से होना चाहिए कि आर्थिक और सामाजिक असमानता दूर हो और इसके लिए जनतन्त्री मार्ग अपनाया जाय। आर्थिक उद्देश्य सामाजिक उद्देश्यों से पूर्णतः अलग नहीं है।

विकास का मूल उद्देश्य तेजी से उद्योगों की वृद्धि है। इसके लिए पहले मशीनें

बनाने वाले उद्योगों को बढ़ाना चाहिए ताकि उपभोग्य वस्तुओं और अन्य सामान बनाने की मशीनें बन सकें और यह सामान जल्दी ही देश में बनने लगे। इसके लिए लोहे, इस्पात, अलौह धातुओं, कोयले, सीमेंट, रासायनिक पदार्थों आदि के उद्योगों में काफी विस्तार होना चाहिये।

रोजगार—

योजना में हम जितनी पूँजी लगाने की व्यवस्था करेंगे, रोजगार की सम्भावनाओं की वृद्धि उसी के हिसाब से होगी। आयोग इस परिणाम पर पहुँचा है कि शायद पिछले बेकारों को काम देने में यह आयोजन सफल न हो पर इसके काल में जो मजदूरी चाहने वाले नये लोग पैदा होंगे, उन्हें रोजगार मिल जायगा और गाँवों में छोटे उद्योगों और खेतों के मजदूरों को पहले से अधिक काम मिल सकेगा। खानों, कारखानों, इमारत उद्योग, व्यापार और परिवहन में निस्सन्देह खेती के मुकाबले अधिक लोगों की माँग होगी। सिंचाई, जमीन के कटाव की रोक, पशु-धन के सुधार, कृषि और छोटे तथा ग्रामोद्योग से गाँवों में काफी हद तक बेकारी दूर होगी। योजना में भारी संख्या में सरकारी और गैर सरकारी मकान बनाने की व्यवस्था है। इससे भी बेरोजगारी दूर करने में सहायता मिलेगी।

समाजवादी व्यवस्था—

आर्थिक दृष्टि से समाजवादी व्यवस्था को हमने अपना ध्येय मान लिया है, अतः अब हमें नफे के लालच से नहीं बल्कि समाज के लाभ की दृष्टि से आगे बढ़ना होगा। आर्थिक विकास का अधिकाधिक लाभ उन लोगों को मिलना चाहिए, जो अभी तक इससे वंचित रहे हैं। इस प्रकार धन और सम्पत्ति तथा आर्थिक शक्ति भी थोड़े से लोगों के पास ही नहीं इकट्ठी होनी चाहिए। अब ऐसी व्यवस्था की आवश्यकता है, जिसमें अभी तक का उपेक्षित वर्ग संगठित प्रयत्न से अपने और अपने देश को धन-धान्य से सम्पन्न बना सके।

सरकारी तथा निजी क्षेत्र—

सरकारी तथा निजी क्षेत्रों में जो विकास कार्य किये जायेंगे, उन्हें एक साथ देखना होगा। योजना में वस्तुओं के उत्पादन तथा सेवाओं में जो वृद्धि होगी, वह इन्हीं क्षेत्रों के सम्मिलित विकास-कार्यों के परिणामस्वरूप होगी। इनका कार्य एक दूसरे के सहयोग से होगा तथा इन दोनों के कार्यक्रम एक ही व्यवस्था के अंग होंगे। सरकार निजी क्षेत्र के कार्यों का लायसेंस के द्वारा नियमन करेगी और इनके उत्पादन-लक्ष्य निर्धारित करेगी, ताकि काम तेजी से हो और निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति में सुविधा हो सके। सरकारी क्षेत्र के सिंचाई, बिजली, परिवहन के विस्तार कार्यों से निजी क्षेत्र की उत्पादन-शक्ति का भी विकास होता है। उपयुक्त मूल्य-स्तर को कायम रखकर निजी क्षेत्र को इच्छित साधन जुटाने का प्रोत्साहन दिया जा सकता है। सन् १९४८ के संकल्प के अनुसार अस्त्रशस्त्रों तथा गोला-बारूद का निर्माण, अणु-शक्ति का उत्पादन तथा नियंत्रण तथा रेलों का स्वामित्व और प्रबन्ध केन्द्रीय सरकार के हाथ में रहना

चाहिए। उसमें इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि सकट काल मे सरकार राष्ट्रीय प्रतिरक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण किसी भी उद्योग को अपने अधिकार में ले सकती है। संकल्प में ऐसे १८ महत्त्वपूर्ण उद्योगों का भी उल्लेख है जिन पर केन्द्रीय सरकार का नियत्रण तथा उसके द्वारा विनिमय होना चाहिये। अब सरकारी क्षेत्र में आने वाले तथा सरकारी विनिमय और नियत्रण में निजी क्षेत्रों के आधीन आने वाले उद्योगों का पुनर्निर्धारण करने का विचार किया जा रहा है। औद्योगिक क्षेत्र में, बुनियादी, पूँजीगत सामान तथा भारी मशीनें बनाने वाले कारखाने सरकारी स्वामित्व तथा प्रबन्ध में होने चाहिए। इस क्षेत्र में भी कुछ परिस्थितियों में कुछ कारखाने सरकार तथा निजी उद्योग के सम्मिलित स्वामित्व और प्रबन्ध मे हो सकते हैं। जिन उद्योगों को सरकार लम्बे समय के लिए धन देकर पर्याप्त सहायता पहुँचा सकती है उनमें सरकार को ऋणों पर ब्याज लेने की अपेक्षा स्वामित्व तथा प्रबन्ध में भागीदार बनना चाहिये। यह बात स्पष्ट रूप से स्वीकार की जानी चाहिये कि सरकारी क्षेत्र मे विस्तार हो और विशाल औद्योगिक क्षेत्र पर उसका स्वामित्व तथा प्रबन्ध हो।

छोटे तथा घरेलू उद्योग—

विकास तथा बेकारों के लिए काम निकालने के दृष्टिकोण से इन उद्योगों का विशेष महत्व है। यह बहुत जरूरी है कि इनको बढ़ावा दिया जाय, इन्हें आधुनिक ढग का बनाया जाय और इनका पुनर्गठन किया जाय। बहुत से लघु उद्योग ऐसे हैं जो घरों के हिस्सों में ही स्थापित हैं। इनमें श्रमिकों के लिए जगह की बहुत कमी रहती है और उन्हें अन्य आवश्यक सुविधाएँ भी नहीं मिल पातीं, इसलिए यह आवश्यक है कि गाँवों में सामूहिक कारखाने सगठित किये जाएँ, जहाँ विभिन्न उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों को उचित वातावरण मिले और वे एक दूसरे से मिल सकें। इसी प्रकार यह भी जरूरी है कि छोटे और बीच की किस्म के उद्योग ऐसे औद्योगिक क्षेत्रों में स्थापित किए जाएँ जहाँ सरकार की ओर से परिवहन, बिजली आदि की सुविधाएँ दी गई हों। यहाँ ग्राम और लघु उद्योगों के द्वारा ज्यादा लोगों को काम देना तथा उत्पादन बढ़ाना सम्भव है तथा जहाँ यह उद्योग उत्तरोत्तर उन्नत प्रणालियों को अपना सकते हैं, वहाँ उत्पादन के ऐसे कार्यक्रम बनाने चाहिये, जिनमें बड़े कारखानों तथा छोटे उद्योगों का सम्मिलित योग हो। वर्तमान लघु उद्योगों द्वारा तैयार की जाने वाली उपभोक्ता-वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने तथा धीरे धीरे इन उद्योगों में टेकनीकल सुधार करने की आवश्यकता पर द्वितीय योजना में बहुत जोर दिया गया है। इन लघु तथा ग्राम उद्योगों को सहकारिता के आधार पर संगठित करना है। कारखानों तथा लघु उद्योगों के उत्पादन के लिए अलग अलग क्षेत्रों की व्यवस्था करनी होगी और कहीं निश्चित मूल्यों पर सामग्री की खरीद और सरकार द्वारा प्रेरित या सहकारिता के आधार पर हाट व्यवस्था का प्रबन्ध करना होगा।

समस्या केवल दस्तकारियों और ग्रामोद्योगों में लगे कर्मचारियों के हित की रक्षा करने मात्र की नहीं है। उत्पादन के नये ढङ्ग निकालने की भी एक बडी समस्या

है। यदि ग्रामोद्योगों और छोटे उद्योगों ने अब तक सन्तोषजनक प्रगति नहीं की तो इसका एक कारण हमारी अर्थ-व्यवस्था का निश्चल होना भी था, जिसके कारण इन उद्योगों के बने पदार्थों की माँग ही न थी। विकास कार्यक्रम के कारण जब नियोजन में बढ़ोत्तरी होगी, तो स्वत ही वर्तमान माँग बढ़ जायगी और नयी माँग पैदा हो जायगी। कुशल और विकेन्द्रित छोटे उद्योग इस माँग को पूरा कर सकते हैं। बड़े कस्बों और नगरों के विकास के साथ-साथ कुछ हद तक तो औद्योगीकरण अवश्यम्भावी ही है। एक सीमा के बाद इन उद्योगों से पैदा होने वाली गन्दी बस्तियाँ और अस्वास्थ्यकर परिस्थितियों के कारण सामाजिक खर्चे भी बढ़ जाते हैं। न केवल इस दृष्टि से, बल्कि गाँव वालों और अर्ध शहरी क्षेत्रों में रहने वालों की आमदनी बढ़ाने की दृष्टि से भी छोटे उद्योगों के विकास पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। केवल इसी तरह हम अपने देश की कुशल और विशाल जनता की योग्यता का पूरा प्रयोग कर सकते हैं।

योजना के व्यय का वितरण—

दूसरी योजना की अवधि में केन्द्रीय राज्य सरकारों का विकास के कामों पर कुल ४,८०० करोड़ रुपया खर्च बैठेगा। खर्च की मुख्य-मुख्य मदें ये हैं—

योजना की बड़ी बड़ी मदों का नियोजन (करोड़ रु० में)

मद	पहली योजना कुल निर्धारित खर्च	प्रतिशत	दूसरी योजना कुल निर्धारित खर्च	प्रतिशत
(१) खेती और सामुदायिक विकास	३७२	१६	५६५	१२
(२) सिंचाई और बाढ़ की रोक	३६५	१७	४५८	६
(३) शक्ति (बिजली)	२६६	११	४४०	६
(४) उद्योग और खनिज	१७६	७	८९१	१६
(५) परिवहन और संचार	५५५	२४	१,३८४	२६
(६) सामाजिक सेवायें, मकान और पुनर्वास	५४७	२३	६४६	२०
(७) फुटकर	४१	२	११६	२
कुल जोड़	२,३५६	१००	४,८००	१००

दूसरी योजना में मुख्य जोर औद्योगीकरण पर है। उद्योग के साथ खानों और रेलों का विकास भी है। इस प्रकार उद्योग, खान, परिवहन और संचार पर मिलाकर दूसरी योजना का कुल व्यय का आधा खर्च किया जायगा। पहली योजना में यह खर्च करीब एक तिहाई था। यदि बिजली की शक्ति को भी उद्योग के साथ रख लें, तो कुल खर्च ५७% बैठता है। पहली योजना में सिंचाई और खेती के विकास के कामों का कुल खर्च का एक तिहाई खर्च रखा था, दूसरी में यह ⅕ है। समाज सेवा पर, जिसमें

मकान और पुनर्वास भी शामिल है, पहली योजना में भी लगभग इतना ही रुपया रखा गया था।

औद्योगीकरण का महत्त्व स्पष्ट है। इस समय देश खेती पर बहुत निर्भर है। यदि हमें उन्नति करनी है तो बुनियादी उद्योगों पर अधिक ध्यान देना होगा। यद्यपि खाद्य और आवश्यक कच्चे माल का अभाव दूर कर दिया गया है। फिर भी हम इस ओर से शिथिल नहीं हो सकते। देश की जन-संख्या प्रति वर्ष ४५ से ५० लाख की गति से बढ़ती जा रही है। दूसरी योजना की अवधि में खाद्य और कच्चे माल दोनों की मांग बहुत बढ़ेगी, इसलिए सिंचाई, अच्छे बीज व खाद तथा खेती के सुधार के अन्य उपायों पर जोर देना होगा।

राज्यों का व्यय—

४,८०० करोड़ रुपये के विकास व्यय में २,२१४ करोड़ रुपया राज्यों की योजनाओं पर दिखाया गया है। राज्यों की योजनाओं का विवरण नीचे की सूची में दिया गया है :—

राज्यों की योजनायें

			(करोड़ रु० में)
आंध्र	....	....	११६·२
आसाम	....	....	२६·४
बिहार	....	....	१६२·६
बम्बई	....	....	२६४·५
मध्य-प्रदेश	....	....	१२२·३
मद्रास	....	....	१७०·३
उड़ीसा	....	....	६७·३
पंजाब	....	....	१२६·२
उत्तर-प्रदेश	....	....	२४८·६
पश्चिमी बंगाल	....	....	१५२·५
	योग		१४५८·१
हैदराबाद	....	....	१००·०
मध्य भारत	....	....	६६·५
मैसूर	....	....	७८·०
पटियाला संघ	....	....	३६·१
राजस्थान	....	....	२६·८
सौराष्ट्र	....	....	४७·६
तिरुवांकुर कोचीन	....	....	७७·३
जम्मू और काश्मीर	....	....	३३.१
	योग		५२६·२

अजमेर	....	....	७'८
भोपाल	....	....	१४'३
कुर्ग	....	....	३'७
दिल्ली	....	....	१७'५
हिमाचल-प्रदेश	....	....	१४'७
कच्छ	....	....	[illegible]'८
मणिपुर	....	....	६'२
त्रिपुरा	....	....	८'५
विन्ध्य-प्रदेश	....	....	२४'७
	योग		१०५'२
अण्डमान और निकोबार द्वीप		....	५'०
उत्तर पूर्व सीमा अभिकरण		....	६'५
पांडीचेरी		....	४'७
	योग		१६'२
दामोदर घाटी मे केन्द्रीय सरकार का भाग			१२.२
			२२१४'०

निजी क्षेत्रों में लगने वाला धन—

दूसरी योजना में निजी क्षेत्र के उद्योग धन्धों पर लगभग २,३०० करोड रुपये लगने का अनुमान है, इसमें लगभग ५०० करोड रुपया सगठित उद्योगों और खानों पर लगेगा। लगभग १०० करोड रुपया बागानों तथा परिवहनो और बिजली के छोटे उद्योगों पर लगने का अनुमान है। खेती और गाँव के धन्धों पर मोटे तौर पर ३०० करोड रुपये का अनुमान है। मकान, दुकान, स्कूल आदि की इमारतों पर पाँच वर्ष में लगभग ४०० करोड रुपये लगने का अनुमान है।

इस प्रकार सरकारी और प्रायवेट क्षेत्रों को मिलाकर योजना का कुल व्यय ७,१०० करोड रुपये का बैठेगा।

योजना का वित्त प्रबन्ध—

योजना पर अनुमानित व्यय ४,८०० करोड रुपया किस प्रकार प्राप्त किया जायगा, उसका विवरण इस प्रकार है :—

(करोड रुपयों में)

१.	राजस्व से:—		
	(क) कर की वर्तमान दरों से	३५०	
	(ख) अतिरिक्त कर से	४५	८००

२.	जनता से ऋण लेकर—		
	(क) ऋण	७००	
	(ख) छोटी छोटी बचतें ...	५००	१,२००
३.	बजट के अन्य साधनों से —		
	(क) विकास कार्यक्रम में रेलों का भाग	१५०	
	(ख) प्रॉवीडेन्ट फन्ड तथा जमा रकमों से	२५०	४००
४.	बाहरी सहायता ...	..	८००
५.	घाटे की अर्थ-व्यवस्था ...	....	१,२००
६.	व्यवस्था अभी करनी है	....	४००
			४,८००

ऊपर की तालिका से प्रगट है कि कर की चालू दरों से ३५० करोड़ रुपये तथा नये कर लगा कर ४५० करोड़ रुपये प्राप्त किये जायेंगे। रेलवे अपने विकास कार्यक्रम के लिए १५० करोड़ रुपये देगी। इस रकम में से कुछ तो बढ़ी आमदनी से और कुछ किराये-भाड़े की दरों में संशोधन करके प्राप्त की जायगी। ऋणों और छोटी-छोटी बचतों के लक्ष्य में काफी वृद्धि की गई है। पिछले दो वर्षों में जनता से लगभग १ अरब रुपया ऋण के रूप में मिला है। पिछले कई वर्षों की अपेक्षा अब पूँजी अधिक सुलभ है। आशा है कि यह स्थिति जारी रहेगी, इसलिए योजना की अवधि में ७०० करोड़ रुपये का लक्ष्य अनुचित नहीं है। अल्प बचत योजना के अन्तर्गत जहाँ सन् १६५०-५१ में ३३ करोड़ रुपया इकट्ठा हुआ था, वहाँ चालू वर्ष में ६० करोड़ रु० इकट्ठा हुआ है। योजना की अवधि में अल्प बचत से औसतन १०० करोड़ रुपये प्रति वर्ष का लक्ष्य रखा गया है। यदि गाँव-गाँव और नगर-नगर में इसका पूरा प्रचार किया जाय, तो यह लक्ष्य अवश्य पूरा किया जा सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि राज्य सरकारें और गैर सरकारी संस्थायें समाज के हर वर्ग में बचत करने की आदत का प्रचार करें। प्रॉवीडेण्ट फण्ड एवं अन्य जमा से २५० करोड़ रुपये का अनुमान इन मदों के अन्तर्गत प्राप्तियों की वर्तमान एवं संभावी प्रवृत्तियों (Trends) के आधार पर किया गया है।

अब तक जिन साधनों की चर्चा की गई है, उनसे कुल २,४०० करोड़ रुपया मिलेगा। बाकी २,४०० करोड़ रु० प्राप्त होने की और समस्या है। इसका आधा अर्थात् १,२०० करोड़ रु० तो घाटे की अर्थ व्यवस्था से मिल सकता है। योजना के कुल व्यय का एक चौथाई घाटे की अर्थ व्यवस्था से निकलना ही इस बात का द्योतक है कि विकास के प्रारम्भिक चरण में कर बढ़ाना कितना कठिन होता है। विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था के लिए अधिकाधिक मुद्रा की आवश्यकता होती है, इसलिए एक सीमा तक घाटे की अर्थ-व्यवस्था का मार्ग अपनाना सुरक्षित ही नहीं बल्कि आवश्यक भी होता है, परन्तु इस सीमा को लाँघने से मुद्रा बाहुल्य हो जाता है। योजना में घाटे की

अर्थ-व्यवस्था पर जितना निर्भर किया गया है वह खतरे मे खाली नहीं है। यद्यपि विकास की खातिर इस खतरे को मोल लेना आवश्यक हो गया है, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर समाज और अधिकारियों को इससे बचने के लिए हर प्रकार के कदम उठाने को तैयार रहना चाहिए।

वर्तमान स्थिति में विदेशी सहायता का कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। पहली योजना की अवधि में विदेशी सहायता का औसत ४० करोड़ रु० प्रति वर्ष रहा है। दूसरी योजना में १६० करोड़ रु० प्रति वर्ष का अनुमान लगाया गया है, जो इससे कहीं अधिक है। विकसित देशों में विदेशों में लगाने के लिये जितनी पूँजी फालतू है उसे देखते हुए ८०० करोड़ रु० मिलने असम्भव नहीं हैं।

उत्पादन और विकास के लक्ष्य—

उत्पादन और विकास के मुख्य लक्ष्यों का ब्यौरा संक्षेप में यह है :—खेती की पैदावार में १८ प्रतिशत वृद्धि का लक्ष्य है, अनाज की पैदावार १५ प्रतिशत अथवा एक करोड़ टन बढ़नी है, कपास की ३४ प्रतिशत, शक्कर की २१ प्रतिशत, तिलहन की २१ प्रतिशत। इस समय ८ करोड़ आदमी राष्ट्रीय विस्तार और सामुदायिक विकास कार्यक्रम में आते हैं। दूसरी योजना में ३२ करोड़ २० लाख आ जायेंगे। पहली योजना में १ करोड़ ७० लाख एकड़ भूमि में सिंचाई हुई थी, दूसरी में २ करोड़ १० लाख एकड़ अधिक जमीन में सिंचाई की व्यवस्था हो जायगी। पहली योजना के शुरू में २३ लाख किलोवाट बिजली पैदा होती थी। सन् १९६०-६१ तक ३४ लाख किलोवाट बिजली और पैदा होने लगेगी तथा कुल मिला कर ६८ लाख किलोवाट हो जायगी। रेलों द्वारा यात्रियों के यातायात में तथा माल की ढुलाई में ३५% वृद्धि होने का अनुमान है, यद्यपि आवश्यकता यह होगी कि इससे भी अधिक वृद्धि की जाय। सन् १९५५-५६ में १३ लाख टन होने लगेगा। इसी प्रकार कोयले का उत्पादन ३७० लाख टन से बढ़ कर ६०० लाख टन व सीमेन्ट का ४८ लाख टन से बढ़कर १०० लाख टन हो जायगा। इस प्रकार उत्पादन सामग्री की तैयारी कुल १५०% बढ़ने की आशा है।

राष्ट्रीय आय और रोजी—

नीचे की तालिका में पहली और दूसरी योजना में राष्ट्रीय आय में प्रत्याशित वृद्धि का विवरण दिया गया है :—

उद्योग जन्य शुरू राष्ट्रीय उत्पादन

(सन् १९५२-५३ के भावों के अनुसार करोड़ रुपयों में)

	१९५०-५१	१९५५-५६	१९६०-६१	१९५१-५६	१९५६-६१
१ खेती और सम्बन्धित काम	४,४५०	५,२३०	६,१७०	१	१८
२. खान	८०	९५	१५०	१९	५८
३. कारखाने	५९०	८४०	१,३८०	४३	६४
४. छोटे उद्योग	७४०	८४०	१,०८५	१४	३२
५. निर्माण	१८०	२२०	२९५	२२	३४

६	वाणिज्य, परिवहन और संचार	१,६१०	१,८५५	२,३००	१४	२३
७	व्यवसाय और चाकरी (मय सरकारी नौकरी)	१,४२०	१,७००	२,१००	२०	२३
८	कुल राष्ट्रीय उत्पादन	९,११०	१०,८००	१३,४८०	१८	२५
९	प्रति व्यक्ति आय (रुपये)	२५५	२८०	३३०	१०	१८

राष्ट्रीय आय में २५ प्रतिशत वृद्धि की आशा है, अर्थात् सन् १९५५-५६ में १०,८०० करोड़ रु० से बढ़ कर सन् १९६०-६१ में यह १३,४८० करोड़ रु० हो जायगी। प्रति व्यक्ति आय २८० रु० से १८ प्रतिशत बढ़कर ३३० रु० हो जायगी। पहली योजना में कल्पना की गयी थी सन् १९७१-७२ तक राष्ट्रीय आय दुगुनी हो जायगी। पहली योजना में १८ प्रतिशत वृद्धि हुई, दूसरी में २५ प्रतिशत की आशा है। यदि यही गति तीसरी और चौथी योजना में भी कायम रही तो सन् १९६८ तक ही राष्ट्रीय आय दुगुनी हो जायगी। दूसरी योजना की अवधि में खेती को छोड़कर अन्य क्षेत्रों में करीब ८० लाख और आदमियों को काम मिलने की आशा है। यह पूरे समय का काम होगा। खेती के सम्बन्ध में अन्दाज कठिन है कि कितना पूरे समय का काम होगा कितना अधूरे समय का। चूँकि अन्य क्षेत्रों में काम बढ़ेगा, इसलिए आशा है कि खेती पर निर्भर लोगों की संख्या अधिक न बढ़ेगी। छोटे और गाँव के धन्धों के विकास से भी काफी लोगों को पूरा काम मिलेगा। काम करने वालों की संख्या करीब एक करोड़ बढ़ेगी। आशा है कि करीब इतने ही लोगों को काम भी मिल सकेगा।

निष्कर्ष—

यह आवश्यक है कि पाँच वर्ष की अवधि के लिए जो योजना बनायी जाय वह *ऐसी हो कि आवश्यकता पड़ने पर उसमें परिवर्तन भी किये जा सकें।* *दूसरी योजना* की इस रूप-रेखा में यह बताया गया है कि हमें कितने बड़े बड़े काम करने हैं, उनसे क्या क्या लाभ होंगे तथा इन कामों को करने के लिए अपने साधनों का किस प्रकार उपयोग करना होगा। योजना में जो नीति अपनायी जायगी, उसका देश पर क्या प्रभाव पड़ेगा, यह भी समझाया गया है। यह भी सम्भव है कि योजना का कार्यक्रम पूरा होने में कुछ अधिक समय लग जाय। शायद अनुभव से पता लगे कि कुछ क्षेत्र में प्रगति जल्दी हो सकती है और कुछ में धीमे, इसलिए सम्भव है कि समय-समय पर योजना में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करने पड़ें। इसके लिए अर्थसंकलन और टैक्नीकल काम को निरन्तर चालू रखना पड़ेगा। जैसे जैसे विकास होता जायगा, नयी-नयी समस्याएँ भी खड़ी हो जायँगी। फिर कुछ कामों के लिए तो पाँच वर्ष की अवधि काफी होती पर कुछ के लिए १५-२० वर्ष की लम्बी अवधि चाहिए। ज्यों-ज्यों लम्बी अवधि के काम स्पष्ट होते जायँगे या जब विकास की नयी नयी सम्भावनाओं का पता चलेगा, तो विभिन्न कार्यक्रमों की प्राथमिकता भी बदली जा सकती है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए यह कहना उचित होगा कि यह योजना की मोटी रूप रेखा है, जिसमें एक-एक वर्ष के लिए कार्यक्रम बनाना पड़ेगा और उसे कार्यान्वित करना पड़ेगा।

---

[४१]

विज्ञापन एवं विक्रयकला

रूपरेखा—

१. *प्रस्तावना*—साधारणतः 'विज्ञापन' का अर्थ 'सूचना देना' होता है। वर्तमान युग ही विज्ञापन का युग है। विज्ञापन का अवलम्बन मुख्यतः निम्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है—(१) नवनिर्मित वस्तुओं के सम्बन्ध में जनता को सूचना देना। (२) उत्पन्न की हुई माँग को स्थिर रखना तथा (३) माँग को और अधिक बढ़ाना। विक्रय-वृद्धि के लिए जिन साधनों का उपयोग किया जाता है, उन्हें हम 'विक्रय कला' कह सकते हैं।

२. *विज्ञापन के गुण तथा दोष*—विज्ञापन व्यवसाय से अनेक लोगों की आजीविका चलती है। विज्ञापन से समाचार-पत्रों की आय बढ़ती है तथा वे अति सस्ती दर पर बेचे जा सकते हैं। विज्ञापन की सहायता से मध्यस्थों की संख्या न्यूनतम रह जाती है। इससे उत्पादन-व्यय में भी मितव्ययिता लाई जा सकती है। विज्ञापन से अनेक लोगों को शिक्षा भी मिलती है। इसके माध्यम से जनता को नई वस्तुओं की जानकारी होती है। विपरीत ऋतु मे भी वस्तुओं का विक्रय सुगमता से हो जाता है तथा अस्वस्थ प्रतिद्वन्द्विता का विनाश किया जा सकता है। इससे व्यापार की ख्याति भी बढ़ती है। विक्रय-कला, विज्ञापन की सफलता के लिए नितान्त आवश्यक है। आधुनिक 'व्यापार का प्राण' होते हुए भी विज्ञापन में कुछ दुर्बलतायें हैं, इसके लिये पर्याप्त व्यय करना पड़ता है। यह उपभोक्ता के मन को चलायमान कर देता है। नगर की प्राकृतिक शोभा में कालिमा आती है, किन्तु फिर भी बिना विज्ञापन के व्यावसायिक सफलता असम्भव है। इन दोषों के निवारण के लिए राजकीय नियन्त्रण आवश्यक है। विज्ञापन की कुछ मर्यादायें भी हैं।

३. *विज्ञापन का संगठन*—विज्ञापक को स्वयं मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञ होना चाहिए। विज्ञापन राशि का निर्धारण करते समय बड़ी दूरदर्शिता की आवश्यकता है। प्रभावी विज्ञापन बनाने के लिए मुद्रण-कला से भी परिचित होना चाहिए। विज्ञापन विभाग एवं विक्रय विभाग में परस्पर सहयोग होना चाहिए।

४. *विज्ञापन का वर्गीकरण एवं इसके साधन*—विज्ञापन तीन प्रकार के हो सकते हैं :—जनता को आकर्षित करने के लिए निर्माताओं का आकर्षित करने के लिए तथा विशिष्ट दूकानदार द्वारा दिये गये विज्ञापन। मुख्य साधन—(१)

समाचारपत्रीय विज्ञापन, (२) वाह्य विज्ञापन, (३) डाक द्वारा विज्ञापन, (४) अन्य विविध साधन। प्रभावी विज्ञापन की आवश्यकतायें।

५. *विक्रेता के वैयक्तिक गुण*—एक सफल विक्रेता में प्राकृतिक प्रतिभा तथा वैयक्तिक विशेषताओं का होना आवश्यक है। उसे प्रसन्न आकृतिवाला, महत्त्वाकांक्षी, युक्ति सम्पन्न, उत्सुक, धैर्यवान एवं चतुर बुद्धिवाला होना चाहिये।

६. *उपसंहार*—हमारे देश में अधिकतर व्यवसायी विक्रय कला के महत्त्व को नहीं जानता। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका इस कला में पारंगत है। इसको भी उसके पद चिन्हों पर चलना चाहिये।

प्रस्तावना—

साधारणतः 'विज्ञापन' शब्द का अर्थ 'सूचना देना' होता है, किन्तु आधुनिक वाणिज्य जगत में इसका अर्थ अधिक विस्तृत है। आज-कल विज्ञापन शब्द की परिभाषा के अन्तर्गत हम उन सभी साधनों का समावेश करते हैं, जिनके द्वारा उपभोक्ताओं को नव-निर्मित वस्तुओं की जानकारी प्राप्त होती है। विज्ञापन का एक मात्र उद्देश्य जनता को विभिन्न वस्तुओं के सम्बन्ध में जानकारी कराना, उपभोक्ताओं के हृदय में वस्तुओं को क्रय करने के लिये कौतूहल पैदा करना, वस्तुओं के उत्तम होने का विश्वास जमाना, जनता के मस्तिष्क में वस्तुओं के गुणकारी होने की छाप लगाना तथा इस प्रकार उनकी माँग में अधिकाधिक वृद्धि करना होता है।

वर्तमान युग ही सचमुच "विज्ञापन का युग" है। आज-कल प्रायः प्रत्येक पदार्थ प्रचारक प्रतीत होता है। उदाहरण के लिये, जरा बम्बई नगर के मैरीन-कोस्ट (Marine Coast) की कल्पना कीजिये। वहाँ की चौड़ी सड़कें कभी भी खाली नहीं दीखेंगी। ट्राम, टैक्सी, डबल-स्टोरी बसें एवं विद्युत-शक्ति से चलने वाली रेल-गाड़ियों का वहाँ बड़ा बोलबाला है। यातायात के ये सभी साधन अपने भीतर अथवा बाहर किसी न किसी प्रकार का सन्देश लेकर नगर में चक्कर काटते हैं—कोई डालमियाँ के बिस्कुट का प्रचारक है, कोई मथाराम की टॉफी का, कहीं मनहर स्नो का विज्ञापन लगा है तो कहीं माइल क्रीम का, इत्यादि। सन्ध्या के समय सागर में टिमटिमाता हुआ प्रतिबिम्ब भी मैरीन-कोस्ट के पथिकों को यह सूचना देता है कि 'झनक-झनक पायल बाजे' चित्रपट का रजत-जयन्ती सप्ताह प्रारम्भ हो गया है। विज्ञापन का यहीं अन्त नहीं होता। मैरीन-कोस्ट की यात्रा समाप्त करके घर पहुँचकर विश्राम एवं मनोरंजनार्थ ४१ मीटर बेण्ड पर रेडियो खोल दिया—सीलोन के व्यापार विज्ञापन विभाग से यह समाचार मिला कि "गर्मियों में मानसिक शांति के लिये गुरुकुल काँगड़ी का आँवला-हेयर आयल प्रयोग करना चाहिये।" लता के एक मधुर गीत के बाद पुन सूचना मिली कि "दाँतों की सफाई के लिये विनाका क्रीम का इस्तेमाल करना चाहिये।" फिर रेडियो बन्द कर दिया और चाय का प्याला उठाकर 'नव-भारत टाइम्स' के पन्ने पलटने लगा। दूसरे पृष्ठ पर विज्ञापनों की भरमार थी। 'धर्मयुग'

के पन्ने तो विविध व्यापारिक समाचारों से रंगे पड़े थे। कहाँ तक वर्णन किया जाय, आज की दुनिया ही विज्ञापनमयी हो रही है। 'विज्ञापन' की उपरोक्त परिभाषा से यह स्पष्ट है कि विज्ञापन साधनों का अवलम्बन मुख्यतः निम्न उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु किया जाता है—(१) नव निर्मित वस्तुओं के सम्बन्ध में जनता को सूचना देना। (२) उत्पन्न की हुई माँग को कायम रखना। (३) वस्तुओं की माँग को और अधिक बढ़ाना।

ये तो रहे वाणिज्य जगत् में विज्ञापन के उद्देश्य, इनके अतिरिक्त विज्ञापन का उपयोग अन्य उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु भी किया जाता है, जैसे—चुनाव में विजय प्राप्त करने के लिये विज्ञापन का सहारा लेना, आर्थिक योजनाओं (जैसे, द्वितीय पंच-वर्षीय योजना) के प्रचार एवं प्रसार के हेतु विज्ञापन करना आदि।

विज्ञापन के गुण—

साधारणतः एक वस्तु विक्रेता का प्रमुख उद्देश्य विक्रय वृद्धि के द्वारा अधिकतम् लाभ कमाना होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसे जिन साधनों की शरण लेनी पड़े उन्हें हम विक्रय कला की परिभाषा के अन्तर्गत सम्मिलित कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में यह लिखना आवश्यक न होगा कि विज्ञापन एवं विक्रय कला एक दूसरे के पूरक हैं। जिस प्रकार चलने फिरने के लिये दोनों पैरों की आवश्यकता होती है, इसी प्रकार विक्रय वृद्धि के लिए व्यापार के दोनों पैर—विज्ञापन एवं विक्रय कला—इन दोनों ही की आवश्यकता होती है। भले ही किसी व्यापारी ने खूब विज्ञापन करके नगर में अपना बोल बाला कर लिया हो, किन्तु यदि ग्राहकों के साथ उसका व्यवहार मधुमय एवं चुम्बकी नहीं है तो विज्ञापन का समस्त व्यय व्यर्थ हो जायेगा। भले ही एक बार चूहेदान में चूहे के फँसने की भाँति रोटी रूपी अत्यधिक विज्ञापन से आकर्षित होकर विक्रेता की दूकान पर चले, किन्तु उसके कटु व्यवहार से असन्तुष्ट होकर वे फिर कभी भी पुनः आने का कष्ट न करेंगे, अतः यशस्वी विक्रेता बनने के लिए विक्रय कला का पर्याप्त ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। कभी कभी विक्रय कला को वैयक्तिक (Personal Advertisement) भी कहते हैं। यह उचित भी है, क्योंकि विक्रेता स्वयं किसी वस्तु में क्या गुण है अथवा किसी वस्तु का कैसा उपयोग किया है अथवा उसकी प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं—इन बातों को ग्राहक को समझाते हैं। इन दृष्टि से विक्रय कला को हम 'सजीव विज्ञापन' का एक साधन कह सकते हैं।

वर्तमान उद्योग प्रधान जगत् में विज्ञापन के जितने भी गुण गाये जाँय कम ही होंगे। आधुनिक वाणिज्य यन्त्र प्रणाली के लिए विज्ञापन तेल का कार्य करता है, जिसके बिना अनेक औद्योगिक इकाइयों का अन्त हो सकता है। यह विज्ञापन का ही चमत्कार होता है कि ग्राहक जिन वस्तुओं से घृणा करता है, उन्हीं की ओर वह पुनः आकर्षित हो जाता है तथा क्रय करने के लिए भी तत्पर हो जाता है। विज्ञापन के ही परिणामस्वरूप अनेक व्यापारी अनिच्छित वस्तुएँ खरीदने के लिए विवश हो जाते हैं तथा अपने यहाँ उनका संग्रह करते हैं। विज्ञापन में वह चुम्बकीय शक्ति होती

है, जिसके फलस्वरूप उपभोक्ताओं की रुचि में परिवर्तन हो जाता है। वे पुरानी चीजों को छोड़कर नव निर्मित एवं विज्ञापित वस्तुओं का उपभोग करने लगते हैं। इसके साथ ही यह मनुष्यों के खाने पीने पहिनने-ओढ़ने तथा पढ़ने लिखने के ढङ्ग में भी पर्याप्त परिवर्तन कर सकता है। विज्ञापन-व्यवसाय से अनेक लोगों की आजीविका चलती है। विज्ञापन हेतु चित्रादि बनाने के लिए विशेषज्ञों एवं कलाकारों की आवश्यकता पड़ती है। यही कारण है कि आज-कल यह एक स्वतन्त्र व्यवसाय हो गया है। विदेशों में ऐसी अनेक कम्पनियाँ हैं, जो केवल विज्ञापन का ही कार्य करती हैं। हमारे देश में भी अब 'एडवरटाइजिंग एजेन्सीज' की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है, जिनमें अनेक कलाकारों तथा अन्य लोगों को रोजगार मिलता है। दूसरे, प्रायः विज्ञापन विभिन्न प्रकार के समाचार-पत्रों में दिये जाते हैं, जिनसे उन पत्रों की आय बढ़ जाती है। उनकी कुल आय का लगभग ७० प्रतिशत भाग केवल विज्ञापन से मिलता है तथा शेष ३० प्रतिशत पत्र-पत्रिकाओं के पढ़ने वालों से, अतः यह स्पष्ट है कि विज्ञापन के ही परिणामस्वरूप पाठकों को दैनिक समाचार पत्र, साप्ताहिक एवं मासिक पत्र आदि सस्ती दर पर मिल जाते हैं। यदि किसी समाचार पत्र में विज्ञापन न दिये जायें, तो उसका मूल्य भी अत्यधिक हो, फलतः पाठकों की संख्या भी न्यून होगी एवं जन-साधारण को विश्व की घटनाओं की जानकारी मिलना असंभव अथवा दुर्लभ हो जायेगा। इसी आधार पर 'विज्ञापन' को समाचार पत्रों की आधार शिला अथवा उनका 'प्राण' कहते हैं।

तीसरे, विज्ञापन की सहायता से मध्यस्थों की श्रृंखला, अनावश्यक रूप से न बढ़कर न्यूनतम रह जाती है, क्योंकि विज्ञापन द्वारा जनता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। परिणामस्वरूप विक्रय एवं वितरण व्यय में मितव्ययिता होती है तथा उपभोक्ताओं को कम मूल्य पर वस्तुएँ मिलकर उत्पादक का भी लाभ बढ़ता है।

चौथे, विज्ञापन के सहयोग से उत्पादन व्यय में भी मितव्ययिता लाई जा सकती है। जैसा कि विज्ञापन के द्वितीय उद्देश्य से स्पष्ट है, यह माँग पैदा करके उसको स्थायी रखने का भी प्रयत्न करता है। इससे अधिक मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन सम्भव हो जाता है, जिससे उत्पादन मूल्य भी कम हो जाता है। इस प्रकार वस्तुओं की माँग एवं मूल्यों में स्थिरता आकर जनता का जीवन-स्तर भी ऊँचा उठता है तथा अनेक लोगों को रोजगार मिलता है।

पाँचवे, विज्ञापन से अनेक लोगों को शिक्षा भी मिलती है। उदाहरण के लिए दिल्ली, लखनऊ तथा प्रयाग के आकाशवाणी केन्द्रों से महिलाओं के लिए जो विशेष प्रोग्राम होता है उससे उन्हें विविध प्रकार के भोजन बनाने की विधियों तथा कढ़ाई-बुनाई करने के ढङ्गों की जानकारी होती है। इसके साथ ही एक एक व्यक्ति को वस्तुओं की विशेषता बतलाने में जितना व्यय होता है उसकी अपेक्षा अत्यधिक कम तथा सस्ते मूल्य पर ही अत्यधिक प्रभावशाली ढंग से इसके द्वारा परिचय करा दिया जाता है।

छठे, विज्ञापन के माध्यम से ही जनता को नव निर्मित वस्तुओं की जानकारी

दी जाती है एवं माँग पैदा करके फिर उसे स्थाई रखने का प्रयत्न किया जाता है। यही नहीं किसी वस्तु विशेष की माँग को घटाकर, नई वस्तु की माँग भी पैदा की जा सकती है। वर्तमान युग बहु प्रमाप उत्पादन का युग है, जिसमें वस्तुओं का शीघ्र एवं निश्चित विक्रय विज्ञापन पर ही निर्भर करता है। विज्ञापन से ग्राहक को वस्तुओं के गुण सम्बन्धी जानकारी भी मिलती है तथा उसको कौनसी वस्तु का क्रय करना चाहिए, इसकी पूर्ण कल्पना हो सकती है।

सातवें, विज्ञापन के माध्यम से विपरीत ऋतु में भी वस्तुओं का विक्रय सुगमता से हो जाता है।

आठवें, आधुनिक विषम प्रतिस्पर्धा के युग में विज्ञापन के माध्यम से ही व्यापारियों एवं उद्योगपतियों को सफलता मिल सकती है। सामूहिक विज्ञापन द्वारा अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा का विनाश किया जा सकता है एवं इस क्षेत्र में काफी बचत भी की जा सकती है। अन्त में, व्यापार की ख्याति का विज्ञापन ही महत्वपूर्ण साधन है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेक व्यापारियों ने अपनी ख्याति का निर्माण एवं वृद्धि इसी विज्ञापन द्वारा की है।

वर्तमान प्रतिस्पर्धा के युग में विक्रय कला के जितने भी गुण गाये जायें कम ही होंगे। विक्रेता जितना ही व्यवहार कुशल होगा एवं ग्राहकों को सन्तुष्ट करने की शक्ति जितनी ही तीव्र होगी उसको उतनी ही सफलता मिलेगी। एक सन्तुष्ट ग्राहक विक्रेता के प्रचारक का काम करता है। किसी भी नये ग्राहक से आप मीठी वाणी में दो शब्द बोल दीजिए, भले ही वह किसी वस्तु का क्रय न करे, सदैव प्रसन्न चित्त हो कर उससे बात करते रहिए। ग्राहक के साथ में आये हुये छोटे छोटे बच्चों की ओर प्यार से निहार लीजिए, उनको टॉफी या लेमन ड्राप दे दीजिए—फिर देखिये आपकी इस कला का चमत्कारिक प्रभाव। वह सन्तुष्ट ग्राहक विक्रेता के मधुर व्यवहार की मन ही मन सराहना करेगा। सदैव अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ तो वहाँ से लेगा ही, इसके अतिरिक्त वह अपने इष्ट मित्रों एवं नातेदारों से भी उस अमुक दुकान से ही सदैव सामान खरीदने की सिफारिश करेगा। आधुनिक प्रतिस्पर्धा के काल में यदि विक्रय कला को रामबाण कहें तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। जिस प्रकार राम का बाण का लक्ष्य कभी नहीं चूकता था उसी प्रकार विक्रय कला के सहारे विक्रेता भी प्रतिस्पर्धा के युद्ध में विजयी होता है। आजकल बड़े पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है तथा उत्पादन एवं उपभोक्ता में परस्पर सम्बन्ध नहीं होता है, इसलिए उपभोक्ता को किस वस्तु की आवश्यकता है, उसकी क्या रुचि है, वह कैसे सन्तुष्ट होगा आदि समस्याओं का हल विक्रय कला के द्वारा ही होता है।

आधुनिक व्यापार का 'प्राण' होते हुए भी विज्ञापन मे कुछ दुर्बलतायें हैं प्रथम, विज्ञापन का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसके लिए पर्याप्त व्यय करना पड़ता है और यह व्यय किसी न किसी से वसूल अवश्य करना पड़ता है। इसका बोझा अन्त में (बढ़े हुए मूल्यों के रूप में) बिचारे उपभोक्ताओं को ही उठाना पड़ता है। विज्ञापन

व्यय विक्रेता देता है, यह धारणा भ्रमपूर्ण है। विक्रेता का उद्देश्य तो अधिकतम लाभ कमाना होता है, अतः वह अप्रत्यक्ष ढङ्ग से इस व्यय का भार उपभोक्ताओं के कन्धों पर हस्तान्तरित कर देता है। दूसरे, विज्ञापन उपभोक्ता के मन को चलायमान कर देता है और वह अपनी पूर्व-निश्चित इच्छानुसार कार्य नहीं कर पाता। विज्ञापन से प्रभावित हो कर वह उस वस्तु का उपभोग नहीं करता जिसके लिए उसने पहले निश्चित किया था, वरन् वह वस्तु का उपभोग करता जिसके लिए उस पर विज्ञापन प्रभाव डालता है। तीसरे, कभी-कभी प्रभावी विज्ञापन के परिणामस्वरूप ग्राहक ऐसी भी वस्तुएँ खरीदने के लिए लालायित हो उठता है जिनकी उसे आवश्यकता नहीं होती अथवा जो विलासिता की वस्तुएँ होती हैं। इससे व्यर्थ उसके धन का अपव्यय होता है। चौथे, विज्ञापन सदैव वस्तुओं के गुण तथा फैशन में परिवर्तन करते रहते हैं। इन आकस्मिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप उपभोक्ता तथा फुटकर विक्रेता दोनों को ही क्षति होती है। एक ओर फुटकर विक्रेता को तो 'फैशन के बाहर' वस्तुओं को कम मूल्य पर बेचना पड़ता है और दूसरी ओर उपभोक्ता को केवल बाहरी स्वरूप परिवर्तित होने के कारण अधिक मूल्य देना पड़ता है। पाँचवें, विज्ञापन प्रायः अत्युक्ति असत्य कथन तथा कपट पर आधारित होते हैं। चंचल उपभोक्ता उनके चक्कर में फँस कर अपने धन का दुरुपयोग करते हैं तथा जाल में फँसी हुई मछली की भांति अन्त में पश्चात्ताप करते हैं। अन्त में, यत्र तत्र किया हुआ विज्ञापन नगर की प्राकृतिक शोभा में चन्द्र में कालिमा का कार्य करता है, जिससे नैसर्गिक सौन्दर्य तथा स्वच्छता कम हो जाती है।

उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी यह डंके की चोट कहा जा सकता है कि बिना विज्ञापन के आजकल व्यावसायिक सफलता प्राप्त करना असम्भव है। जिन दोषों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनमें तथ्य नहीं है। विज्ञापन कला कभी भी यह आदेश नहीं देती कि कपट अथवा असत्य उल्लेखों का आश्रय लिया जाय। फिर भी यदि कोई व्यापार कपट का आश्रय लेता है तो यह उसकी त्रुटि है। विज्ञापन कला को क्यों व्यर्थ कलङ्कित किया जाय? इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि जो व्यक्ति झूँठ का आश्रय लेकर विज्ञापन करता है, उसे सच्ची एवं स्थायी सफलता नहीं मिलती। चूहेदान में चूहे फँसने की भांति एक बार तो ग्राहक धोखा खा लेते हैं, किन्तु फिर कभी भी उस दिशा की ओर आकर्षित होने की कल्पना नहीं करते। जो समाज शैक्षिक एवं सांस्कृतिक उन्नति के पथ पर है, उसमें ये दोष बहुत ही कम मात्रा में मिलेंगे।

दोष का निवारण क्यों कर हो ?—

इन दोषों के निवारण के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि जनता समाचार-पत्र आदि विज्ञापन के विभिन्न साधन एवं विज्ञापकों में परस्पर सहयोग दे। साथ ही इन पर राजकीय नियन्त्रण रहना भी आवश्यक है। गन्दे अथवा झूँठे एवं कपटमयी विज्ञापन निकालने वालों पर भारी दण्ड होना चाहिए। विज्ञापन व्यापार की ख्याति

बढ़ाने का सर्वोत्तम साधन है, किन्तु यह सद्भावना, सेवा-भाव तथा सत्य पर आधारित होना चाहिए।

विज्ञापन की मर्यादायें—

यद्यपि विज्ञापन व्यापार में प्रगति एवं सफलता पाने का महत्वपूर्ण साधन है, किन्तु यह कोई जादू का डण्डा अथवा अलाउद्दीन का चिराग नहीं जिसे प्रत्येक क्षेत्र में सफलता मिल ही जाय। विज्ञापन की निम्न सीमायें ध्यान देने योग्य हैं :—

(अ) जनता को जिस माल से अरुचि हो गई है वह विज्ञापन से नहीं बेचा जा सकता, चाहे वह कितना ही प्रभावी क्यों न हो।

(आ) केवल एक बार के विज्ञापन का प्रभाव नहीं पड़ता और जनता उसे शीघ्र भूल जाती है, अतः विज्ञापन की यशस्विता के लिए विज्ञापन बार बार देना चाहिए, जिससे जनता के मस्तिष्क पर उसकी अमिट छाप लग जाय।

(इ) यह भी पूर्ण सत्य नहीं कि केवल विज्ञापन देने से ही किसी वस्तु की मांग में अवश्य वृद्धि होगी। सम्भव है कि विज्ञापन तो श्रेष्ठ एवं पर्याप्त हो, किन्तु दूषित विक्रय कला के कारण ग्राहक आकर्षित न होते हों, अतः विक्रय वृद्धि के लिए विज्ञापन तथा विक्रय कला दोनों का परस्पर सहयोग होना चाहिए।

(ई) विज्ञापन किसी भी व्यक्ति को अप्राप्त वस्तु की मांग करने के लिए विवश नहीं करता और न यह एक या दो दिन में ही मनुष्यों के रीति-रिवाज अथवा फैशन को ही बदल सकता है। इसके साथ ही अर्थशास्त्र तथा मनोविज्ञान के नियमों के विरुद्ध भी यह सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

अन्त में, यह कहना आवश्यक न होगा कि उपरोक्त सीमाओं के होते हुए भी विज्ञापन कला अपने उपासक को लाभान्वित करती है।

विज्ञापन का संगठन—

विज्ञापन के संगठन के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि विज्ञापक को स्वयं मनोविज्ञान-विशेषज्ञ होना चाहिए। उसको इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि जनता की आवश्यकता क्या है ? जन साधारण की रुचि का अध्ययन करने की क्षमता उसमें होनी चाहिए। उसे यह भी विचार कर लेना चाहिए कि क्या अमुक वस्तु का विज्ञापन करना उचित है। उसे यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि यदि विज्ञापन द्वारा किसी वस्तु की मांग बढ़ेगी तो उसकी पूर्ति करने के लिए पास में पर्याप्त स्टाक है अथवा नहीं।

विज्ञापक को यह भी देखना चाहिए कि अन्य प्रतिद्वन्द्वियों की तुलना में उसका विज्ञापन कैसे प्रभावी हो तथा उसके लिए कितना व्यय किया जाय, जिससे कि वह उतना ही धन विज्ञापन के हेतु अलग निकाल कर रख सके। साधारणतः व्यापारी इस

बात का ध्यान नहीं रखते और विज्ञापन में निश्चित धन से अधिक राशि लगा बैठते हैं। छोटे छोटे व्यापारों में अर्थ नियोजन पहले से ही निश्चित राशि में निर्धारित नहीं किया जाता, वरन् व्यापार के कलेवर एवं आवश्यकतानुसार व्यय किया जाता है, किन्तु बड़े-बड़े व्यापारों में विज्ञापन के हेतु निश्चित राशि पहले से ही नियत कर ली जाती है। इस राशि का निर्धारण करते समय व्यवसाय के आर्थिक कलेवर, व्यवस्थापक समस्यायें तथा विज्ञापन के हेतु पर विचार करना चाहिए। विज्ञापन प्रभावी बनाने के लिए उसे मुद्रण कला से भी परिचित होना चाहिए तथा किस प्रकार के विज्ञापन में कौनसे एवं कैसे टाइप का उपयोग करना चाहिए, का ज्ञान आवश्यक है। इसके बाद यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि विज्ञापन का कार्य किसको सौंपा जाय। क्या विज्ञापन संस्था को यह कार्य सौंप दिया जाय अथवा विक्रय संगठन के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र विज्ञापन-विभाग खोला जाय ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह कार्य प्रत्येक दशा में तत्सम्बन्धी परिस्थितियों पर निर्भर करता है। पैमे वाली व्यापारिक संस्था की दशा में विज्ञापन का कार्य किसी विज्ञापन अभिकर्ता को सौंपा जा सकता है। विज्ञापन संस्थाओं में विभिन्न व्यवसाय के विशेषज्ञ होते हैं, जो अपनी कुशल सेवाएँ अपने ग्राहकों को प्रदान करते हैं। ये संस्थायें प्रायः कम मूल्यों पर अच्छे से अच्छे विज्ञापन निकाला करती हैं। यदि किसी व्यापारिक संस्था में बड़े पैमाने पर उत्पादन होता है तथा उसका आर्थिक संगठन भी सुदृढ़ है, तो वह अपना स्वतन्त्र विज्ञापन विभाग खोल सकती है। ऐसी परिस्थिति में विज्ञापन-विभाग के कलाकारों तथा अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति बड़ी सावधानी से करनी चाहिए। इस विभाग के लिए प्रायः एक व्यवस्थापक अलग रखा जाता है, जो कि अनुभवी, उत्तरदायी तथा विक्रय कला-विशेषज्ञ होता है। उसे वेतन भी अच्छा दिया जाता है। इस विभाग के निर्धारित व्यय की ओर पूर्ण ध्यान रखना चाहिए, जिससे विभाग का व्यय व्यवसाय के आर्थिक कलेवर को देखते हुए अधिक न हो। विक्रय विभाग तथा विज्ञापन विभाग में परस्पर सम्पर्क तथा सहकार्य व्यावसायिक प्रगति के लिए नितांत आवश्यक है, अतः विज्ञापन की नीति का निर्धारण करते समय विक्रय-व्यवस्थापक से परामर्श लेना अधिक लाभप्रद होता है, क्योंकि विक्रय-विभाग का मुख्य उद्देश्य अधिक से अधिक मात्रा में वस्तुओं को बेचना होता है और इस उद्देश्य की पूर्ति विज्ञापन विभाग के सहयोग से ही सम्भव है। विक्रय-विभाग को चाहिए कि वह अपनी सभी योजनाओं से विज्ञापन-विभाग को परिचित रक्खे। विज्ञापन व्यवस्थापक को विभिन्न विपणियों की जानकारी भी विक्रय विभाग से प्राप्त होती है। ग्राहकों की रुचि का अनुमान लगाने के लिए उसे फुटकर विक्रेताओं से भी सम्पर्क रखना पड़ता है तथा विज्ञापन-पद्धति के विषय में भी उनसे परामर्श कर लेना चाहिए जिससे विज्ञापन-पद्धति में मौलिकता एवं नवीनता रक्खी जा सके। यही कारण है कि विज्ञापन-व्यवस्थापक विक्रय संगठन के अधीन होता है, जिससे कि इन दोनों विभागों में परस्पर मान-जस्य रहे। विज्ञापन का परिणाम देखना भी विज्ञापन-संगठन का एक महत्वपूर्ण अंग है। इस हेतु वार्षिक विक्रय के विभिन्न विवरणियों के आँकड़े एकत्रित किये जाते

हैं तथा इनकी तुलना विज्ञापन से पूर्व की विक्रय तथा विज्ञापन के बाद की विक्रय से की जाती है। ऐसी तुलना से इस बात का स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है कि विज्ञापन का व्यय व्यर्थ तो नहीं हो रहा है। विज्ञापन पद्धति में आवश्यक सुधार भी सुविधा से किए जा सकते हैं।

विज्ञापन का वर्गीकरण एवं उसके साधन—

विज्ञापन का वर्गीकरण हम निम्न भागों में कर सकते हैं—(१) ऐसे विज्ञापन जो साधारण जनता को आकर्षित करने के लिए दिए जाते हैं। अधिकांश विज्ञापन इसी वर्ग में आते हैं। (२) निर्माताओं को आकर्षित करने के हेतु दिए जाने वाले विज्ञापन, जैसे— यन्त्र-सामग्री, मशीनरी आदि के विज्ञापन। (३) विशेष दुकानदारों द्वारा अपनी दूकान के लिए दिए गए विज्ञापन। ऐसे विज्ञापन किसी विशेष दूकान पर ही ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए दिए जाते हैं, जैसे—"स्वादिष्ट भोजन के लिए कैलाश भोजनालय में पधारिए।"

विज्ञापन के विभिन्न साधन निम्नांकित हैं—(१) समाचारपत्रीय विज्ञापन (२) बाह्य या दिवालों के विज्ञापन (३) डाक द्वारा प्रत्यक्ष विज्ञापन (४) अन्य विविध विज्ञापन के साधन का चुनाव करते समय बड़ी सावधानी से कार्य करना चाहिए। कभी भी अन्धे होकर किसी की नकल नहीं करनी चाहिए और न किसी के कहने में ही आना चाहिए। सर्वोत्तम विधि तो यह होगी कि किसी विशिष्ट विज्ञापन संस्था से सलाह ले ली जाय।

समाचार-पत्रीय-विज्ञापन आधुनिक विज्ञापन का सबसे अधिक प्रचलित साधन है। दैनिक समाचार-पत्रों तथा अन्य व्यापारिक-पत्र-पत्रिकाओं के विज्ञापन में कुछ अन्तर है। समाचार-पत्र प्रति-दिन निकलते हैं एवं इनका क्रय मुख्यतः दैनिक समाचारों की जानकारी के हेतु किया जाता है, किन्तु इसके विपरीत अन्य व्यापारिक पत्र-पत्रिकायें साप्ताहिक, मासिक, छःमाही अथवा वार्षिक होते हैं। साधारणतः दैनिक समाचार-पत्रों का महत्व उसी दिन तक सीमित रहता है जिस दिन वह प्रकाशित होता है और इसके बाद उनका कोई महत्व नहीं रहता। यहाँ तक कि एक माह के उपरान्त तो लोग रद्दी के रूप में उसे बेच डालते हैं, किन्तु इसके विपरीत नियत अवधि के बाद निकलने वाले व्यापारिक पत्र-पत्रिकाओं का महत्व अधिक होता है। इनको एक दिन में ही पढ़कर समाप्त करने की जल्दी नहीं होती, अतः पाठक इन्हें आराम से अपने फुरसत के समय में पढ़ते हैं। दैनिक समाचार पत्र जल्दी में पढ़ कर समाप्त कर दिए जाते हैं। एक दिन बाद इनका कोई महत्व नहीं रहता, किन्तु साप्ताहिक पत्रों का प्रभाव लगभग सात दिन तक, मासिक पत्रों का प्रभाव लगभग तीस दिन तक, छःमाही पत्रों का प्रभाव लगभग एक सौ अस्सी दिन और वार्षिक पत्रिकाओं का प्रभाव लगभग तीन सौ पैंसठ दिन तक रहता है। इस सम्बन्ध में दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि दैनिक समाचार-पत्रों का विक्रय साधारणतः किसी निश्चित नगर तक अथवा अधिक से अधिक जिस राज्य में वह प्रकाशित होता

है उसकी पहार दीवारियों तक सीमित रहता है। इसके विपरीत नियत-सामयिक पत्रिकाओं का विक्रय केवल नगर व्यापी अथवा राज्य व्यापी ही नहीं वरन् देश व्यापी होता है। तीसरे, दैनिक समाचार पत्रों का कागज बहुत खराब होता है, जिसमें उसमें कलात्मक विज्ञापन अथवा चित्रादि नहीं दिये जा सकते। इसके विपरीत सामयिक व्यापारिक पत्र पत्रिकाओं का कागज अच्छे किस्म का होता है, जिससे कलात्मक विज्ञापन बड़ी सुविधा से दिए जा सकते हैं। चौथी, उल्लेखनीय बात यह है कि दैनिक समाचार-पत्रों का प्रकाशन प्रति दिन होने के कारण उनमें मुद्रण सम्बन्धी अनेक दोष रह जाते हैं, परन्तु सामयिक पत्रों का प्रकाशन अत्यन्त सावधानी से किया जाता है। पाँचवे, दैनिक समाचार पत्रों का प्रचार क्षेत्र सीमित होता है, परन्तु सामयिक पत्रों का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है। कुछ सामयिक पत्र केवल राष्ट्रीय महत्व के ही नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के भी होते हैं। छठवें, दैनिक समाचार पत्र अधिकांशतः जन-साधारण के उपयोग के लिए होते हैं, किन्तु नियत सामयिक पत्रिकायें मुख्यतः किसी विशेष उद्देश्य से प्रकाशित किए जाते हैं अथवा वे किसी विशेष हित का प्रतिनिधित्व करते हैं। दैनिक समाचार पत्रों के उदाहरण हैं—नवभारत टाइम्स, हिन्दुस्तान टायम्स, अमृत बाजार पत्रिका इत्यादि। साप्ताहिक पत्र पत्रिकाओं के उदाहरण हैं—साप्ताहिक हिन्दुस्तान, कामर्स, कैपिटल, इण्डियन फाइनेन्स इत्यादि। मासिक पत्रों में माडर्न रिव्यू तथा इण्डियन रिव्यू प्रमुख हैं और वार्षिक पत्रों में कामर्स तथा कैपिटल के वार्षिक अङ्क महत्वपूर्ण हैं। समाचार पत्रीय विज्ञापनों को हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं—(१) वर्गीकृत विज्ञापन (२) अवर्गीकृत विज्ञापन। वर्गीकृत विज्ञापन में प्रायः वस्तुओं के नाम, विवरण, पते तथा अन्य विशेषतायें संक्षेप में दी जाती हैं। ऐसे विज्ञापनों की ओर पाठकगण एकदम आकर्षित नहीं होते। जो व्यक्ति किसी विशेष वस्तु की क्रय-विक्रय सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करना चाहता है, उसे ऐसे विज्ञापनों से बड़ा लाभ होता है। इनके विपरीत अवर्गीकृत विज्ञापनों के लिए स्थान का कोई अभाव नहीं होता। यह प्रायः समाचार पत्र के पूरे अथवा आधे पन्ने में या चौथाई भाग में दिये जाते हैं।

एक समाचार पत्रीय विज्ञापन को प्रभावशाली एवं यशस्वी बनाने के लिये व्यापक दृष्टिकोण रखना चाहिये। यह दृष्टिकोण या अपील सभी जनता को आकर्षित एवं मोहित करने वाली होनी चाहिये। विज्ञापन एक सुसम्पादित समाचार की भाँति होना चाहिये तथा उसको इस प्रकार प्रस्तुत करना चाहिये कि जिससे भ्रमर रूपी पाठक उसको पढ़ते ही स्वयं खिंचता हुआ चला आये एवं उसके मस्तिष्क पर विज्ञापन की स्थायी सील लग जाय। इन विज्ञापनों में अधिक हृदय-भेदी बातों का होना अच्छा नहीं होता, वरन् इनमें केवल वस्तु की संक्षिप्त कहानी होनी चाहिये, जिससे उसके गुणों का पूर्ण परिचय मिल सके। विज्ञापन की अपील ग्राहकों की रुचि का अध्ययन करने के उपरान्त निश्चित करनी चाहिये। अपने प्रतिद्वन्द्वी विज्ञापकों का भी ध्यान रखना चाहिये। कभी-कभी उनकी भूलों से लाभ उठाया जा सकता है। किसी वस्तु

के विज्ञापन को अधिक प्रभावी बनाने के लिए उस वस्तु के उपभोक्ता की प्रवृत्ति का अध्ययन करना आवश्यक होता है। विज्ञापन की आकृतिकता का निर्माण अनुभवी कलाकारों द्वारा कराया जाना चाहिए, क्योंकि वे ही जनता को अपनी ओर आकर्षित करने तथा वस्तुओं को उपयुक्त ढंग से सजाने का कार्य भली भाँति जानते हैं। विज्ञापन में ग्राहक को आकर्षित करने की चुम्बकीय शक्ति होनी चाहिए।

एक प्रभावी एवं यशस्वी विज्ञापन में निम्न गुण होने चाहिये —

(१) *ध्यानाकर्षण*—प्राय जनता किसी वस्तु की ओर स्वभावत आकर्षित नहीं होती, उसका ध्यान विज्ञापक को स्वय ही आकर्षित करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, समाचार पत्रों का मुख्य उद्देश्य जनता को विश्व की राजनैतिक हलचलों से परिचित कराना होता है, अतएव इनमें जो विज्ञापन दिये जाते हैं उनका रूप ऐसा होना चाहिये कि जिससे पाठक उनकी ओर आकर्षित हों। इस गुण को शोभन तत्व भी कहते हैं। विज्ञापन में यदि यह तत्व न होगा तो कोई भी वाचक ऐसे विज्ञापन को नहीं पढ़ेगा और उसमें व्यर्थ ही धन का अपव्यय होगा। आधुनिक युग में प्राय लोग अपने अपने कार्यों में अधिक व्यस्त रहते हैं, अत जब तक विज्ञापन में कोई मौलिकता न हो तब तक वाचक उनकी ओर आकर्षित न होगा। विज्ञापन के प्रति का शोभन विभिन्न प्रकार से किया जा सकता है, जैसे—रगीन छाया चित्र देकर, विशेष आकर्षक रग देकर आदि। रगों का समायोजन ऐसा होना चाहिए कि पाठक का ध्यान अन्य समाचारों अथवा सूचनाओं से हटकर उस विशेष विज्ञापन की ओर खिंच कर चला जाय एव वह मोहित होकर उसको पढ़ने लगे। इसी प्रकार सड़कों पर दिये जाने वाले विज्ञापनों में विद्युत प्रकाश का आयोजन अथवा चमकने वाले रगों से चित्रण करना चाहिए।

(२) *सूचक-तत्त्व*—वाचक का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के बाद उसके मस्तिष्क में विचार-तरङ्ग उत्पन्न होनी चाहिये। उदाहरण के लिये वस्तु के गुण, प्रयोग, विधि आदि के सम्बन्ध में उसे आवश्यक जानकारी मिलनी चाहिये। सूचक वाक्य, सूचक कहानियाँ (जैसे, सिनेमा गृहों में दिखलाये जाने वाले 'होशियार तोते' अथवा 'चतुर बालक' की कहानी) दी जानी चाहिये। चित्रों द्वारा इन्हें और भी प्रभावी तथा मनहर बनाया जा सकता है।

(३) *स्मरण-तत्त्व*—वस्तु की उपयोगिता का प्रभाव डालने के बाद उस वस्तु का स्मरण सदैव बना रहे, यह भी विक्रय वृद्धि के लिये आवश्यक होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि विज्ञापन को बार बार दुहराया जाय अथवा विज्ञापन की वाक्य रचना ऐसी हो तथा उसमें ऐसे नारों का प्रयोग किया जाय जो पढ़ने वाले की स्मरण शक्ति में रहें।

(४) *विश्वास-तत्त्व*—विज्ञापन में ऐसी भाषा का प्रयोग करना चाहिये कि जिससे वाचक के मन में वस्तु की श्रेष्ठता विषयक विश्वास पैदा हो जाय, जैसे—

'लाल इमली' के विज्ञापनों में भेड़ का चित्र रहता है अथवा अलीगढ़ के डेयरी प्रोडक्टस में 'गाय' का। ये चित्र वस्तु की शुद्धता के परिचायक होते हैं।

(५) भावनात्मक-तत्त्व—विज्ञापन में इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि किसी की जाति अथवा धर्म सम्बन्धी भावनाओं को चोट न पहुँचे अन्यथा उस माल का पाठकों द्वारा स्वागत न होगा एवं विज्ञापन व्यर्थ जायगा। भोज्य पदार्थों के सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से लागू होती है, जैसे—'चरबी-रहित', 'अंडा-रहित' आदि शब्दों के प्रयोग से शाकाहारी लोगों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। राष्ट्रीय भावनायें प्रेरित करने वाले शब्दों के कुछ उत्तम उदाहरण ये हैं—'हिन्द साइकिल' 'हिन्दुस्तान मोटर' आदि।

(६) शिक्षा-तत्त्व—विज्ञापन के लिए यह भी आवश्यक है कि वह शिक्षात्मक हो, अर्थात् किसी वस्तु का प्रयोग किस प्रकार करना चाहिए, इस विषय की आवश्यक जानकारी विज्ञापन से ही स्पष्ट होनी चाहिये।

दीवालों पर किये जाने वाले विज्ञापन को 'बाह्य-विज्ञापन' कहते हैं। यह विज्ञापन की अत्यन्त प्राचीन प्रणाली है। उस युग में जबकि मुद्रण कला का प्रारम्भ नहीं हुआ था तथा विज्ञापन के आधुनिक साधन भी उपलब्ध न थे, तब प्राचीन रोम तथा मध्यकालीन इङ्गलैण्ड के व्यापारी अपने दरवाजे के बाहर एक बड़ा बोर्ड लगाते थे, जिस पर वे उन वस्तुओं का उल्लेख करते थे, जिनमें वे व्यापार करते थे। श्री हिंघम (Hingham) के अनुसार इन बोर्ड लगाने की पद्धति से ही क्रमशः आधुनिक दीवार पर लगाये जाने वाले विज्ञापनों तथा पोस्टर्स चिपकाने की कल्पना आई। इसी पद्धति को आजकल 'मूरल-एडवरटाइज़मेंन्ट' ('मूरल' का अर्थ है 'दीवाल' सम्बन्धी) कहते हैं। इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि बाह्य-विज्ञापन की परिभाषा के अन्तर्गत केवल दीवालों पर लगाये जाने वाले विज्ञापन ही नहीं आते, वरन् निम्न को भी हम इसी श्रेणी में गिनते हैं-पोस्टर्स बाँधना अथवा चिपकाना, बिजली द्वारा सजावट करना, बस, ट्रेन तथा ट्राम के विज्ञापन, सैंडविचवाह विज्ञापन, इत्यादि। दीवालों पर किए जाने वाले विज्ञापन ऐसे होने चाहिए कि वहाँ से निकलने वाले व्यक्ति उन्हें पढ़ने के लिए लालायित हो जायें। स्वाभाविक रूप में उनका ध्यान दीवालों की ओर आकर्षित हो जाना चाहिए। दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि विवरण अत्यन्त सूक्ष्म होना चाहिए। संक्षिप्तता के साथ-साथ प्रभावशीलता भी होनी चाहिये। विज्ञापन से सदैव वस्तु सम्बन्धी ध्वनि निकलनी चाहिये। महिलाओं के विभिन्न ढंगों से प्रस्तुत किए हुए चित्र ऐसे विज्ञापनों में सोने में सुहागा का काम करते हैं। उदाहरणार्थ, अफगान स्नो के विज्ञापन के साथ श्रृङ्गार करती हुई महिला, साबुन के विज्ञापन के साथ स्नान करती हुई महिला, साड़ियों के विज्ञापन के साथ सुसज्जित महिला, इत्यादि।

डाक द्वारा विज्ञापन पद्धति के अन्तर्गत गश्ती चिट्ठियाँ, सूची-पत्र, मूल्य पुस्तक, वस्तुओं के विवरण पत्र आदि डाक द्वारा ग्राहकों को भेजे जाते हैं। विज्ञापन की इस पद्धति का प्रयोग किसी भी क्षेत्र में किया जा सकता है। इसका प्रयोग एक

स्थान पर तथा सुदूर देशों से भी किया जा सकता है। यह विज्ञापन सर्व साधारण जनता के लिए नहीं वरन् कुछ चुने हुए व्यक्तियों के लिए ही उपयुक्त रहता है। इस प्रकार के विज्ञापन के लिए ऐसे व्यक्तियों की एक सूची बना ली जाती है, जिनसे प्रत्यक्ष डाक सम्पर्क स्थापित करना होता है। बढ़ती हुई सुविधाओं के कारण इस प्रणाली का आज कल बड़ा बोलबाला है। डाक द्वारा विज्ञापन की प्राय दो प्रणालियाँ प्रचलित हैं—प्रथम, पद्धति के अनुसार कुछ विक्रय पत्र छपवा कर ग्राहकों से पृथक-पृथक अपनी वस्तुओं के लिए निवेदन किया जाता है। द्वितीय पद्धति के अनुसार, एक ही प्रकार के लीफलेट्स, सूचीपत्र आदि विविध प्ररूप में मुद्रित कराकर प्रत्येक ग्राहक के पास भेजे जाते हैं। यह विज्ञापन भी बहुधा समाचार पत्रीय तथा बाह्य विज्ञापन के सिद्धान्तों पर ही किया जाता है। इसमें क्रेता पर विशेष ध्यान रखा जाता है, अत उसकी आवश्यकता की जानकारी होना अति आवश्यक है। इस प्रकार के विज्ञापन में मेलिंग लिस्ट बनाने के लिए टेलीफोन डायरेक्ट्री तथा ट्रेड डायरेक्ट्री का उपयोग किया जाता है। इस सूची में वर्तमान ग्राहकों के नाम व पतों के साथ भावी ग्राहकों के भी नाम व पते दिये रहते हैं।

कुछ व्यापारी सघ समय-समय पर मेलों एव प्रदर्शनियों का आयोजन करते हैं, जिनमें वे अपनी अपनी वस्तुओं का परिचय ग्राहकों को देने के लिए एकत्रित होते हैं। दिसम्बर सन् १९५५ में दिल्ली में होने वाला औद्योगिक मेला इसका ज्वलन्त उदाहरण है। भारतवर्ष में तो मेले तीर्थ स्थानों पर बहुधा होते रहते हैं। युद्ध पूर्व काल में ... की गाड़ियों द्वारा भी विज्ञापन किया जाता था। यह गाड़ियाँ प्रत्येक स्टेशन ... कुछ समय के लिए रुक कर जनता को विभिन्न वस्तुओं का परिचय देती हैं। आज... के व्यस्त जगत में मनोरजनार्थ सिनेमा देखने वालों की संख्या बढ़ती ही जा रही है, अतएव स्लाइड्स् द्वारा वहाँ जनता के सम्मुख यह प्रस्तुत किया है कि अमुक वस्तु इनको कहाँ पर मिलेगी। यह स्लाइड्स् सिनेमा के प्रारम्भ में तथा मध्यान्तर में दिखाये जाते हैं तथा जनता की स्मरण शक्ति को प्रभावित करने मे बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं। बड़े बड़े निर्माता अपनी वस्तु का विज्ञापन करने के लिए अपने एडवरटाइजमेंट फिल्मस बनवाते है, जैसे—डालडा, सनलाइट साबुन आदि का विज्ञापन। यह साधन अत्यन्त खर्चीला है, अत साधारण निर्माता इसका प्रयोग नहीं कर सकते। आजकल रेडियो एडवरटाईजिंग एजेन्सीज द्वारा विज्ञापन देना बहुत लोक-प्रिय हो रहा है। इस प्रकार के विज्ञापन सीलोन आकाशवाणी केन्द्र से प्रात काल व सायकाल फिल्मी गीतों के बीच दिये जाते हैं। हमारे देश में अभी तक आकाशवाणी द्वारा विज्ञापन देने की प्रथा प्रारम्भ नहीं हुई है। युद्ध पूर्व काल में वायुयान द्वारा धुऐं की सहायता से आकाश में वस्तुओं का विज्ञापन किया जाता था। यह साधन भी अत्यन्त खर्चीला है।

विक्रेता के वैयक्तिक गुण—

एक सफल विक्रेता में प्राकृतिक प्रतिभा तथा वैयक्तिक विशेषताओं का होना आवश्यक है। उसे प्रसन्न आकृतिवाला, महत्वाकांक्षी, युक्ति सम्पन्न, उत्सुक धैर्यवान एव

चतुर बुद्धवाला होना चाहिए। विक्रेता के वेषभूषा एवं उसका रूप भी चित्ताकर्षक होना चाहिए, क्योंकि इसी का ग्राहक पर प्रथम प्रभाव पड़ता है और यह प्रथम प्रभाव ही अन्त तक काम करता है। एक विद्वान के शब्दों में सफल विक्रेता में बिल्ली की उत्सुकता, कपि के समान चातुर्य, गंगाजल के समान सरलता तथा पवित्रता, शिशु की भाँति मैत्री, फुटबॉल के खिलाड़ी की भाँति सक्रियता (Activity and Enthusiasm) तथा पतिव्रता स्त्री की भाँति धैर्य होना चाहिए।

यशस्वी विक्रेता के लिए प्रभावी व्यक्तित्व का होना नितान्त आवश्यक है, किन्तु यह गुण उसके ऊपर निर्भर न रहते हुए पैतृक स्वास्थ्य तथा भौगोलिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है। विक्रेता को सदैव प्रसन्न चित्त रहना चाहिए। जो व्यक्ति उदास एवं सुस्त रहता है वह कभी भी सफल विक्रेता नहीं बन सकता। ग्राहकों को वस्तुएँ दिखाते समय उनका स्वागत करते समय दुःख का लवलेश भी प्रतीत नहीं होना चाहिए। उसके व्यवहार एवं वार्तालाप करने का ढङ्ग आकर्षक एवं मनोरंजक होना चाहिए। इस प्रकार विक्रेता के 'व्यक्तित्व' के अन्तर्गत केवल उसके मुख एवं शरीर की आकृति ही नहीं आती वरन् उसके व्यवहार की पद्धति, रहन-सहन का ढंग, मधुर आवाज, सम्भाषण चातुर्य आदि बातों का भी समावेश होता है। विक्रेता को सदैव उत्साही एवं महत्वाकांक्षी भी होना चाहिए। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति के लिए महान आकांक्षा एवं तत्परता की आवश्यकता होती है। आकांक्षा रहित व्यक्ति कभी भी सफल नहीं हो सकता। जो व्यक्ति स्वाभाविक रूप से हिम्मत के साथ काम करता रहता है और उत्सुकता के साथ उसमें संलग्न रहता है तो सफलता उसके कदम चूमेगी। व्यवसाय में प्रगति के लिए उत्सुकता नितान्त आवश्यक है। विक्रेता में विक्रय के लिए योग्य प्रवृत्ति होना सफलता की कसौटी है। यदि विक्रय-कला में अरुचि रखने वाले व्यक्ति को विक्रेता बना दिया जाय, तो वह यही चाहेगा कि किसी प्रकार समय कटे तथा ग्राहक कम आएँ, जिससे उसे तकलीफ न करनी पड़े, अतएव सफलता प्राप्त करने के लिए नैसर्गिक प्रवृत्ति का होना आवश्यक है। यह प्रवृत्ति विशेष अनुराग द्वारा पैदा भी की जा सकती है। एक सफल विक्रेता को धैर्यवान् एवम् सहनशील भी होना चाहिए, जिससे कि वह ग्राहक तथा अपने स्वामी से बातचीत करते समय घबरायेगा नहीं। जो कुछ भी जानकारी ग्राहक को देनी है, उसको वह बड़े धैर्य से देगा तथा ग्राहक के सभी प्रश्नों का उत्तर भी सन्तोषजनक विधि से देगा। सहिष्णुता से हमारा आशय यह है कि यदि कभी ग्राहक के मुख से अनायास कोई कटु बात निकल जाय, तो वह उसका बुरा न मानेगा वरन् सहन करके सावधानी से ग्राहक को सन्तुष्ट करने के प्रयत्न करेगा। विक्रेता को चाहिए कि वह कभी भी किसी ग्राहक को घृणा की दृष्टि से न देखे और न उसे तिरष्कारपूर्ण व्यवहार ही करना चाहिए।

अन्त में, एक सफल विक्रेता में कवि के समान चतुराई होनी चाहिए। विक्रेता की इसी विशेषता के कारण किसी भी ग्राहक को वस्तुओं की आलोचना करने का भी साहस नहीं होता। चतुराई के ही कारण उसकी वाणी सभी के लिए इतनी विनम्र

होती है कि कोई भी ग्राहक एक बार उसकी दुकान पर आकर लौट नहीं सकता। वह निश्चित रूप से वस्तु खरीद कर ही जाएगा तथा स्थायी ग्राहक बन जाएगा। विक्रेता का व्यवहार विनम्र एवं सहानुभूतिपूर्ण होना चाहिए। उसमें अपनी सुरुचि दिखाने की भी शक्ति होनी चाहिए। सुरुचि का प्रदर्शन उस समय महत्त्वपूर्ण होता है, जब कोई ग्राहक विक्रेता से ही किसी वस्तु के विषय में राय लेता है और उससे परामर्श के अनुसार ही माल लेने के लिए आग्रह करता है।

उपसंहार—

दुःख है कि हमारे देश में अधिकांश व्यवसायी विक्रय कला के महत्त्व को नहीं जानते। कुछ उत्पादक गण एवं फुटकर विक्रेता इसके महत्त्व को समझने लगे हैं, जैसे टाटा आयल मिल्स अथवा बाटा कम्पनी के विक्रेता। पाश्चात्य देशों में विक्रय कला को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य में "The National Association for Salesmanship" की परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर परीक्षार्थी को "The Associate of the Selesmanagers Association" की पदवी दी जाती है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका विक्रय कला की जन्मभूमि है और यहाँ के विक्रेता इस कला में पारंगत हैं। यहाँ वाणिज्य के विषयों मे विज्ञापन एवं विक्रय कला एक अनिवार्य विषय के रूप में पढाया जाता है। इस दशा मे हमको भी उनके पद चिह्नों पर चलने का प्रयत्न करना चाहिए।

---

[४२]

भारतवासियों का जीवन-स्तर

रूप रेखा—

१. *प्रारम्भिक*—रहन-सहन के स्तर का आशय उन आवश्यकताओं से है, जिनका उपभोग करने की मनुष्य को आदत पड़ गई है। जीवन-स्तर ऊँचा हो सकता है अथवा नीचा। जीवन-स्तर को निर्धारित करने वाली बातें।

२. भारतवासियों का जीवन-स्तर—भारतीय जीवन-स्तर का अनुमान दो प्रकार से लगाया जा सकता है—(१) परिमाणात्मक अनुमान—(अ) प्रति व्यक्ति आय, (आ) राष्ट्रीय आय का वितरण, (इ) औसत आय, (ई) उपभोग्य पदार्थों की उपलब्धि। (२) गुणात्मक अनुमान—(अ) भोजन, (आ) वस्त्र, (इ) निवास-स्थान, (ई) आराम और विलास की वस्तुएँ। इन दृष्टिकोणों से स्पष्ट है कि हमारे देशवासियों का जीवन स्तर बहुत नीचा है।

३. निम्न जीवन-स्तर के कारण—(१) आर्थिक कारण—(अ) प्राकृतिक साधनों का अपर्याप्त शोषण, (आ) कम उत्पादन, (इ) जन-संख्या का आधिक्य, (ई) देश की असन्तुलित अर्थ-व्यवस्था, (उ) वित्त, यातायात तथा वस्तुओं के विक्रय की अव्यवस्था, धन का असमान वितरण। (२) व्यक्तिगत वितरण—(अ) शिक्षा, (आ) धार्मिक व सामाजिक आदर्श, (इ) श्रम की अकुशलता, (ई) सामाजिक रीति-रिवाज, (उ) फैशन। (३) भौतिक कारण—(अ) भौगोलिक कारण।

४. रहन-सहन का स्तर ऊँचा कैसे किया जाय—(अ) प्राकृतिक साधनों का सदुपयोग, (आ) जन-संख्या की वृद्धि पर नियन्त्रण, (इ) अर्थ-व्यवस्था को सन्तुलित किया जाय, (ई) वित्त एवं यातायात की उचित व्यवस्था, (उ) धन का समान वितरण, (ऊ) शिक्षा का प्रसार, (ए) श्रमिकों की कुशलता में वृद्धि, (ऐ) लोक-स्वास्थ्य व्यवस्था।

५. *निष्कर्ष*—*गत कुछ समय से हमारे जीवन-स्तर में वृद्धि हो रही है।*

प्रारम्भिक—

मनुष्य की आवश्यकतायें अनन्त हैं। प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकतायें अन्य लोगों से प्रायः भिन्न होती हैं। कुछ व्यक्ति यदि अपनी आय का अधिकांश भाग अपने और अपने परिवार की अनिवार्य व आरामदायक वस्तुओं के उपभोग पर व्यय

करते हैं, तो कुछ अन्य व्यक्ति अपनी आय का अधिकांश भाग विलासिताओं की संतुष्टि में व्यय करते हैं। एक व्यक्ति जिस प्रकार की वस्तुओं का उपभोग करता है उसी पर उसका जीवन स्तर प्रायः निर्भर करता है। जीवन-स्तर से हमारा आशय उन आवश्यकताओं से है जिनके उपयोग करने की मनुष्य को आदत पड़ गई है। जीवन-स्तर दो प्रकार का होता है:—ऊँचा अथवा नीचा। ऊँचा जीवन-स्तर वह है, जिसमें मनुष्य अपनी अधिक से अधिक आवश्यकताओं की संतुष्टि करता है, अर्थात् वह पौष्टिक भोजन खाता है, सुन्दर वस्त्र धारण करता है, स्वच्छ मकान में रहता है, परिवार की चिकित्सा पर पर्याप्त धन व्यय करता है तथा बच्चों की शिक्षा पर उचित धन व्यय करता है। इसके विपरीत निम्न जीवन-स्तर वह है जिसमे मनुष्य अपनी सीमित आय से बहुत कम आवश्यकताओं की संतुष्टि कर पाता है।

किसी समाज या व्यक्ति का जीवन-स्तर सदैव सापेक्षिक होता है। जब किसी समाज के जीवन स्तर का अध्ययन करते हैं तो हमारा आशय उस समाज के जीवन-स्तर का तुलनात्मक अध्ययन से होता है। उदाहरणार्थ, यदि हम भारतवासियों के जीवन-स्तर का अध्ययन करते हैं, तो हम इस बात की जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं कि यह जीवन-स्तर किन देशों से ऊँचा एवं किन देशों से नीचा है, जैसे भारत के जीवन-स्तर की तुलना मे इङ्गलैंड व अमेरिका का जीवन-स्तर ऊँचा है, परन्तु भारतवासियों का जीवन-स्तर सीलोन, बर्मा एवं इन्डोचीन आदि देशों से ऊँचा है।

किसी देश के निवासियों के जीवन-स्तर को प्रभावित करने वाली अनेक बातें होती हैं: सर्व प्रथम, एक व्यक्ति विशेष का जीवन-स्तर प्रायः इस बात पर निर्भर करता है कि उसकी आय कितनी है। यदि यह मान लिया जाय कि प्रत्येक व्यक्ति विवेक से अपनी आय को व्यय करता है, तो स्वभावतः जिस व्यक्ति की अधिक आय होगी वह उतनी ही अधिक वस्तुओं का उपभोग कर सकेगा। परिणामतः ऐसे मनुष्यों का जीवन-स्तर अन्य मनुष्यों की अपेक्षा ऊँचा होगा। यही कारण है कि साधारणतः एक धनी व्यक्ति का जीवन-स्तर एक निर्धन व्यक्ति की अपेक्षा ऊँचा होता है। दूसरे, जीवन-स्तर मनुष्य के विवेकपूर्ण व्यय पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है। उदाहरणार्थ, एक प्रोफेसर की आय दो सौ रुपये है और एक क्लर्क की सौ रुपया प्रति माह। प्रोफेसर प्रायः मित्रों सहित चाय पार्टियों में जाता है, सिनेमा व नाच रंग देखता है एवं मादक पदार्थों का सेवन भी करता है और इस प्रकार वह अपनी आय का अधिकांश भाग भोग विलास में व्यय कर देता है, परन्तु क्लर्क अपनी आय को विवेकपूर्ण ढंग से खर्च करता है, वह एक पैसे की भी फिजूलखर्ची नहीं करता। वह अच्छा भोजन पाता है, साधारण वस्त्र धारण करता है, स्वच्छ स्थान पर रहता है, मादक पदार्थों की ओर देखता भी नही तथा अपने बच्चों की शिक्षा का भी विशेष ध्यान रखता है, अतः स्पष्ट है कि क्लर्क का जीवन-स्तर प्रोफेसर साहब के विलासपूर्ण जीवन से कहीं उच्चतर है। तीसरे, मनुष्य के स्वास्थ्य का भी उसके जीवन-स्तर पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। एक अस्वस्थ व्यक्ति न तो अच्छा खा सकता है और न अच्छा पहन ही

है, क्योंकि वह सदैव ही शीतल वायु व गर्म लू से डरता रहता है। इसके एक स्वस्थ व्यक्ति अच्छा खाता तथा अच्छा पहिनता है, अतएव अस्वस्थ की अपेक्षा स्वस्थ व्यक्ति का जीवन-स्तर अधिक ऊँचा होता है। चौथे, शिक्षा का वन स्तर से घनिष्ट सम्बन्ध है। एक शिक्षित व्यक्ति में सामान्यतः व्यय चातुर्य होता है, जिससे वह अपनी आय को अधिक विवेक से व्यय करता है और एक क्षित व्यक्ति की तुलना में अपना जीवन-स्तर ऊँचा रखने में सफल हो जाता है। प्रकार एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति भी अपने जीवन को सफल बनाने के लिए अधिक कमाने का प्रयत्न करता है एवं अधिक आय प्राप्त हो जाने के कारण वह अपना न-स्तर भी ऊँचा रख सकता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य की आर्थिक, राजनैतिक सामाजिक परिस्थितियों का भी उसके जीवन-स्तर पर प्रभाव पड़ता है। अनुकूल उन्नत परिस्थितियों की दशा में जीवन स्तर ऊँचा होगा और इसके विपरीत तकूल एव दयनीय परिस्थितियों की दशा में जीवन-स्तर नीचा होता है।

रतवासियों का जीवन-स्तर—

किसी देश के जीवन स्तर का अनुमान दो प्रकार से लगाया जाता है—परिमाणात्मक अनुमान और गुणात्मक अनुमान। किसी देश के जीवन-स्तर का परिमाणात्मक नुमान अनेक विधियों से किया जा सकता है—प्रथम, किसी देश के प्रति व्यक्ति आय की गणना करके निवासियों के जीवन-स्तर का अनुमान लगाया जा सकता है। सन् १६४६ में सयुक्त-राष्ट्र-सघ ने कुछ देशों की प्रति व्यक्ति आय का अनुमान प्रस्तुत किया था, जो रुपयों में इस प्रकार है—अमेरिका ७,२६२), कनाडा ४,३२०), इंगलैंड ३,८६२), आस्ट्रेलिया ३,३३१), फ्रांस २,४१०), जापान २००), भारत २२४), बर्मा १८०) इत्यादि। इन आंकड़ों से स्पष्ट है कि हमारे देश की प्रति व्यक्ति आय इतनी कम है कि औसत व्यक्ति अपनी समस्त अनिवार्यताओं की भी सन्तुष्टि नहीं कर सकता। ऐसी परिस्थितियों में भारतवासियों का जीवन-स्तर नीचा होना स्वाभाविक है। दूसरे, किसी देश में राष्ट्रीय आय के वितरण से भी जीवन स्तर का अनुमान लगाया जा सकता है। कुछ व्यक्तियों का अनुमान है कि भारत में लगभग ६ लाख परिवारों की औसत आय १ लाख रुपया वार्षिक या इससे अधिक है, १ लाख ७० हजार परिवारों की औसत आय ४,०००) वार्षिक है, ढाई लाख परिवारों की औसत आय २,०००) वार्षिक है और शेष की आय १,०००) वार्षिक से भी कम है। इन आंकड़ों से स्पष्ट है कि हमारे देश में केवल ढाई लाख परिवार तो आराम से खाते पीते हैं और शेष अपना नीरस जीवन जैसे तैसे चलाते हैं। जीवन-स्तर की तीसरी कसौटी है आयु। विभिन्न देशों की औसत आयु इस प्रकार है—न्यूज़ीलैंड—पुरुष ६६, स्त्री ७१, सयुक्त राज्य—पुरुष ६२, स्त्री ७१, इङ्गलैंड—पुरुष ६६, स्त्री ७१ तथा भारत—पुरुष ३२, स्त्री ३१। एक ऊँचे जीवन-स्तर के परिणामस्वरूप ही दीर्घ आयु होती है। औसत आयु के सम्बन्ध में उक्त-लिखित आंकड़ों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि क्योंकि भारतवासियों की

औसत आयु बहुत कम है, इसलिये उनका जीवन-स्तर भी बहुत नीचा है। जीवन-स्तर की चौथी कसौटी कार्यक्षमता है। सर एलेक्जेन्डर मैक राबर्ट का मत है कि एक अङ्गरेजी श्रमिक भारतीय श्रमिक की अपेक्षा चार गुना अधिक कुशल है, अतः स्पष्ट है कि एक औसत भारतीय का जीवन स्तर एक औसत इङ्गलैंड निवासी से बहुत नीचा है। पांचवे, कभी-कभी हम किसी देश के निवासियों के जीवन-स्तर का अनुमान इस बात से भी लगा सकते हैं कि वहाँ के निवासियों को कितनी उपभोग्य पदार्थों की उपलब्धि हो रही है। उदाहरण के लिये, एक अनुमान के अनुसार जबकि इङ्गलैंड के निवासी को औसतन ३१ औंस प्रति दिन पीने को मिलता है, तो भारतवासी को केवल औसतन ७ औंस ही मिल पाता है, अतः स्पष्ट है कि चूँकि अधिकांश भारतवासियों को भरपेट भोजन नहीं मिलता है, पहनने के लिये पर्याप्त कपड़े नहीं मिलते, रहने के लिये स्वस्थ स्थान नहीं है आदि। यहाँ का जीवन-स्तर स्वभावतः बहुत नीचा है।

गुणात्मक अनुमान की दृष्टि से जब हम भारतवासियों के उपभोग की सूची बनाते हैं, तो सचमुच हमें बड़ी निराशा होती है। कुछ लोगों का अनुमान है कि भारत में केवल ३१% लोगों को भोजन मिलता है और शेष व्यक्ति आधे भूखे रहते हैं। जो व्यक्ति भरपेट भोजन करते हैं उनके सम्बन्ध में भी ऐसा कहा जाता है कि उनके भोजन में पौष्टिक पदार्थों का अंश बहुत कम होता है। एक दूसरे अनुमान हमारे देश में वस्त्र का औसत उपभोग १६ गज प्रति व्यक्ति है, जबकि अमेरिकन ७२ गज कपड़ा पहिनता है। प्रथम तो, हमारा वस्त्र का औसत उपभोग बहुत कम है और दूसरे, यह उपभोग भी अधिकांशतः समाज के धनी वर्ग द्वारा किया जाता है। फलतः अधिकांश देशवासी अर्ध नग्नावस्था में अथवा मैले कुचैले चीथड़े पहने हुए पाये जाते हैं। हमारे ग्रामीण क्षेत्रों में निवास स्थान की दशा भी अत्यन्त शोचनीय है। गांव के मकान प्रायः गन्दे, अन्धकार पूर्ण व कच्चे होते हैं एवं उनके निर्माण करने में स्वास्थ्य के नियमों का विचार नहीं किया जाता और जब इन गन्दे मकानों में पशुओं को बांध दिया जाता है, तो दशा और भी खराब हो जाती है। औद्योगिक नगरों में तो श्रम-बस्तियों की दशा अत्यन्त खराब है। श्रम-बस्तियाँ इतनी गन्दी होती हैं कि उनमें से गुजरने में भी घृणा अनुभव होती है।

निम्न जीवन-स्तर के कारण—

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अन्य देशों की तुलना में भारतवासियों का जीवन-स्तर बहुत नीचा है। हम निम्न जीवन-स्तर के प्रधान कारणों को हम तीन मुख्य भागों में विभाजित कर सकते हैं—आर्थिक कारण, व्यक्तिगत कारण तथा भौतिक कारण। आर्थिक कारण के अन्तर्गत हम निम्न का समावेश कर सकते हैं:—

(१) प्राकृतिक साधनों का अपर्याप्त शोषण—भारतवर्ष एक धनाढ्य देश है, लेकिन फिर भी यहाँ के निवासी निर्धन हैं, क्योंकि हम अपनी प्राकृतिक सम्पत्ति का केवल २२% भाग और मछली सम्पत्ति का केवल ३३% भाग उपभोग में ला रहे हैं। इसी प्रकार न तो खनिज सम्पत्ति का ही पूर्ण उपयोग हो रहा है और न हमारी

समस्त कृषि योग्य भूमि ही प्रयोग की जा रही है। हमारी नदियों का जल व्यर्थ बह कर सागर की शरण में चला जाता है। सिंचाई एवं विद्युति के रूप में हम उसका पूर्ण सदुपयोग नहीं कर रहे हैं। फलतः अन्य देशों की अपेक्षा हमारी राष्ट्रीय आय भी बहुत कम है और यह स्वाभाविक ही है कि जिस देश की प्रति व्यक्ति आय कम होती है, वहाँ के निवासियों का जीवन स्तर भी नीचा होता है।

(२) कम उत्पादन—अन्य देशों की तुलना में हमारे देश की राष्ट्रीय उत्पत्ति भी बहुत कम है। एक अनुमान के अनुसार अमेरिका में कुछ ऐसे कारखाने हैं, जो वस्तु के उत्पादन करने वाले भारतीय कारखानों की तुलना में १५ या २० गुना अधिक माल उत्पन्न करते हैं। हमारे कृषि उत्पादन की दशा भी अति शोचनीय है। एक अनुमान के अनुसार हम भारत में प्रति एकड़ भूमि पर इटली की तुलना में चौथाई चावल उत्पन्न करते हैं तथा हवाई द्वीप में हमारे देश से ७ गुना और जावा में ४ गुना गन्ना प्रति एकड़ उत्पन्न किया जाता है। इसी प्रकार कपास भी मिश्र से हमारे देश से ५ गुनी अधिक उत्पन्न होती है। गेहूँ तो हमारे देश में प्रत्येक योरोपीय देश से प्रति एकड़ केवल ⅓ भाग ही उत्पन्न होता है। इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि हमारा राष्ट्रीय उत्पादन अत्यन्त न्यून है, जिसके परिणामस्वरूप देशवासियों का जीवन स्तर भी बहुत नीचा है।

(३) जन-संख्या का आधिक्य—हमारे देश की वर्तमान जन-संख्या ३६ करोड़ से अधिक है और यह विश्व की जन-संख्या का १५ प्रतिशत भाग है। सन् १९४१-५१ के अनुमान के अनुसार भारतवर्ष की जन-संख्या में इन दस वर्षों में १३·४ प्रतिशत वृद्धि हुई है और यह वृद्धि निरन्तर जारी है। परिणामतः हमें अपनी कुल राष्ट्रीय उत्पत्ति प्रति वर्ष अधिक नागरिकों में बाँटनी पड़ती है, जिससे देशवासियों के जीवन-स्तर में कोई विशेष वृद्धि नहीं हो पा रही है।

(४) असंतुलित अर्थ-व्यवस्था—भारत मुख्यतः एक कृषि-प्रधान देश है, जिसकी ६८% जन संख्या कृषि में और केवल १४% उद्योग-धन्धों में संलग्न है। इस प्रकार अन्य देशों की तुलना में हमारे यहाँ जन-संख्या का कृषि पर अधिक दबाव है। पाश्चात्य देशों में तीव्र औद्योगीकरण के कारण अत्यधिक सम्पत्ति की उत्पत्ति हुई है, अतः हमको भी उद्योगों का पूर्ण विकास करना चाहिए, क्योंकि जब तक हम औद्योगी-करण के प्रति उदासीन रहेंगे, तब तक हमारी प्रति व्यक्ति आय नहीं बढ़ सकती। इस असन्तुलित अर्थ-व्यवस्था के कारण भी जीवन-स्तर नीचा पाया जाता है।

(५) वित्त, यातायात तथा बाजार की दोषपूर्ण व्यवस्था—हमारे देश में इन साधनों की बहुत ही कम उन्नति हुई है। ग्रामीण और नगरी क्षेत्रों को मिलाने वाली सड़कों तथा विभिन्न नगरों को मिलाने वाली रेलों की बहुत ही अपर्याप्त व्यवस्था है, जिससे ग्रामीण जनता केवल उन्हीं वस्तुओं का उपभोग कर सकती है, जो उनके गाँव में मिल सकती है। परिणामतः उनका जीवन स्तर नीचा रह जाता है।

(६) धन का असमान वितरण—हमारे देश में धन का वितरण भी बड़ा

दोषपूर्ण है। अधिकांशतः ऐसा देखा जाता है कि धनी व्यक्ति ही और धनी होते जा रहे हैं और बेचारे गरीब लोगों की दरिद्रता बढ़ती जा रही है।

इन आर्थिक कारणों के अतिरिक्त अनेक व्यक्तिगत कारण भी हमारे निम्न जीवन-स्तर के लिये उत्तरदायी हैं—प्रथम, अशिक्षा के कारण हमारा जीवन स्तर ऊँचा नहीं हो पाता। देश में केवल १७% व्यक्ति ही पढ़े लिखे हैं। इसका दुष्परिणाम यह है कि अधिकांश देशवासियों में उन्नति की भावना नहीं पाई जाती। वे अपनी वर्तमान स्थिति से ही संतुष्ट रहते हैं और अपने जीवन-स्तर को ऊँचा करने का विशेष प्रयत्न नहीं करते। दूसरे, देश के धार्मिक व सामाजिक आदर्श का भी मनुष्य के जीवन स्तर पर भी प्रभाव पड़ता है। हमारे देशवासियों का आदर्श सदैव से 'सादा जीवन उच्च-विचार' रहा है, जिसके कारण अधिकांश देशवासी वर्तमान स्थिति से ही संतुष्ट रहते हैं। तीसरे, श्रमिकों की अकुशलता भी जीवन स्तर की वृद्धि में बाधक है। सर क्लीमेन्ट सिम्पसन का अनुमान है कि लंकाशायर का एक श्रमिक अपने जैसा २.६७ भारतीय श्रमिक के बराबर कार्य करता है। प्रति श्रमिक उत्पादन कम होने के कारण उनको मजदूरी भी कम मिलती है, जिसके कारण उनका जीवन-स्तर भी नीचा हो जाता है। चौथे, हमारे देशवासी रूढ़िग्रस्त हैं और वे परम्परा से चले आते रीति रिवाज का स्वभाव से ही अनुकरण करते हैं। वे जन्म, मृत्यु, विवाह आदि उत्सवों पर वर्षों की बचत को एक दिन में खर्च कर देते हैं, जिससे उनका जीवन-स्तर बहुत नीचा रहता है। पाँचवे, कुछ व्यक्ति फैशन के चक्कर में फँसकर अपनी अनिवार्यताओं का त्याग कर देते हैं और विलासिता के पदार्थों का उपभोग करते हैं। जब मनुष्य आडम्बर की वस्तुओं का उपयोग करता है, तो जीवन-स्तर श्रेष्ठ होने के स्थान पर नीचा हो जाता है।

अन्त में, कुछ भौगोलिक कारण भी हमारे निम्न जीवन-स्तर के लिये उत्तरदायी हैं। हमारे देश का जलवायु गरम है, अतः हमारे देशवासियों की आवश्यकतायें भी सीमित हैं। ग्रीष्म काल में थोड़े से कपड़ों से काम चल जाता है और शीतकाल में अधिकांश व्यक्ति आग ताप कर ही समय काट देते हैं। बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं की भी उनको आवश्यकता नहीं पड़ती। सक्षेप में, हमारे देश की भौतिक अवस्था इस प्रकार की है कि मनुष्य एक बहुत ही सादा जीवन व्यतीत करते हैं, जिससे उनका जीवन स्तर बहुत ही नीचा है।

जीवन स्तर ऊँचा कैसे किया जाय ? —

यदि हम अपने देशवासियों का जीवन स्तर ऊँचा करना चाहते हैं, तो हमें उल्लिखित बाधाओं या कारणों को दूर करना होगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के हेतु अनेक सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं—

(१) प्राकृतिक साधनों का पूर्ण सदुपयोग हो—धन के उत्पादन के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि हम अपने प्राकृतिक साधनों का पूर्ण उपयोग करें। वनों का उचित उपयोग होना चाहिये। नदियों में बहने वाले पानी को अधिक से अधिक सिंचाई करना व विद्युत उत्पन्न करने के काम में लाना चाहिये, कृषि योग्य भूमि को शीघ्र से